# संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारों का विकास

दशरथ द्विवेदी

# संस्कृत काव्यशास्त्र
# में
# अलंकारों का विकास

डॉ. दशरथ द्विवेदी

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे ।
वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम् ।।

—भवभूति

# संस्कृत काव्यशास्त्र

में

# अलंकारों का विकास

(प्रथम खण्ड)

डॉ. दशरथ द्विवेदी
आचार्य एवं अध्यक्ष
संस्कृत-विभाग
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर (उ.प्र.)

राधा पब्लिकेशन्स
नई दिल्ली-110002

© लेखक

द्वितीय संस्करण : 2003
ISBN 81-7487-228-0
मूल्य : 500/- रुपये (प्रति खण्ड)

राधा पब्लिकेशन्स
4378/4B, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002
फोन : 3261839, 3254306

श्री नितिन गर्ग द्वारा राधा पब्लिकेशन्स के लिए प्रकाशित तथा
तरुण आफसेट प्रिंटर्स, मौजपुर, शाहदरा, दिल्ली में मुद्रित।

---

Sanskrit Kavyashatra main Alankaron ka Vikas
*by* Dr. Dashrath Dwivedi

# भूमिका

यश्चित्रशक्तिगणमेत्य करोति शश्व-
च्चित्रं जगज्जगदलङ्करणैकहेतुः।
स्थायी शिवःस सुधियां हृदि चित्रकाव्य-
व्याख्यानतोऽनवधिमङ्गलमातनोतु।।

प्रज्ञापरपर्याय अपनी शक्ति भगवती प्रतिभा से अभिन्न विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दमय, प्रकाशैकघन, परमशिव ही समग्र चित्रजगत् में परिव्याप्त, प्रकाशमान, प्रतिबिम्बित हैं। चित्र, मूर्ति, सङ्गीत, काव्य-नाट्य सभी कलाओं में शक्त्यात्मक शिव ही अनुस्यूत हैं। कलायें भगवती का एक सुन्दर रूप हैं। भगवती स्वयं त्रिपुरसुन्दरी हैं, सर्वातिशायिशोभासम्पन्न हैं। भगवती की अनिर्वचनीय सुषमा से सम्पृक्त होने के कारण परमशिव भी त्रिलोकसुन्दर हैं। उमा-महेश्वर शाश्वत एवं सत्य-सनातन हैं। इसीलिये समस्त कलाओं में सत्य, शिव एवं सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है—सत्यं शिवं सुन्दरम्। उमा-महेश्वर सहभावोपेत हैं, शब्द-अर्थ के मञ्जुल समन्वय में उन्हीं की दिव्य माधुरी का दर्शन होता है। इस दिव्यता का, सुख का, परमानन्द का अनुभव, भोग, आस्वाद या साक्षात्कार सभी को सहज सुलभ नहीं है। जो लोग परात्मिका जगदम्बा अनादि अव्यय शब्दात्मिका शक्ति की सम्यक् समाराधना में तत्पर हैं, उमा-महेश्वर की साक्षात् मूर्ति सारस्वतसाधना में लीन हैं, काव्यानुशीलनाभ्यासजनित परिपाकप्रौढप्रज्ञोपेत स्वभावतः निर्मलमुकुरहृदय योगिजनवत् सहृदय हैं, संवाद-निपुण हैं उन्हें ही कलाजन्य रस का, सुख का, मङ्गलकारी शिवात्मक आस्वाद का, भोग का अनुभव प्राप्य है।

परमशैव सहृदयचक्रवर्ती अभिनवगुप्त स्पष्टतया प्रतिपादित करते हैं कि, शिव स्वयं स्थायी (भाव) हैं, तन्मय, सहृदयजन के संवाद के एकमात्र हेतु वही हैं, संवाद की दशा में सहृदयों में हर्षोल्लसित परमप्रकाश का वही संतान करते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसलिये कि वह अर्थस्वरूप हैं। समग्र भावजगत् अर्थमय है। अर्थ, शब्द का ही, आनन्त्य है। शब्द स्वयं शक्ति है। शक्ति की कोई सीमा नहीं।

काव्यजगत् का अनन्त सुख पाने के लिये रजोरूषित हृदयदर्पण का निर्मलीकरण आवश्यक है। हृदयदर्पण का निर्मलीकरण होने पर ही सहृदयतोन्मिषितवस्तुसंवाद की स्थिति बन पाती है। बिना वस्तुसंवाद के कोई भी प्रमाता, पाठक, आलोचक शब्दार्थमयी रचना का असीम सौन्दर्य देख नहीं पाता। इसीलिये तो भगवदुच्छ्वास वेदगिरा कहती है—उतत्वःपश्यन्न ददर्श वाचम्। अस्तु।

चित्र रङ्गीन संस्कृत-काव्य-जगत् भारतीय संस्कृति का प्रतिबिम्बन है। इसलिये उसके विविध पक्षों की रमणीयता का विचिन्वन एवं विचिन्तन इसी परिवेश में किया जाना चाहिये। भारतीय समीक्षाशास्त्र का विकास भारतीय-दर्शन की विचारसरणि से अनुस्यूत और तदनुगत है। इसीलिये रसानुभूति के धरातल पर, समान सांस्कृतिक परिवेश के कारण, समानता होने पर भी, काव्यानन्द, उसकी अनुभूति और उसके तत्त्वों की पहचान तथा अभिव्यक्ति में विविधता पाई जाती है। इस विविधता ने ही संस्कृत काव्यशास्त्र में विविध प्रस्थानों को जन्म दिया है।

काव्य अभिनेय हो या अनभिनेय दृश्य हो या श्रव्य, शब्दोपधानपूर्वक ही वह आकार ग्रहण करता है। सामान्यजन के समान कविप्रतिभाप्रतीति में कोई भी वस्तु प्रथमतः एक अनगढ़पाषाणशकलमणिप्रख्य के रूप में ही अवतीर्ण होती है। अपनी शक्ति-प्रतिभा और व्युत्पत्ति-अभ्यास से कवि जब उसे तराशकर, कल्पनामण्डित कर प्रस्तुत करता है तो वही अनगढ़ वस्तु मनोहारी मणि के समान अपने विशेषस्वरूप का परित्याग कर सहृदयहृदयहारी, सर्वजनसंवेद्य, संवादक्षम—सर्वसामान्योपयोगी के रूप में मङ्गलमय आनन्द का, सुख का, आह्लाद का संविधान करती है। इस संविधान में उसका सहायक होता है—अभिधेयक्षम योग्य शब्द का विचिन्वन। विशेषाभिधानक्षम शब्दों का ही यह माहात्म्य है कि, शब्दार्थसाहित्य काव्य में शब्द और अर्थ दोनों ही सर्वगुणसम्पन्न, परस्पर अभिन्न दो सुहृद्-मित्रों के समान अन्यूनानतिरिक्तत्व तथा परस्परस्पर्धित्वभावोपेत होकर एक-दूसरे के शोभासर्जक, परस्परोपकारी के रूप में विभ्राजमान अलोकसामान्यसौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। इस संविधान में सभी को अपने स्व की अनुभूति और दर्शन होते हैं। यहीं हृदय को विश्रान्ति और शास्त्रातिरिक्त कुछ और की उपलब्धि होती है। यह कुछ और की उपलब्धि ही वह तत्त्व है जिसके संपादन-हेतु कवि रचना में प्रवृत्त होता है। पाठक भी उसी की संप्राप्ति के लिये दर्शन-पठन और श्रवण में निमग्न होता है। शब्द तो वही होते हैं, भिन्न-भिन्नजन में, सभी देश-काल-पात्र में अर्थावबोध की प्रक्रिया में प्रतीति-भेद क्यों होता है? ऐसे अनेक प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने के लिये साहित्य-शास्त्र स्वतन्त्रचिन्तन रखते हुए भी दर्शन की ओर उन्मुख दिखाई पड़ता है।

पद, वाक्य, प्रमाण और साहित्यशास्त्र में से प्रत्येक की अपने-अपने विषय में प्रधानता है किन्तु, काव्य प्रथम तीन की प्रयोगभूमि है। इसलिये कवि, काव्यपरीक्षक-साहित्यशास्त्र और साहित्यशास्त्री की भूमिका प्रथम तीन के तद्विद् और तत्परीक्षक की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और दायित्त्वपूर्ण हो जाती है। व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्—के अनुसार सभी शास्त्र व्याकरण से ही प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। वाक्य तथा प्रमाणशास्त्र से उपकृत भी काव्य व काव्यशास्त्र अपेक्षाकृत इतर दो से व्याकरणशास्त्र से अधिक उपकृत और उसका विशेष ऋणी है। यह विशेषता इसलिये है कि, अन्यशास्त्रों में अर्थनिर्वाहकता प्रधानतः अभिधाव्यापार पर ही अवलम्बित है। इसके विपरीत काव्य व काव्यशास्त्र अभिधा-प्रतिपाद्य अर्थ से व्यतिरिक्त कुछ और की प्राप्ति के भी आकाङ्क्षी हैं। इस आकाङ्क्षा की पूर्ति व्युत्पत्त्यादिमूल व्याकरणशास्त्र ही कर सकता है। संस्कृतकाव्यशास्त्रविद् इस तथ्य से सम्यक् सुपरिचित है।

समग्रसंभारोपेत कोई भी कलाकार-चित्रकार हो, मूर्तिकार या कोई अन्य, अपनी शक्ति या कल्पनानुरूप चित्र, मूर्ति या अपेक्षित अपनी कोई भी कृति विनिर्मित करता है। कलाकारों की यह निर्मिति मूलतः दो प्रकार की होती है। प्रथम में वह रचना के सहजस्वरूप को चित्रित या टङ्कित करता है, दूसरी में लक्षण-व्यञ्जन का भी समावेश करता है। अपनी-अपनी भूमिका में, परिवेशविशेष में दोनों ही मनोहारी होते हैं। अपनी-अपनी भावभूमि के अनुरूप दर्शक उनमें निमग्नान्तश्चित्त होकर आनन्द का, सुख का भोग करता है। विश्रान्तिधाम, सार्ववर्णिक नाट्यवेद-काव्य और उसके निर्माता कवि की स्थिति भी चित्र-मूर्ति और उसके स्रष्टा चित्रकार, मूर्तिकार के समान ही है, कदाचित् उससे कुछ उत्कृष्ट भी। उत्कृष्ट इस अर्थ में कि, चित्र और मूर्ति भी कल्पित नाम-रूप में ही आकार ग्रहण करते हैं, नाम-रूप का आकार शब्दोपधान की अपेक्षा रखता है। इस अपेक्षा की पूर्ति कवि से होती है।

मूर्त्यादि के समान नाट्य और काव्य में भी लोकधर्मी-नाट्यधर्मी तथा स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति के माध्यम सहज तथा आहार्य सौन्दर्य की संसृष्टि की जाती है। स्वभावज आनन्द की कोई सीमा नहीं, आहार्यजनित सुख की भी कोई अवधि नहीं है। नाट्य में इसकी अभिव्यक्ति चतुर्विध अभिनय से होती है, काव्य में शब्द-अर्थ उसकी बोधक शक्तियों या वृत्तियों से। मूर्ति के लावण्य की अभिव्यञ्जना में मूर्तिकार का कौशल झलकता है, नाट्यजनित सुख में कवि-अभिनेता की इतिकर्तव्यता में रसमयी, आनन्दमयी चित्तवृत्ति द्रष्टव्य है किन्तु, काव्य में तो कवि-कौशल मात्र का विजृम्भण ही परास्वाद का एकमात्र हेतु है। महर्षि वाल्मीकि

की रसस्यन्दिनी रचना में या महाकविकालिदास जैसे महाकवियों की प्रवहमान सरस्वती के अमृतानिष्यन्दसन्दोह में सुखावगाह की जो अलौकिक अनुभूति देखी जाती है वह इन महाकवियों की वैदग्ध्यावगाहिनी प्रतिभा का ही प्रतिफलन है। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने जब इन रचनाओं की प्रथम समीक्षा प्रारम्भ की, इनमें विद्यमान सौन्दर्यतत्त्व का अनुसन्धान प्रारम्भ किया तब इनके समक्ष आनन्द का एकमात्र स्रोत नाट्य था, नाट्य लोकव्यञ्जन को उदाहृत कर रसास्वाद का बोध करा रहा था। लोक अभिधापरायण होता है, अभिधोन्मुखी होता है। इसलिये प्रारम्भिक समीक्षाशास्त्री ने अर्थावबोध के लिये अभिधा को ही प्रधानता दी। इसलिये भी अभिधा पर बल दिया क्योंकि ये आचार्य अभिधावादी थे, मीमांसा-शास्त्रोक्तवृत्ति से ही अर्थावबोध करते थे। 'मृदुललितपदाढ्यम' आदि के माध्यम से महर्षि वाल्मीकि ने काव्यत्व के बोधक गुणादितत्त्वों का संकेत कर दिया था। नाट्यशास्त्रोक्त काव्य के गुण-दोष, लक्षण अलंकार तथा नाट्योपयोगी रस-भावादि, वृत्ति-प्रवृत्ति, नाट्यालंकार आदि तत्त्व भामहप्रभृति प्राचीन आचार्यों के समक्ष थे। शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धः— का शाश्वत सत्य भी उनके समक्ष था। काव्य, शब्दार्थ से परे हो नहीं सकता था—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। काव्य को शास्त्र से व्यतिरिक्त भी होना चाहिये था। अतः नाट्योपात्त तत्त्वों को ही उन्होंने ग्रहण-त्याग विधि से उपात्त कर लिया। उनके स्वरूप में अपेक्षानुरूप यथासंभव संशोधन, संवर्द्धन और सम्मिश्रण भी किया। तत्त्वावापसंशुद्धि की इस प्रक्रिया में उन्होंने देखा कि, जिस किसी भी तत्त्व से काव्य में शोभासृष्टि या संवृद्धि हो रही हो, उसमें सौन्दर्य का आधान हो रहा हो, काव्य मण्डित या अलंकृत हो रहा हो उस समग्र तत्त्व को अलंकार कहना ही समीचीन है। समीचीन इसलिये कि काव्य का कलेवर शब्दार्थ ही है। शोभा शब्दार्थ में ही, शब्दार्थ के माध्यम ही प्रकट हो सकती है, फिर तो चाहे वह रस, गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति कुछ भी क्यों न हो। इसके मूल में यह भावना निहित थी—काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। दण्डी की यह उक्ति तो थी ही वामन की यह दृष्टि—सौन्दर्यमलङ्कारः, भी विद्यमान थी। कविकौशल विजृम्भित काव्योपात्त इस सुषमा के समापादन में वक्रोक्ति की प्राणवत्ता विद्यमान थी जिसे भामह ने लोकातिक्रान्तगोचर अतिशयोक्ति और कुन्तक ने प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी अभिधा कहा। अर्थविभावन समर्थ यह वक्रोक्ति ध्वनिवाद में भी प्रतिष्ठित रही। आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त ने भी इसकी महिमा स्वीकारी। पर, अलङ्कारवादी आचार्यों की अपेक्षा उसके प्रति उनकी दृष्टि अधिक विमल होकर उभरी। जिज्ञासु को एतदर्थ ध्वन्यालोक का अनुशीलन करना चाहिए।

दण्डी ने वक्रोक्ति-साम्राज्य में स्वभावोक्ति का चिन्तन भी जोड़ा। दोनों की अपनी-अपनी सुषमा अपनी-अपनी चमक है जिसका संकेत ऊपर की पंक्तियों में सुलभ है।

प्राचीन आचार्य तथा कुन्तक भी अभिधा के पोषक हैं। लक्षक और व्यंजक शब्द भी अर्थ की ही प्रतीति कराते हैं। अर्थप्रतीतिकारित्वसामान्य के आधार पर ही लक्षक-व्यंजक शब्दों को भी ये आचार्य वाचक ही मानते हैं। फलतः, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी वाच्यार्थ से ही गतार्थ होते हैं। इस मन्तव्य का प्रकाशन कुन्तक की रचना में स्पष्टतया उपलब्ध है। अभिधावादी तथा रूपवादी इन आचार्यों के अनुसार अलंकार शब्द का प्रयोग, रमणीयरमणी तनु को विभूषित करने के कारण मुख्यतया कटक-केयूरादि में किया जाता है, शोभाकारित्वसामान्य के कारण काव्य के सौन्दर्याधायकतत्त्व उपमादि में भी उनका उपचारतः प्रयोग होता है। यही नहीं तत्सदृश ही सौन्दर्योपादान होने के कारण गुण-रीत्यादि में भी अलंकार शब्द-प्रयुक्त होता है। इनके अभिधायक ग्रन्थों को भी अलंकार ही कहते हैं। यहाँ कुन्तक द्रष्टव्य हैं। अभिधान प्रकार विशेष ही अलंकार हैं, अभिधान प्रकार होने से अभिधा के विषय हैं, वाचक और वाच्य पर अवलम्बित हैं। शोभाकारी होने से काव्य के समग्रतत्त्व-रस, गुणादि भी अलंकार हैं। अलंकार के विषय में प्राचीनों तथा अभिधावादियों की यह सामान्यदृष्टि रही है।

ऐसा नहीं था कि प्राचीन आचार्य रसानुभूति में असमर्थ थे, ऐसा भी नहीं था कि काव्य में रसवत्ता उन्हें अमान्य थी। उनकी दृष्टि रसभावादि की अभिव्यक्ति के पक्ष में तत्त्वावगाहिनी, उतनी पैनी नहीं थी जितनी आनन्दवर्द्धन और उनके अनुयायियों में देखी गयी। काव्य का जो तत्त्व जीवातु है, प्राण है जिसके लिये कवि काव्यसर्जना में प्रवृत्त होता है, गुणालंकार सभी का जिसके लिये परिग्रह किया जाता है, जो वाच्य-वाचक से परे चतुर्थकक्षानिवेशी मात्र व्यंजना का विषय है, सहृदयहृदयसंवेद्य उस काव्यात्मा, प्राधान्येन रसादिरूपध्वनि का समुन्मेष तथा संस्थापन हो जाने के अनन्तर ही काव्य में गुण-अलंकार-रीत्यादि तत्त्वों का सम्यक् समञ्जन हो सका। यह कार्य प्राचीनों की दृष्टि से दूर रहा। काव्यात्मा के अनुसन्धान की चेष्टा वामन ने भी की थी, ध्वनिवाद ने उसे भी ध्वनि के आलोक में व्यवस्थित किया। ध्वनिवाद की प्रतिष्ठित भूमि में अलंकार का महत्त्व कुछ कम तो हुआ पर उसका तिरस्कार संभव नहीं था। ध्वनिकार ने त्रिधा ध्वनियों में न केवल उसे प्रतिष्ठादी प्रत्युत कहा भी कि रसाभिव्यक्ति में वे बहिरङ्ग नहीं होते। प्राचीन आचार्य भी मानते थे—प्रायः सर्वोऽप्यलङ्कारः रसमर्थे निषिञ्चति। ध्वनि-प्रतिष्ठा के बाद भी अलंकारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही। अलंकारों के स्वरूप तथा भेदों

पर मन्थन चलता रहा। ध्वनिवाद में चित्रकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित अलंकार चित्र-जगत् के समान अनवरत जन्म लेता रहा, लोगों को चित्रचमत्कार का सुख प्रदान करता रहा।

जिस विषय पर संस्कृत काव्यशास्त्री निरन्तर चिन्तन करते रहे तथा परवर्ती इतर भाषाओं के साहित्य में भी जिस पर निरन्तर गम्भीर चर्चायें होती रहीं ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय पर एक ऐसे महत् प्रयास की आवश्यकता थी जिसमें संस्कृत काव्यशास्त्र परिशीलित समग्र अलंकारसन्दर्भ प्रतिष्ठा पाते, जिज्ञासुजन संस्कृतशास्त्रोक्त अलंकारों से सहजतया परिचित होते। प्रकृतप्रबन्ध को इसी की अपेक्षा में देखना चाहिए।

भारतीय साहित्य विषयक मैक्समूलर की भ्रान्त धारणा[1] अब निराधार सिद्ध हो चुकी है और पाश्चात्य सौन्दर्यविद् भी भारतीय अलंकारशास्त्र को न केवल श्रद्धा-दृष्टि से देखने लगा है, उससे कुछ पाने की चाह भी रखने लगा है।[2] ऐसी स्थिति में किसी भी प्रबुद्ध भारतीय विचारक का संस्कृत-अलंकारशास्त्र और विशेषकर अलंकारसिद्धान्त की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी है, एतद्विषयक जानकारी के लिये उसका अपना अधिकार तो है ही। संस्कृत वाङ्मय की इस विधा के प्रति अधुनातन विद्वान् पर्याप्त श्रद्धा-बुद्धि रखता है, संतोष का विषय है। अलंकारसिद्धान्त पर लगभग दो हजार वर्षों में की गयी भारतीय मनीषा की अनवरत श्रम-साधना और तज्जन्य महान् उपलब्धि को राष्ट्रभाषा-माध्यम से अलंकार-प्रेमी सहृदय जिज्ञासु तक पहुंचाना ही प्रकृत लेखन का प्रमुख लक्ष्य है।

अब तक संस्कृत काव्यशास्त्र विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, किन्तु अलंकारों का ठीक-ठीक और सांगोपांग विवेचन प्रायः अप्राप्य ही रहा है। काणे तथा सुशीलकुमार दे अपने ग्रन्थों में अलंकारों की ऐतिहासिकता पर अवश्य प्रकाश डालते हैं, पर सैद्धान्तिक विवेचन नहीं करते। रामचन्द्र द्विवेदी की कृति[3] इस दिशा में एक नूतन प्रयास होते हुए भी अनेक दृष्टियों से अपूर्ण है। अलंकारमीमांसा में केवल बीस अलंकारों का निरूपण किया गया है, जिसमें कतिपय अन्य आलंकारिकों के मतों की चर्चा होने पर भी रुय्यक को प्रधानता दी गयी है। रुय्यक को प्रधानता

1. There is hardly any trace of feeling for the beautiful in the Brahmanical or Budhistic writings. O.Ae.8.
2. (i) Indian Aesthetics is on the whole more systematically developed than others along the philosophical lines. —Thomas Munro (J.Ae.A.C.P.5)
   (ii) Western Aesthetics can learn much of value from it. —O.Ae.P.4.
3. अलंकार मीमांसा।

मिलने के कारण उनके सिद्धान्तों के प्रति लेखक का स्वभावतः आग्रह बढ़ गया है, फलतः कहीं-कहीं वास्तविक तथ्य भी उपेक्षा का भाजन बन गया है। हिन्दी में लिखे गये अन्य ग्रन्थ अलंकार विषयक पूरी जानकरी देने में असमर्थ तो हैं ही, अनेक भ्रान्तियों से परिपूर्ण भी हैं। इस कमी को पूरा करने के लिये यह—संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारों का विकास—मेरा एक लघु प्रयास है।

इसके पूर्व के अलंकार विषयक अध्ययनों में निघण्टु वर्णित उपमाबोधक बारह निपातों का उल्लेख मात्र किया गया है, किन्तु उनका क्रम-बद्ध विवेचन वहां प्राप्त नहीं होता, जिसे इस प्रबन्ध में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, साथ ही वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होने वाले कतिपय अलंकार तथा उनके भेदों का निर्देश एवं सोदाहरण विवेचन भी यहां उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया गया है, जो पूर्व विवेचनों में या तो संक्षिप्त रूप में मिलता है, या उनकी ओर दृष्टिनिक्षेप भी नहीं किया गया है।

अलंकारों के इस विवेचन में संस्कृत काव्यशास्त्र में वर्णित सभी अलंकार जिनकी संख्या लगभग दो सौ से भी अधिक है, का सांगोपांग भेदोपभेद सहित पूर्ण विवेचन यहां प्रस्तुत किया गया है, जो इसके पूर्व की कृतियों में अनुपलब्ध है। यथास्थान इन अलंकारों के औचित्य का प्रदर्शन और तत्तत्प्रकरणों में अलंकार विषयक विवादस्थलों को शास्त्रीय दृष्टि से उपन्यस्त करते हुए उन पर मौलिक दृष्टि से स्वतंत्र विचार एवं विश्लेषण भी किया गया है। अलंकारों के वर्गीकरण और उनके स्वरूप-विमर्श में शास्त्रीय पद्धति का आश्रय लेते हुए नवीन आलोचनात्मक विधि से उनका निरूपण भी किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध का महत्त्व इन्हीं दृष्टियों से परिमेय है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में बारह अध्याय हैं। प्रथम में सौन्दर्य की व्याख्या, उसकी ऐतिहासिक विवेचना, वैदिक कवि की सौन्दर्य-साधना, अलंकारों के उद्भव में वैदिक सामग्री की उपयोगिता, अलंकरण-भावना, अलंकारों का इतिवृत्त, उनका शब्दार्थोभय त्रिविध विभाग, वर्गीकरण तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उन पर विचार प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय में विभिन्न प्रस्थानों के परिप्रेक्ष्य में अलंकार-स्वरूप तथा अन्य प्रस्थानों से उसके सम्बन्ध की विस्तृत चर्चा की गयी है। द्वितीय अध्याय के बाद अलंकारों की विवेचना उपलब्ध होती है, विवेचन की सुविधा के लिये रुय्यक कृत अलंकार-वर्गीकरण के आधार पर अध्यायों का नामकरण हुआ है।

तृतीय अध्याय में पौनरुक्त्य-अलंकारों के उद्भव-विकास, ऐतिहासिक

स्वरूप और उनकी बदलती दिशा पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में शब्दालंकारों का निरूपण हुआ है। विषय और आकार दोनों ही दृष्टि से ग्रन्थ का चतुर्थ अध्याय सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण है। इसमें उपमामूलक समग्र अलंकारों का वैज्ञानिक विवेचन तो उपलब्ध ही होगा, अनेक नूतन सामग्री विद्वज्जनों के चित्त का अनुरंजन करेगी। उपमामूलक अलंकारों की लम्बी संख्या होने के कारण यह अध्याय स्वभावतः बड़ा हो गया है, जिसके लिये विषय की व्यापकता ही प्रधानतया उत्तरदायी है। विषय-परिवर्तन के लिये अध्याय को कई भागों में विभक्त किया गया है।

पंचम अध्याय में विरोधमूलक अलंकारों का निरूपण है, तो षष्ठ में शृंखलामूलक का। यद्यपि अधिकांश विद्वान् शृंखलामूल के स्थान पर शृंखलाबन्ध या शृंखला विच्छित्ति कहना अधिक समीचीन समझते हैं, पर यहां जगन्नाथ को ध्यान में रखकर वैसा किया गया है। सप्तम अध्याय में तर्कन्यायमूल तीन अलंकारों की जानकारी मिल सकेगी। अष्टम, नवम, दशम तथा एकादश अध्याय क्रमशः वाक्यन्यायमूल, लोकन्यायमूल, गूढार्थप्रतीतिपर तथा चित्तवृत्तिमूलक अलंकारों का निरूपण करते हैं। ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में मिश्र अलंकारों की शोभा का बखान करते हुए उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है और अन्त में उपचार-वश उपसंहार भी जुड़ गया है। अलंकार संख्या के लिये मैंने मम्मट को आदर्श माना है, इसलिये ग्रन्थ में अन्य अलंकारों का स्थान गौण हो गया है, वे खण्डन या अन्तर्भाव के लिये उपात्त हैं, पर मम्मट का सर्वथा अनुकरण नहीं किया गया है, उनके प्रतीप जैसे अलंकारों को प्रमुख स्थान नहीं मिला है।

ग्रन्थ में नवीन क्या है? का निर्णय स्वयं अनुसन्धित्सु विद्वान् कर सकेंगे। मैं तो अभिनव गुप्त के शब्दों में ही कहना चाहूंगा—'उक्तमेव हि तत्पूर्वं मुनिना, न तु अपूर्वं किंचित्।' सागर में डुबकी लगाने वाला गोताखोर सीपी के साथ-साथ मोती ले ही आता है, विशाल और गंभीर अलंकार-सुधा-सिन्धु में डूबने वाला विद्वान् यहां से निराश नहीं हो सकेगा, इसकी पूर्ण आशा है। दो सहस्र वर्षों में किया गया अलंकार-विवेचन उसका परिवर्तित और परिवर्द्धित स्वरूप उसे सर्वप्रथम इस ग्रन्थ में उपलब्ध हो सकेगा।

सुदीर्घ काल की अलंकार-विषयक ज्ञान-राशि का एकत्र निबन्धन होने के कारण ग्रन्थ का आकार स्वभावतः भारी हो गया है। सागर के आयाम और गिरिराज हिमालय के औन्नत्य के औचित्य को जाननेवाले के लिये यहां भी कोई कठिनाई नहीं होगी। संस्कृत के उद्धरण ग्रन्थ में बहुलता से मिलेंगे, तथ्य को निर्मूल लिखना

अपनी परंपरा के विरुद्ध है—नामूलं लिख्यते किंचित्। विषय भी शास्त्रीय समीक्षा का है, मूल के बिना तथ्य को प्रमाणित करना कठिन हो जाता है, तथापि यथासंभव उद्धरण कम करने का प्रयास किया गया है। इस पर भी यदि सुधीजनों को कुछ असुविधा हो तो क्षमा करेंगे। ग्रन्थ में जो कुछ भी अच्छाई है, वह हमारे प्राचीन आचार्यों की समझी जानी चाहिये, जो दोष आ गये हैं, वे मेरे अपने हैं, संस्कृत आचार्यों का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

संस्कृत-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व यू.जी.सी. प्रोफेसर प्रातःस्मरणीय स्व. गुरु डॉ. वीरमणिप्रसाद उपाध्याय, एम.ए., बी.एल., डी.लिट्., साहित्याचार्य से इस प्रबन्ध को लिखने की सत्प्रेरणा मुझे वर्षों पूर्व मिली थी। उनकी प्रेरणा ही थी कि मैं संस्कृतकाव्यशास्त्रोदधि में अवगाहनक्षम हुआ। परिणाम समक्ष है। हृदय में प्रसन्नता है कि गुरु के एक सारस्वतादेश का परिपालन हुआ। भ्रातृकल्प स्नेहप्रदाता, शिष्यवत्सल स्व. गुरु पं. श्री विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, भूतपूर्व आचार्य, संस्कृत-विभाग मेरे इस बृहत्कार्य में निरन्तर अग्रज तथा आलोकप्रदाता की भूमिका में सन्नद्ध रहे। श्रद्धेय गुरु डॉ. हेमचन्द्र जोशी, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग तथा वर्तमान में राष्ट्रपति पुरस्कार समलंकृत की वैपाश्चिती से मुझे अहर्निश लाभ मिलता रहा। इन गुरुजन की प्रेरणा, आलोक एवं वैदुष्य का सम्बल ही इस वृहत्तम ग्रन्थ की पूर्ति में सहायक रहा है। मैं इनके, जहाँ कहीं भी हों, चरणों में श्रद्धावनत हूँ, हार्दिक कार्तज्ञ्य सम्प्रेषित करता हूँ। डॉ. अतुलचन्द्र बनर्जी, भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग तथा तत्समान पदविभ्राज गुरुवर प्रो. करुणेश शुक्ल का मैं निरन्तर स्नेहभाजन रहा हूँ। उनकी असीम कृपा मेरे लिये चिरस्मरणीय और किसी के लिये भी स्पृहणीय है। मैं इन सुधी-सहृदय गुरुद्वय को सप्रश्रय प्रणिपात निवेदन करता हूँ। विभाग के अन्य पूज्य गुरुजन स्व. डॉ. लक्ष्मीनारायण सिंह, स्व. डॉ. शिवशंकर अवस्थी तथा अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाओं के यशस्वी चिरंजीवी लेखक वर्तमान में मेरे भविष्यमार्ग के देष्टाश्रद्धेय पं. राजकिशोरमणि त्रिपाठी के वैदुष्यपूर्ण व्याख्यानों से मैं सदैव उपकृत होता रहा हूँ। इन विद्वद्वरेण्यों के प्रति मेरा सश्रद्ध प्रणाम है जिनका आशीर्वाद न केवल इस प्रबन्धमात्र प्रत्युत अनेक प्रबन्धों के निर्माण में सहायक रहा है।

विद्याधर की 'एकावली' सुलभ नहीं थी। गोरखपुर विश्वविद्यालय केन्द्रीय ग्रन्थालय ने सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय-ग्रन्थालय, वाराणसी से मंगाकर मुझे पुस्तक उपलब्ध करायी जिसकी प्रति, मेरे घनिष्ठ मित्र एवं विभाग के यशस्वी

अध्यापक प्रोफेसर उमेशचन्द्र पाण्डेय ने साध्यवसाय तैयार कर दी। एतदर्थ मैं उपर्युक्त उभय विश्वविद्यालयों के ग्रन्थालयों, ग्रन्थालयीयजनों तथा प्रोफेसर पाण्डेय का हृदय से आभारी हूँ। स्व. प्रोफेसर रामचन्द्र द्विवेदी की अपनी पुस्तक 'अलङ्कार मीमांसा' के अस्पष्ट अंशों पर मेरा उनसे सुमधुर संवाद हुआ था, समाधान भी मिला था। इस अवसर पर मैं उनका सादर स्मरण करता हूँ। मेरे श्रद्धा-सुमन भी उन्हें अर्पित हैं। मेरी साधना के मूल, सहोदर अग्रज प्रोफेसर बी.एल. दुबे, रसायन-विभाग ने मेरे लिये जो तपस्या की है उसे विस्मरण करना असम्भव है। इस प्रकार के सहोदर सभी को मिलें के साथ परमात्मा से प्रार्थना है कि वह अनामयपूर्वक चिरायु होकर अपने स्नेहसुधा से सतत अभिषिञ्चित करते रहें। जिन प्राचीन-अर्वाचीन आचार्यों, विद्वान् विचारकों, समीक्षकों की कृतियों से प्रकृत प्रबन्ध को पूरा करने में मुझे सहायता मिली है, उन समस्त महामनीषियों के चरणों में सश्रद्ध प्रणिपात करते हुए उनके प्रति मैं अपनी अधमर्णता ज्ञापित करता हूँ। अन्य अनेक मित्रों, छात्रों, बान्धवजनों ने मेरी कल्पना को साकार करने में प्रत्यक्षाप्रत्यक्षतया सोल्लास निरन्तर सहयोग किया है उनके प्रति कार्तज्ञ्य-ज्ञापन शिष्टाचार का परिपालनमात्र होगा। ऐसे सुधी-स्निग्धजनों की सदाशयता को शब्द-सीमा में नहीं बाँधा जा सकता।

किसी भी रचनाकार, लेखक, विचारक को जो तृप्ति प्रबन्ध निर्माण में होती है उससे कहीं अधिक तृप्ति उसे तब मिलती है जब उसकी कृति प्रकाश में आ जाती है, प्रबुद्ध पाठक के हाथों में पहुँच जाती है। 'राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्' नई दिल्ली ने प्रकृत के प्रकाशनार्थ अवदान-राशि प्रदान कर इस काम्य-यज्ञ की पूर्ति में यथासमय सहायता की है। इस कृपा के लिये मैं 'संस्थानम्' के अधिकारियों का अत्यन्त आभारी हूँ क्योंकि उनके सहयोग के बिना यह गुरुतर कार्य सम्भव ही नहीं था। प्रबन्ध की सुन्दर, सुरुचिपूर्ण छपाई के लिये 'राधा पब्लिकेशन्स' नई दिल्ली के तरुण प्रकाशक प्रियश्री नितिन गर्ग को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने समय-सीमा में ही सोत्साह इस कार्य को सम्पन्न किया। इस सुयोग को घटित करने वाले मेरे अतिशय स्नेही प्रोफेसर जे.एल. उपाध्याय ग्रन्थालयी, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर को मैं विस्मृत नहीं कर सकता। प्रो. उपाध्याय प्रबन्ध के प्रकाशन में प्रतिपल मेरे सहयोगी रहे हैं। इसके लिये मैं उनको जितना भी धन्यवाद दूँ कम ही होगा।

प्रस्तुत प्रबन्ध में क्या कुछ नवीन है? मौलिक क्या है? सुधीजन ही विवेक करेंगे। मैंने, संस्कृत-ग्रन्थों की अलंकार-विषयक निधि को यथामति प्रस्तुत करने का प्रयासमात्र किया है। संस्कृत-सुधीजनों से निवेदन है कि प्रमाद-परिमार्जनपूर्वक

ही इसे ग्रहण करेंगे। प्रमाद को यथावसर इङ्गित भी करेंगे। और अन्त में आचार्य जयन्तभट्ट के शब्दों में यही कहना है :

**"कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः।**
**वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम्।।"**

(न्यायमंजरी)

विदुषामाश्रवः-
**दशरथ द्विवेदी**

*श्रीरामनवमी*
*विक्रमाब्द, 2058*

# विषय सूची

*भूमिका*
*संकेत-सूची*
प्रथम अध्याय **अलंकारों का इतिवृत्त** 1-68

सुन्दर और सौन्दर्यानुभूति, सौन्दर्य की अविच्छिन्न परम्परा, धार्मिक एवं यातविक मंत्रों में सौन्दर्य, सौन्दर्य-भावना का क्रमिक विकास, वैदिक काल की सौन्दर्य-अनुभूति, ऋग्वेद : एक उत्कृष्ट काव्य, भूष् धातु : अरंकृत आदि शब्दों का ऋग्वेद में प्रयोग तथा अलंकरण-प्रवृत्ति, वैदिक साहित्य में अलंकार निदर्शन, निघण्टु तथा निरुक्त, व्याकरण शास्त्र और अलंकार, दर्शन शास्त्र और अलंकार, कामशास्त्र और अलंकार, स्मृति-ग्रन्थों में अलंकार का प्रयोग, पालि-साहित्य में अलंकार, अभिलेख और अलंकार, राजशेखर प्रोक्त पौराणिक आख्यान, रामायण, महाभारत तथा परवर्ती महाकाव्यों में अलंकार-प्रयोग, भरत : अलंकार और काव्यलक्षण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, भामह, दंडी, उद्भट, वामन के अलंकार, रुद्रट : अलंकारों का प्रथम वर्गीकरण, रुद्रट एक क्रान्तिकारी प्रतिभा, भोजराज, मम्मट : अन्वयव्यतिरेकभाव, अलंकारों का शब्दार्थोभय त्रिविध विभाग, प्रो. चन्दोरकर और गजेन्द्रगडकर का वर्गीकरण, अग्निपुराण, रुय्यक : आश्रयाश्रयिभाव, आश्रयाश्रयिभाव का खंडन, कतिपय अलंकारों की शब्दार्थोभय व्यवस्था, अलंकार वर्गीकरण के नौ आधार, प्रथम आधार पौनरुक्त्य, रुय्यक के अनुसार अर्थालंकारों का वर्गीकरण तथा प्रचलित भ्रान्त धारणाओं का निराकरण, शोभाकर और अलंकारों की बाढ़, नरेन्द्रप्रभसूरि, हेमचन्द्र-अलंकार नियंत्रण, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, पीयूषवर्ष जयदेव, अलंकार-वृद्धि, विद्याधर, विद्यानाथ : अलंकारों का चतुर्धा वर्गीकरण, कक्ष्याविभाग, रुय्यक का परिष्कार, समीक्षण, विश्वनाथ, अमृतानन्दयोगी, अजितसेन, भावदेवसूरि, केशवमिश्र, चिरंजीव भट्टाचार्य, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ, अरुणगिरि कवि, अच्युतराय, सर्वेश्वर, देवशंकर, नरसिंह, विश्वेश्वर, चन्द्रशेखर, रामचन्द्र विद्यावागीश, छज्जूराम, वेणीदत्त, श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकाल संयमीन्द्र, अलंकार और मनोविज्ञान, अलंकारों का मूल अनुभव और सादृश्य।

*द्वितीय अध्याय* **अलंकार और अन्य प्रस्थान** **69-146**

शब्द ब्रह्म है, शब्दार्थ की शिव-शक्ति सरूपता, भारतीय काव्य एवं साहित्यशास्त्र पर दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव, द्विविध (अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी) चेतना प्रधान कवि-काव्य और काव्यशास्त्र, काव्यशास्त्र का त्रिविध ऐतिहासिक विभाजन, सम्प्रदायानुसारी विभाजन, मूलतः द्विविध विभाग—ध्वनि (अलंकार्य) और अलंकार, अलंकारवादी भामह, दंडी, उद्भट, वामन, रुद्रट, रुद्रभट्ट, कुन्तक एवं महिमभट्ट की दृष्टि में अलंकार, आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त—ध्वनि-विरोधियों का खंडन, काव्यात्मा का निर्धारण, अलंकार की अलंकारता, अलंकार्य रस, व्यंग्यत्रयी, काव्यत्रयी, चित्रकाव्य, भोजराज का अलंकार स्वरूप निरूपण, मम्मट के विचार—उद्भट, वामन का खंडन, ध्वनिकार का समर्थन, परवर्ती आलंकारिक—रुय्यक, शोभाकर अमृतानन्दयोगी, नरेन्द्रप्रभसूरि, हेमचन्द्र, वाग्भट युगल, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, नरेन्द्रप्रभसूरि, केशवमिश्र, कर्णपूर, अप्पयदीक्षित, नरसिंह—की दृष्टि में अलंकार स्वरूप, जगन्नाथ—काव्य का चतुर्धा वर्गीकरण, अच्युतराय, सर्वेश्वर, समीक्षा, पाश्चात्त्य विचारकों की भी दृष्टि में अलंकार काव्य का बहिरंग तत्त्व, अलंकार और उसका काव्य के अन्य तत्त्व—रस, ध्वनि, गुण, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य—से सम्बन्ध, समीक्षा।

*तृतीय अध्याय* **पौनरुक्त्य अलंकार** **147-176**

पौनरुक्त्य की व्याख्या, अनुप्रास—व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वैदिक साहित्य में प्रयोग, उद्भव, कालक्रम से बदलता स्वरूप व विकास, भोज के कतिपय शब्दालंकारों का निरूपण, यमक : व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वैदिक साहित्य में स्थान, उद्भव, भेदोपभेद सहित ऐतिहासिक क्रम से विकास, स्वरूप निर्धारण, पुनरुक्तवदाभास : व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, ऋग्वेद में स्थान, उद्भव-विकास बदलता स्वरूप, उभयालंकारता, चित्रालंकार का खण्डन।

*चतुर्थ अध्याय* **उपमामूलक अलंकार** **177-550**

(अ) **भेदाभेदप्रधान अलंकार** : उपमा, व्यापकता, सादृश्य प्रकार तथा उपमा प्रपंच, व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वैदिक साहित्य में उपमा, निघण्टु प्रोक्त उपमाबोधक 12 निपात—विवेचन, निरुक्त में उपमा की व्याख्या, पंचधा विभाग, बृहद्देवता, वैय्याकरण : पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, कैय्यट, नागेश, भर्तृहरि, वामनजयादित्य, जिनेन्द्र बुद्धि और हरदत्त का

उपमा-विवेचन, शिलालेखों और अभिलेखों का साक्ष्य, दार्शनिक ग्रन्थों का योग, काव्यों में उपमा, काव्यशास्त्र में प्रथम आविर्भाव, भरत, भामह, दंडी, उद्भट, वामन, कुन्तक, भोज, मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, अजितसेन, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अमृतानन्दयोगी, केशवमिश्र, अप्पयदीक्षित, कर्णपूर, देवशंकर, चन्द्रशेखर, रामचन्द्रन्यायवागीश, भावदेवसूरि, नरसिंह, जगन्नाथ, विश्वेश्वर, अच्युतराय, पुंजराज, छज्जूराम तथा वेणीदत्त के उपमा-लक्षण, सादृश्य और साधर्म्य, लक्षण-विश्लेषण, उपमा-तत्त्व, कल्पितोपमा आदि का निरास, साधारण धर्म तथा उसके आधार पर उपमा-भेद, उपमावाचक, भेद-विवेचन : ऋग्वेद से लेकर पूर्वोक्त अनुक्रम से, उपमादोष। अनन्वय : व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वेद में प्रमाण, काव्यशास्त्र में उद्भव, उपमा-क्रम से विकास,[1] भेद-निरूपण, असम और प्रतिमा अलंकार का खंडन। उपमेयोपमा : व्युत्पत्ति, अन्वर्थाभिधा, उद्भव, क्रमिक विकास तथा भेद, दोष-विचार। स्मरण : व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, स्मरण की त्रिविध प्रक्रिया, त्रिधास्मृति, उद्भव विकास, खण्डन-मण्डन, विनोद और व्यासंग अलंकार का खंडन।

(ब) **अभेदप्रधान अलंकार**

(क) *आरोपगर्भ* — रूपक, व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वैदिक साहित्य में प्रयोग, काव्यशास्त्र में प्रथम उदय, विकास तथा बदलता रूप, सादृश्य या इतर सम्बन्ध, रूपक में लक्षणा, भेदनिरूपण, अभेद अलंकार का रूपक में अन्तर्भाव, परिणाम और उसका खंडन। ससन्देह : व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वैदिक साहित्य में निदर्शन, उद्भट क्रमिक विकास, बदलती दिशा, त्रिविध प्रतीति, आरोप और अध्यवसाय, भेद, वितर्क, सन्देहाभास, विकल्प तथा विकल्पाभास अलंकार का खंडन। अपह्नुति : व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वैदिक साहित्य में प्रयोग, उद्भव-विकास, अपह्नुति में सादृश्य, पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति तथा छेकापह्नुति का खण्डन, आरोप या अध्यवसाय, भेद-निरूपण। भ्रान्तिमान् : व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, उद्भव, क्रमिक ऐतिहासिक रूप, आरोप या अध्यवसाय, भेदोपभेद, संस्कार अलंकार का अन्तर्भाव, निश्चय का खंडन।

(ख) *अध्यवसायगर्भ अलंकार* : उत्प्रेक्षा—व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वेद में उदाहरण, उद्भव-विकास, विवाद, अध्यवसाय-संभावना, अध्यवसाय में लक्षणा, भेदोपभेद, उत्प्रेक्षावयव का अन्तर्भाव, उत्प्रेक्षा व्यंजक। अतिशयोक्ति—महत्त्व, अन्वर्थाभिधा, वैदिक साहित्य में, उद्भव-विकास,

1. बाद के सभी आलंकारों में उपमा-क्रम से आलंकारिकों की दृष्टि के अनुसार लक्षण, भेद आदि का निरूपण किया गया है, उनका प्रयोग सूची के सभी अलंकारों में जान लेना चाहिये।

भेद-निरूपण, उल्लेख, हेतु, प्रौढोक्ति, संभावना और मिथ्याध्यवसिति अलंकार तथा उनका खंडन।

(ख) *पदार्थगत* : दीपक-तुल्ययोगिता, दीपक—व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वेद में उदाहरण, उद्भव-विकास, भेदोपभेद, आवृत्ति-दीपक और मालादीपक का खंडन, तुल्ययोगिता—व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, उद्भव-विकास, भेद, दीपक तुल्ययोगिता की एकता।

(घ) *वाक्यार्थगत* : प्रतिवस्तूपमा, अन्वर्थ अभिधान, वस्तुप्रतिवस्तुभाव, उद्भव-विकास, भेद। दृष्टान्त—व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वेद में स्थान, उद्भव-विकास, भेद, विवाद, दृष्टान्त-प्रतिवस्तूपमा की एकता। निदर्शना—व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, उद्भव-विकास, ललित अलंकार का अन्तर्भाव।

(स) **भेदप्रधान अलंकार** : व्यतिरेक—व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वेद में प्रयोग, उद्भव-विकास, विवाद, भेद, वैधर्म्य का खण्डन। सहोक्ति—शब्द विवेचना, वेद में, उद्भव-विकास, भेद, सहोक्ति का अन्य अलंकार में संभव अन्तर्भाव।

(द) **विशेषण विच्छित्त्याश्रय** : समासोक्ति—व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, ऋग्वेद में, उद्भव-विकास, समासोक्ति और अन्य अलंकार, द्वितीय अर्थ की प्रतीति व्यंजना से, भेद-विचार। परिकर—व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वेद में, उद्भव-विकास, भेद, परिकरांकुर की अपृग्रूपता।

(य) **विशेषण विशेष्य विच्छित्त्याश्रय** : श्लेष—व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वेद में प्रयोग, उद्भव, बदलता ऐतिहासिक स्वरूप, शब्दार्थोभयरूपता, विवाद-विवेचन, भेदोपभेद।

(र) **अप्रस्तुत प्रशंसा** : व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, ऋग्वेद में, उद्भव, विकसमानस्वरूप, भेद, व्यंजना या लक्षणा, प्रस्तुतांकुर की अनलंकारता। पर्यायोक्त—उद्भव-विकास, अनुकूल का निराकरण। व्याजस्तुति—उद्भव-विकास, व्यंजना या लक्षणा, भेद-विवेचन, व्याजनिन्दा का अन्तर्भाव। आक्षेप—व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, उद्भव-विकास, भेदोपभेद।

*पंचम अध्याय* **विरोधमूलक अलंकार** **551-613**

विरोध की व्याख्या, विरोध अलंकार,[1] असंभव का अन्तर्भाव। विभावना, विशेषोक्ति, विभावना-विशेषोक्ति की एकता, असङ्गति, विषम, उल्लास का खंडन, विषादन का अन्तर्भाव, अवज्ञा की अवज्ञा, विचित्र

1. सभी अलंकारों की व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, प्राप्त वैदिक उदाहरण, लक्षण से उनका आगमन (यदि है तो) पूर्वोक्त रूप से क्रमिक विकास, भेद-विवेचन आदि की सामान्य- विवेचन-प्रक्रिया ग्रन्थ में प्राप्य है। अतएव यहां सूची में प्रधान विषय का ही निर्देश किया जा रहा है।

का खंडन, अचिन्त्य-चिन्तन। सम, अधिक, अल्प का अन्तर्भाव, अन्योन्य, विशेष, प्रसंग, तन्त्र का अन्तर्भाव, अनुज्ञा का निराकरण, तिरस्कार, व्यत्यास, मुद्रा तथा रत्नावली का खंडन। व्याघात, अशक्य, प्रत्यूह का अन्तर्भाव।

*षष्ठ अध्याय* **शृंखलामूलक अलंकार** **614-627**

शृंखला, कारणमाला, एकावली, सार, उदारसार—अतिरिक्त अलंकार नहीं, वर्धमानक, अवरोह तथा अतिशय का खंडन।

*सप्तम अध्याय* **तर्कन्यायमूलक अलंकार** **628-653**

तर्कन्याय, 'काव्यलिंग'-काव्यलिंग (हेतु) अलंकार नहीं, अर्थान्तरन्यास—उदाहरण और विकस्वर का अन्तर्भाव, अनुमान—अर्थापत्ति अनुमान से गतार्थ, आपत्ति की अलंकारता का निरास, व्याप्ति का खंडन, प्रत्यक्ष, उपमान, अभाव, आगम, शब्द, श्रुति, स्मृति, संभव तथा ऐतिह्य की आलंकारता का खंडन।

*अष्टम अध्याय* **वाक्यन्यायमूलक अलंकार** **654-688**

वाक्यन्याय, यथासंख्य—यथासंख्य अलंकार नहीं, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, दार्शनिक स्वरूप, विधि-नियम का अन्तर्भाव, समुच्चय, समाधि—प्रत्यादेश का अन्तर्भाव, अनुकृति तथा प्रहर्षण का निराकरण।

*नवम अध्याय* **लोकन्यायमूलक अलंकार** **689-723**

लोकन्याय, प्रत्यनीक, प्रत्यनीक उत्प्रेक्षा से व्यतिरिक्त नहीं, प्रतीप का अन्तर्भाव, मीलित, सामान्य, दोनों की एकता, विवेक, उन्मीलित तथा विशेषक पृथक् अलंकार नहीं, तद्गुण, प्रतिप्रसव और पूर्वरूप का अन्तर्भाव, अनुगुण का खण्डन, अतद्गुण, उत्तर, विनोक्ति।

*दशम अध्याय* **गूढार्थप्रतीतिपरक अलंकार** **724-776**

गूढार्थप्रतीति, सूक्ष्म, भाव अलंकार की सूक्ष्म से एकता, पिहित-उद्भेद का अन्तर्भाव, व्याजोक्ति—गूढ, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, परभाग का निराकरण, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, महत्त्व, वस्तुस्वभाव के भेद, भाविक—अन्य अलंकार और गुण से पृथक् सत्ता, उदात्त, अत्युक्ति मत का अन्तर्भाव, अविशेष की समासोक्ति अभिन्नता, आशीः, प्रियोक्ति मात्र, अहेतु, प्रतिमा, क्रियातिपत्ति, विपर्यय, उद्रेक, तुल्य, अनादर, आदर, निरुक्ति, प्रतिषेध और विधि अलंकार का विचार।

*एकादश अध्याय* **चित्तवृत्तिमूलक अलंकार** 777-789

रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता का निरूपण।

*द्वादश अध्याय* **मिश्र अलंकार** 790-803

मिश्र अलंकारों की स्वतंत्र शोभा, संसृष्टि-संकर, संसृष्टि विवेचन, संकर विवेचन, संसृष्टि, संदेहसंकर तथा एकवाचकानुप्रवेश संकर का खंडन और अंगांगिभावसंकर में उनका अन्तर्भाव, उपसंहार।

*उपसंहार* 804-806

*सहायक ग्रन्थ-सूची* 807-816

# संकेत-सूची

| | | |
|---|---|---|
| अ | = | अलंकार, अध्याय |
| अ.क्र.वि. | = | अलंकारों का क्रमिक विकास |
| अ.को. | = | अमरकोष |
| अ.कौ. | = | अलंकार कौस्तुभ |
| अ.चिं. | = | अलंकार चिंतामणि |
| अ.चू. | = | अलंकार चूडामणि |
| अ.चं. | = | अलंकार चन्द्रिका |
| जे.ए.आ.सी. | = | जर्नल ऑफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट्स क्रिटिसिज़्म |
| अ.प्र. | = | अलंकार प्रदीप |
| अ.पु. | = | अग्निपुराण |
| अ.भा. | = | अभिनव भारती |
| अ.म. | = | अलंकार महोदधि, अलंकार मणिहार |
| अ.मणि. | = | अलंकार मणिहार |
| अ.मी. | = | अलंकार मीमांसा |
| अ.मु. | = | अलंकार मुक्तावली |
| अ.मं. | = | अलंकार मंजूषा, अलंकार मंजरी |
| अ.र. | = | अलंकार रत्नाकर |
| अ.स. | = | अलंकार सर्वस्व |
| अ.सं. | = | अलंकार संग्रह |
| अ.शे. | = | अलंकार शेखर |
| आ. | = | आरण्यक |
| आ.आ., आ.आ.सं.ग्र. | = | आनन्द आश्रम, आनन्द आश्रम, संस्कृत ग्रन्थावलि |
| उ. | = | उणादि, उद्योत |
| एका. | = | एकावली |
| ऐ.उ. | = | ऐतरेय उपनिषद् |
| ओ.रि.इ. | = | ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट |

| | |
|---|---|
| ओ.ए. | = ओरियन्टल एस्थेटिक्स |
| औ.वि., औ.वि.च. | = औचित्य विचार चर्चा |
| ऋ. | = ऋग्वेद संहिता |
| कठ., कठो. | = कठोपनिषद् |
| का. | = काव्यालंकार, काव्यादर्श, कारिका |
| का.चं. | = काव्यचन्द्रिका |
| का.दी. | = काव्यदीपिका |
| का.धे. | = कामधेनु |
| का.प्र. | = काव्यप्रदीप, काव्यप्रकाश |
| का.मा. | = काव्यमाला सीरीज |
| काव्या. काव्यालं. | = काव्यादर्श, काव्यालंकार |
| काव्यानु. | = काव्यानुशासन |
| का.वि. | = काव्यविलास |
| का.सा. | = काव्यालंकारसार |
| का.सा.सं. | = काव्यालंकार सार संग्रह |
| का.सू. . | = कामसूत्र |
| का.सू.वृ. | = काव्यालंकार सूत्रवृत्ति |
| का.सं., का.प्र.सं. | = काव्यादर्श संकेत, काव्यप्रकाश संकेत |
| का.सं.सी. | = काशी संस्कृत सीरीज |
| कु. | = कुवलयानन्द |
| कु.का. | = कुवलयानन्द कारिका |
| कु.सं. | = कुमारसंभव |
| गा.ओ.सी. | = गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज |
| गुरुम. | = गुरुमर्म प्रकाश |
| चन्द्रा. | = चन्द्रालोक |
| चि.मी. | = चित्रमीमांसा |
| चौ.सं.सी. | = चौखम्बा संस्कृत सीरीज |
| छा.उ. | = छान्दोग्य उपनिषद् |
| ज.मं. | = जयमंगला |
| तैत्तिरीयो. | = तैत्तिरीयोपनिषद् |
| त्रिवे. | = त्रिवेन्द्रम् |
| द्वि. | = द्वितीय |

| | | |
|---|---|---|
| ध्व., ध्वन्या. | = | ध्वन्यालोक |
| न.सा. | = | नमिसाधु |
| ना.शा. | = | नाट्यशास्त्र |
| नि. | = | निघण्टु, निरुक्त |
| नि.सा. | = | निर्णय सागर प्रेस, बाम्बे |
| नं.य. | = | नञ्जराजयशोभूषण |
| न्या.सू. | = | न्यायसूत्र |
| पा. | = | पाणिनीय अष्टाध्यायी |
| पो.व्यू.रि. | = | पोइटिक ब्यूटी ऑफ दि रिग्वेद |
| प्र. | = | प्रदीप |
| प्र.प्र. | = | प्रदीपप्रभा |
| प्र.रु., प्रता.रु. | = | प्रतापरुद्रयशोभूषण |
| प्रश्नो. | = | प्रश्नोपनिषद् |
| बा.बो. | = | बालबोधिनी |
| बा.रा. | = | बालरामायण |
| बी.ओ.आर.आई. | = | भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट |
| भा. | = | भाग |
| भा.पु. | = | भागवत पुराण |
| भा.सा.का. | = | भारतीय साहित्य शास्त्र और काव्यालंकार |
| भा.सा.शा. | = | भारतीय साहित्य शास्त्र |
| म.भा. | = | महाभारत, महाभाष्य |
| मा.मा. | = | मालती माधव |
| मीमा. | = | मीमांसा सूत्र |
| मुण्डक, मुण्डको. | = | मुण्डकोपनिषद् |
| य., य.भा. | = | यजुर्वेद, यजुर्वेदभाष्य |
| र.गं. | = | रस गंगाधर |
| रत्ना. | = | रत्नापण |
| र.द. | = | रत्नदर्पण |
| र.मी. | = | रस मीमांसा |
| र.रं. | = | रसिक रंजनी |
| रि.सि.सं.लि. | = | रिमार्क्स ऑन सिमिलीज़ इन संस्कृत लिट्रेचर |
| ल.वृ. | = | लघुवृत्ति |

| | |
|---|---|
| लो. | = लोचन |
| व.जी. | = वक्रोक्तिजीवित |
| वा.प. | = वाक्यपदीय |
| वा.सं. | = वाजसनेयी संहिता |
| वि. | = विवृति, विमर्शिनी, विवेक |
| वि.पु., वि.धर्मो. | = विष्णु धर्मोत्तर पुराण |
| वि.रा.भा.प. | = विहार राष्ट्रभाषा परिषद् |
| वि.इ.ज. | = विश्वेश्वरानन्द इंडोलजिकल जर्नल |
| व्य.वि. | = व्यक्ति विवेक |
| श.ब्रा. | = शतपथ ब्राह्मण |
| शु.य. | = शुक्ल यजुर्वेद |
| शृं.प्र. | = शृंगार प्रकाश |
| स.कं. | = सरस्वती कंठाभरण |
| स.ब. | = समुद्रबन्ध |
| सा.कौ. | = साहित्य कौमुदी |
| सा.चू. | = साहित्य चूडामणि |
| सा.द. | = साहित्य दर्पण |
| सा.बि. | = साहित्य बिन्दु |
| सा.सा. | = साहित्यसार |
| स्ट.सं.पो. | = स्टडीज़ इन संस्कृत पोइटिक्स |
| स्टा.रि.वे. | = स्टाइलिस्टिक रिपिटीशन इन वेद |
| सि.कौ. | = सिद्धान्त कौमुदी |
| सु. | = सुधा |
| सु.सा. | = सुधा सागर |
| सं. | = संजीवनी, संकेत |
| सं.का.इ. | = संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास |
| संजी. | = संजीवनी |
| सं.पो. | = संस्कृत पोइटिक्स |
| सं.प्र. | = संप्रदाय प्रकाशिनी |
| सं.सा.अ.वि. | = संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास |
| सं.इ. | = संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी |
| हि.सं.पो. | = हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स |

प्रथम अध्याय

# अलंकारों का इतिवृत्त

## सुन्दर और सौन्दर्यानुभूति

सामान्यतः जिस वस्तु से मन में कोई सुखद अनुभूति उत्पन्न होती है, उसे सुन्दर कहा जाता है। सान्ध्य-उषा की रक्तिम आभा, नीलिम निरभ्र आकाश, पूनों की ज्योत्स्ना, रंग-बिरंगे पुष्प, दूर तक फैली धरती की हरीतिमा, कल-कल करता निर्झर-निनाद, मधुकर का मधुर गुंजन, पक्षिगणों का मनोहरी कलगान, आदि सभी वस्तुएं सुन्दर हैं, क्योंकि ये सभी मन में एक सुखद अनुभूति की सृष्टि करती हैं। इसी सुखद अनुभूति को सौन्दर्यानुभूति कहा जाता है। यद्यपि मन की यह अनुभूति तत्त्वतः एक रूप होती है, किन्तु विषय-भेद से अनेकधा प्रकल्पित की जाती है।[1]

## सौन्दर्य की अविच्छिन्न परम्परा

प्राकृत युग से लेकर आणव काल तक मानवीय विकास-क्रम में सौन्दर्य-तत्त्व के निरंतर निदर्शन पाये जाते हैं। प्रागैतिहासिक युग की गुफाओं एवं भित्तियों पर प्राप्त चित्रण प्राकृत सौन्दर्य भावना को पूर्णतः अभिव्यक्त करते हैं। बर्मी गुहा[2] एवं बावेरिया[3] में प्राप्त हार तथा स्पेन के कोगुल, अल्पिरा और अल्तामिरा के गुहाचित्र[4] इसके प्रबल प्रमाण हैं। फ्रांस की नदियों की तराइयों में पूर्व पाषाण-युग के ग्रेवेटियन तथा मैगडालेनियन जनों द्वारा अलिखित चित्र भी[5] मानव के सहज सौन्दर्य और अलंकरण-प्रियता को परिलक्षित करते हैं। इनमें अधिकांश आखेट-चित्र हैं। मैमथ-दन्तों तथा पाषाण-फलकों पर उत्कीर्ण नारी के कमनीय अंगों के सहज लावण्य को अभिव्यक्त करने वाले व्यक्ति चित्रों की प्रकृत-यथार्थता, सादृश्य-योजना एवं सजीवता देखते ही बनती है। इसी परिसर में सौन्दर्य अभिवृद्धि तथा धार्मिक संतुष्टि के निमित्त अफ्रीकी जनों की शारीरिक संरचना भी दर्शनीय है। प्राग्वैज्ञानिक मानव की स्वाभाविक सौन्दर्य-प्रियता उसके अहर्निश उपयोग में आने वाले पात्रों तथा शस्त्रास्त्रों में सहज देखी जा सकती है। अमर्शियन पात्रों पर आलिखित वृक्षों, पशुओं तथा पक्षियों का कमनीय सौन्दर्य अपने आप में अपूर्व है।[6] सिन्धुनदी के समीपवर्ती प्रदेशों के सांस्कृतिक अवशेषों पर दृष्टिपात करें, जिनका समय ईसा से

तीन हजार वर्ष पूर्व माना जाता है, तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि उतने प्राचीन समय में भी वास्तु, मूर्ति, चित्र, भाण्ड-निर्माण, लौह-वस्तु-रचना, आदि अनेक सुन्दर कलाएं प्रचलित थीं। पुरातत्त्व-खोजों से प्राप्त पकी हुई ईंटें, चूने, पकी हुई मृन्निर्मित मानव और पशुओं की मूर्तियां, वृभष-चित्र, लेखांकित मुद्रा, सुरमे की सलाई, सीप के चम्मच, कंकण, अंगूठी एवं चित्रांकित भांडों में मानव के सहजात सौन्दर्य-प्रेम को देखा जा सकता है।[7] इस परिप्रेक्ष्य में अजन्ता, एलोरा, खुजराहो, आदि में भारतीय शिल्पी की छेनी और तूलिका का अद्भुत कौशल अकथ्य है।[8]

## धार्मिक एवं यातविक मंत्रों में सौन्दर्य

धर्म, यातु और मानव-सृष्टि समान रूप से प्राचीन है।[9] धर्म और यातु प्रायः सभी संस्कृतियों में समान रूप से पाया जाता है।[10] यातुविद् की वाणी में आरोह-अवरोह आदि का विशेष ध्यान रखा जाता था। स्वरों की मन्द्रता, क्षिप्रता, उदात्तता, अनुदात्तता, आदि में नियमों का पूर्णतः परिपालन किया जाता था।[11] धर्म और यातु में इष्ट-सिद्धि के लिए प्रयुक्त वाणी की शैली में उच्चारण तथा ध्वनि-साम्य का वैषम्य निष्फलक एवं अनर्थकारी हो जाता है।[12] भारतीयों में यह सिद्धांत अधिक गहराई तक बद्धमूल है। भारतीय मनीषी स्वर अथवा वर्ण से उद्भूत दोष-युक्त शब्दों के उच्चारण का प्रतिषेध करता है। स्वर अथवा वर्ण से दुष्ट शब्द न केवल यजमान की इष्ट-सिद्धि में बाधक होता है, प्रत्युत विनाशकारी भी हो जाता है।[13] इसके विपरीत एक भी शब्द का विधिवत् ज्ञान तथा सम्यक् सुप्रयोग अनेक ऐहिक तथा आमुष्मिक भद्र कामनाओं की सृष्टि करता है।[14] प्राकृत मानव के धार्मिक, यातुक श्रद्धा-स्वरों में सुर-ताल, ध्वनि-संश्लेष तथा अनुरणन से संपृक्त अनुभूति का गुम्फन पाया जाता है। यहां क्रम-बद्धता, औचिती एवं प्रभविष्णुता से परिपूर्ण साहित्य के निखिल उदात्त तथा महनीय अतिशायी तत्त्व पाये जाते हैं। श्रुति-सुखद एवं मन को संतोष प्रदान करने वाले इस निर्माण ने अनुवर्ती कृतिकार की रचना में निश्चय ही सौन्दर्य-तत्त्व तथा अन्य पारम्परिक गुणों को सुप्रतिष्ठित होने का अवसर प्रदान किया होगा।[15] आधुनिक विचारक धार्मिक और यातुक मंत्रों में भले ही सौन्दर्य-तत्त्व की उपेक्षा करे, वस्तुतः वे मनन की आधारशिला हैं। यहां धार्मिक यातुक दृष्टि के साथ-साथ सौन्दर्य का भी ध्यान रखा गया है।[16] तत्त्वतः इन प्राकृत कला-विधानों में विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक क्रिया-कलापों के अतिशायी तत्त्वज्ञान के साथ-साथ संस्कृति एवं साहित्य के अन्तर्निष्ठ घटकों की विस्मयकारी एवं अद्भुत सामर्थ्य क्षमता दृष्टिगोचर होती है। मंत्रों की अनुरणनात्मकता,

ध्वनि-साम्य, सुर-ताल-बद्धता, सादृश्य-विधान, आदि से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत कविता के सिद्धांतों के मूल, अलंकार विज्ञान का आधार पूर्वक्लासिकल साहित्य ही था।[17] यहां नियमबद्धता तथा तांत्रिकता का पूर्णतः विकास परिलक्षित होता है।[18] तांत्रिक उच्चारण, मारण आदि के मंत्रों में भी शब्दावृत्ति के प्रचुर प्रमाण पाये जाते हैं।[19] प्राचीन काल का कवि इस प्रकार की सम्मोहक वाणी का कुशल प्रयोक्ता था, जिसे ओझा, पुरोहित तथा जन-नेता भी कहा जा सकता है।[20] सौन्दर्यमयी वाणी का सम्यक् प्रयोग या सुन्दर शब्दार्थ का गुम्फन ही तो अलंकार है।[21]

## सौन्दर्य-भावना का क्रमिक विकास

ज्यों-ज्यों मानव अपने मानसिक संकायों का अभ्यास और विकास करता गया, त्यों-त्यों वह वास्तविकता का निर्णय तथा जीवन और प्रकृति के विभिन्न पहलुओं को दृष्टिगोचर करने का प्रयास करता गया। विभिन्न असाधारण वातावरणों में आकर संभवतः वह स्वयं वास्तविकता और स्थिरता के महत्त्व से संपृक्त हुआ। इन सम्बन्धों को मानसिक स्थैर्य प्रदान करने का प्रयास करते हुए उसने आनन्द के उद्देश्य से इन्हें कम या बेसी सुचारू रूप में सिद्धांत का रूप देने का प्रयास किया। ऐसा करते हुए उसने अपने ज्ञान की उत्तमोत्तम सूझ-बूझ से उन वास्तविक तथ्यों का विभाजन किया, जो उसे महत्त्वपूर्ण लगे। इस प्रकार उसने ऋतु, आकाश, सुधानिधि के स्वरूप पशु, पुष्प, कुछ महत्त्वपूर्ण पौधे, प्रकृति में अमानवीय शक्ति, मानव के मानसिक, स्वाभाविक एवं सामाजिक संकायों के विभाजन तथा ऐसे ही अन्य विभागों को निकायों में नियंत्रित किया।[22] इस प्रकार के वर्णनों का वैदिक साहित्य में बाहुल्य है। निश्चय ही ये वास्तविक तथा स्वभावानुकूल वर्णन परवर्ती आलंकारिकों की जाति या स्वभावोक्ति अलंकृति माने जायेंगे। मानव का लौकिक अनुभव ज्यों-ज्यों समृद्ध से समृद्धतर होता गया त्यों-त्यों साम्य, विरोध, आदि को लेकर चलने वाले अलंकार उसकी उक्ति में स्वतः स्थान पाने लगे।[23]

## वैदिक काल की सौन्दर्य-अनुभूति

प्राकृत जीवन सफलता, असफलता, हर्ष, विषाद और संघर्ष का आगार था। संघर्ष में भी एक अपूर्व आनन्द है, क्योंकि संघर्ष में भी एक अद्भुत आनन्द छिपा रहता है।[24] भीषणता-सरसता, कोमलता-कठोरता, कटुता-मधुरता और प्रचण्डता

एवं मृदुता का सामंजस्य ही लोक-धर्म का सौन्दर्य है ।[25] सौन्दर्य की धर्म और मंगलमयी यह ज्योति, असौन्दर्य के आवरण को हटाकर अधर्म और अमंगल की घटा को फाड़ती-विदारती हुई फूट पड़ती है । वैदिक साहित्य ऐसे ही सौन्दर्य का विधायक है । यहां भी हम प्रकृति के रुक्ष, मृदु तथा मनोहारी सौन्दर्य में धर्म और मंगल की सतत अनुभूति पाते हैं । जीवन-सौन्दर्य से प्राकृतिक सौन्दर्य अनुप्राणित है, प्राकृतिक सौन्दर्य से जीवन-सौन्दर्य का विकास अनुस्यूत है तथा जीवन का यह सौन्दर्य आश्चर्य एवं वैचित्र्य से परिपूर्ण है ।[26] आंखों से दिखाई पड़ने वाला बाह्य सौन्दर्य भीतर के माधुर्य को संपुष्ट करता है और भीतर के माधुर्य से बाह्य उद्दीप्त होता है ।[27] फिर तो कोई आश्चर्य नहीं, यदि वैदिक कवि, दिन् की पुत्री उषा को सद्यःस्नात, धवल परिधान में अवगुंठित कामिनी समझकर झूम उठा हो, बहुत संभव है कि नाच उठा हो और उसकी संस्तुति में अनायास ही उसके मुख से हृत्तन्त्री को झंकृत कर देने वाले गीत फूट पड़े हों । आधुनिक विद्वान् भौतिक तथा आध्यात्मिक दो दृष्टियों से सौन्दर्यशास्त्र की व्याख्या प्रस्तुत करता है ।[28] वस्तुतथ्य तो यह है कि एक-दूसरे के बिना ये दोनों ही व्याख्यायें अपूर्ण और एकांगी हैं । आधुनिक युग विज्ञान प्रधान होते हुए भी सौन्दर्य की वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय मीमांसा में असफल रहा है । आश्चर्य की बात तो यह है कि वैदिक साहित्य में इस एकांगीपन का सर्वथा परित्याग करके सौन्दर्य मीमांसा का सफल प्रयास किया गया प्रतीत होता है ।[29] राष्ट्र के सांस्कृतिक स्तर पर उन्नत होने पर ही सभी महत्त्वपूर्ण कलाएं विकसित होती हैं । ऋग्वेद में बुनाई, बढ़ईगिरी, लोहारी, कुम्हारी, सोनारी, चर्मकारी, माल्य-निर्माण कला, केश संस्कार कला, भैषज्य कला, संगीत कला, वास्तुकला, कढ़ाई, नृत्य, काव्य एवं नाट्यकलाओं का उल्लेख तथा संकेत मिलता है[30] जिनके आधार पर वैदिक मानव की समुन्नत सौन्दर्य-अभिरुचि का सहज अनुमान लगाया जा सकता है । डॉ. फतहसिंह ने वैदिक कवि की उत्कृष्ट सौन्दर्य-साधना का अपने ग्रन्थ में सही मूल्यांकन प्रस्तुत किया है ।[31]

### ऋग्वेद : एक उत्कृष्ट काव्य

आलंकारिकों के अनुसार किसी भी उत्कृष्ट काव्य के लिए उसमें रस, ध्वनि, गुण, अलंकार, आदि काव्य-तत्त्वों का समावेश परमावश्यक है ।[32] इन तत्त्वों के अभाव में कविता को उत्कृष्ट माना ही नहीं जा सकता । यद्यपि ऋग्वेद एक धार्मिक ग्रन्थ है, तथापि उसमें कवि और काव्य का उल्लेख तो है ही,[33] काव्य के इन समग्र तत्त्वों का समुचित सन्निवेश भी है ।[34] शान्त, सुन्दर तथा एकान्त मधुर प्रकृति वैदिक

कवि की न केवल आनन्दप्रद चिरसंगिनी ही थी, अपितु वह उसका निवासभूत अपना सुखद गृह भी थी। उसकी संस्तुति में समय-समय पर क्रांति द्रष्टा कवि के अन्तस् से निःसृत प्यार और भावना की अनुभूति से भरे हुए मधुर गीतों में आज भी हृत्तन्त्री को झंकृत कर देने वाली जो अद्भुत क्षमता दृष्टिगोचर होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकार के राग-भरे गीतों की पूर्ण अभिव्यक्ति उषः सूक्त में हुई है। इन गीतों में रस, ध्वनि, गुण, अलंकार, आदि का अद्भुत सामंजस्य दिखायी पड़ता है। यहां इन तत्त्वों की उपलब्धि से यह अभिप्राय नहीं है कि वैदिक कवि इन तत्त्वों को उसी रूप में जानता भी था जिस रूप में इनका प्रयोग ध्वनिकार आदि ने किया है। ध्वनि शब्द का प्रयोग तो आनन्दवर्द्धन से पूर्व किसी आलंकारिक ने नहीं किया था, पर वे इस तत्त्व की अनुभूति तो करते ही थे।[35] यही बात वैदिक कवि के विषय में भी समझनी चाहिये। महेन्द्र कुमार वर्मा ने अपने शोध-ग्रन्थ में बड़ी कुशलता से यह प्रदर्शित करने का सफल और स्तुत्य प्रयास किया है कि संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ[36] ऋग्वेद में रस, ध्वनि, गुण, अलंकार, आदि काव्यों का पूर्ण विकास परिलक्षित होता है।[37] कहना अनुचित न होगा कि वैदिक कवि की प्रकृष्ट मेधा की उद्भूति ऋग्वेद एक उत्कृष्ट काव्य है।

**भूष् धातु : अरंकृत आदि शब्द तथा अलंकरण-प्रवृत्ति**

पाणिनि के अनुसार अलंकृत अथवा विभूषित करने अर्थ में भूष् धातु का प्रयोग किया जाता है।[38] परिभूषन्ति, भूषन्, परिभूषति, पर्यभूषयत, परिभूषत जैसे शब्दों का ऋग्वेद में अनेक बार उल्लेख हुआ है,[39] जिनमें भूष् धातु का उपर्युक्त अर्थ में ही प्रयोग किया गया है। संस्कृत में र - ल तथा ड - ल वर्णों का अभेद माना जाता है—रलयोर्डलयोरभेदः—पाणिनिसूत्र 'कृपो रोल, 8/2/18' भी इस तथ्य को पुष्ट करता है। ऋग्वेद में अरंकृत, अरंकृति जैसे शब्दों का अनेकधा प्रयोग उपलब्ध होता है। इन शब्दों में प्रयुक्त अरम् शब्द अलम् ही है। अमरकोष, वाचस्पत्यम् शब्दकल्पद्रुम, आदि कोष-ग्रन्थ तथा पाश्चात्त्य विद्वानों के अनुसार अरम्=अलम् का अर्थ है, सजाना, भूषित अथवा अलंकृत करना।[40]

**वायवायाहि दर्शते मे सोमा अरंकृता :** ऋ 1/2/1
**त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते** —वही, 2/1/7
**का ते अस्त्यरंकृतिः सूक्तैः** —वही, 7/2/3
**आदित्यानामरंकृते** —वही, 8/7/3
**यज्ञकामोऽरंकृत्या तमसि क्षेष्यग्ने**[41] —वही, 10/4/5

इनमें सायण ने 'अरंकृताः' का 'अलंकृताः', 'अरंकृते' का 'यज्ञकृते', 'अरंकृतिः' का 'अलंकृतिः' अर्थ किया है। इसी प्रकार अन्य शब्दों में अधिकांश अलंकार के ही वाचक हैं। इससे एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि वैदिक कवि भी अलंकृत करने, सजाने अथवा विभूषित करने के अर्थ में अलंकार या इसके समानार्थक अलंकृति जैसे शब्दों का प्रयोग किया करता था। इस प्रकार भूष् धातु तथा इन शब्दों का प्रयोग इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है कि वैदिक काल में अलंकरण की सहज प्रवृत्ति विद्यमान थी। भले ही उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग यज्ञ-वेदी अथवा कामिनी-तनु को अलंकृत करने के लिये प्रयुक्त होता रहा हो, पर क्या यह स्वाभाविक नहीं है कि प्रकृति, वेदी और कामिनी को अलंकृत देखने वाला कवि कविता-कामिनी को भी अलंकृत करने के लिए मचल उठा होगा? यज्ञ-वेदी को अलंकृत करने वाला कवि (ऋषि) कम सौन्दर्य-प्रेमी न रहा होगा। यज्ञ-वेदी अलंकृत हो सकती है, तो उसकी कविता क्यों नहीं अलंकृत हो सकती? और तब उत्तरकालीन काव्यशास्त्र का प्रथम पण्डित इसी से प्रेरणा प्राप्त कर कविता में अलंकार-प्रयोग का विचार किया होगा, बहुत सभव है कि तब इस (अलंकार) शब्द को उसने काव्यशास्त्र में उतार लिया हो। इस प्रकार बर्गेन का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है कि ऋग्वेद कल्पना की भूमि और अलंकार शास्त्र की उपज है।[42] उपर्युक्त ऋग्वेदीय अरंकृत शब्द कालान्तर में ब्राह्मणों में आकर अलंकृत और पुनः अलंकार के रूप में प्रकट हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में दो स्थलों पर अलंकार शब्द का प्रयोग हुआ है।[43] सायण के अनुसार दोनों ही अलंकरण अर्थ में गृहीत हैं। आगे चलकर उपनिषदों[44] तथा निरुक्त में इस शब्द का प्रयोग पाया जाता है। ध्यातव्य है कि वैदिक साहित्य में अलंकार शब्द का प्रयोग तो पाया जाता है, पर काव्यालंकार के लिये इनका प्रयोग होता था या नहीं, इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है।[45]

### ऋग्वेद में अलंकार निदर्शन

वेदों में अलंकार तत्त्व की खोज कोई नयी प्रवृत्ति नहीं है, पर आज तक दृढ़ शब्दों में किसी ने भी यह कहने का साहस नहीं किया कि उस काल में काव्यशास्त्र सम्बन्धी कोई आधार वर्तमान था। बहुत संभव है कि वेदांगों के किसी अंग में काव्यशास्त्र भी रहा हो और काल के थपेड़ों से लुप्त हो गया हो। जो भी हो, यह कहना बड़ा कठिन है कि वैदिक काल में काव्यशास्त्र नाम की कोई वस्तु विद्यमान थी। महामहोपाध्याय पांडुरंग वामन काणे का अभिमत है कि अधिकांश प्राचीन

ग्रन्थों में अलंकार बहुत कम पाये जाते हैं। पुनः वह यह भी स्वीकार करते हैं कि उपमा और रूपक के बिना कोई भाषा विकसित नहीं हो सकती।[46] वैदिक साहित्य से उन्होंने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, श्लेष आदि अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[47] डॉ. दे का विचार है कि काणे ने वैदिक साहित्य में अलंकार-प्रयोग पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है।[48] डॉ. दे के इस कथन का काणे ने अपने नये संस्करण में सविस्तार खण्डन कर दिया है।[49] डॉ. दे के उपर्युक्त मत का निराकरण खोंदा के दो ग्रन्थों तथा फतहसिंह और महेन्द्र कुमार वर्मा के ग्रन्थों से भी हो जाता है।[50] प्रो. दिवेकर के अनुसार अलंकारशास्त्र, साधारणतया काव्य की भाषा, विशेषकार काव्यालंकार के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में हमें प्राचीन ग्रन्थों से कोई निर्देश नहीं मिलता।[51] उनका यह भी कथन है कि वैदिक कवियों ने कुछ ऐसे संकेतों और चिह्नों का प्रयोग किया है, जिन पर उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य के कुछ अलंकार आधृत हैं।[52] डॉ. खोंदा ने वैदिक साहित्य से अर्थ, काम, प्रकृति, आदि विभिन्न विषयों पर आधृत उपमा के चालीस से अधिक प्रकारों को खोज निकाला है।[53] इसी प्रकार उन्होंने वेदों से अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास, उपमा, लुप्तोपमा, रूपक, आदि के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[54] वस्तुतः वैदिक साहित्य में उपमा, रूपक, दीपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सन्देह, व्यतिरेक, काव्यलिंग, विशेषोक्ति, कारणमाला, सार आदि अर्थालंकारों तथा अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, श्लेष, आदि शब्दालंकारों के निदर्शन बहुलतया पाये जाते हैं, जिनका विवेचन तत्तद् अलंकारों के विवेचन अवसर पर उपलब्ध होगा। उपमा-प्रकरण में गार्ग्यप्रोक्त उपमा लक्षण, निघंटुप्रोक्त बारह उपमा-व्यंजक निपातों तथा निरुक्तप्रोक्त पांच उपमा भेदों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा, जिनसे सामान्यतया अलंकार, विशेषकर उपमा के विकास पर एक स्पष्ट दृष्टि उपलब्ध हो सकेगी। वैदिक काल में काव्यशास्त्र सम्बन्धी कोई ग्रन्थ उपलब्ध था, प्रमाणों के अभाव में यह कहना यद्यपि कठिन है, तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि तत्कालीन साहित्य, विशेषकर ऋग्वेद में वे मूल तत्त्व निहित हैं, जिनके आधार पर उत्तर वैदिक कालीन कवियों तथा काव्यशास्त्रियों ने काव्यालंकारों का विकास किया। इस परिसर में काणे का यह कथन कि वैदिक कवि काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का कुछ ज्ञाता भी था, उपयुक्त प्रतीत होता है।[55]

### व्याकरण शास्त्र और अलंकार

निघंटुकार निरुक्तकार यास्क (लगभग 700 ई.पू.) के पूर्ववर्ती हैं। जैसा कि

पहले कहा जा चुका है, निघंटु में उपमा वाचक बारह निपातों का उल्लेख है।[56] यास्क ने गार्ग्य के नाम से उपमा लक्षण उपस्थित किया है,[57] जो परवर्ती आलंकारिकों के उपमा लक्षण के समान है। उन्होंने उपमा के पांच भेदों का भी विवेचन किया है।[58] इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है, कि यास्क से पहले ही अलंकार की शास्त्रीय विवेचना प्रारंभ हो गयी थी। प्रसिद्ध वैयाकरण महर्षि पाणिनि (500 ई.पू.) तक तो उपमा आदि अलंकारों की न केवल शास्त्रीय धारणा बन चुकी थी, अपितु उन पर विधिवत् गवेषणायें भी प्रारंभ हो चुकी थीं। अष्टाध्यायी में अलंकार, अलंकरिष्णु जैसे शब्दों का बाहुल्य तो है ही, उपमा, उपमान, उपमेय, उपमिति, सामान्य, साधारण धर्म, सादृश्य औपम्य, उपमार्थ, आदि अनेक उपमा-साधक तत्त्वों का भी उल्लेख है। इनके अतिरिक्त कृत्, तद्धित, समासान्तप्रत्यय, समासविधान तथा स्वर-प्रक्रिया में सादृश्य के कारण जो प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, उसका भी संकेत पाणिनि ने प्रायः पचास से अधिक ही सूत्रों में किया है। पाणिनि-सूत्र ही वे प्रथम आधार हैं, जिनसे उपमा-भेद, उपमा-प्रपंच, रूपक, सहोक्ति, यथासंख्य, परिवृत्ति, आदि अलंकारों का विकास किया गया। अन्य अलंकार उत्प्रेक्षा आदि जो शब्द (और अर्थ) के आधार पर अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति करते हैं वे भी मूलतः व्याकरणशास्त्र की प्रक्रिया पर आधृत है। पाणिनि ने भूष, भूषण, अलंकरण, आदि अर्थों की अभिधायक अनेक धातुओं का भी परिगणन किया है। कात्यायन (ई.पू. 350) ने अपने वार्तिक तथा शान्तनव ने फिट् सूत्रों (2/16, 4/8) में स्वर-विधान पर पड़ने वाले सादृश्य प्रभाव का स्पष्ट वर्णन किया है। उपमा-प्रभृति अलंकारों के भेदोपभेदों के विकास में कात्यायन का कितना महत्त्वपूर्ण योग है, यह उपमा-प्रकरण में स्पष्ट हो जायेगा। भाष्यकार पतंजलि (ई.पू. 150) ने मान, उपमान जैसे शब्दों की विशद व्याख्या तो प्रस्तुत ही की है, 'गौरिव गवयः' का उदाहरण प्रस्तुत कर उपमा की शास्त्रीय धारणा को और भी बल प्रदान किया है। पतंजलि के बाद भर्तृहरि तथा प्रदीप, उद्योत, न्यास, पदमंजरी, आदि टीकाकारों ने उपमा, अनन्वय, आदि पर प्रभूत प्रकाश डाला है।[59] यद्यपि वैयाकरणों ने अलंकार शास्त्र का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं किया है, तथापि यह निश्चित है कि उनके पूर्व अलंकारों का विकास प्रारंभ हो चुका था, अन्यथा लोक को ही प्रमाण मानने वाले पाणिनि जैसे आचार्य उक्त प्रकार के आलंकारिक शब्दों की निरुक्ति एवं व्युत्पत्ति नहीं करते। इस प्रकार डॉ. नगेन्द्र का यह कथन कि 'भारतीय सौन्दर्य शास्त्र के दो प्रमुख अंग हैं : रस और अलंकार। इनमें से अलंकार का मूल आधार है व्याकरण और रस का मूल आधार है, कामसूत्र'[60] बहुत कुछ उपयुक्त प्रतीत होता है।

## दर्शन शास्त्र और अलंकार

अलंकारों के उद्भव और विकास में दर्शन शास्त्र ने महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है। भगवान् बादरायण ने उपमा-रूपक शब्दों का पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग किया है, जिसका उल्लेख अप्पयदीक्षित भी करते हैं।[61] मीमांसकों का अतिदेश वाक्य भी सादृश्य ज्ञान ही है।[62] मीमांसा सूत्र के भाष्यकार शबरस्वामी उपमान पर अपने पूर्ववर्ती आचार्य उपवर्ष के मत का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि 'उपमान सादृश्य ही है, उससे असन्निकृष्ट अर्थ का ज्ञान होता है, जैसे, गवय-दर्शन से (उपमान या सादृश्य के कारण) गाय का स्मरण।[63] जैसा कि अलंकार विवेचन के समय स्पष्ट होगा, विधि, नियम, परिसंख्या, प्रतिषेध, आदि अलंकार पूर्णतः मीमांसा शास्त्र पर आधृत हैं। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने (सामीप्यमुपमानम्, न्या.सू. 1/1/3 पर) उपमान की लगभग वही व्याख्या प्रस्तुत की है, जिसका विवेचन महाभाष्यकार पतंजलि ने किया है।[64] भोजराज और अप्पय-सम्मत उपमान अलंकार न्यायशास्त्र के उपमान प्रमाण पर आधृत है। अनुमान अलंकार तो तर्कशास्त्र पर आधृत ही है, काव्यलिंग आदि अलंकारों में सहज ही तार्किक सिद्धांत देखा जा सकता है। प्रत्यक्ष, संभव, ऐतिह्य, श्रुति, स्मृति, अर्थापत्ति, आदि प्रमाणालंकार तो स्पष्टतः दार्शनिक प्रमाणों पर कल्पित किये गये हैं। रस-सिद्धांत की मूलप्रक्रिया ही शैव-दर्शन पर आधृत है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि रसवदादि अलंकारों के मूल में शैव-दर्शन विद्यमान है। इस प्रकार, भले ही दर्शन-ग्रन्थों में अलंकार का उल्लेख न हो[65] पर अलंकारों के विकास में दार्शनिक सिद्धांतों के महत्त्वपूर्ण योग का अपलाप अशक्य है।[66]

## कामशास्त्र और अलंकार

सौंदर्य-तत्त्व का प्रतिपादक होने पर भी भारतीय अलंकारशास्त्र के सौंदर्यशास्त्र (एस्थेटिक्स) का पर्याय मानना भारी भूल होगी।[67] अलंकार शास्त्र शब्दार्थ-समुद्भूत सौंदर्यमात्र का प्रतिपादन करता है, जबकि सौंदर्यशास्त्र चित्र, भास्कर्य, संगीत, आदि विविध ललित कलाओं में प्राप्त सौंदर्य को भी अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार दोनों के क्षेत्र में ही महान् अन्तर है। सौंदर्य-तत्त्व के प्रतिपादक इस भारतीय विद्या को सर्वप्रथम राजशेखर (नवीं शती) ने साहित्यशास्त्र की संज्ञा प्रदान की।[68] इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में इसका एक और नाम प्रचलित था, 'क्रियाकल्प'। सर्वप्रथम वात्स्यायन (ई.पू. 200) ने कामसूत्र में चौसठ मूलकलाओं के अंतर्गत 56वीं कला के रूप में 'क्रियाकल्प' का उल्लेख किया है। कामसूत्र की

कुछ प्रकृतोपयोगी प्रधान कलाएं द्रष्टव्य हैं: (13) चित्राश्च, (16) नेपथ्य प्रयोगाः, (19) भूषणयोजनम्, (28) प्रहेलिका, (33) काव्यसमस्यापूरणम्, (47) देशभाषापरिज्ञानम्, (53) मानसीक्रिया, (54) काव्यक्रिया, (56) क्रियाकल्प ..........

इति चतुष्षष्टिरंगविद्याः कामसूत्रस्यावयविन्यः ।[69] इन पर जयमंगला टीका में स्पष्ट प्रकाश डाला गया है। जयमंगला के अनुसार तैंतीसवीं विद्या (कला) चित्राचित्र विधि है और चौंतीसवीं गूढ़राशि। उन्नीसवीं कला 'भूषणयोजनम्' का अर्थ है, अलंकार योग। वह संयोज्य, असंयोज्य रूप से दो प्रकार का होता है। अटाईसवीं विद्या लोकप्रसिद्ध प्रहेलिका का क्रीड़ा और विनोद में प्रयोग किया जाता है। काव्य समस्यापूर्ति 33वीं कला है। समस्या का अर्थ है, संक्षिप्तीकरण। काव्य अर्थात् श्लोक की समस्या अर्थात् पादपूर्ति। इसका भी क्रीड़ा और विवाद में ही प्रयोग होता है। टीकाकार ने इसका उदाहरण दंडी के काव्यादर्श से प्रस्तुत किया है।[70] 53वीं विद्या मानसी काव्य-क्रिया है। मन से जायमान या चिन्त्यमान काव्य-विधि ही मानसी काव्यक्रिया कही जाती है। उसके भी दृश्य-अदृश्य दो भेद माने गये हैं। इनमें कुछ तो यथास्थित अनुस्वार, विसर्ग, आदि से युक्त व्यंजनाक्षरों द्वारा पद्म, उत्पल आदि आकृतियों में बनाये जाते हैं। 54वीं कला काव्य-क्रिया का अर्थ स्पष्ट ही है। 56वीं कला का नाम है क्रियाकल्प, जिसका अर्थ है काव्यकरण-विधि, जयमंगला के स्पष्ट शब्दों में इसे काव्यालंकार कहा जायेगा।[71] अन्य काव्यों का अवबोध करने के लिये ये तीनों—क्रियाकल्प, काव्यकरण विधि और काव्यालंकार—ही काव्यक्रिया के अंग हैं।[72] जयमंगला के इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि वात्स्यायन के समय में न केवल प्रहेलिका, समस्यापूर्ति, पद्मबन्ध, आदि चित्रालंकारों का प्रयोग होता था, अपितु दूसरे के काव्यों को काव्य-कसौटी पर कसने के लिये लोग काव्यशास्त्र और काव्यालंकार का भी ज्ञान रखते थे। जयमंगला-प्रोक्त चित्राचित्र विधि को यदि काव्य के तृतीय भेद—चित्रकाव्य—की दृष्टि से देखें, तो यह समस्या और भी अधिक सुलझती दिखायी देती है। गार्ग्योक्त उपमा-लक्षण से भी इसकी संगति ठीक बैठती जान पड़ती है। ललित-विस्तर में भी कलाओं की परिगणना में क्रियाकल्प का उल्लेख आया है। दंडी स्वयं इस नाम से पूर्ण परिचित हैं।[73] रामायण में भी इस शब्द का उल्लेख मिलता है। उत्तर काण्ड, 84वें अध्याय के चतुर्थ से दशम श्लोक में महर्षि वाल्मीकि ने लव-कुश द्वारा गाये गये रामचरित के श्रोता विद्वज्जनों का उल्लेख किया है, जिनमें नैगम, पंडित, कलाविद्, शब्दविद् (वैयाकरण), स्वरलक्षणज्ञ, गान्धर्वज्ञ, कलामात्रविभागज्ञ, पदाक्षरसमासज्ञ तथा छन्दो निष्णात लोग तो उपस्थित ही थे, क्रियाकल्पविद् भी उपस्थित थे—

**'क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्** । रा. 7/94/4-7

इस प्रकार यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि वात्स्यायन प्रोक्त 'क्रियाकल्प' शब्द आलोचनाशास्त्र, काव्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र अथवा काव्यालंकार का अपर अभिधान है । इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि वात्स्यायन से पहले भी अलंकारों का शास्त्रीय विवेचन प्रचलित था ।

मनुस्मृति में उपमा, रूपक, दीपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग किया गया है ।[74] याज्ञवल्क्य स्मृति में चौदह शास्त्रों का उल्लेख मिलता है, पर अलंकार का कोई संकेत नहीं है । अलंकार का स्पष्ट उल्लेख हम शुक्रनीति में पाते हैं ।[75] राइस डेविड्स के अनुसार प्राचीन पाली टेक्स्ट में उपमा-विचार पाया जाता है । अंगुत्तर निकाय (1/72, 3/107) तथा संयुत्त निकाय (1/38, 2/67) में साम्य प्रयोग पाये जाते हैं । कौटिल्य के अर्थशास्त्र में माधुर्य, औदार्य आदि गुणों का उल्लेख अवश्य है, पर वहां भी अलंकार के विषय में कुछ नहीं कहा गया है ।[76]

## अभिलेख और अलंकार

ब्यूह्लर के अनुसार ईसा की पांचवीं शती गुप्तकाल में ही काव्यशास्त्र का विकास हुआ,[77] पर अभिलेखों का साक्ष्य इस मत की पुष्टि नहीं करता । रुद्रदामा के जूनागढ़ शिलालेख (ई. सन् 150) से अलंकारशास्त्र के विकास पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है । इसकी गद्य-भाषा, लंबे-लंबे समास, शब्दाडम्बर परिपूर्ण गौडी रीति से अलंकृत तो है ही, अनुप्रास, उपमा, आदि अलंकारों से अलंकृत भी है । रुद्रदामा का बखान करते समय उसे स्फुट, लघु, मधुर, चित्र, कान्त, शब्द-संकेत, गद्य, पद्य, स्वर-चाल, वर्ण, उत्तम लक्षण तथा व्यंजन से युक्त तो बताया ही गया है, व्याकरण, संगीत, न्याय, आदि विद्याओं का पारंगत भी कहा गया है । यहां स्फुट, लघु, मधुर, कान्त, आदि शब्द माधुर्यादि गुण-युक्त रचना तथा चित्र शब्द चित्रकाव्य का सूचक है । इससे स्पष्ट होता है कि रुद्रदामा न केवल उपर्युक्त गुणों से अलंकृत था अपितु वह चित्रकाव्य (अलंकार) का ज्ञाता भी था । कान्त, अलंकृत, आदि शब्द भी इसकी पुष्टि करते हैं ।[78] पुलुमावि के नासिक शिलालेख का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

**'राजरञोगोतमितपुतस्स, हिमवत्मदरपवतसमसारस्स, सवराजलोकमंडल पतिगहीतसासनम, ········· दिवसकरविबोधितकमलविमलसदिसवदनस ········· पटिपुणचदमडलसिसिरीकपियदसनस ········· सकलयवनपल्हवनिसूदनस, धमोपचितकर विनियोगकरस ········· ।'**

इसमें तीन मनोहारी उपमाओं का प्रयोग किया गया है । समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में

लिखे गये हरिषेण के प्रयाग अभिलेख (चतुर्थशती) में उसे (समुद्रगुप्त को) काव्य-क्रिया प्रतिष्ठित कविराज पद से अलंकृत किया गया है। प्रकृत अभिलेख में श्लेष, उपमा, रूपक अलंकारों का प्रयोग मिलता है।[79] इसी प्रकार वत्सभट्टि के प्रयाग शिलालेख, दशपुर के कूपशिलालेख तथा महरौली के लौहस्तंभ शिलालेख और अन्यान्य अभिलेखों में अलंकारों के प्रचुर प्रमाण पाये जाते हैं। डॉ. ब्यूह्लर ने अपने निबंधों में अभिलेखों की काव्यशैली पर विधिवत् गवेषणा प्रस्तुत की है।[80]

काव्य की पौराणिक कथा में राजशेखर ने प्रचेता, यम, चित्रांगद, शेष, पुलस्त्य, औपकायन, पराशर, उतथ्य तथा कुबेर को क्रमशः अनुप्रास, यमक, चित्र, शब्दश्लेष, वास्तव, औपम्य, अतिशय, अर्थश्लेष तथा उभयालंकार (काव्य) का ज्ञाता कहा है।[81] दुर्भाग्यवश इन आचार्यों के ग्रन्थ आज भी अनुपलब्ध हैं। संभव है कि राजशेखर किसी प्राचीन प्रचलित परंपरा का उल्लेख करते हों, जिसकी उतनी प्रसिद्धि न रही हो।[82] जो भी हो, राजशेखर के उक्त कथन की सिद्धि के लिये आज कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं है।[83] रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों में अलंकार-प्रयोग तो पाये जाते हैं पर अलंकार शास्त्र का संकेत अनुपलब्ध है। अश्वघोष, कालिदास, बाण, आदि के ग्रन्थों में अनेक अलंकारों के उल्लेख और प्रयोग पाये जाते हैं।[84] इस प्रकार वैदिक साहित्य का साक्ष्य, निघंटु, निरुक्त, व्याकरण तथा दर्शन शास्त्र गत (अलंकार का) शास्त्रीय विवेचन, कामशास्त्र, अभिलेख एवं काव्यों की सामग्री और काव्य-मीमांसा का पूर्वोक्त ऐतिहासिक कथानक यह सिद्ध करता है कि ईसा से कई शताब्दी पूर्व भी इस देश में अलंकार की शास्त्रीय विवेचन-पद्धति प्रचलित थी, जिसका प्रथम साक्षात्कार हमें भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है।

**भरत : अलंकार और काव्यलक्षण**

सर्वप्रथम भरत ने चार अलंकारों का उल्लेख किया है—उपमा (पंचधा), रूपक, दीपक तथा यमक (दशधा)। इनमें केवल एक यमक शब्दालंकार है, अवशिष्ट तीन अर्थालंकार हैं। विवेच्य अनुप्रास (एवं लाटानुप्रास) तथा अनन्वय अलंकार भरत-प्रोक्त क्रमशः यमक[85] तथा उपमा के एक भेद-सदृशी उपमा—पर आधृत हैं।[86] इन अलंकारों के अतिरिक्त भरत ने 36 काव्यलक्षणों का भी विवेचन किया है, जिन्हें काव्य-विभूषण तथा भूषणसम्मित माना गया है।[87] ये लक्षण काव्य-विभूषण अवश्य हैं, पर अलंकार न होकर अलंकार्य हैं, काव्य-शरीर हैं। लक्षण स्वयं काव्य के भूषण हैं, जबकि काव्य में शोभातिशय के लिये अलंकार का

प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार अलंकारों की अपेक्षा इनका क्षेत्र अधिक व्यापक है, तथापि इनमें से अनेक को अलंकार के रूप में परिकल्पित किया जाने लगा था। भामह तक हेतु, लेश और आशीः को अलंकार मान लिया गया था। इनमें से प्रथम दो की अलंकारता का भामह ने स्पष्ट खण्डन किया है (इसी क्रम में सूक्ष्म अलंकार भी आ गया है)[88] किन्तु 'कुछ लोग आशीः को भी अलंकार मानते हैं' ऐसा कहते हुए वह दबी जबान से इसे स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।[89] दंडी तो सन्ध्यंग, वृत्त्यंग को भी अलंकार रूप में ही देखते थे, फिर लक्षण को अलंकार स्वीकार करने में उन्हें क्या कठिनाई हो सकती थी। फलतः भामह-निषिद्ध अलंकारों को उन्होंने वाणी का उत्तम भूषण घोषित किया।[90] अभिनव गुप्त के गुरु भट्टतौत ने भी स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि लक्षणों के द्वारा अनेक अलंकार-वैचित्र्य का निर्माण होता है! तदनुसार उन्होंने गुणानुवाद, अतिशय, मनोरथ, मिथ्याध्यवसाय तथा सिद्धि लक्षण से क्रमशः प्रशंसोपमा, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति तथा तुल्ययोगिता के उद्भव की परिकल्पना भी की है। उनका यह भी कथन है कि लक्षणों के परस्पर संयोग से भी अनेक अलंकार उद्भूत हुए हैं, जैसे—प्रतिषेध और मनोरथ लक्षण के योग से आक्षेप अलंकार का जन्म हुआ है।[91] इसी प्रकार भरत के संशय, दृष्टान्त, निदर्शन, हेतु, निरुक्त और अर्थापत्ति लक्षण कालान्तर में संदेह आदि अलंकार के रूप में परिवर्तित हो गये। यही नहीं, जैसा कि अलंकारों के विवेचन में स्पष्ट होगा, शोभा, आक्रन्द-तुल्यतर्क, निर्भासन, माला, हेतु तथा प्राप्ति लक्षण अंशतः क्रम से अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, परिकर, कारणमाला, काव्यलिंग और अनुमान पर्यायोक्त अलंकारों में पाये जाते हैं। जयदेव-प्रोक्त कुछ काव्य लक्षण जिन्हें अप्पय ने अविकल रूप से अलंकार में परिवर्तित कर लिया है, देखने से[92] यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि लक्षण को अलंकार में परिवर्तित करने की प्रक्रिया अन्त तक चलती रही है। इस प्रकार भरत ने न केवल चार अलंकार उनके भेदोपभेद मात्र का ही विवेचन किया अपितु लक्षण-विवेचन करके अनेक अलंकारों के विकास का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया। अतः भरत के काव्य-लक्षण अलंकार विकास की मुख्य कड़ी है।[93]

भरत के बाद विष्णुधर्मोत्तर पुराण (पांचवी शती)[94] में 17 अलंकारों का उल्लेख किया गया है—अनुप्रास, यमक, रूपक, व्यतिरेक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, उपन्यास, विभावना, अतिशयोक्ति, वार्ता, यथासंख्य, विशेषोक्ति, विरोध, निन्दास्तुति, निदर्शन तथा अनन्वय।[95] इनमें प्रथम दो शब्दालंकार हैं, शेष अर्थालंकार। पुराणकार ने यमक के छः भेदों की भी चर्चा की है—आदि, मध्य,

पादान्त, सन्दष्ट, समुद्गक तथा समस्तपाद (दुष्कर)। इस प्रकार यहां भरत की अपेक्षा 12 नवीन अलंकारों का विवेचन मिलता है, जिनमें एक शब्दालंकार और 11 अर्थालंकार हैं। ध्यातव्य है कि प्रकृत में महत्त्वपूर्ण अलंकार उपमा का संख्यान नहीं हुआ है। भले ही ग्रन्थकार को उसका ज्ञान रहा हो,[96] पर यहां तो अप्राप्य ही है। भरत-प्रोक्त दीपक का भी यहां उल्लेख नहीं है।

भामह (षष्ठ शतक) ने भी पूर्वोक्त दो शब्दालंकारों का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने अनुप्रास के दो भेदों की भी चर्चा की है। उनका कथन है कि ग्राम्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास को अन्य आचार्य मानते हैं।[97] यमक के वह भी पांच भेद मानते हैं, आदि, मध्यान्त, पादाभ्यास, आवली तथा समस्तपाद। संदष्ट और समुद्गक को प्रथम दो भेदों में अन्तर्भूत कर देते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भामह तक दो शब्दालंकार निर्मित हो चुके थे। यमक को अन्य आचार्य प्रहेलिका मानते हैं, ऐसा कहते हुए भामह ने एक और शब्दालकांर (चित्र) की भूमिका भी प्रस्तुत कर दी थी।[98] भामह ने 36 अर्थालंकारों का विवेचन किया है : रूपक, दीपक, उपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमा-रूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक तथा आशीः।

इनके अतिरिक्त हेतु, सूक्ष्म तथा लेश (वार्ता भी) को भामह ने खण्डन के लिये उद्धृत किया है। 'अन्य आचार्य इतने ही अलंकार मानते हैं, इनके अतिरिक्त अन्य अलंकार भी माने गये हैं, इन्हें अलंकार नहीं मानना चाहिये।' कुछ लोग इन्हें भी अलंकार मानते हैं, इस प्रकार अनेकशः कहते हुए उन्होंने उपर्युक्त समग्र अलंकारों को अनेक चक्रों[99] में प्रस्तुत किया है। प्रथम चक्र में अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा का उल्लेख करते हुए वह कहते हैं कि अन्य आचार्य इन पांच अलंकारों को ही मानते हैं। द्वितीय चक्र में उपमादि से विशिष्ट आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति छः अलंकारों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। तदनन्तर हेतु, सूक्ष्म, लेश (और वार्ता) का खण्डन प्रस्तुत है। पुनः अन्याभिमत यथासंख्य और उत्प्रेक्षा का उल्लेख कर यह कहा गया है कि कुछ लोग स्वभावोक्ति को भी अलंकार मानते हैं। तृतीय परिच्छेद में प्रेय से लेकर भाविक पर्यन्त अलंकारों का विवेचन करने के बाद भामह का कथन है कि 'कुछ लोगों को आशीः भी अलंकार रूप में अभिमत है' और उदाहरण भी

प्रस्तुत करते हैं। भामह की इस विवेचन-पद्धति से इतना तो स्पष्ट है कि भामह-विवेचित अलंकारों में, भरत तथा विष्णुपुराणकार द्वारा निर्दिष्ट अलंकारों के अतिरिक्त, कतिपय अनेक अलंकार भामह से पहले ही प्रकाश में आ चुके थे, जिनका ग्रहण-त्याग रीति से उन्होंने अपने ग्रन्थ में संकलन किया है।

भामह ने रूपक, उपमा, आक्षेप तथा उदात्त के दो-दो भेद और दीपक तथा श्लिष्ट के तीन-तीन भेदों की भी चर्चा की है।[100] पूर्व-प्रचलित कुछ अलंकार-भेदों का उन्होंने निषेध या अन्तर्भाव भी किया है, इस सम्बन्ध में यमक और उपमा को लिया जा सकता है। कतिपय अलंकारों के एकाधिक उदाहरण देकर, लक्षण में आदि पद का सन्निवेश कर उन्होंने भावी अलंकार भेद की पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत कर दी है। अर्थान्तरन्यास में 'हि' पद के प्रयोग-अप्रयोग से भेद संभव है। रसवत् अलंकार के लक्षण में 'शृंगारादि' पद के 'आदि' पद से स्पष्ट संकेत मिलता है कि हास्य रस आदि अन्य रस भी रसवत् के भेद हो सकते हैं। इसी प्रकार संसृष्टि के दो उदाहरणों से उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि संसृष्टि अनेक अलंकारों का सम्मिश्रण है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि भामह अलंकार और उनकी भेद संख्या-विस्तार के हिमायती थे। वस्तुतः इस बात की अधिक संभावना है कि अपने समय के प्रचलित कुछ महत्त्वहीन अलंकारों को अनावश्यक समझकर उन्होंने छोड़ दिया है। विस्तार को धी-खेद मानते हुए वह अलंकार संक्षेप में ही अधिक अनुरक्त दिखायी पड़ते हैं।[101]

दंडी[102] (सप्तशतक) ने काव्यादर्श के द्वितीय-तृतीय परिच्छेद में क्रमशः अर्थालंकार और शब्दालंकार का विवेचन किया है। उनके द्वारा विवेचित अर्थालंकारों की संख्या 35 है :

> स्वभावोक्ति (स्वभावाख्यान), उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश, क्रम, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संसृष्टि तथा भाविक।

भामह के यथासंख्य, उपमारूपक, उपमेयोपमा, ससन्देह, अनन्वय तथा उत्प्रेक्षावयव छः अलंकार दंडी ने छोड़ दिये हैं। भामह-निषिद्ध हेतु, सूक्ष्म और लेश को यहां स्थान तो मिला ही है, आवृत्ति तथा क्रम दो नवीन अलंकार भी आ गये हैं। दंडी की सबसे बड़ी विशेषता है, अलंकारों के भेद-प्रभेद का विस्तार। उनके

अनेक अलंकार-भेद बाद में स्वतंत्र अलंकार में परिवर्तित हो गये। कुछ को लोगों ने मान्यता प्रदान की और कतिपय अनादर के भागी हुए। अतएव दण्डी द्वारा उद्भावित अलंकार भेद प्रपंच का विवेचन आवश्यक है।

स्वभावोक्ति, चार भेद—जाति, क्रिया, गुण तथा द्रव्य स्वभाव कथन।

उपमा, 30 भेद—धर्मोपमा, वस्तू., विषर्यासो., अन्योन्यो., नियमो., अनियमो., समुच्चयो., उत्प्रेक्षितो., अद्भुतोष, मोहो., संशयो., निर्णयो., श्लेषो., निन्दो., प्रशंसो., आचिख्यासो., विरोधो., प्रतिषेधो., चटू., तत्त्वाख्यानो., असाधारणो., अभूतो., असंभावितो., बहू., विक्रियो., मालो. (द्विधा), वाक्यार्थो., प्रतिवस्तू., तुल्ययोगो. तथा हेतूपमा।

रूपक के 20 भेद—समस्त, असमस्त, समस्तव्यस्त, सकल, अवयव, अवयवि, एकांग, युक्त, अयुक्त, विषम, सविशेष, विरुद्ध, हेतु, श्लिष्ट, उपमा, व्यतिरेक, आक्षेप, समाधान, रूपक तथा तत्त्वापह्नव रूपक।

दीपक के 11 भेद—जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य, आदि, मध्य, अन्त, माला, विरुद्धार्थ, एकार्थ तथा श्लिष्टार्थ दीपक।

आवृत्ति के तीन भेद—अर्थावृत्ति, पदावृत्ति तथा उभयावृत्ति।

आक्षेप के 24 भेद—वृत्त, वर्तमान, भविष्यद्, धर्म, धर्मि, कारण, कार्य, अनुज्ञा, प्रभुत्व, अनादर, आशीर्वचन, परुष, साचिव्य, यत्न, परवश, उपाय, रोष, मूर्च्छा, अनुक्रोश, श्लिष्ट, अनुशय, संशय, अर्थान्तर तथा हेत्वाक्षेप।

अर्थान्तरन्यास के 8 भेद—विश्वव्यापी, विशेषस्थ, श्लेषाविद्ध, विरोधवान्, अयुक्तकारी, युक्तात्मा, युक्तायुक्त तथा विपर्यय।

व्यतिरेक के 9 भेद—एक., उभय., सश्लेष., साक्षेप., सहेतु., सादृश्य., प्रतीयमान, सादृश्य (द्विधा), सदृश. (द्विधा) तथा सजातिव्यतिरेक.।

समासोक्ति के 3 भेद—तुल्याकार विशेषणा, भिन्नाभिन्नविशेषणा तथा अपूर्व।

अतिशयोक्ति के दो भेद—संशय और निश्चय (कुल चार उदाहरण हैं, शेष दो में परवर्ती विद्वानों के मीलित-अधिक स्वीकार्य हैं)।

उत्प्रेक्षा—कोई भेद नहीं, चेतन-अचेतनगत, द्विधा, निरूपण।

हेतु—कारक (भावाभाव रूप), विकार्य, प्राप्य, ज्ञापक, अभाव (पंचधा) तथा चित्र (अनेकथा)।

सूक्ष्म—द्विधा—इंगित तथा आकारलक्ष्य।

लेश के चार भेद—अनिष्ट संभावना, लज्जा, स्तुति तथा निन्दा रूप।

प्रेयद्विधा, रसवत् अष्टधा (शृंगार आदि आठ रस), उदात्त द्विधा, आशय तथा विभूति महत्त्व, अपह्नुति त्रिधा—विषय, स्वरूप तथा उपमापह्नुति। श्लिष्ट के नौ भेद—भिन्न पद, अभिन्नपद, अभिन्नक्रिय, अविरुद्धक्रिय, विरुद्धक्रिय, अनियमवान्, नियमाक्षेप, अविरोधी तथा विरोधी। विशेषोक्ति के चार भेदों—गुण, क्रिया, जाति तथा द्रव्यवैकल्य के अतिरिक्त हेतु विशेषोक्ति। तुल्ययोगिता द्विधा—स्तुति और निन्दा रूप। विरोध के छः भेद, व्याजस्तुति के तीन, निदर्शन तथा सहोक्ति के दो-दो भेद और संसृष्टि के दो भेद—अंगांगिभाव और समकक्षत्व।

भामह प्रोक्त अनन्वय, सन्देह, उपमारूपक, तथा उत्प्रेक्षावयव दंडी के उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा में क्रमशः अन्तर्भूत हैं। जैसा कि तत्तद् अलंकारों के विवेचन में स्पष्ट होगा, दंडी के उपर्युक्त अलंकारों और भेदों में कतिपय परवर्ती कुछ नवीन अलकारों के आधार हैं, कतिपय का अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव शक्य है और कतिपय की अलंकारता ही असिद्ध है। तृतीय परिच्छेद में दंडी ने यमक (जिसमें अनुप्रास भी अन्तर्भूत है) के अनन्त भेद, गोमूत्रिका आदि चित्र तथा प्रहेलिका (30 भेद) अलंकार का विवेचन किया है। इस प्रकार शब्दालंकारों में चित्रालंकार का प्रथम समावेश काव्यादर्श में ही उपलब्ध होता है। प्रहेलिका के विषय में भामह का कथन है कि रामशर्मा यमक को प्रहेलिका मानते हैं,[103] पर उन्हें यह मान्य नहीं प्रतीत होता। दंडी के यहां यह भी सुप्रतिष्ठित हो जाती है। इस प्रकार अलंकारों के विकास में दंडी के महत्त्वपूर्ण योग का अपलाप अशक्य है।

दंडी के बाद उद्भट (नवम शतक का प्रारंभ) ने 41 अलंकारों का विवेचन किया है, जिनमें पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास (वृत्त्यनुप्रास की भी प्रथम-प्रथम उद्भावना उद्भट ने ही की है, तीनों वृत्तियों के विषय में उनके कथन 'पृथक्-पृथकगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा'[104] को ध्यान में रखा जाये तो इन्हें भी पृथक् अनुप्रास मानना पड़ेगा) लाटानुप्रास, काव्यलिंग, दृष्टान्त तथा संकर अलंकारों की उन्होंने स्वयं उद्भावना की है। समग्र अलंकारों को उन्होंने 6 वर्गों में प्रस्तुत किया है,[105] जो इस प्रकार हैं :

प्रथम वर्ग — पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास (वृत्त्यनुप्रास), लाटानुप्रास, रूपक, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा।

द्वितीय वर्ग — आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति।

तृतीय वर्ग — यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति।

चतुर्थ वर्ग — प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट।

पंचम वर्ग — अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, (वि) निदर्शना, उपमेयोपमा, सहोक्ति, संकर, परिवृत्ति ।

षष्ठ वर्ग — ससन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्य हेतु (काव्यलिंग), (काव्य) दृष्टान्त ।

छः वर्गों में अलंकारों को परिभाषित करने का यह तात्पर्य नहीं है कि उद्भट ने छः वर्गों में इन्हें विभाजित किया है । वस्तुतः इनमें विभाजन जैसी कोई व्यवस्था नहीं है । प्रत्येक वर्ग के अलंकार-परिगणन के बाद प्रायः वह लिखते हैं कि दूसरे इन अलंकारों को मानते हैं ।[106] इस कथन से स्वतः सिद्ध है कि उद्भट ने अलंकारों के विषय में प्रचलित विभिन्न मतों का विभिन्न वर्गों में संग्रह मात्र कर दिया है, विभाजन नहीं । नवीन अलंकारों की उद्भावना के अतिरिक्त अलंकार विकास में उद्भट की सबसे बड़ी देन है, अलंकार और उनके भेदोपभेद का परिष्कार । उन्होंने न केवल अनेक अलंकारों को उपयुक्त परिभाषा प्रदान की है, अपितु उनके भेदों का परिष्कार करते हुए नवीन भेदों की उद्भावना भी की है । इस दृष्टि से उल्लेखनीय अलंकार अनुप्रास, लाटानुप्रास, उपमा, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, अप्रस्तुतप्रशंसा, दृष्टान्त तथा संकर हैं । अलंकारों की परिभाषा करते समय उन्होंने प्रायः भामह का अनुसरण किया है पर उनके यमक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव तथा दंडी के आवृत्ति, लेश तथा सूक्ष्म अलंकारों का उन्होंने उल्लेख नहीं किया है ।

वामन (नवम शतक का मध्य) ने कुल 31 अलंकारों का विवेचन किया है, जिनमें यमक और अनुप्रास दो शब्दालंकार हैं शेष अर्थालंकार । उन्होंने जहां उद्भट, प्रोक्त पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, दृष्टान्त, काव्यलिंग, यथासंख्य (वामन का क्रम अलंकार ही उद्भट का यथासंख्य है), रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, उदात्त तथा संकर अलंकारों को छोड़ दिया है, वहीं नवीन अलंकार वक्रोक्ति व्याजोक्ति की उद्भावना भी की है । दंडी के क्रम अलंकार (जिसे उद्भट यथासंख्य मानते हैं) को यहां स्थान प्राप्त हो गया है । वामन ने भामह के उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को भी स्वीकार कर लिया है, पर यहां वे स्वतंत्र अलंकार न होकर संसृष्टि के भेद मात्र हैं ।[107] अनेक अलंकारों के नये भेदों की उद्भावना भी वामन की अपनी विशेषता है । अलंकार विकास-क्रम में सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अनेक अलंकार नाम से तो एक हैं, पर स्वरूपतः भिन्न और अनेक नये अलंकारों के आधार हैं । वामन की विशेषोक्ति का स्वरूप रूपक (दृढ़ारोप) के समान है, आक्षेप के दो स्वरूप (उपमान का आक्षेप और प्रतिषेध) अन्य आलंकारिकों के प्रतीप (प्राचीन आलंकारिकों ने प्रतीप का उल्लेख नहीं किया है) और समासोक्ति

को अभिव्यक्त करते हैं। उनका समाहित तथा वक्रोक्ति अलंकार अन्यों के समाहित वक्रोक्ति से भिन्न रूप है। इसी प्रकार दंडी का लेश परवर्ती आलंकारिक मम्मट की व्याजोक्ति के समान है। वामन ने चतुर्थ अधिकरण के प्रथम अध्याय में शब्दालंकार, द्वितीय में उपमा (अर्थालंकार) तथा तृतीय में उपमा-प्रपंच प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों का विवेचन किया है। इससे यह स्पष्ट है कि वामन शब्द, अर्थगत अलंकारों का दो विभाग तथा प्रतिवस्तूपमा प्रभृति अर्थालंकारों को उपमा-प्रपंच स्वीकार करते हैं। अलंकार विकास में यह एक नयी दिशा का प्रदर्शन है। समग्र अर्थालंकारों को उपमा-प्रपंच मानने के कारण बहुत संभव है कि वामन ने कतिपय अलंकारों को गुणों में अन्तर्भूत कर दिया हो। इस दृष्टि से उनके कांति और प्रसाद गुण का उल्लेख किया जा सकता है, जिनके स्वरूप रसवत् और भाविक के समान हैं। भामह ने जितने अलंकारों का विवेचन किया है, भट्टिकाव्य में लगभग उतने ही अलंकार पाये जाते हैं, पर निपुण और वार्ता दो अन्य अलंकार भी यहां उपलब्ध हैं।

## रुद्रट : अलंकारों का प्रथम वर्गीकरण

वामन के बाद रुद्रट (नवम शती) ने 73 अलंकारों का उल्लेख किया है। अलंकारों का वर्गीकरण उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। समग्र अलंकारों को उन्होंने दो वर्गों में रखा है, शब्दालंकार और अर्थालंकार। रुद्रट वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्र पांच शब्दालंकारों का सप्रपंच विवेचन करते हैं।[108] वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना था, रुद्रट ने न केवल उसे शब्दालंकार घोषित किया, अपितु उसके स्वरूप को भी बदल दिया। यद्यपि उद्भट ने श्लेष का शब्दार्थगत द्विधा विभाजन प्रस्तुत किया था, किन्तु स्पष्ट शब्दों में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार विभाजक एक तत्त्व के रूप में उसकी प्रतिष्ठा का श्रेय रुद्रट को है। वामन ने अलंकारों को व्यवस्थित ढंग से उपस्थित करने का प्रयास किया था, पर समग्र अर्थालंकारों को उपमा-प्रपंच बताकर उन्होंने अनेक भ्रांतियां भी उत्पन्न कर दी थीं, जिनका निराकरण आवश्यक था। वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर रुद्रट द्वारा अर्थालंकारों का चतुर्धा वर्गीकरण इस ओर प्रथम, स्तुत्य एवं महत्त्वपूर्ण प्रयास है। इन चार तत्त्वों का उनके पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने प्रकारान्तर से उल्लेख अवश्य कर दिया था, पर उसे व्यवस्था का रूप न दे पाये थे। भामह ने 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' की घोषणा कर ही दी थी। दंडी 'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति' कहकर श्लेष की तथा 'भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्' कहकर

वास्तव (स्वभाव) और अतिशय (वक्रोक्ति) का बखान कर चुके थे। 'प्रतिवस्तुप्रभृतिरूपमाप्रपंचः' वामन का उद्घोष गूंज ही रहा था। स्वाभाविक ही था कि अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा अनेकधा प्रतिपादित इन तत्त्वों को रुद्रट अलंकार विभाजन का आधार बनाते। हुआ भी यही और उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर अर्थालंकारों को चार वर्गों में प्रतिष्ठित किया।[109] वास्तव वर्ग में उन्होंने 23 अलंकारों का विवेचन किया है—सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली।[110] अर्थालंकारों के द्वितीय वर्ग, औपम्य में उन्होंने 21 अलंकारों का उल्लेख किया है—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य तथा स्मरण।[111] अतिशय वर्ग में बारह अलंकार व्यवस्थित हैं—पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात और अहेतु।[112] श्लेष वर्ग के अलंकारों की संख्या दश है—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास।[113] ये सभी शुद्ध अलंकार हैं, समष्टितया जिनकी संख्या 66 होती है। इनके अतिरिक्त रुद्रट ने दो संकीर्ण (व्यक्त-अव्यक्तः संसृष्टि-संकरः) अलंकारों का भी उल्लेख किया है।[114] इस प्रकार रुद्रट द्वारा विवेचित अर्थालंकारों की कुल संख्या 68 हो जाती है। उपर्युक्त वर्गीकरण में अनेक अलंकार दो-दो वर्गों में परिगणित हैं। उत्तर, सहोक्ति और समुच्चय को वास्तव-औपम्य में, पूर्व और उत्प्रेक्षा को औपम्य-अतिशय में, अधिक और विरोध को अतिशय-श्लेष में तथा विषम को वास्तव-अतिशय वर्गों में रखा गया है। यही नहीं उन्होंने एक ही वर्ग, श्लेष में एक ही अलंकार का दो बार उपादान किया है, इस दृष्टि से विरोध और विरोधाभास उल्लेख्य हैं। एक ही अलंकार में अनेक तत्त्वों की प्राप्ति इस विसंगति का कारण हो सकती है, जिसकी उचित व्यवस्था रुद्रट से बन नहीं पा रही है और स्वनिर्मित अलंकार-विभाजक तत्त्वचक्र में बंभ्रमित हो रहे हैं। इस प्रकार अर्थालंकारों की उपर्युक्त संख्या में नौ की कमी आ जाने से वास्तविक संख्या 59 ही बनती है, शब्दालंकारों को भी मिला देने से रुद्रट प्रतिपादित कुल अलंकार 64 होते हैं।

अलंकारों के विकास में रुद्रट एक क्रांतिकारी प्रतिभा का प्रादुर्भाव है। उन्होंने लगभग 35 नवीन[115] अलंकारों की उद्भावना की है--समुच्चय, भाव, पर्याय, परिकर, विषम, अनुमान, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, अवसर,

मीलित, एकावली, मत, अन्योक्ति, प्रतीप, उभयन्यास, प्रत्यनीक, पूर्व, साम्य, विशेष, तद्गुण, अधिक, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु, अविशेष, वक्र, व्याज, उक्ति, असंभव, अवयव तथा तत्त्व। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि रुद्रट को दंडी द्वारा उद्भावित अलंकार-भेदप्रपंच में अधिकांश नवीन अलंकारों का मूल उपलब्ध हुआ होगा, इससे उनके महत्त्व को कोई आंच नहीं आती। रुद्रट के समय में ध्वनि उन्मीलन हो रहा था, भाव, पर्याय, परिकर, आदि प्रतीयमान अलंकार उसी की परिणति हैं। उनके कतिपय नवीन अलंकार परवर्ती आलंकारिकों को मान्य नहीं हुए, कतिपय का अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव शक्य है और कतिपय के नाममात्र में भेद है, स्वरूप में नहीं। हेतु को मम्मट आदि ने अनलंकार घोषित कर दिया है। भाव अलंकार गुणीभूतव्यंग्य (प्रेय) से व्यतिरिक्त नहीं है। मत, साम्य, पिहित को भी अधिकांश लोगों का आदर नहीं मिल सका। व्याज, अवसर मम्मट आदि के व्याजोक्ति-उदात्त में अन्तर्भूत हैं। इसी प्रकार उनके अन्य कतिपय अलंकार भी दूसरे अलंकारों से अतिरिक्त वैचित्र्य का संपादन नहीं करते[116] तथापि अधिकांश नवीन अलंकारों की स्वतंत्र सत्ता का अपलाप कठिन है, जिन्हें मम्मट आदि ने भी अपनी स्वीकृति प्रदान की है। रुद्रट के सबसे अधिक ऋणी मम्मट हैं, जिन्होंने उनके द्वारा उद्भावित नवीन अलंकार और भेद को ही नहीं, प्रत्युत परिभाषा को भी स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार अनेक नवीन अलंकार, उनके भेद, स्वरूप तथा वर्गीकरण के प्रथम व्यवस्थापक रुद्रट अलंकार विकास के वह ज्योतिष्पुंज हैं, जिसकी ज्योति से आज भी अलंकार-जगत् आलोकित है।

इसके बाद ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन का समय आ जाता है और ध्वनि के परिवेश में अलंकार का विकास एवं स्थान नियत किया जाता है। अलंकारों के विषय में ध्वनिकार की यद्यपि अपनी मौलिक मान्यतायें हैं, पर उनका प्रधान लक्ष्य ध्वनि है। इसी प्रकार यद्यपि कुन्तक ने भी अनेक अलंकारों का विवेचन किया है किन्तु उनका क्षेत्र वक्रोक्ति की परिधि के बाहर नहीं है। पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा उद्भावित अलंकारों का ही ग्रहण-त्याग रीति से विभाजन किया गया है।[117] अलंकार-उद्भव के पौराणिक कथाकार तथा काकु को वक्रोक्ति-धर्म न मानने वाले राजशेखर की अलंकार-विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का विस्मरण महान् भूल होगी। प्रसिद्ध ध्वनिवादी आचार्य अभिनवगुप्त और अनुमितिवादी महिमभट्ट की अलंकार सम्बन्धी अनेक उद्भावनाओं का अलंकार विकास में अपना एक अलग ही महत्त्व है, किन्तु इनका प्रधान प्रतिपाद्य ध्वनि तथा अनुमितिवाद है। अतएव आनन्द, कुन्तक, राजशेखर, अभिनव तथा महिम का अतिक्रमण कर भोजराज के

मत की चर्चा उपयुक्त होगी।

भोज (ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध) द्वारा शब्द, अर्थ और उभय रूप अलंकार का त्रिधा विभाजन अलंकार-विकास में एक नयी दिशा का प्रदर्शन है। उन्होंने 'सरस्वती-कंठाभरण' के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ परिच्छेद और 'शृंगार प्रकाश' के दशम प्रकाश में 72 अलंकारों का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया है। वह शब्द, अर्थ, उभय, प्रत्येक के 24 अलंकार मानते हैं, जो इस प्रकार हैं :

*शब्दालंकार*—जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनीति।[118]

*अर्थालंकार*—जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, संभव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद, समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव।[119]

*उभयालंकार*—उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपह्नुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक, संसृष्टि।[120]

भाषा (जाति), रीति, वृत्ति, कथावस्तु, नाट्य, नृत्य, नृत्त, आदि समग्र काव्यतत्त्वों को अलंकार मानकर भोज ने जहां दंडी की मान्यता 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' को स्वीकृत प्रदान की, वहीं रुद्रट आदि द्वारा उद्भावित अनेक अलंकारों को प्रतिष्ठित भी किया। प्रायः अनेक अवसरों पर वह अपने पूर्ववर्ती आचार्यों विशेषकर दंडी का अनुसरण करते हैं, किन्तु कतिपय अलंकारों के निराकरण में उनकी मौलिक प्रतिभा का उभार देखा जा सकता है। संग्रही स्वभाव होते हुए भी रस-अलंकार आदि के विषय में उनकी अपनी स्वतंत्र मान्यताएं हैं, जिनका प्रदर्शन अलंकार-विवेचन में किया जायेगा। अलंकारों का शब्दार्थोभय विभाग उनकी सबसे बड़ी उद्भावना है, जिसका अब तक स्पष्ट शब्दों में किसी ग्रन्थकार ने उल्लेख नहीं किया था।

मम्मट (ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध, बारहवीं का पूर्वार्द्ध) ने 68 अलंकारों का विवेचन किया है, जिनमें 6 शब्दालंकार हैं, शेष अर्थालंकार। यद्यपि पुनरुक्तवदाभास, श्लेष और श्लिष्ट परम्परित को वह उभयालंकार मानते हैं, किन्तु सुविधा की दृष्टि से वक्रोक्ति, अनुप्रास, लाटानुप्रास (उद्भट आदि की तरह वह भी इसे अनुप्रास से पृथक् अलंकार मानते प्रतीत होते हैं) श्लेष, चित्र तथा

पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार प्रकरण (काव्य प्रकाश, नवम उल्लास) में परिभाषित करते हैं, शेष को अर्थालंकार में। मम्मट से पूर्व भोज ने अलंकार का शब्दार्थोभय त्रिविध विभाग प्रस्तुत किया था, किन्तु उनका यह विभाजन, अस्पष्ट और अनेक विसंगतियों से परिपूर्ण था। उदाहरण के लिये उनके शब्दालंकार तथा उभयालंकार वर्ग उल्लेख्य हैं। शब्दालंकार वर्ग में ऐसे अनेक तत्त्व आ गये हैं, जो अलंकार नहीं हैं। इसी प्रकार कोई भी अन्य आलंकारिक श्लेष संसृष्टि को छोड़कर उपमा आदि अन्य अलंकारों को उभयालंकार नहीं मानता। इन भ्रान्तियों का निराकरण आवश्यक था। मम्मट ने अन्वयव्यतिरेक भाव के आधार पर वर्गत्रयी को सुनियोजित करने का प्रयास किया।

**अन्वयव्यतिरेकभाव**

भामह से पूर्व कुछ आलंकारिक शब्दालंकार को और कुछ अर्थालंकार को अधिक उपयुक्त समझते थे। भामह ने दोनों को ही समान रूप से स्वीकार किया है।[121] दंडी भी गुण, दोष, अलंकार के शब्दार्थ विभाग का संकेत करते हैं।[122] उद्‌भट भामह के अनुयायी हैं। यद्यपि अलंकार का शब्दार्थ-विभाग इन तीनों आचार्यों को ज्ञात है, किन्तु उनकी विवेचन पद्धति में अंतर है। भामह और उद्‌भट जहां शब्दालंकार और अर्थालंकार को एक ही वर्गक्रम में रखते चले आते हैं, वहीं दंडी दोनों का पृथक् विवेचन करते हैं। इस प्रकार भामह उद्‌भट की अपेक्षा दंडी का विवेचन-क्रम अधिक वैज्ञानिक है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वामन शब्दालंकार और अर्थालंकार का पृथक् अध्यायों में विवेचन करते हैं। उन्होंने सर्वप्रथम आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर गुणों का शब्दार्थ-विभाग प्रस्तुत किया।[123] यद्यपि अलंकार के विषय में वामन ने कोई स्पष्ट बात नहीं कही है, पर गुणों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि अलंकार विभाग में भी वह उपर्युक्त सिद्धांत को मानते थे। रुद्रट ने 'श्लेषोऽर्थस्यापि' कहकर उभयालंकार का निर्देश कर दिया है। भोज तो उभयालंकारों की एक लंबी सूची प्रस्तुत करते हैं। उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि आलंकारिक अलंकार का शब्दार्थोभय त्रिविध विभाग करते हैं, किन्तु इस विभाजन का आधार क्या है, स्पष्ट रूप से कोई नहीं बताता।[124] सर्वप्रथम राजानक तिलक (ग्यारहवीं शती) ने अन्वयव्यतिरेक भाव के आधार पर अलंकारों के त्रिविध वर्गीकरण का उल्लेख किया है। श्लेष अलंकार के विवेचन में उन्होंने इस सिद्धांत का स्पष्ट उल्लेख किया है :

**'काव्ये दोषगुणालंकाराणां च शब्दार्थगततयाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभागः**

**क्रियते। .......... इति शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायिनोऽस्य शब्दालंकारत्वमेव युक्तम्।'** विवृत्ति, पृ. 40

इसी आधार पर उन्होंने पुनरुक्तवदाभास[125] और श्लेष को उभयालंकार सिद्ध किया है। पुनरुक्तवदाभास के विषय में उनका स्पष्ट कथन है कि यह उभयालंकार है। इस कथन की पुष्टि के लिये वह उदाहरण की व्याख्या में अन्वयव्यतिरेक सिद्धांत का सहारा लेते हैं :

**'नागशितिकण्ठपर्यायोपादानेऽप्यलंकारो न हीयत इत्यर्थोऽलंकार्यः। कुंजरकाल-गलशब्दपर्यायोपादाने तु नालंकारो भवतीति शब्दोऽलंकार्य इत्युभयालम्बनोऽयमलंकारः।'**[126]

अलंकार के शब्द-अर्थ-उभय त्रिविध विभाग तथा उसके नियामक तत्त्व अन्वयव्यतिरेकभाव के लिये मम्मट निश्चय ही राजानक तिलक के परम ऋणी हैं। श्लेष की उभयालंकारता सिद्ध करने के लिये उद्‌भट सिद्धांत के खण्डन में उन्होंने इस सिद्धांत का उल्लेख किया है।[127] उनके अनुसार अलंकार-विभाग के लिये आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धांत, संभवतः जिसे उद्‌भट मानते हैं, अपूर्ण एवं अस्पष्ट है। बिना शब्द के अर्थ का होना असंभव है। अनुप्रास आदि शब्दालंकारों का अर्थ से और उपमा आदि अर्थालंकारों का अर्थ से सम्बन्ध होना नियत है। आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर तो समस्त शब्दालंकारों को अर्थालंकार और अर्थालंकारों को शब्दालंकार मानना पड़ जायेगा। खोजा जाये तो केवल शब्द अथवा केवल अर्थ पर आश्रित अलंकार भी कम ही मिल सकेंगे। इसलिये आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धांत अनुपयुक्त है। मम्मट की दृष्टि से यह सिद्धांत तो अन्ततः अन्वयव्यतिरेकभाव पर ही आधृत है।[128] जिनके रहने पर जो वस्तु रहे उसे अन्वय-यत्सत्वे यत्सत्वमन्वयः, और जिसके अभाव में जो न रहे उसे व्यतिरेक कहते हैं—यदभावे यदभावो व्यतिरेकः। जहां किसी शब्द विशेष के रहने पर कोई अलंकार रहे, अभाव में न रहे तो वहां अन्वयव्यतिरेकभाव के आधार पर शब्दालंकार माना जायेगा और यदि शब्द परिवर्तन कर देने पर भी अलंकार बना रहे तो अर्थालंकार कहा जायेगा।[129] इस दृष्टि से मम्मट ने वक्रोक्ति, अनुप्रास, लाटानुप्रास और यमक को शब्दालंकार तथा पुनरुक्तवदाभास, श्लेष और परम्परितरूपक को उभयालंकार स्वीकार किया है।

### मम्मट के अर्थालंकार

उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, ससंदेह, रूपक, अपह्नुति, श्लेष,

समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, मालादीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोध, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्यलिंग, पर्यायोक्त, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मरण, भ्रान्तिमान्, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि, संकर।

इन 62 अर्थालंकारों में श्लेष उभयालंकार है, जिसका दोनों (शब्द-अर्थ) वर्गों में उल्लेख है। इस प्रकार मम्मट के अर्थालंकारों की वास्तविक संख्या 61 है। उन्होंने सम, सामान्य, मालादीपक, अतद्गुण नये अलंकार प्रस्तुत किये हैं। रुद्रट के कतिपय अलंकार और उनके भेद-स्वरूप का उचित व्याख्यान मम्मट की अपनी विशेषता है। बड़े आश्चर्य की बात है कि अधिक अंशों में रुद्रट का अनुसरण होते हुए भी काव्यप्रकाश के अलंकार-विवेचन में कोई व्यवस्थित क्रम नहीं अपनाया गया, वर्ग या श्रेणी-विभाग की तो चर्चा ही व्यर्थ है। प्रो. चन्दोरकर ने काव्यप्रकाश की भूमिका में[130] डॉ. ए. बेन द्वारा मानस व्यापार (आपरेशन्स ऑफ इन्टेलेक्ट) के आधार पर किये गये अंग्रेजी अलंकारों के श्रेणी विभाग को ध्यान में रखते हुए मम्मट के अर्थालंकारों को सादृश्य, विरोध तथा प्रत्यासक्ति वर्गों में रखा है, जो इनमें नहीं आ सके हैं, उन्हें शृंखलान्यायमूल, तर्कन्यायमूल तथा प्रकीर्ण वर्गों में व्यवस्थित किया है। प्रो. गजेन्द्र गदकर ने भी उपर्युक्त तीन तत्त्वों—सादृश्य (एनलॉजी आर सिमिलरिटी), विरोध (कन्ट्रास्ट, डिस्सिमिलरिटी आर अपोजीशन) तथा प्रत्यासक्ति (कन्टीगूइटी आर असोसिएशन ऑफ आइडियाज) के आधार पर मम्मट प्रोक्त 31 अलंकारों को तीन वर्गों में विभक्त किया है, अवशिष्ट 31 में चार को शृंखलान्यायमूल, पांच को तर्कन्यायमूल और 22 को प्रकीर्ण वर्गों में रखा है। सादृश्य वर्ग में 20 अलंकारों को तीन उपवर्गों में बांटा गया है :

(1) उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय।
(2) ससन्देह, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, भ्रान्तिमान्।
(3) प्रतिवस्तूपमा-दृष्टान्त-निदर्शना, दीपक-तुल्ययोगिता, समासोक्ति-अप्रस्तुतप्रशंसा (5), सामान्य-मीलित, प्रतीप-व्यतिरेक।

विरोध तत्त्व के अंतर्गत दश अलंकारों को दो उपवर्गों में विभक्त किया गया है :

(1) विरोध, विषम (1), अधिक, विशेष, व्याघात।

(2) अतिशयोक्ति (4), विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, अतद्गुण।

अतिशयोक्ति सादृश्य-वर्ग में भी आ गई है, इसलिये इस वर्ग की वास्तविक अलंकार संख्या नौ है।

प्रत्यासक्ति वर्ग में केवल तीन अलंकार आते हैं : अप्रस्तुतप्रशंसा (1-4), सूक्ष्म, स्मरण। यह अतिशयोक्ति के 1-3 भेद, अप्रस्तुत प्रशंसा-पंचम भेद तथा समासोक्ति में भी अवस्थित रहता है। शृंखलामूल तथा तर्कन्यायमूल वर्गों में पूर्वोक्त प्रो. चन्द्रोदकर सम्मत अलंकारों को रखा गया है, जो विद्यानाथ के वर्गीकरण पर आधृत है। गदकर महोदय ने शेष 22 अलंकारों को प्रकीर्ण वर्ग में रख दिया है।[131] मम्मट ने रसवदादि अलंकारों को गुणीभूतव्यंग्य का प्रभेद माना है। अग्निपुराण (12वीं शती का मध्य) के 342, 343 तथा 344 अध्याय में अलंकारों का विवेचन किया गया है। 342 अध्याय में अनुप्रास, यमक 10, चित्रकाव्य 7, प्रहेलिका 16, गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र, आदि शब्दालंकारों का निरूपण है। 343 अध्याय में स्वरूप (स्वभावोक्ति) सादृश्य (चार भेद—उपमा, रूपक, सहोक्ति, अर्थान्तरन्यास), उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विशेषोक्ति, विभावना, विरोध तथा हेतु का उल्लेख है। 343 अध्याय में उभयालंकार का प्रतिपादन है, किन्तु उसमें अलंकार-लक्षण, गुण, वृत्ति, शब्दशक्ति तथा समाधि, आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति, पर्यायोक्त अलंकार निरूपित हैं। ग्रन्थकार पर दंडी-भोज का प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर होता है।

रुय्यक (12वीं शती का मध्य) ने मम्मट की अपेक्षा रसवदादि सात तथा अन्य पांच अधिक अलंकारों का विवेचन किया है—परिणाम, उल्लेख, विकल्प, विचित्र तथा अर्थापत्ति। अलंकार विकास में उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण रुय्यक की सबसे बड़ी देन है, जिसके लिये न केवल परवर्ती समग्र आलंकारिक वर्ग, अपितु आधुनिक अलंकार-विचारक भी चिरकृतज्ञ और ऋणी हैं। उन्होंने कुल 81 अलंकारों का विवेचन किया है, जिन्हें आश्रयाश्रयि भाव के आधार पर प्रथमतः शब्द, अर्थ और उभय तीन प्रमुख वर्गों में व्यवस्थित किया है।

### आश्रयाश्रयिभाव

समुद्रबन्ध के अनुसार उद्भट आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं।[132] संभव है कि यह सिद्धांत उद्भट को मान्य रहा हो, किन्तु उनके उपलब्ध ग्रन्थ में इस बात का कोई उल्लेख नहीं है। जयरथ का कथन है कि राजानक तिलक इस सिद्धांत पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं।[133] तिलककृत

विवृत्ति में आश्रयाश्रयिभाव का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है, संकेत अवश्य मिल जाता है।[134] सर्वप्रथम रुय्यक ने अलंकारों के त्रिविध वर्गीकरण के लिये आश्रयाश्रयिभाव का स्पष्ट प्रयोग किया है। इसके लिये वह संभवतः उद्भट और अपने पिता राजानक तिलक के ऋणी हैं। रुय्यक का मत है कि लोक में जो अलंकार जिस अंग विशेष पर आश्रित होता है, वह उसका अलंकार माना जाता है। कुण्डल कर्ण का अलंकार कहा जाता है, क्योंकि वह कर्ण पर आश्रित है।[135] कंकण, मेखला, नूपुर, अलंकार, हाथ, कटि और चरण पर आश्रित होने के कारण उनके अलंकार कहलाते हैं। काव्यालंकारों के विषय में भी यह तथ्य लागू होता है।[136] अलंकार शब्द पर आश्रित है तो शब्दालंकार, अर्थ पर आश्रित है तो अर्थालंकार और शब्द-अर्थ दोनों पर आश्रित है तो उभयालंकार माना जायेगा।[137] मम्मट की आलोचना करते हुए वह कहते हैं कि अनन्वय व्यतिरेक उनकी (शब्दादि की) कार्यता के प्रयोजक हो सकते हैं अलंकारता के नहीं, अन्यथा श्रौती उपमा आदि (उत्प्रेक्षा) को भी शब्दालंकार स्वीकार करना पड़ेगा।[138] रुय्यक तथा विमर्शिनीकार के इस कथन को लेकर कुछ आधुनिक विद्वान् भी मम्मट के अन्वयव्यतिरेक सिद्धांत को अयुक्त घोषित कर देते हैं,[139] तर्कहीन है। काव्य में सर्वत्र लोक का दृष्टान्त सहायक नहीं हो सकता। काव्य के उभयालंकार होते हैं, प्रायः सबको मान्य है, रुय्यक को, उनके पक्षधरों को भी। लोक में है कोई आभूषण, जो आश्रयाश्रयि सिद्धांत के अनुसार उभयालंकार (एक साथ दो अवयवों को विभूषित करने वाला) कहा जा सके? लोक में ऐसे आभूषण का अभाव इस बात का द्योतक है कि काव्य में सर्वत्र लोक-दृष्टान्त अयुक्त है। यद्यपि अन्वयव्यतिरेकवाद तर्कशास्त्र का विषय है, किन्तु क्या इसीलिये वह काव्य शास्त्र में अग्राह्य है? अलंकार-विकास में अनेक दार्शनिक तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इस आधार पर तो वे भी परित्याज्य हो जायेंगे? मम्मट के आलोचक विद्वानों ने अन्वयव्यतिरेक का गलत अर्थ लगाया है, चाहे रुय्यक हों, उनके टीकाकार या आधुनिक विद्वान्। अलंकार नियामक इस तत्त्व से मम्मट का अभिप्राय वह नहीं है, जो मात्र तर्क-सम्मत है अथवा विरोधी पक्ष समझता है। उनका तात्पर्य यही है कि शब्दालंकार शब्दपरिवृत्त्यसह हैं, अर्थालंकार शब्दपरिवृत्ति सह। उनका स्पष्ट कथन है कि शब्द-विशेष के रहने पर अलंकार विशेष बना रहे, शब्द परिवर्तन कर देने पर वह अलंकार न रहे तो शब्दालंकार होगा और शब्द परिवर्तन कर देने पर भी यदि अलंकार की अलंकारता विनष्ट नहीं होती तो अर्थालंकार होगा। विरोध पक्ष की यह आशंका कि इस आधार पर श्रौतोपमा आदि को शब्दालंकार मानना पड़ेगा, निराधार है। श्रौतोपमा में इव कारण रूप है, विद्वानों का यह कथन

ही, उनकी अज्ञानता का सूचक है।[140] दो वस्तुओं का साधर्म्य उपमा का कारण है, इव नहीं, इव तो उसका बोधक मात्र है। 'चन्द्रमिव सुन्दरं मुखम्' श्रौतोपमा का उदाहरण है। अन्वयव्यतिरेकभाव के अनुसार शब्द परिवर्तन कर देने पर भी 'विधुवन्ममनोहरं वदनम्' श्रौतोपमा बनी रहती है, अतएव यह अर्थालंकार है, शब्दालंकार मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। श्रौतोपमा का दृष्टान्त तो 'आश्रयाश्रयिभाव के प्रतिकूल पड़ जाता है। विरोध के अपने ही तर्क के अनुसार इव श्रौतोपमा का आश्रय (कारण) है, इव के स्थान पर वत् कर देने पर श्रौतोपमा अर्थालंकार नहीं रह जायेगी क्या? अस्तु, किसी पक्ष का दूषण-पोषण करने के बजाय दोनों का सामंजस्य करना अधिक उपयुक्त होगा। जैसा कि मम्मट का अभिमत है, आश्रयाश्रयिभाव अन्ततः अन्वयव्यतिरेकवाद में पर्यवसित हो जाता है।[141] इस प्रकार दोनों को एक-दूसरे का पूरक मानना अधिक अच्छा है।

रुय्यक आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर पुनरुक्तवदाभास को अर्थालंकार, लाटानुप्रास, श्लेष तथा संसृष्टि (संकर) को उभयालंकार[142] और छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, यमक तथा चित्र को शब्दालंकार मानते हैं। उनके अनुसार पुनरुक्तवदाभास अलंकार में आमुख (आरंभ) में अर्थ पौनरुक्त्य का आभास होता है,[143] अतएव अर्थाश्रित होने के कारण यह अर्थालंकार है। रुय्यक के इस मत का न केवल उनके दो टीकाकार—जयरथ और समुद्रबन्ध, अपितु विद्याधर, विद्यानाथ तथा डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी भी स्वागत करते हैं।[144] यद्यपि पुनरुक्तवदाभास में अर्थ पौनरुक्त्य पाया जाता है, किन्तु शब्द-वैचित्र्य की ही उत्कट प्रतीति होती है।[145] आमुख में तुल्यार्थ-प्रतीति भी शब्द का धर्म है।[146] पुनरुक्तवदाभास अलंकार सार्थक-निरर्थक दोनों प्रकार के शब्दों की एकार्थ प्रतीति में होता है।[147] शब्दों की अर्थ-पौनरुक्त्य-प्रतीति में सभंगश्लेष पाया जाता है,[148] रुय्यक भी इसे मानेंगे, वह यह भी मानते हैं कि सभंगश्लेष शब्दालंकार हैं।[149] उन्हीं के नियमानुसार शब्दाश्रित अलंकार शब्दालंकार कहे जायेंगे, फिर शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित होने के कारण पुनरुक्तवदाभास को क्यों नहीं उभयालंकार माना जायेगा? अन्वयव्यतिरेकवादी तो इसे उभयालंकार मानता ही है। वस्तुतः यहां चमत्कार तो शब्दों के उच्चारण में है, पुनरुक्ति में है। डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी यद्वैचित्र्यवाद का समर्थन भी करते हैं।[150] और यहां उसको स्वीकार भी नहीं करते, इस प्रकार की परस्पर विसंगति क्यों? अस्तु, जैसा कि राजनकतिलक, मम्मट, शोभाकर, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, कर्णपूर, आदि इसे उभयालंकार मानते हैं, युक्तिसंगत है। रुय्यक, उद्भट के आधार पर[151] छेकानुप्रास तथा वृत्यनुप्रास को पृथक् अलंकार मानते हैं।[152] व्यंजन

पौनरुक्त्य दोनों का सामान्य लक्षण है। एक ही सामान्य तत्त्व पर आश्रित अलंकार भेदों को स्वतंत्र अलंकार मानने, पर तो उपमा आदि के भेदों को भी स्वतंत्र अलंकार कहना पड़ेगा? शब्दपौनरुक्त्य सामान्य आधार को लेकर छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा यमक की एकता का संदेह व्यक्त करने वालों[153] से पूछा जा सकता है कि क्या वे सामान्य तत्त्व औपम्य को लेकर उपमामूलक समग्र अलंकारों को उपमा-भेद स्वीकार करेंगे? लाटानुप्रास में शब्द की आवृत्ति होती है तात्पर्य मात्र का भेद होता है।[154] अनन्वय से लाटानुप्रास का भेद प्रतिपादित करते हुए रुय्यक यह स्वीकार करते हैं कि लाटानुप्रास में शब्दैक्य साक्षात् सहायक है।[155] उन्हीं के सिद्धान्तानुसार शब्दाश्रित होने के कारण इसे शब्दालंकार स्वीकार करने में क्या आपत्ति है? श्लेष को उद्भट-रुय्यक दोनों आचार्य उभयालंकार मानते हैं और अर्थालंकार प्रकरण में उसका विवेचन करते हैं। क्योंकि उद्भट-रुय्यक श्लेष का अर्थालंकार प्रकरण में विवेचन करते हैं, इसीलिये कुछ आधुनिक विद्वान् इसे अर्थालंकार कहना संगत समझते हैं।[156] रुय्यक तो शाब्द प्रस्थान में अर्थालंकार (पुनरुक्तवदाभास) और उभयालंकार (लाटानुप्रास) का भी विवेचन करते हैं, क्या इसीलिये उन्हें भी शब्दालंकार माना जायेगा? वस्तुतथ्य तो यह है कि यद्यपि रुय्यक अलंकार का शब्दार्थोभय त्रिविध विभाग स्वीकार करते हैं, किन्तु विवेचन-क्रम में यह वर्गीकरण को ही प्रधानता देते हैं, अलंकारों का वर्गीकरण (कक्ष्या-विभाग) ही उनका प्रधान लक्ष्य है। पौनरुक्त्य प्रकार के प्रथम विवेचन का औचित्य बतलाते हुए उन्होंने यही बात कही है :

> "**आदौ पौनरुक्त्यप्रकारवचनं निरुपयिष्यमाणानामलंकाराणां कक्ष्याविभाग घटनार्थम्।**" —अ.स., पृ. 24

इसलिये उनके विवेचन-क्रम के आधार पर अलंकार का शब्दार्थविभाग नितान्त अयुक्त है। मम्मट आदि आलंकारिक वक्रोक्ति अलंकार को शब्दालंकार मानते हैं। उसके दो भेद हैं—श्लेषवक्रोक्ति और काकुवक्रोक्ति। काकु ध्वनि और नाट्य का विषय है, अलंकार का नहीं। श्लेषवक्रोक्ति के रुय्यक ने त्रिविध उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—सभंग, अभंग और उभयात्मक है। इससे तो सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि कदाचित् उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति भी न केवल शब्दालंकार है प्रत्युत उभयालंकार भी है। अतएव यह कहना कि रुय्यक इसे अर्थालंकार मानते हैं[157] या अर्थालंकार में विवेचन होने के कारण यह अर्थालंकार है, तर्कहीन है। गूढ़ार्थ प्रतीतिपरक अर्थालंकारों में वक्रोक्ति का परिगणन यह सिद्ध करता है कि

रुय्यक अलंकार-विवेचन में वर्गीकरण को प्रधानता देते हैं, शब्दार्थ-विभाग को नहीं। यद्यपि वैचित्र्य-विहीन तथा सामान्यजनवेद्य न होने के कारण बुद्धि-व्यायाम-भूत चित्र को अलंकार नहीं मानना चाहिये[158] तथापि प्रायः सभी आलंकारिक इसे शब्दालंकार मानते हैं। खंगबन्ध, भुरजबन्ध, पद्मबन्ध, आदि के आकार में वर्ण-विन्यास चित्र कहा जाता है।[159] इसमें बन्ध विशेष को लक्ष्य कर लिपिबद्ध वर्णों की पाठपुनरुक्ति पायी जाती है।[160] सामान्यतः लिप्यक्षरों को लोग शब्द ही समझते हैं[161] (यद्यपि ऐसा समझना नहीं चाहिये), इसलिये चित्रालंकार की शब्दालंकारता औपचारिक है :

**'औपचारिकोऽयं शब्दालंकार इति तात्पर्यार्थः।'** वि., पृ. 25

**रुय्यक का अलंकार-वर्गीकरण**

रुय्यक ने समग्र शुद्धालंकारों को नौ प्रमुख वर्गों में विभाजित किया हैः पौनरुक्त्याश्रय, साधर्म्याश्रय, विरोधमूल, शृंखलाविच्छित्ति, तर्कन्यायमूल, वाक्यन्यायमूल, लोकन्यायमूल, गूढ़ार्थप्रतीतिपरक तथा चित्तवृत्त्याश्रय।

पौनरुक्त्याश्रय अलंकारों में उन्होंने एक अर्थालंकार (पुनरुक्तवदाभास), छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा यमक, तीन शब्दालंकार और लाटानुप्रास, एक उभयालंकार को रखा है। इस प्रकार उनके अनुसार पौनरुक्त्यवर्ग में पांच प्रमुख अलंकार आते हैं,[162] चित्र अलंकार में पाठपौनरुक्त्य पाया जाता है। अतएव उसे भी इसी वर्ग में रखना उपयुक्त होगा। इस प्रकार पौनरुक्त्यवर्ग में 6 अलंकार निबन्धित हैं :

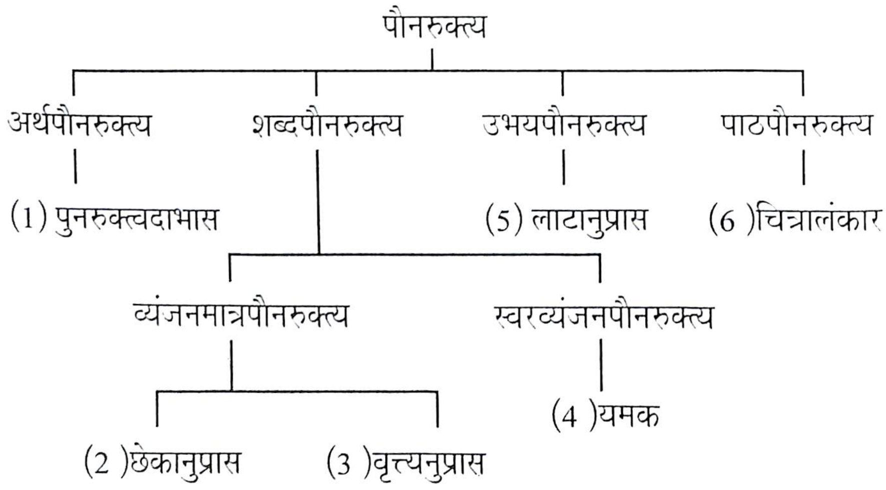

अर्थालंकार विभाजन का प्रथम आधार साधर्म्य है, जिसे औपम्य और सामान्यतया सादृश्य भी कहा जाता है। उपमा से लेकर अतिशयोक्ति पर्यन्त साधर्म्याश्रय अलंकारों का विवेचन करने के बाद रुय्यक गम्यौपम्य अलंकारों का निरूपण प्रारंभ करते हैं।[163] इससे प्रतीत होता है कि साधर्म्याश्रय अलंकारों को वह प्रथमतः दो वर्गों में रखना चाहते हैं—वाच्यौपम्य और गम्यौपम्य। पुनः त्रिविध साधर्म्य के आधार पर वह इन सबको तीन उपवर्गों में विभाजित करते हैं—भेदाभेदप्रधान, अभेदप्रधान और भेदप्रधान।[164] दो वस्तुओं में कुछ अंशों में साधर्म्य (अभेद) और कुछ अंशों में वैधर्म्य (भेद) होने पर उनका समान रूप से कथन भेदाभेदप्रधान कहा जाता है। इस वर्ग में रुय्यक ने चार अलंकारों का निरूपण किया है—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा तथा स्मरण। अभेदप्रधान अलंकारों में साधर्म्य के आधार पर दो भिन्न वस्तुओं में अभेद-प्रतिपादन किया जाता है, अभेद-प्रतीति आरोप, अध्यवसाय, (धर्म के) पदार्थ तथा वाक्यार्थगतत्त्वेन होती है। आरोपगर्भ अलंकारों में रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख तथा अपह्नुति को रखा गया है। अध्यवसाय के दो प्रकार हैं—साध्य और सिद्ध। प्रथम उत्प्रेक्षा और द्वितीय अतिशयोक्ति का विषय है। अतिशयोक्ति निरूपण के बाद रुय्यक ने अभेद अथवा भेदप्राधान्य का बिना उल्लेख किये ही गम्यौपम्य अलंकारों का विवेचन प्रारंभ कर दिया है तथा तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना को दो उपवर्गों में प्रतिष्ठित किया है। इनमें प्रथम दो पदार्थगत अलंकार हैं, अंतिम तीन वाक्यार्थगत। इवादि का प्रयोग न होने के कारण इन अलंकारों में औपम्य-गम्यमान रहता है।[165] किन्तु अभेद प्रधानता होती है या नहीं, रुय्यक इसका निर्देश नहीं करते। इसीलिये कुछ विद्वानों को सन्देह है कि उपर्युक्त पांच अलंकारों को अभेदप्रधान वर्ग में रखा जाये अथवा भेदप्रधान वर्ग में। अन्ततः उन्हें इनकी अभेदप्रधानता समझ में नहीं आती[166] और विद्यानाथ के अनुसार इन पांच अलंकारों को भेदप्रधान वर्ग में रखना अधिक संगत समझते हैं। ध्यान देने योग्य है कि साधर्म्य का त्रिधा प्रकार बताते समय रुय्यक उस वर्ग के प्रथम अलंकार का उल्लेख कर देते हैं। भेदप्रधान अलंकार वर्ग का प्रथम अलंकार व्यतिरेक है। इसलिये व्यतिरेक से पूर्व विवेचित अलंकारों को रुय्यक को भेदप्रधान मानें, तर्कहीन लगता है। अभेदप्रधान अलंकारों में दो पदार्थों की अभेद प्रक्रिया मूलतः उनके धर्म की एकता पर अवलंबित है, अभेदप्रधान वर्ग की कल्पना ही धर्मैक्य को लेकर की गयी है। तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, आदि अलंकारों में प्रस्तुत-अप्रस्तुत वस्तु के गुण-क्रिया, रूप, धर्म की एकता का प्रतिपादन ही कवि का अभीष्ट होता है। 'अस्यां

प्रावृषि मुखं चन्द्रबिम्बं च विच्छायम्' तुल्ययोगिता के इस उदाहरण में मुख और चन्द्र दोनों का गुण, रूप, धर्म, विच्छाय (मालिन्य) एक है, पूर्णतः स्पष्ट है, उपमा-बोधक इवादि का अभाव होने से औपम्य भी गम्यमान है। अतएव सन्देह नहीं कि औपम्य प्रतीति गम्यमान होने पर भी उपर्युक्त पांच अलंकारों को रुय्यक अभेदप्रधान अलंकार वर्ग में रखना चाहते हैं। इस दृष्टि से विद्याचक्रवर्ती का निम्न कथन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है :

> **'गम्यमानौपम्याश्रयेष्वपि यन्न्यायात्** (अभेद) **प्रधान्यमर्हति तद्द्वयमधिकरोति।'** (सं., पृ., 85)

अर्थात् गम्यमान औपम्यमूल होने पर भी जिस कारण से इनमें अभेदप्रधानता होती है, उन दो तत्त्वों—पदार्थगत और वाक्यार्थगत—का निरूपण किया जा रहा है। व्यतिरेक-विवेचन से पहले और निदर्शना के अन्त में उनका स्पष्ट कथन है कि अब तक अभेदप्रधान वर्ग के अलंकारों का विवेचन किया गया।[167] इसलिये स्पष्ट है कि तुल्ययोगिता आदि पांच अलंकारों को भी रुय्यक अभेदप्रधान अलंकार वर्ग में रखते हैं। गम्यमान औपम्यमूल अभेदप्रधान पदार्थगत अलंकारवर्ग के अंतर्गत उन्होंने दो अलंकारों का निरूपण किया है—तुल्ययोगिता और दीपक। प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना वाक्यार्थगत अलंकार हैं। प्रतिवस्तूपमा धर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभाव पर अवलम्बित है, अन्य दो बिम्बप्रतिबिम्बभाव पर।

रुय्यक ने भेदप्रधान अलंकारों का विवेचन व्यतिरेक से प्रारंभ किया है।[168] सहोक्ति को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में भेदप्रधान अलंकार कहा है।[169] विनोक्ति को वह सहोक्ति की प्रतिपक्षिभूत मानते हैं,[170] इससे यह सहज कहा जा सकता है कि इसकी भी भेदप्रधानता उन्हें स्वीकार है। विनोक्ति के बाद और विरोधमूलक अलंकारों के पहले रुय्यक ने आठ और अलंकारों का निरूपण किया है—समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुत-प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति तथा आक्षेप। समासोक्ति-परिकर को उन्होंने विशेषणविच्छित्ति मूल और श्लेष को विशेषणविशेष्य विच्छित्तिमूल माना है। समासोक्ति में प्रस्तुत वर्णन से अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है, उससे विपरीत स्थिति—अप्रस्तुत कारण आदि से प्रस्तुत कार्य आदि की प्रतीति होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा तथा कार्यकारणभावादि रूप तत्समान प्रकरण होने से अर्थान्तरन्यास का विवेचन किया गया है। शेष तीन अलंकारों को रुय्यक ने गम्यत्वविच्छित्तिमूल स्वीकार किया है।

उपर्युक्त आठ अलंकारों को वह भेदप्रधान मानते हैं या नहीं, स्पष्ट उल्लेख नहीं

है। इसलिये अधिकांश आधुनिक विचारक विशेषण तथा विशेषणविशेष्यविच्छित्त्याश्रय अलंकारों को छोड़कर अवशिष्ट पांच अलंकारों को प्रायः प्रकीर्ण-वर्ग में रखने के पक्षपाती हैं। ध्यान देने योग्य है कि रुय्यक की दृष्टि से अर्थालंकार विभाजन का द्वितीय आधार विरोध है। इससे इतना तो मानना ही पड़ेगा कि विरोधमूलक अलंकारों के पहले जितने भी अलंकार हैं, उन्हें वह अर्थालंकार विभाजन के प्रथम आधार साधर्म्य के अन्तर्गत रखना चाहते हैं। इन आठ अलंकारों में किसी न किसी रूप में औपम्य प्रतीति होती है, प्रायः सभी लोग स्वीकार करते हैं। औपम्य या साधर्म्य मूलक अलंकारों का रुय्यक ने साधर्म्यत्रयी के आधार पर क्रमिक विवेचन प्रस्तुत किया है। स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि यदि रुय्यक इन अलंकारों को भेदप्रधान नहीं मानते तो साधर्म्य, जिसके अन्तर्गत ये अलंकार आते हैं, का त्रिधा विभाग ही क्यों करते हैं और यदि ये साधर्म्यत्रयी से बहिर्भूत हैं, तो क्या इन अलंकारों का कोई वर्ग नहीं है? समग्र अलंकारों का वर्गीकरण करने वाले रुय्यक केवल आठ अलंकारों को वर्ग रहित रखें, असंभव है। इन अलंकारों में औपम्य-प्रतीति होती है, इसलिये यह भी नहीं कह सकते कि ये औपम्यमूलक नहीं हैं। अलंकारों के क्रमिक विवेचन के आधार पर यह संभावना की जा सकती है कि रुय्यक कदाचित् इन्हें भी भेदप्रधानसाधर्म्यमूलक अलंकार वर्ग में रखना चाहते हैं। इस संभावना के लिये उनके ग्रन्थ में एक आधार भी उपलब्ध है, भेद की परिभाषा। रुय्यक के अनुसार विलक्षणता ही भेद है—भेदोवैलक्षण्यम्।[171] यह वैलक्षण्य, व्यतिरेक, सहोक्ति तथा विनोक्ति में क्रमशः न्यूनत्वाधिकत्व, सहशब्दकृत गुणप्रधानभाव तथा विनाशशब्दकृत सदसत्वाभावरूप में उपलब्ध होता है। विशेषणविच्छित्ति दो प्रकार की होती है—साम्य और साभिप्राय। प्रथम समासोक्ति का विषय है, द्वितीय परिकर का। साम्य और साभिप्राय विशेषण प्रस्तुत से अप्रस्तुत अपर अर्थ की प्रतीति विलक्षण ही मानी जायेगी। विशेषणविशेष्यसाम्यरूप श्लेष में प्राकरणिक अर्थ से अन्य प्राकरणिक या अप्राकरणिक से अन्य अप्राकरणिक अर्थ का अवगम विलक्षण ही कहा जायेगा। अप्रस्तुत कारण आदि से प्रस्तुत कार्य आदि की प्रतीति होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा में स्पष्टतः भेद है। अर्थान्तरन्यास को भी इसी क्रम में देखा जा सकता है। पर्यायोक्त, व्याजस्तुति तथा आक्षेप में व्यंग्य, व्याज तथा निषेध कथन से अभिव्यंजित वक्ता के अभिप्राय विशेष की विलक्षणता सहज ही देखी जा सकती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त आठ अलंकारों को भी रुय्यक भेदप्रधान साधर्म्यमूलक अलंकारों में रखना चाहते हैं।[172] रुय्यक के साधर्म्यमूलक अलंकारों वर्ग को निम्न प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है :

## साधर्म्याश्रय अलंकार

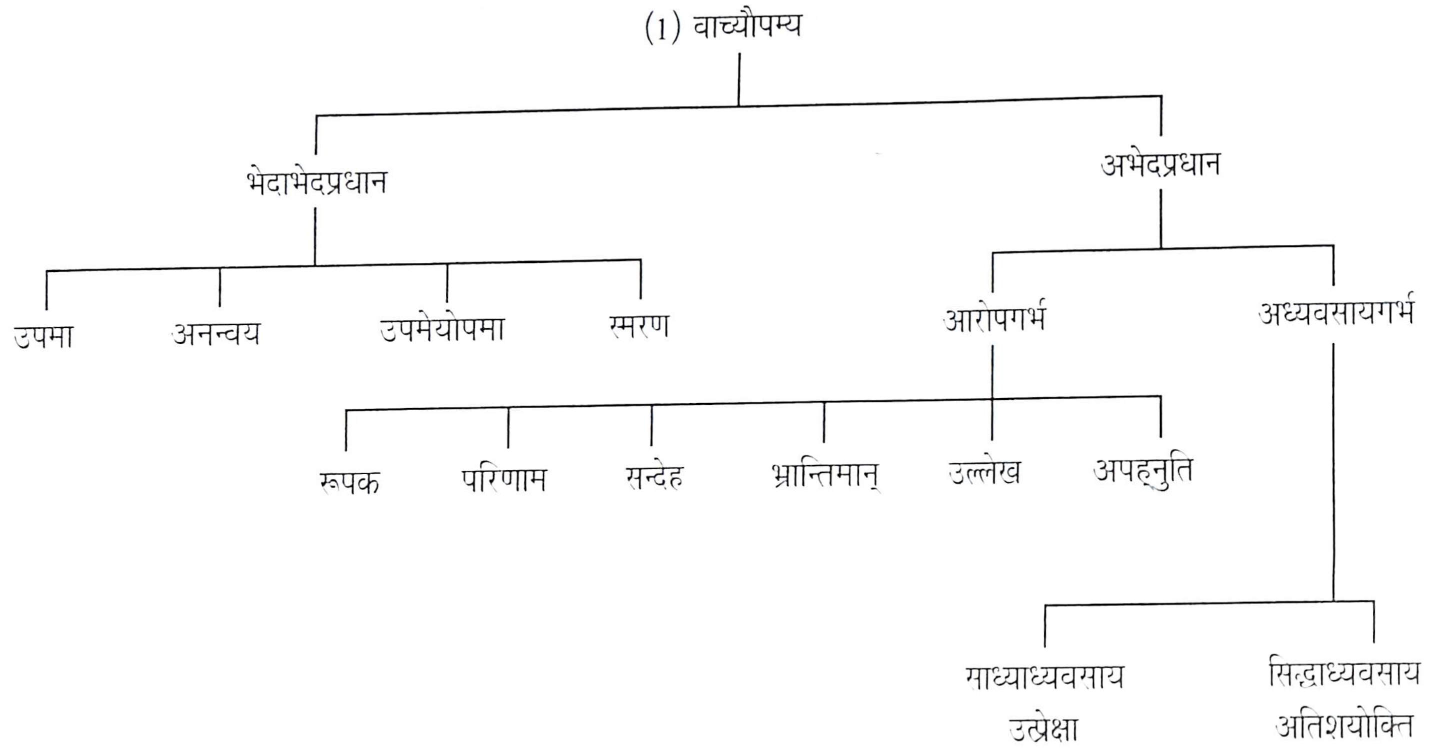

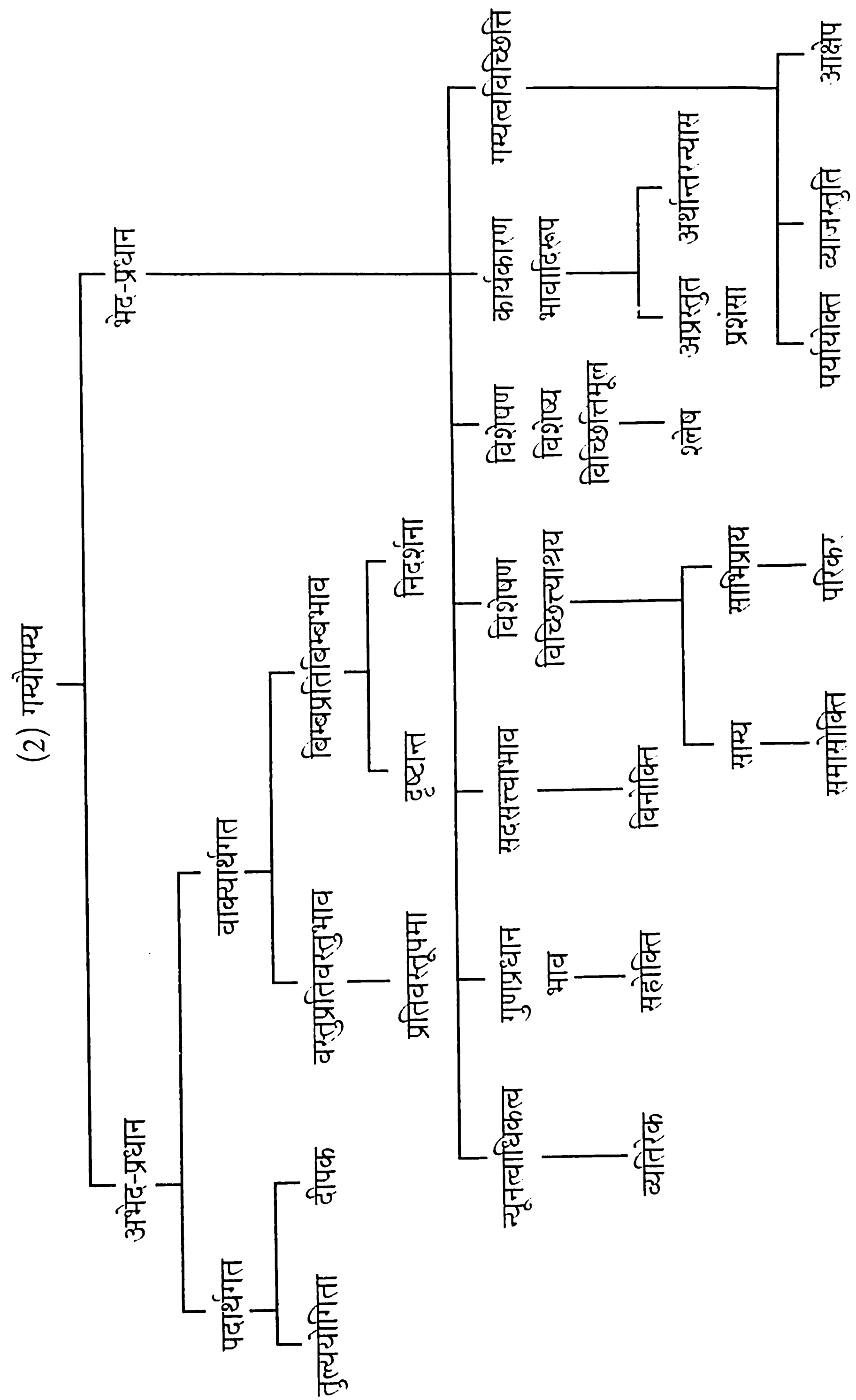
(2) गम्यौपम्य
अभेद-प्रधान
भेद-प्रधान
पदार्थगत
वाक्यार्थगत
तुल्ययोगिता
दीपक
वस्तुप्रतिवस्तुभाव
बिम्बप्रतिबिम्बभाव
प्रतिवस्तूपमा
दृष्टान्त
निदर्शना
न्यूनत्वाधिकत्व
व्यतिरेक
गुणप्रधान भाव
सहोक्ति
सदसत्त्वाभाव
विनोक्ति
विशेषण विच्छित्त्याश्रय
साम्य
समासोक्ति
साभिप्राय
परिकर
विशेषण विशेष्य विच्छित्तिमूल
श्लेष
कार्यकारण भावादिरूप
अप्रस्तुत प्रशंसा
अर्थान्तरन्यास
गम्यत्वविच्छित्ति
पर्यायोक्त
व्याजस्तुति
आक्षेप

विनोक्ति एवं अर्थान्तरन्यास में क्रमशः लोकव्यवहार और तर्क-प्रक्रिया का चमत्कार पाया जाता है। अतएव इन्हें लोकन्याय तथा तर्कन्यायमूल अलंकार वर्ग में रखना अनुपयुक्त न होगा।

रुय्यक ने विरोधगर्भ अलंकार वर्ग में मूलतः ग्यारह अलंकारों का विवेचन किया है : विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति (पंचम), विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष तथा व्याघात (द्विधा)। विभावना, विशेषोक्ति, आदि सभी विरोधमूलक अलंकारों में कार्यकारणभाव-मूल पाया जाता है। अतएव मात्र तीन अलंकारों (अन्योन्य, विशेष, व्याघात) में इस प्रक्रिया का प्रदर्शन अयुक्त है।[173] विरोध के बाद रुय्यक का स्पष्ट कथन है :

> **'एवं विरोधमुक्त्वा विरोधमूला अलंकाराः उच्यन्ते। तत्रापि कार्यकारणभाव-मूलत्वे विभावनां तावदाह।'** अ.स., पृ. 153

शृंखला की भांति वस्तुओं का उत्तरोत्तर गुम्फन शृंखलाबन्ध कहा जाता है।[174] इस वर्ग में रुय्यक ने चार अलंकारों का उल्लेख किया है—कारणमाला, एकावली, मालादीपक तथा सार। किसी हेतु से किसी कार्य की प्रतीति तर्कन्याय कही जाती है।[175] तर्कन्यायाश्रित अलंकार वर्ग में उन्होंने केवल दो अलंकारों का विवेचन किया है—काव्यलिंग और अनुमान। रुय्यक प्रतिपादित वाक्यन्यायमूल[176] अलंकारों की संख्या आठ है—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय तथा समाधि। प्रत्यनीक, प्रतीप, (नि) मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर को लोकन्यायमूल अलंकार माना गया है। इसके बाद सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक तथा उदात्त (द्विधा) को गूढ़ार्थप्रतीतिपरक अलंकारों की श्रेणी में निबद्ध किया गया है। रस को चित्तवृत्तियों का विभिन्न रूप माना गया है। अतएव रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता को रुय्यक ने चित्तवृत्ति विच्छित्ति पर आधृत माना है। इसके बाद उन्होंने संसृष्टि और संकर दो मिश्र अलंकारों का और विवेचन किया है। रुय्यक के वर्गीकरण में आये कतिपय अलंकारों को यद्यपि तत्तद्वर्ग से इतर वर्गों में रखा जा सकता है, तथापि उनका यह वैज्ञानिक वर्गीकरण और व्यवस्थित अलंकारविवेचन-क्रम[177] अलंकार-विकास की सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

रुय्यक के तरुण समकालीन शोभाकर[178] न केवल उनके अनेक अलंकार-लक्षण, लक्ष्य, भेदोपभेद तथा सिद्धान्तों की आलोचना एवं खंडन करते हैं, अपितु अनेक नवीन अलंकार और उनके सिद्धान्तों की उद्भावना भी करते हैं।

रुय्यक प्रतिपादित पौनरुक्त्य-वर्ग के पांच अलंकार एवं चित्र को वह शब्दालंकार मानते हैं। रुय्यक जहां पुनरुक्तवदाभास और लाटानुप्रास को अर्थालंकार और उभयालंकार मानते हैं, वहीं, शोभाकर उनका खण्डन करते हुए इनकी शब्दालंकारता का प्रतिपादन करते हैं। रुय्यक की अपेक्षा उन्होंने 45 नवीन एवं अधिक अलंकारों का विवेचन किया है—कल्पितोपमा, असम, उदाहरण, प्रतिमा, विनोद, व्यासंग, व्यतिरेक (द्वितीय, सजातीयस्य अतद्धर्मत्वम्), वैधर्म्य, अभेद, वितर्क, प्रतिभा, क्रियातिपत्ति, निश्चय, विध्याभास (रुय्यक का द्वितीय आक्षेप), सन्देहाभास, विकल्पाभास, विपर्यय, अचिन्त्य, अशक्य, व्यत्यास, समता, उद्रेक, तुल्य, अनादर, आदर, अनुकृति, प्रत्यूह, प्रत्यादेश, व्याप्ति, हेतु, आपत्ति, विधि, नियम, प्रतिप्रसव, तन्त्र, प्रसंग, क्रम, वर्धमानक, अवरोह, अतिशय, शृंखला (भेदत्रयात्मक, जो क्रमशः कारणमाला, एकावली तथा मालादीपक को अभिव्यक्त करते हैं), विवेक, परभाग, उद्भेद तथा गूढ़। वामन ने कल्पितोपमा को उपमा का एक भेद माना था, जो यहां स्वतंत्र अलंकार बन गया है। रुय्यक के द्वितीय आक्षेप तथा द्वितीय उदात्त को भी शोभाकर ने स्वतंत्र अलंकार मान लिया है। शोभाकर द्वारा विवेचित इन नवीन अलंकारों में कतिपय ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और गुणादिरूप हैं, कतिपय वस्तुरूप होने के कारण अलंकार की श्रेणी में नहीं आते और कतिपय अन्य अलंकारों में अन्तर्भूत हो सकते हैं, जिनकी विस्तृत जानकारी अलंकारों के विवेचन में उपलब्ध हो सकेगी। रसवत्, प्रेय और ऊर्जस्वि अलंकारों को छोड़कर वह रुय्यक प्रतिपादित अन्य चार रसालंकारों का खण्डन करते हैं, इसके अतिरिक्त संसृष्टि, संदेह तथा एकवाचकानुप्रवेश संकर का खण्डन कर मात्र अंगसंकर की स्थापना करते हैं। अलंकारसर्वस्व पर विमर्शिनी टीका के कृती शोभाकर के समकालीन जयरथ ने अलंकारोदाहरण में सदृशादर, संस्कार, तात्पर्य, अंग, अनंग, अभ्यास, अभीष्ट, अप्रत्यनीक तथा संभव नामक नवीन अलंकारों की उद्भावना की है,[179] जिनका उल्लेख शोभाकर भी नहीं करते। नरेन्द्रप्रभसूरि (द्वादश शती का मध्य) अलंकारमहोदधि के सप्तमतरंग में अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष तथा वक्रोक्ति छः शब्दालंकार एवं एक उभयालंकार-पुनरुक्तवदाभास का विवेचन करते हैं। अष्टमतरंग में उन्होंने उन सभी अलंकारों का विवेचन किया है जो रुय्यक को अभीष्ट हैं। नरेन्द्रप्रभ यद्यपि साधर्म्य का त्रिधा विभाग स्वीकार करते हैं।[180] किन्तु अलंकार विवेचन क्रम में वह रुय्यक का अनुसरण नहीं करते। उनके अर्थालंकारों का अनुक्रम इस प्रकार है—अतिशयोक्ति, सहोक्ति, उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, संशय, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, रूपक, अपह्नुति, परिणाम,

उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विनोक्ति, परिकर, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, आक्षेप (2), श्लेष, विरोध, असंगति, विशेषोक्ति, विभावना, विषम, सम, अधिक, विचित्र, पर्याय, विकल्प, व्याघात (2), अन्योन्य, विशेष, कारणमाला, सार, एकावली, मालादीपक, काव्यलिंग, अनुमान, यथासंख्य, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त (2), रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, संसृष्टि तथा संकर। नरेन्द्रप्रभ सूरि समग्र अलंकारों को अतिशयोक्ति से अनुप्राणित मानते हैं, यही कारण है कि उन्होंने सर्वप्रथम अतिशयोक्ति का विवेचन किया है। उपर्युक्त अलंकार तालिका में रुय्यक के विवेचन क्रम से पर्याप्त अन्तर है तथापि यह प्रयास किया गया है कि एक वर्ग का अलंकार उसी वर्ग में निरूपित हो। ग्रन्थकार ने रुय्यक के अन्तिम तीन रसालंकारों का उल्लेख नहीं किया है। 'सूरि' की सबसे बड़ी विशेषता है, संकलन। उनके अलंकार निरूपण में अलंकारों के अनेक भेदोपभेद भोज, मम्मट तथा रुय्यक के निरूपण पर आधृत हैं।

नरेन्द्रप्रभसूरि को छोड़कर अब तक प्रायः सभी आलंकारिकों ने कुछ-न-कुछ नये अलंकारों की उद्भावना की है। अलंकारों की बढ़ती संख्या की ओर हेमचन्द्र (द्वादश शतक का मध्य) का ध्यान गया, और उन्होंने इन्हें यथाशक्ति नियंत्रित करने का प्रयास किया। अपने ग्रन्थ काव्यानुशासन के पंचम और षष्ठ अध्याय में उन्होंने छः शब्दालंकार और 29 अर्थालंकारों का विवेचन किया है। अलंकार के शब्दार्थ-विभाग के लिये वह मम्मट सम्मत अन्वयव्यतिरेक सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।[181] उनके छः शब्दालंकार इस प्रकार हैं : अनुप्रास (लाटानुप्रास भी इसी में सम्मिलित है), यमक, चित्र, श्लेष (भाषा श्लेष पृथक् भेद है), वक्रोक्ति (1) और पुनरुक्तवदाभास। काकुवक्रोक्ति को वह पाठधर्म मानते हैं। इसलिये उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति मात्र श्लेष में होती है। अन्वयव्यतिरेक भाव के आधार पर श्लेष और पुनरुक्तवदाभास उभयालंकार हैं। उनके द्वारा विवेचित अर्थालंकार ये हैं : उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शन, दीपक, अन्योक्ति (अप्रस्तुतप्रशंसा), पर्यायोक्त, अतिशयोक्ति, आक्षेप, विरोध, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति (स्वभावोक्ति), व्याजस्तुति, श्लेष, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, ससन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रान्ति, विषम, सम, समुच्चय, परिसंख्या, कारणमाला तथा चतुर्धासंकर। उत्पाद्योपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय तथा कल्पितोपमा को वह उपमा का प्रभेदमात्र स्वीकारते हैं। अन्य आलंकारिकों द्वारा विवेचित प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा निदर्शना उनके

निदर्शन अलंकार में अन्तर्भूत हैं। रुद्रटोक्त औपम्य समुच्चय, अन्योन्य तथा तुल्ययोगिता अलंकार दीपक से गतार्थ हैं, कारक-दीपक को वह जाति से व्यतिरिक्त नहीं मानते। सामान्य, मीलित, एकावली, निदर्शना[182] तथा विशेष को वह अलंकार ही नहीं मानते। प्रतीप आक्षेप से व्यतिरिक्त नहीं है। विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, अधिक, व्याघात, अतद्गुण अलंकार विरोध में अन्तर्भूत हैं। पर्याय परिवृत्ति से व्यतिरिक्त नहीं है। अर्थापत्ति अनुमान का विषय है। इसी प्रकार सूक्ष्म भी अनुमान से गतार्थ है। समाधि समुच्चय से बहिर्भूत नहीं है। सार और उत्तर अलंकार परिसंख्या के अन्तर्गत आते हैं। काव्यलिंग और हेतु वैचित्र्यशून्य होने के कारण अलंकार नहीं है। संसृष्टि संकर का प्रथमभेद है। परिकर और यथासंख्य को क्रमशः अपुष्टार्थ और भग्नप्रक्रमदोषाभाव मात्र माना गया है। विनोक्ति में चारुता ही नहीं है। भाविक अभिनेय प्रबन्ध का विषय है। प्रथम उदात्त जाति या अतिशयोक्ति के अन्तर्गत आता है, द्वितीय ध्वनि-विषय है। रसवदादि और आशीः गुणीभूत व्यंग्य रूप है, आशीः कहीं-कहीं प्रियोक्तिमात्र होता है। प्रत्यनीक प्रतीयमान उत्प्रेक्षा का प्रभेद मात्र है। भोजराज ने संभव, प्रत्यक्ष, आगम, आदि प्रमाणालंकार तथा जात्यादि जिन शब्दालंकारों का विवेचन किया है, हेमचन्द्र के अनुसार उनमें कुछ तो पूर्वप्रतिपादित अलंकारों में अन्तर्भूत हो जाते हैं, कतिपय चमत्कार शून्य होने के कारण अलंकार के पात्र नहीं हैं और कतिपय काव्यशरीरकल्प हैं। इस प्रकार हेमचन्द्र ने काव्यशास्त्र में आयी अलंकार बाढ़ को नियंत्रित करने का प्रशंस्य प्रयास किया है।[183]

वाग्भट प्रथम[184] ने अपने ग्रन्थ वाग्भटालंकार के चतुर्थ परिच्छेद में 39 अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है, जिनमें चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक चार शब्दालंकार हैं और 35 अर्थालंकार। उनके द्वारा विवेचित अर्थालंकार इस प्रकार हैं : जाति, उपमा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, संशय, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, विभावना, दीपक, अतिशयोक्ति, हेतु, पर्यायोक्ति, समाहित, परिवृत्ति, यथासंख्य, विषम, सहोक्ति, विरोध, अवसर, सार, श्लेष, समुच्चय, अप्रस्तुतप्रशंसा, एकावली, अनुमान, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर तथा संकर। इनकी विवेचन पद्धति पर प्राचीन आलंकारिक भामह का पूर्णतः प्रभाव परिलक्षित होता है। वाग्भट द्वितीय[185], रुद्रट, मम्मट और विशेषकर हेमचन्द्र से प्रभावित हैं। काव्यानुशासन के तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में वह क्रमशः अर्थालंकार और शब्दालंकार का विवेचन करते हैं। हेमचन्द्र की भांति वह भी छः शब्दालंकारों का निरूपण करते हैं—चित्र, श्लेष, अनुप्रास,

वक्रोक्ति, यमक तथा पुनरुक्तवदाभास ।[186] तृतीय अध्याय में उन्होंने 63 अर्थालंकारों का निरूपण किया है—जाति, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दीपक, अन्योक्ति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, आक्षेप, विरोध, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, व्यतिरेक, ससन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रान्ति, विषम, सम, समुच्चय, अन्य, अपर, परिसंख्या, कारणमाला, निदर्शना, एकावली, यथासंख्य, परिकर, उदात्त, समाहित, विभावना, अन्योन्य, मीलित, विशेष पूर्व, हेतु, सार, सूक्ष्म, लेश, प्रतीप, पिहित, व्याघात, असंगति, अहेतु, श्लेष, मत, उत्तर, उभयन्यास, भाव, पर्याय, व्याजोक्ति, अधिक, प्रत्यनीक, अनन्वय, तद्गुण, अतद्गुण, संकर तथा आशीः । यद्यपि वाग्भट द्वितीय ने अलंकारों की लंबी सूची प्रस्तुत की है, किन्तु उसमें एक भी अलंकार नया नहीं है, रुद्रट तक विवेचित अलंकारों का संग्रहमात्र कर दिया गया है ।

चन्द्रालोककार जयदेव (त्रयोदश शतक का उत्तरार्द्ध) ने ग्रन्थ के पंचम मयूख में 99 अलंकारों का उल्लेख किया है, जिनमें रसवदादि सात अलंकारों का लक्ष्य-लक्षण पुरस्सर विवेचन न करके संकेत मात्र कर दिया गया है[187] और संसृष्टि तथा संकर दो अलंकार खण्डन के लिये उपात्त हैं ।[188] इस प्रकार जयदेव द्वारा विवेचित अलंकारों की वास्तविक संख्या 90 है, जिसमें अनुप्रास, पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक तथा चित्र चार शब्दालंकार हैं, अवशिष्ट 86 अर्थालंकार । संस्कृत काव्यशास्त्र में शोभाकर के बाद अलंकारों को यथाशक्ति कम करने की प्रवृत्ति देखी जाती है, किन्तु अकेले जयदेव ने ही रुय्यक से 17 अधिक नये अलंकार की उद्भावना कर अलंकार-विकास में विस्तार-प्रवृत्ति को पुनर्जागरित किया । जयदेव ने मूलतः 17 नवीन अलंकारों की वृद्धि की है—उन्मीलित, परिकरांकुर, प्रौढोक्ति, संभावना, प्रहर्षण, विषादन, विकस्वर, विरोधाभास, असंभव, उदारसार, उल्लास, पूर्वरूप (2), अनुगुण, अवज्ञा, पिहित, भाविकच्छवि और अत्युक्ति । इसमें पिहित की उद्भावना रुद्रट ने ही कर दी थी, उल्लास आदि कतिपय अलंकार शोभाकर के कतिपय अलंकारों पर आधृत हैं । जयदेव ने अलंकारों के कतिपय नवीन भेद भी प्रकल्पित किये हैं—स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास, ललितोपमा, स्तवकोपमा और पूर्णोपमा (ये तीनों न केवल उपमा भेद हैं, प्रत्युत् स्वतंत्र अलंकार हैं), पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति तथा कैतवापह्नुति, आवृत्तिदीपक (दंडी के आवृत्ति अलंकार पर आधृत), गूढाक्षेप (रुय्यक का द्वितीय आक्षेप), इस प्रकार अलंकार विकास में जयदेव का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

विद्याधर (1285-1325 ई.) ने एकावली के सप्तम और अष्टम उन्मेष में

शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन किया है। विद्याधर रुय्यक के पूर्णतः अनुगामी हैं। इसलिये उन्होंने भी अलंकार-विभाग के आश्रयाश्रयि सिद्धान्त के आधार पर अलंकार का शब्दार्थोभय त्रिविध विभाग स्वीकार किया है। अलंकारों के विवेचन-क्रम और वर्गीकरण में भी रुय्यक की पद्धति का पूर्णतः परिपालन किया गया है। इसलिये पौनरुक्त्यवर्ग में स्वभावतः पांच अलंकार आ गये हैं—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, यमक तथा लाटानुप्रास। चित्र[189] तथा रसवदादि को वह अलंकार नहीं मानते। रसवदादि को छोड़कर रुय्यक प्रतिपादित अवशिष्ट अर्थालंकारों को उन्हीं द्वारा निरूपित सात वर्गों में विभाजित किया गया है—सादृश्यमूल, विरोधमूल, शृंखलामूल, तर्कन्यायमूल, वाक्यन्यायमूल, लोकन्यायमूल तथा गूढार्थप्रतीतिपर। अलंकार-विवेचन में रुय्यक से विद्याधर की केवल एक विशेषता है कि उन्होंने जयदेव प्रतिपादित परिकरांकुर नामक एक नवीन अलंकार को भी अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। रुय्यक की परम्परा को आगे बढ़ाने के अतिरिक्त विद्याधर की अलंकार के लिये अपनी कोई देन नहीं है।

विद्याधर के बाद विद्यानाथ (14वीं शती का पूर्वार्द्ध) ने भी यद्यपि किसी नवीन अलंकार की उद्भावना नहीं की, किन्तु रुय्यक के अलंकार-वर्गीकरण में समुपलब्ध दोषों का परिमार्जन कर उनका व्यवस्थित रूप प्रस्तुत करना उनकी अपनी विशेषता है। अलंकारों के शब्दार्थोभय विभाग के लिये वह भी आश्रयाश्रयिभाव के समर्थक हैं।[190] अतएव रुय्यक और विद्याधर की भांति वह भी पांच अलंकारों को पौनरुक्त्यवर्ग में रखते हैं। चित्र यद्यपि एक शब्दालंकार है, किन्तु कुमारस्वामी के अनुसार वह भी पौनरुक्त्य वर्ग में अन्तर्भूत है।[191] रुय्यक और विद्याधर की भांति विद्यानाथ भी पुनरुक्तवदाभास को अर्थालंकार और लाटानुप्रास को उभयालंकार मानने के समर्थक हैं। अलंकार के त्रिविध विभाग के बाद वह अर्थालंकार को प्रथमतः चार प्रमुख वर्गों में विभक्त करते हैं[192]—प्रतीयमानवस्तु, प्रतीयमान औपम्य, प्रतीयमान रसभावादि तथा अस्फुट प्रतीयमान। समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, अनन्वय, अतिशयोक्ति, परिकर, अप्रस्तुतप्रशंसा तथा अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति में प्रतीयमान वस्तु काव्य का उपस्कारक होता है। रुपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, स्मरण, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, सहोक्ति, व्यतिरेक, निदर्शना तथा श्लेष में औपम्य गम्य रहता है। रसवदादि सात अलंकारों में रसभावादि प्रतीयमान होते हैं। उपमा, विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास, विरोध, विभावना, उक्तगुणनिमित्तविशेषोक्ति, विषम, सम, (वि)चित्र, अधिक, अन्योन्य, कारणमाला, एकावली, व्याघात, मालादीपक,

काव्यलिंग, अनुमान, सार, यथासंख्य, अर्थापत्ति, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, विशेष, मीलित, सामान्य, असंगति, तद्गुण, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक तथा उदात्त में स्पष्ट प्रतीयमानता नहीं पायी जाती। अर्थालंकारों का यह चतुर्धा विभाग विद्यानाथ की अपनी उपज है।

विद्यानाथ ने न रुय्यक से अधिक अर्थालंकारों का निरूपण किया है और न अलंकारों के कक्ष्या-विभाग का कोई नया आधार ढूंढ़ा है, किन्तु रुय्यक के श्रेणी-विभाग में वर्तमान दोषों का परिमार्जन कर सही वर्गीकरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। त्रिविध साधर्म्य में उन्होंने भी रुय्यक सम्मत चार अलंकारों को भेदाभेदप्रधान माना है। रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख और अपह्नुति को विद्यानाथ अभेदप्रधान साधर्म्याश्रय अलंकार स्वीकार करते हैं। भेदप्रधान वर्ग में दीपक, तुल्ययोगिता, निदर्शना, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति, प्रतीप तथा व्यतिरेक को रखा गया है। उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति यहां भी अध्यवसायमूल कहे गये हैं। विरोधमूलक अलंकार वर्ग में विभावना, विशेषोक्ति, विषम, विचित्र, असंगति, अन्योन्य, व्याघात, अतद्गुण, भाविक तथा विशेष अलंकार आते हैं। यथासंख्य, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प तथा समुच्चय वाक्य-न्यायमूलक अलंकार हैं। परिवृत्ति, प्रत्यनीक, तद्गुण, सम, अधिक, समाधि, स्वभावोक्ति, उदात्त तथा विनोक्ति को लोकव्यवहारमूल माना गया है। विद्यानाथ ने अर्थान्तरन्यास को भी तर्कन्यायमूल अलंकार वर्ग में रख लिया है। रुय्यक की भांति यहां भी कारणमाला, आदि चार अलंकारों को शृंखला वैचित्र्यमूल कहा गया है। व्याजोक्ति, वक्रोक्ति तथा मीलित को अपह्नवमूल और समासोक्ति परिकर को विशेषण वैचित्र्यमूल माना गया है।

### रुय्यक से विलक्षणता

अध्यवसाय अलंकारों को विद्यानाथ ने साधर्म्यत्रयी से बाहर कर दिया है। दीपक, तुल्ययोगिता, निदर्शना, दृष्टान्त एवं प्रतिवस्तूपमा को भेद प्रधानवर्ग में रख दिया गया है, जोकि रुय्यक की दृष्टि से कदाचित् अभेदप्रधान साधर्म्यवर्ग के अलंकार हैं। इस प्रकार विद्यानाथ के अनुसार रुय्यक प्रतिपादित आरोपगर्भ अभेदप्रधान अलंकार ही अभेदप्रधान साधर्म्य के अन्तर्गत आते हैं। समासोक्ति परिकर की विशेषण विच्छित्तिमूलता रुय्यक को भी सम्मत है, यहां वह एक पृथक् वर्ग के रूप में है, जबकि रुय्यक के यहां वह सादृश्य (भेदप्रधान) का एक प्रभेद

मात्र है। अप्रस्तुतप्रशंसा, श्लेष, व्याजस्तुति, पर्यायोक्त तथा आक्षेप का उक्त वर्गीकरण में कोई उल्लेख नहीं है, विवेचन में श्लेष और आक्षेप को गम्यत्वविच्छित्ति पर आधृत माना गया है। इसलिये संभव है कि इन्हें विद्यानाथ गम्यत्वविच्छित्तिमूल मानते हों। उक्त वर्गीकरण में भाविक अलंकार विरोधवर्ग में आ गया है, रुय्यक के अनुसार उसे गूढार्थ प्रतीतिपरक वर्ग में होना चाहिये। इसी प्रकार विरोधवर्ग में उस वर्ग का प्रधान अलंकार विरोध अनुल्लिखित है। रुय्यक के विरोधवर्ग का अधिक अलंकार विद्यानाथ के लोकव्यवहारवर्ग में चला गया है। गूढार्थप्रतीतिपर अलंकारवर्ग को विद्यानाथ ने अपह्नव अभिधान दिया है, किन्तु रुय्यक सम्मत इस वर्ग के स्वभावोक्ति और भाविक लोकव्यवहारमूल वर्ग में पहुंच गये हैं, सूक्ष्म का कहीं उल्लेख ही नहीं है।

**समीक्षा**

वस्तुतः विद्यानाथ के वर्गीकरण में औचित्य की अपेक्षा अनौचित्य अधिक है। प्रकृत वर्गीकरण में अनेक अलंकारों का अनुल्लेख विद्वान् की असावधानी का सूचक है। दीपक-तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना में अभेदसाधर्म्य पाया जाता है, भेदप्रधान मानना प्रमाद है। भाविक तथा तद्गुण अलंकार का विरोधवर्ग में उल्लेख कदाचित् उपयुक्त है। उनका वाक्यन्याय, लोकव्यवहार तथा अपह्नव विभाग रुय्यक की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। अर्थान्तरन्यास को तर्कन्यायमूलवर्ग में रखना अधिक उपयुक्त है।[193] उपर्युक्त वर्गीकरण में विद्यानाथ ने मात्र 56 अलंकारों का उल्लेख किया है, जबकि ग्रन्थ में रसवदादि को छोड़कर रुय्यक प्रतिपादित सभी अलंकारों का विवेचन उपलब्ध होता है। इससे प्रतीत होता है कि जो अलंकार प्रकृत वर्गीकरण में नहीं आये हैं, उन्हें विद्यानाथ प्रथम प्रदर्शित चतुर्विध विभाग में रखना चाहते हैं। विद्यानाथ ने भी संसृष्टि-संकर दो मिश्र अलंकारों का निरूपण किया है, जो पूर्णतः रुय्यक का अनुकार है। विद्यानाथ के विवेचन-क्रम में स्वयंकृत वर्गीकरण का परिपालन नहीं है।

विश्वनाथ (14वीं शती) ने साहित्यदर्पण के दशम परिच्छेद में 85 अलंकारों का उल्लेख किया है, जिसमें आठ शब्दालंकार और शेष 77 अर्थालंकार हैं। उनके आठ शब्दालंकारों—पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास (छेक, वृत्ति, अन्त्य, श्रुति, लाट), यमक, वक्रोक्ति, भाषासम, श्लेष, चित्र तथा प्रहेलिका—में अन्तिम अलंकार खण्डन के लिये उपात्त है।[194] विश्वनाथ ने रुय्यक की अपेक्षा तीन अधिक अर्थालंकारों का विवेचन किया है—निश्चय, हेतु तथा अनुकूल। निश्चय तथा हेतु की शोभाकर

और रुद्रट ने उद्भावना कर दी थी। इस प्रकार विश्वनाथ ने केवल एक नये अलंकार का निरूपण किया है। यद्यपि वह अर्थालंकार के विवेचन-क्रम में रुय्यक का अनुसरण करते हैं, किन्तु अलंकारों का कोई स्पष्ट वर्गीकरण उनके ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। अलंकार के शब्दार्थोभय त्रिविध विभाग के लिये वह मम्मट-सम्मत अन्वयव्यतिरेकभाव को अपनाते हैं।[195] यही कारण है कि वक्रोक्ति जो रुय्यक के यहां अर्थालंकार है, साहित्यदर्पण में शब्दालंकार मान ली गयी है। इसी प्रकार पुनरुक्तवदाभास[196] तथा श्लेष दर्पणकार की दृष्टि से उभयालंकार है, लाटानुप्रास अनुप्रास का एक प्रभेद मात्र है।[197] उनका भाषासम अलंकार भाषाश्लेष से व्यतिरिक्त नहीं है। निश्चय, हेतु तथा अनुकूल को परवर्ती आलंकारिकों ने स्वीकार नहीं किया।

अमृतानन्दयोगी (14वीं शती का उत्तरार्द्ध) ने अलंकार संग्रह के पंचम परिच्छेद में 35 अर्थालंकार और आठ प्रमाणालंकार का विवेचन किया है, जो इस प्रकार हैं—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लव, क्रम, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेष, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतस्तोत्र, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, वक्रोक्ति, संकर, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, संभव, ऐतिह्य।[198] योगीजी की विवेचन-प्रक्रिया में दंडी का प्रभाव सहज ही देखा जा सकता है। शब्दालंकारों का वह उल्लेख नहीं करते।

पुंजराज (14वीं शती का अन्तिम चरण तथा पन्द्रहवीं का प्रथम चरण) ने शिशु प्रबोधालंकार के सप्तम और अष्टम अध्याय में शब्दालंकार और अर्थालंकार का निरूपण किया है। सप्तम अध्याय में अनुप्रास, यमक और चित्र तीन अलंकारों का सविस्तार विवेचन उपलब्ध होता है। अष्टम अध्याय में 31 अलंकारों का उल्लेख है—उपमा, सन्देह, प्रतिवस्तूपमा, उपमाक्रम (संख्यान), आक्षेप, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, रूपक, भ्रम, अप्रस्तुतस्तुति, तुल्ययोगिता, समासोक्ति (अन्योक्ति), अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, अनुमान, व्याजोक्ति, हेतु, सहोक्ति, दृष्टान्त, परिवृत्ति, उदात्त, पर्यायोक्ति, अन्योन्य, एकावली, विभावना, विरोध, दीपक, श्लेष, संकीर्ण तथा रसवत्। समाहित आदि को वह परस्पर संकीर्ण होने के कारण अस्वीकृत कर देते हैं :

**समाहितादयोऽप्यन्येऽलंकाराः सन्ति भूरिशः।**
**ते परस्परसंकीर्णा इति नोदाहृता इह।।** शिशु. प्र., 8/177

अजितसेन (15वीं शती का पूर्वार्द्ध)[199] ने अलंकार चिन्तामणि के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ परिच्छेद में सविस्तार अलंकारों का विवेचन किया है। द्वितीय परिच्छेद में चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास तथा यमक चार शब्दालंकारों का उल्लेख और चित्र के 30 मूलप्रभेद एवं शताधिक उपभेदों का सोदाहरण विवेचन उपलब्ध है। तृतीय परिच्छेद में वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक का निरूपण किया गया है। चतुर्थ परिच्छेद में रुय्यक, विद्याधर तथा विद्यानाथ सम्मत अर्थालंकारों का व्याख्यान प्राप्त होता है। विद्यानाथ के आधार पर अर्थालंकारों का वर्गीकरण अजितसेन की विशेषता है। विद्यानाथ की भांति उन्होंने भी अर्थालंकारों को प्रथमतः चार वर्गों में रखा है—प्रतीयमान रसभावादि, अस्फुट प्रतीयमान, प्रतीयमान वस्तु तथा गम्यमानौपम्य। अलंकारों का कक्ष्या-विभाग विद्यानाथ का पूर्ण अनुवाद है। विद्यानाथ का अनुकरण होने के कारण अधिक अलंकारों का विवेचन और वर्गीकरण में कम अलंकारों का उल्लेख जैसे दोष यहां भी सहज आ गये हैं,[200] जो विद्यानाथ के वर्गीकरण में समुपलब्ध होते हैं। 70 अर्थालंकारों का संख्यान करने के बाद उनका कथन है कि उभयालंकार भी संसृष्टि के अन्तर्गत आ जाते हैं।[201] जयदेव, विद्याधर द्वारा निरूपित परिकरांकुर का उल्लेख तथा पौनरुक्त्यवर्ग का अस्वीकार उनके ग्रन्थ में देखा जा सकता है। वक्रोक्ति का शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों में परिगणन है। अजितसेन के समकालीन भावदेव सूरि ने काव्यालंकार सार में 57 अलंकारों का निरूपण किया है। पंचम परिच्छेद में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास छः शब्दालंकार और षष्ठ परिच्छेद में 51 अर्थालंकारों का विवेचन प्राप्त होता है—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, जाति, व्यतिरेक, दीपक, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, विभावना, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, समाधि, परिवृत्ति, तुल्ययोगिता, श्लेष, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, विनोक्ति, सहोक्ति, पर्याय, हेतु, विरोध, असंगति, दृष्टान्त, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति, भ्रान्ति, स्मृति, सन्देह, अपह्नुति, विषम, उत्तर, उदात्त, सार, अन्योन्य, समुच्चय, कारणमाला, आशीः, यथासंख्य, तद्गुण, एकावली, रसवत्, प्रेय, परिसंख्या, सूक्ष्म, उल्लेख, विशेषोक्ति, प्रतीप, संसृष्टि, भाविक।[202] इन्होंने किसी नवीन अलंकार का उल्लेख नहीं किया है।

केशवमिश्र (16वीं शती) ने अपने ग्रन्थ अलंकारशेखर में दशम से त्रयोदश मरीचि तक 22 अलंकारों का विवेचन किया है जिसमें आठ शब्दालंकार और शेष 14 अर्थालंकार हैं। दशम मरीचि में उन्होंने चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ़, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर तथा यमक आठ शब्दालंकार और एकादश मरीचि में उपमा,

रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, समाहित, स्वभाव, विरोध, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेशक (अन्य अभिमत असंगति) विशेषोक्ति तथा विभावना एवं दश उपमा भेदों का उल्लेख किया है। बारहवीं मरीचि में रूपक के उपभेद तथा तेरहवीं मरीचि में उत्प्रेक्षा समासोक्ति आदि अलंकारों के लक्ष्य-लक्षण पुरस्सर विवेचन उपलब्ध होते हैं। कवि कर्णपूर (16वीं शती का पूर्वार्द्ध) ने अलंकार कौस्तुभ में उन समग्र अलंकारों का विवेचन किया है, जो मम्मट के काव्य-प्रकाश में उपलब्ध हैं। कवि जी न केवल मम्मट प्रतिपादित शब्दार्थोभय त्रिविध विभाग के आधार पर अन्वयव्यतिरेकभाव को अपनाते हैं, अपितु अलंकार-अनुक्रम और लक्षण का अनुवाद भी उन्हीं से ग्रहण करते हैं। अन्वयव्यतिरेक सिद्धान्त और मम्मट का अनुकरण करने के कारण मम्मट प्रतिपादित छः शब्दालंकारों को उन्होंने ग्रन्थ के सप्तम किरण में प्रस्तुत किया है। उपमेयोपमा और अनन्वय को वह उपमा का उपभेद मानते हैं, इसलिये मम्मट की भांति उनके अर्थालंकारों की संख्या 62 न होकर 60 ही है। अलंकारकौस्तुभ के अष्टम किरण में अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। अलंकारों की संसृष्टि के आधार पर 568700847 उभयालंकार-भेदों का प्रतिपादन उनकी अपनी विशेषता है। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित चार अलंकारों को वह रसपोषक मानते हैं।[203]

चिरंजीव भट्टाचार्य (16वीं शती का उत्तरार्द्ध) ने काव्यविलास के द्वितीय भंगी में चित्र, अनुप्रास (स्फुट, लाट, वृत्ति, छेक) यमक, पुनरुक्तप्रतीकाश चार शब्दालंकार और 82 अर्थालंकार का विवेचन किया है, जिसमें जयदेव प्रतिपादित अलंकारों से चार अधिक हैं—विरोधाभास, स्तुतिनिन्दा, गुम्फ तथा अनुगुण। भट्टाचार्य ने विरोध और विरोधाभास दोनों का उल्लेख किया है, बाद में अप्पय ने विरोध को हटाकर केवल विरोधाभास को स्थापित किया। व्याजस्तुति को इन्होंने निन्दास्तुति कहा है, स्तुतिनिन्दा को अप्पय ने व्याजनिन्दा का अभिधान प्रदान किया। उनका गुम्फ अप्पय आदि का कारणमाला अलंकार है। इस प्रकार चिरंजीव ने अलंकारशास्त्र को दो नये अलंकार दिये—व्याजनिन्दा (स्तुतिनिन्दा) तथा अनुगुण।

अप्पयदीक्षित ने[204] चित्रमीमांसा में 12 अर्थालंकारों का विवेचन किया है—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति। बारह अलंकारों के बाद का ग्रन्थ भाग अनुपलब्ध है। दीक्षित के कथन[205] से प्रतीत होता है कि उन्होंने संप्रति अनुपलब्ध अंश का भी प्रणयन किया था। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों की आलोचना करते हुए उपर्युक्त बारह अलंकारों का पांडित्यपूर्ण विवेचन दीक्षित की

उर्वर अलंकार-प्रतिभा का द्योतक है। अप्पय ने कुवलयानन्द में 119 अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है, जिसमें 100 अलंकारों की उदाहरण के अतिरिक्त परिभाषा भी दी गयी है, अन्तिम 19 के केवल उदाहरण पुरस्सर विवेचन उपलब्ध हैं। अपरिभाषित अलंकारों में सात रसवदादि, दश प्रमाणालंकार—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द, स्मृति, श्रुति, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्य तथा दो मिश्रालंकार—संसृष्टि, संकर (5) हैं। भोज तथा अमृतानन्दयोगी ने प्रमाणालंकारों का निरूपण किया है, अप्पय ने उन्हें यहां संकलित कर दिया है। परिभाषित अलंकारों में अप्पय ने रुय्यक से 35 अधिक अलंकारों का विवेचन किया है—आवृत्तिदीपक, परिकरांकुर, प्रस्तुतांकुर, व्याजनिन्दा, असंभव, अल्प, कारकदीपक, विकस्वर, प्रौढोक्ति, संभावना, मिथ्याध्यवसिति, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, पूर्वरूप, अनुगुण, उन्मीलित, विशेषक, पिहित, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि तथा हेतु। इनमें आवृत्तिदीपक, परिकरांकुर, असंभव, विकस्वर, प्रौढोक्ति, संभावना, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा उन्मीलित, पूर्वरूप तथा अत्युक्ति तेरह अलंकार चन्द्रालोक से ग्रहीत हैं, पिहित, हेतु तथा श्लेष का उल्लेख रुद्रट ने ही कर दिया था, मुद्रा को भोज ने शब्दालंकार माना ही था। कारकदीपक मम्मट के दीपक के एक भेद पर आधृत है। व्याजनिन्दा तथा अनुगुण का चिरंजीव ने उल्लेख कर दिया था। इस प्रकार अप्पय ने प्रस्तुतांकुर, अल्प, मिथ्याध्यवसिति, ललित, अनुज्ञा, रत्नावली, विशेषक, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध तथा विधि 15 नवीन अलंकारों की उद्भावना की है। इनमें कतिपय अलंकार काव्यलक्षणों पर आधृत हैं, कतिपय गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत आते हैं और कतिपय व्याख्यात अलंकारों में अन्तर्भूत हो सकते हैं। अलंकारों के विकास में लक्षणों का कितना महत्त्वपूर्ण योग है, यह अप्पय के निरुक्ति, युक्ति, मिथ्याध्यवसिति प्रतिषेध आदि अलंकारों से भली-भांति स्पष्ट है।[206] काव्यशोभाकर समग्र तत्त्वों को अलंकार की कोटि में रखने का अप्पय का प्रयास अलंकार-विकास की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अलंकारों के विवेचन-क्रम में दीक्षित ने प्रायः रुय्यक का अनुगमन किया है।

अप्पय दीक्षित के बाद संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम जाज्वल्यमान प्रदीप जगन्नाथ का समय (17वीं शती का मध्य) आ जाता है, जिन्होंने न केवल अप्पयदीक्षित द्वारा उद्भावित अनेक अनावश्यक अलंकार, उनके अव्यवस्थित लक्षण और भेदोपभेदों का ही खंडन किया, अपितु पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों

का खंडन-मंडन करते हुए अपने मौलिक विचारों को भी उपस्थित किया। अलंकारों के विवेचन में तार्किक शब्दावली का प्रयोग जगन्नाथ से ही प्रारंभ होता है, जिसकी चरम परिणति वक्ष्यमाण विश्वेश्वर की भाषा में देखा जा सकता है। रसगंगाधर अपूर्ण है, उत्तर अलंकार के कुछ अंशों तक का ही विवेचन प्राप्त है, इसलिये रसगंगाधरकार ने कितने अलंकारों का निरूपण किया था, कहना कठिन है। उपलब्ध ग्रन्थ में 68 अलंकारों का विवेचन प्राप्त होता है—उपमा (उपमेयोपमा), अनन्वय, असम, उदाहरण, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, सार, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, प्रौढोक्ति, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, तिरस्कार, लेश, तद्गुण, अतद्गुण, मीलित, सामान्य तथा उत्तर। उपर्युक्त अलंकारों का इसी क्रम से विवेचन किया गया है, इससे प्रतीत होता है कि जगन्नाथ रुय्यक के वर्गीकरण और अनुक्रम से सहमत हैं। यद्यपि उनके ग्रन्थ में कोई स्पष्ट वर्गीकरण अनुपलब्ध है, किन्तु कारणमाला के विवेचन से पहले उनका कथन है—अथ शृंखलामूला अलंकाराः (र.गं., पृ. 461), इससे प्रतीत होता है कि रुय्यक का वर्गीकरण उन्हें मान्य है, एक बार निरूपित होने के कारण वह इसका पुनः विवेचन अनावश्यक समझते हैं। उपर्युक्त अलंकार सूची में मालादीपक अलंकार नहीं है, जगन्नाथ ने इसकी स्वतंत्रसत्ता का खंडन किया है। इन अलंकारों में कतिपय को जगन्नाथ ने खंडन की दृष्टि से प्रस्तुत किया है, कतिपय को एक ही अलंकार में अन्तर्भूत करने की संभावना व्यक्त की है तथा कतिपय अलंकारों के उपभेदों का खण्डन किया है। उन्मीलित, विशेषक, आदि अनेक दीक्षित के अलंकारों का खंडन जगन्नाथ की विशेषता है। वस्तुतः परिवर्द्धमान अलंकार-कुल का नियोजन ही पंडितराज का अभीष्ट है। उन्होंने काव्यशास्त्र को तिरस्कार नामक नवीन अलंकार प्रदान किया है।[207]

विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण के आधार पर जगन्नाथ के समकालीन (17वीं शती का मध्य) अरुणगिरि कवि ने गोदवर्मयशोभूषण नामक अलंकार ग्रन्थ की रचना की है। उन्होंने विद्यानाथ से तीन अधिक अलंकार बताये हैं—परिकरांकुर, तत्कर तथा प्रसन्नोत्तर। परिकरांकुर जयदेव द्वारा उद्भावित है, तत्कर समुच्चय

का प्रभेद मात्र है, प्रश्नोत्तर भी उत्तर का एक भेद है। अलंकारों के वर्गीकरण आदि में भी कविवर ने विद्यानाथ का अनुवाद मात्र प्रस्तुत किया है, किन्तु विवेचन में उनका अनुसरण नहीं है, निदर्शना आदि अलंकारों के नवीन भेदों की कल्पना उनकी अपनी विशेषता है। अच्युतराय (18वीं शती का पूर्वार्द्ध) ने साहित्यसार के 'कामधेनु' नामक नवम रत्न में अनुप्रास 3, तथा यमक दो शब्दालंकार और अष्टम 'कौस्तुभरत्न' में 100 अर्थालंकारों का विवेचन किया है,[208] जिनमें पूर्वप्रतिपादित आठ प्रमाणालंकार हैं। साहित्यसार में रुय्यक प्रतिपादित अलंकारों से 25 अलंकार अधिक आये हैं, जगन्नाथ तथा शोभाकर सम्मत असम-उदाहरण, शोभाकर प्रतिपादित निश्चय, वितर्क, जयदेव और दीक्षित प्रतिपादित परिकरांकुर, प्रस्तुतांकुर, व्याजनिन्दा, असंभव, अल्प, प्रौढोक्ति, ललित, प्रहर्षण, उल्लास, अवज्ञा, लेश, पूर्वरूप, पिहित, गूढोक्ति, युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि, संभावना, छेकोक्ति, वितर्क तथा अनुकूल। मूल ग्रन्थ की अपेक्षा ग्रन्थकार द्वारा विनिर्मित सरसामोद टीका अलंकारों के ऐतिहासिक स्वरूप पर अधिक अच्छा प्रकाश डालती है। साहित्यसार नामक ग्रन्थ के प्रणेता अपर आचार्य सर्वेश्वर केवल तीस अलंकारों का उल्लेख करते हैं—अपह्नुति, समासोक्ति, उपमा, दीपक, क्रम, विशेष, जाति, उत्प्रेक्षा, व्याजोक्ति, अप्रस्तुतस्तोत्र, साम्य, एकावली, विभावना, आक्षेप, व्यतिरेक, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, विरोध, संकीर्ण, रसवत्, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति, वक्रोक्ति, ध्वनि, अन्योन्य, अनुमान, चित्र तथा यमक।[209]

भट्टदेवशंकर पुरोहित (18वीं शती का अन्तिम चरण) के ग्रन्थ 'अलंकार-मंजूषा' में न केवल अप्पयदीक्षित द्वारा निरूपित सभी अलंकारों का विवेचन उपलब्ध होता है, अपितु कुवलयानन्द का अनुपद अनुवाद भी देखा जा सकता है। नंजराज यशोभूषण के कृती नरसिंह कवि (अभिनव कालिदास, 18वीं शती का उत्तरार्द्ध) ने सप्तम विलास में अनुप्रास (छेक, वृत्ति, लाट), पुनरुक्तवदाभास, यमक तथा चित्र चार शब्दालंकार तथा 71 अर्थालंकार का निरूपण किया है। उनके सभी अर्थालंकार विद्यानाथ द्वारा व्याख्यात हैं, पर चार अलंकार अधिक आ गये हैं—प्रस्तुतांकुर, तत्कर, लोकोक्ति और छेकोक्ति। तत्कर समुच्चय का एक प्रभेद है, अन्य तीन अलंकारों का निरूपण तो अप्पयदीक्षित ने ही कर दिया था। विद्यानाथ द्वारा प्रतिपादित अर्थालंकार का चतुर्धा विभाग तथा वर्गीकरण का स्वीकार नरसिंह की विशेषता है। पं. विश्वेश्वर पर्वतीय (18वीं शती) ने चार अलंकार ग्रन्थों की रचना की है—अलंकार कौस्तुभ, अलंकार मुक्तावली, अलंकार (कुल) प्रदीप तथा कवीन्द्रकर्णाभरण। प्रथम ग्रन्थ में मम्मट प्रतिपादित 61 अर्थालंकारों का पांडित्यपूर्ण

निरूपण उपलब्ध होता है। अलंकारों के निरूपण में जगन्नाथ की शैली तथा तार्किक भाषा का उपयोग हुआ है। पूर्ववर्ती आचार्यों विशेषकर अप्पय और जगन्नाथ के मतों की आलोचना, अतिरिक्त अलंकारों का मम्मट प्रतिपादित अलंकारों में अन्तर्भाव या खण्डन, सही तथ्यों का स्वीकार तथा मौलिक विचारों का प्रतिष्ठापन इस ग्रन्थ की विशेषता है। जयदेव, अप्पय, आदि के द्वारा आयी अलंकार की बाढ़ को नियंत्रित करने का यह एक स्तुत्य प्रयास है। अलंकार मुक्तावली में अलंकारों के विवेचन में न किसी वैज्ञानिक क्रम को अपनाया गया है, न उनके भेदों की ठीक-ठीक एकत्र व्यवस्था है। अलंकारों की निम्न तालिका से इस विशृंखलता पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है—अंगांगिभाव संकर, अतद्गुण, अतिशयोक्ति, अधिक, अनन्वय, अनुगुण, अनुमान, अनुज्ञा, अन्योन्य, अपह्नुति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, असंगति, आक्षेप, उत्तर, उत्प्रेक्षा, उदात्त, उन्मीलित, उपमा, उपमेयोपमा, ऊर्जस्वि, उल्लेख, एकदेशविवर्तिरूपक, एकावली, एकाश्रयानुप्रवेशसंकर, कारणमाला, काव्यलिंग, क्रियादीपक, तद्गुण, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, निदर्शन, निरंगरूपक, परिकर, परिकरांकुर, परिवृत्ति, पर्याय, पर्यायोक्त, पूर्वरूप, प्रतिवस्तूपमा, प्रतीप, प्रत्यनीक, प्रहर्षण, प्रेय, प्रौढोक्ति, भावशबलता, भाविक, भावोदय, भ्रान्तिमान्, मालादीपक, मालारूपक, मालोपमा, मीलित, यथासंख्य, युक्ति, रशनोपमा, रसवत्, रूपक, विनोक्ति, विकस्वर, लेश, विभावना, विरोध, विशेष, विशेषोक्ति, विषम, विषादन, व्यतिरेक, व्याघात, व्याजनिन्दा, व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, श्लेष, संदेहसंकर, संसृष्टि, सम, समाधि, समासोक्ति, समाहित, समुच्चय, संभावना, संदेह, सहोक्ति, सामान्य, सार, सूक्ष्म, स्मरण, स्वभावोक्ति। इस प्रकार 89 अलंकारों (जिसमें भेद भी स्वतंत्र रूप से उल्लिखित हैं) का निरूपण होने पर भी पूर्ववर्ती किसी आचार्य का निरूपण-क्रम नहीं स्वीकार किया गया है, तथापि अक्षरानुक्रम से अलंकारों का विवेचन कम वैज्ञानिक नहीं है, संस्कृत काव्यशास्त्र में इस पद्धति का यह प्रथम आविर्भाव है। अलंकारप्रदीप में 119 अलंकारों का विवेचन किया गया है, जिसमें कुवलयानन्द के पांच अलंकार—मुद्रा, गूढोक्ति, वक्रोक्ति, श्रुति तथा स्मृति—नहीं हैं, उनके स्थान पर शोभाकर तथा जगन्नाथ सम्मत पांच नये अलंकार आ गये हैं—निश्चय, वितर्क, असम, उदाहरण, तिरस्कार। कवीन्द्रकर्णाभरण चार परिच्छेदों का ग्रन्थ है, चित्र (जाति) अलंकार के 58 भेदों का निरूपण उसका प्रतिपाद्य है। विश्वेश्वर द्वारा चार ग्रन्थों में चार ढंग से अलंकार का प्रतिपादन उसके विकास की महत्त्वपूर्ण शृंखला है। ध्यान देने योग्य है कि जगन्नाथ के बाद संस्कृत काव्यशास्त्र में नये अलंकार को जन्म देने वाली प्रतिभा

का अभाव हो जाता है। विद्वद्गण पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलंकारों को अपनी शब्दावली में प्रस्तुत करते रहे हैं, इसके प्रबल प्रमाण विश्वेश्वर हैं, जिन्होंने चार अलंकार ग्रन्थों का निर्माण करके भी किसी नये अलंकार की उद्भावना नहीं की।

चन्द्रशेखर पाण्डेय ने काव्यदीपिका नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह एक लघु कृति है, जिसमें काव्यप्रयोजन, काव्यस्वरूप से लेकर ध्वनि, रीति, गुणालंकार सभी का संक्षिप्त विवेचन है। अष्टम शिखा में 21 अलंकारों का उल्लेख किया गया है—अनुप्रास, यमक, शब्दश्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, दीपक, सन्देह, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, प्रतीप, विभावना, विशेषोक्ति, विरोध और एकावली। वस्तुतः यह ग्रन्थ परीक्षा की दृष्टि से लिखा गया प्रतीत होता है। रामचन्द्र विद्यावागीश की काव्य (अलंकार) चन्द्रिका में भी 21 अलंकार समुपलब्ध हैं—अनुप्रास, यमक, स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, विभावना, संक्षेपोक्ति, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, क्रम, व्याजस्तुति, अपह्नुति, सूक्ष्म, आशीः तथा संकीर्ण।[210] म.म. छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर के 'साहित्य-बिन्दु' ग्रन्थ पंचम बिन्दु में 63 अलंकारों का निरूपण प्राप्त है, जिसमें चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ़ श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर तथा यमक आठ शब्दालंकार हैं, 55 अर्थालंकार। अर्थालंकारों में रुय्यक प्रतिपादित 15 अलंकारों का परित्याग कर दिया गया है—उपमेयोपमा, परिणाम, श्लेष, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, मालादीपक, अनुमान, समुच्चय, मीलित, सामान्य, वक्रोक्ति, सूक्ष्म, उत्तर, भाविक। अनुपमा (असम) और निश्चय को ग्रन्थ में स्थान मिल गया है। व्याजोक्ति को छलोक्ति कहा गया है, रसवदादि का उल्लेख नहीं है। शास्त्रीजी यद्यपि स्थान-स्थान पर जगन्नाथ की आलोचना करते हैं, पर उनके मत को साग्रह स्वीकार भी करते हैं। वेणीदत्त ने अलंकारमंजरी में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक तथा श्लेष चार शब्दालंकार और 61 अर्थालंकारों का उल्लेख किया है। कारणमाला और मालादीपक को छोड़कर उन्होंने मम्मट प्रतिपादित सभी अर्थालंकारों का निरूपण किया है, प्रहर्षण अलंकार भी ग्रन्थ में स्थान पा गया है। श्रीकृष्ण ब्रह्मतंत्र परकाल संयमीन्द्र ने चार भागों में अलंकार मणिहार ग्रन्थ का प्रणयन कर मृतप्राय अलंकार विवेचना में एक बार पुनः प्राण फूंकने का प्रयास किया है। यद्यपि उन्होंने 125 अलंकारों का विवेचन किया है, जिसमें अप्पय के 119 अलंकार, जगन्नाथ के असम-तिरस्कार दो अलंकार तथा अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, चित्र चार शब्दालंकार हैं, न केवल विवेचन किया है, अपितु जगन्नाथ आदि के मतों को

उपस्थित करते हुए अलंकारों के अनेक नये भेदों को भी दर्शाया है, तथापि किसी नये अलंकार की अनुद्भावना, नये सिद्धान्त की अप्रतिष्ठा आदि के कारण अलंकार-विकास में उससे कोई मदद नहीं मिलती।

इस प्रकार भरत से लेकर 19वीं शती तक लगभग 1500 वर्षों में दो सौ से अधिक अलंकार निरूपित हो चुके हैं। अलंकार इतिहास के इस सुदीर्घ काल पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होगा कि भरत से लेकर जगन्नाथ तक निरन्तर नये अलंकार जोड़ने की एक क्रमबद्ध परंपरा रही है। भामह, दंडी, उद्भट, वामन तथा रुद्रट मूलतः अलंकारवादी आचार्य हैं, उनके ग्रन्थों में अलंकार की प्रधानता, विवेचन-मौलिकता स्वाभाविक है। आश्चर्य की बात तो यह है कि ध्वनि-स्थापना के बाद भी अलंकार का महत्त्व कम नहीं हुआ, उसका विकास नहीं रुका, ध्वनिकार के बाद शताधिक नये अलंकार प्रादुर्भूत हुए। वस्तुतः ध्वनिवाद अलंकार को पूर्णतः पचा नहीं सका, इसीलिये ध्वनिवादी को व्यंग्यत्रयी के अतिरिक्त काव्यत्रयी की भी कल्पना करनी पड़ी। ध्वनिवादी ने ध्वनि को ध्यान में रखते हुए जहां अलंकारों के उचित स्थान और स्वरूप का निर्धारण किया वहीं, गुणीभूतव्यंग्य के द्वारा भावी अनेक नये अलंकारों की भूमिका भी प्रस्तुत कर दी। अलंकार-क्षेत्र में गुणीभूत व्यंग्य को समेटने के लिये शोभाकर तथा अप्पयदीक्षित ने कतिपय नये अलंकारों का निर्माण किया। दीक्षित द्वारा उद्भावित नवीन अलंकारों में काव्यलक्षणों की महत्त्वपूर्ण भूमिका के साथ-साथ गुणीभूत व्यंग्य का प्रमुख स्थान है। वैसे तो जगन्नाथ तक कुछ न कुछ नये अलंकार काव्यशास्त्र में अवतीर्ण होते रहे हैं, किन्तु उनके विस्तार के लिये प्रधान श्रेयोभागी भामह, दंडी, रुद्रट, भोजराज, शोभाकर, जयदेव तथा अप्पयदीक्षित हैं। छोटे-मोटे भेदों को लेकर अनावश्यक बढ़ती अलंकार संख्या को नियंत्रित करने के लिये प्रयत्नशील आलंकारिकों की भी कमी नहीं है। मम्मट ने रुद्रट भोज के अनेक अलंकारों की उपेक्षा कर दी। हेमचन्द्र ने न केवल कतिपय अलंकारों को सीमित अलंकारों में अन्तर्भूत किया, अपितु अनेक ऐसे तत्त्वों का निराकरण भी कर दिया, जो अलंकार न होकर ध्वनि, गुण, दोष, आदि के विषय हैं। जगन्नाथ के खंडन के प्रधान लक्ष्य यद्यपि अप्पयदीक्षित के सिद्धान्त तथा उनके नवीन अलंकार हैं, किन्तु दीपक-तुल्ययोगिता आदि अनेक प्राचीन अलंकारों का एकीकरण अनावश्यक विस्तार की रोधक प्रवृत्ति का द्योतक है। विश्वेश्वर की प्रवृत्ति उभयात्मक है। वृद्धि-विरोध होते हुए भी संस्कृत काव्य और काव्यशास्त्र में अलंकार का निरन्तर निरूपण होता रहा है, भले ही नये अलंकार का आगमन न हो, आज भी उसकी परम्परा जारी है।

**अलंकार : मनोविज्ञान**

सीधी सरल भाषा में अनभिव्यक्त भाव को अभिव्यवत करने के लिये कल्पना या अलंकार का सहारा लिया जाता है। कविवर पंत के शब्दों में 'अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं' इस प्रकार अलंकार भावाभिव्यक्ति के माध्यम हैं। भावों का सम्बन्ध मन अथवा चित्तवृत्ति से है, संसार की ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो चित्तवृत्ति से सम्बद्ध न हो।[211] अतएव अलंकार पूर्णतः मनोविज्ञान पर आधृत भाव-प्रक्रिया है, यही कारण है कि अभिव्यक्ति की दशा में उन्हें बहिरंग नहीं माना जाता।[212] मन के भाव अनेक हो सकते हैं। इसलिये सभी अलंकार मन के किसी न किसी भाव को अभिव्यक्त करते हैं। अलंकारों के मूल में कल्पना का निवास है। मन का आवेग जब अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति चाहता है, तो उसकी इस सहज सेवा का कार्य कल्पना को ही करना पड़ता है। इसके लिये वह कभी उपमान की योजना करती है, कभी अतिशय का सहारा लेती है और कभी विरोध, वक्रत्व या गोपन-प्रक्रिया अपनाती है। यह सब कल्पना का ही विलास है। अतः कल्पना तथा उससे सम्बद्ध स्मृति, बिम्ब या प्रतिमा, प्रतीक, साहचर्य, समीपता, समानता, विरोध, आदि अलंकारों के निर्माण में मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करते हैं।

भामह के अनुसार शब्दार्थ की वक्रता का नाम अलंकार है।[213] वक्रता को विच्छित्ति या वैचित्र्य भी कह सकते हैं। उद्दीप्त भाव को प्रकट करना अलंकार का काम है। इस दृष्टि से भामह का कथन मनोवैज्ञानिक ही कहा जायेगा। दंडी की अतिशयोक्ति भामह की वक्रोक्ति का अपर पर्याय है। उक्ति का अतिशयत्व भाव का अतिशयत्व है। अतः कह सकते हैं कि वक्रोक्ति की अपेक्षा अतिशय शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त है। वक्रोक्ति के मूल में श्लेष को पोषक तत्त्व स्वीकार कर दंडी ने उसका संकोच अवश्य कर दिया है, किन्तु श्लेष एक पृथक् तत्त्व है, उसका क्षेत्र व्यापक है। स्वभाव तो चित्तवृत्ति रूप है। अतएव उसे वाङ्मय विभाजन का एक आधार मानना मनोवैज्ञानिक ही है। वामन ने औपम्य को मूल मानकर सभी अलंकारों को सादृश्यमूलक स्वीकार कर लिया। साधारणतया सभी अलंकार सादृश्यमूल कहे जा सकते हैं, किन्तु केवल औपम्य को ही सभी अलंकारों का मूल मान लेने पर उन्हें सीमित कर देना पड़ेगा। भले ही सभी अलंकारों को औपम्यमूल न माना जाये, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वामन ने अलंकारों के एक वर्ग का सहज मनोवैज्ञानिक आधार ढूंढ निकाला। वर्गीकरण का यह प्रथम प्रयास था। रुद्रट ने यह स्वीकार किया कि न केवल स्वभाव (वास्तव) या औपम्य या अतिशय, अथवा

श्लेष मात्र अलंकार का मूल है, प्रत्युत् ये चारों ही अलंकार सृष्टि के मनोवैज्ञानिक आधार हैं। वस्तुतः अलंकारों की मूलमनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का सर्वप्रथम सही साक्षात्कार रुय्यक ने किया। फलस्वरूप उन्होंने अलंकारों को नौ वर्गों में विभाजित किया। शब्दालंकारों में कवि या सहृदय की मनोदशा पद, पदांश, वाक्य अथवा पाठपौनरुक्त्य की ओर आकृष्ट रहती है। अतएव इनके मूल में पौनरुक्त्य प्रक्रिया का अनुसंधान मनोवैज्ञानिक ही कहा जायेगा। दो वस्तुओं में समानता, एकता अभेद अथवा भेद प्रतिपादन के लिये चित्तवृत्ति साधर्म्य की ओर उन्मुख होती है, ऐसे में उपमान-आयोजन, बिम्बविधान, आरोप, अध्यवसाय, आदि कल्पना-तत्त्व सहायक होते हैं। विरोधालंकारों में विरोध की प्रतिपादनेच्छा सहज देखी जा सकती है। पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तरोत्तर अथवा उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व वस्तु जहां विशिष्ट बतायी जाती है, ऐसे कारणमाला आदि अलंकारों में मूलतः वक्ता का अतिशय भाव निहित रहता है। न्यायाश्रित अलंकारों के विधान में स्पष्टतः तार्किक, मैमांसिक और लोक-व्यवहार बुद्धि काम करती है। गोपन, अपह्नव या निह्नव-व्यापाराश्रित गूढार्थप्रतीतपर अलंकारों में प्रवृत्त मन की संवृत्ति-प्रक्रिया स्वभावतः मनोवैज्ञानिक है। भाविक, स्वभावोक्ति तथा उदात्त में यद्यपि स्पष्टतः संवृत्तिभाव नहीं पाया जाता है, किन्तु उसकी कल्पना की जा सकती है। सामान्यतः सभी अलंकार चित्तवृत्ति के विषय हैं, किन्तु रस आत्मभूत हैं। अतः अन्य अलंकारों की अपेक्षा रसवदादि का चित्तवृत्ति से अधिक निकट का सम्बन्ध है। इस दृष्टि से उन्हें चित्तवृत्तिमूलक मानना मनोवैज्ञानिक ही है। इस प्रकार अलंकारों का वर्गीकरण जहां आलंकारिकों की मनोविज्ञानवादी प्रवृत्ति का द्योतक है, वहीं कौन अलंकार किस तत्त्व पर आधृत है की जिज्ञासा का पूरक भी है।

शास्त्रीय दृष्टि से अलंकार की मूल प्रक्रिया सामान्य का असामान्य और असामान्य का सामान्य कथन है। लोकानुभव का वैचित्र्य ही इसका प्राण है, यही चमत्कार है। मन की दृष्टि से विचार किया जाये तो इसे मन का विस्तार कहेंगे। शिव प्रसाद भारद्वाज के अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मन के विस्तार को ही अलंकार मात्र की मूल प्रक्रिया माना जाना चाहिये। इसके उन्होंने मूलतः दो भेद किये हैं, मन का ऋजु विस्तार और अवरोधमूलक विस्तार। प्रथम के मूलतः तीन भेद हैं—(1) साधर्म्य मूलक ऋजु विस्तार, इसमें उपमा आदि साधर्म्य वर्ग के अलंकार आते हैं। (2) अतिशय मूलक ऋजु विस्तार, अत्युक्ति आदि को इस वर्ग में स्थान प्राप्त है। (3) संगति मूलक ऋजु विस्तार, इसके भी मूलतः दो भेद होते हैं, अर्थ पर आधारित संगति और भाव पर आधारित। अर्थ पर आधारित संगति के दो भाग

किये गये हैं, किसी विशिष्ट अनुक्रम पर आधारित संगति या लोकजीवन, लोक-सिद्धान्तों की सापेक्षिक संगति पर आधारित। दोनों ही संगति की मूल प्रक्रिया पर आधृत हैं, इसलिये इन्हें एक ही क्रम में रखा गया है, इस वर्ग के अलंकार कारणमाला आदि हैं। नाद पर आधारित संगति का अपना मनोवैज्ञानिक रूप सर्वथा भिन्न है, अतः इसे ऋजु विस्तार का चौथा भेद कह सकते हैं, इसमें अनुप्रास आदि अलंकार आते हैं। अवरोधमूलक विस्तार के दो भेद किये गये हैं—(1) विरोधमूलक तथा (2) गोपनमूलक।

उपर्युक्त दृष्टि से मनोवैज्ञानिक आधार पर भारद्वाज सम्मत अलंकार-वर्गीकरण निम्नचक्र से स्पष्ट होता है[214]:

- मन का विस्तार
  - ऋजु विस्तार
    - साधर्म्यमूलक — उपमा आदि
    - अतिशयमूलक — अत्युक्ति आदि
    - संगतिमूलक — कारणमाला आदि
    - नादसंगतिमूलक — छेकानुप्रास आदि
  - अवरोधमूलक विस्तार
    - विरोधमूलक अलंकार — विरोध आदि
    - गोपनमूलक अलंकार — पर्यायोक्ति आदि

यों तो साधर्म्यमूलक अलंकारों और अतिशयमूलक अलंकारों में भेद करना कठिन है, तथापि अत्युक्ति आदि अलंकारों को अतिशय गर्भ में रखा गया है। सार में भी अनुक्रम का औचित्य है, पर उसे संगतिमूलक वर्ग में न रखकर अतिशय वर्ग में रखा गया है। समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, पर्यायोक्त, आदि को गोपन प्रक्रिया पर अवलम्बित बताया गया है। आक्षेप में विरोध का प्राधान्य होने से उसे विरोधवर्ग में स्थान मिला है। यद्यपि अपह्नुति में गोपन पाया जाता है, पर उसका मूल आधार साधर्म्य होता है, अतः वह इसी वर्ग में रखी गयी है। प्रतीप-लोकन्याय से हटाकर साधर्म्यवर्ग में रख दिया गया है। शृंखलामूल, लोकन्याय और वाक्यन्यायमूल अलंकारों में लोकसिद्ध संगति को आधार मानकर उन्हें उसी वर्ग का अलंकार माना गया है। गूढार्थप्रतीतिपर अलंकार गोपनमूलक कहे गये हैं। स्वभावोक्ति का सम्बन्ध संगति से है। विरोधमूलक अलंकार वर्ग बहुत कुछ स्पष्ट है, सम और अन्योन्य उससे बहिर्भूत हो गये हैं। वस्तुतः भारद्वाज का उपर्युक्त वर्गीकरण रुय्यक के वर्गीकरण से बहुत अधिक दूर नहीं है, शब्दावली

मात्र का परिवर्तन है।

सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में आधुनिक विचारकों ने वस्तु रूप अथवा आकार-सौन्दर्य के अनेक तत्त्व परिकल्पित किये हैं—सम्मात्रा (सिमेट्री), सुव्यवस्था (आर्डर), विविधता (वेराइटी), एकरूपता (यूनीफार्मिटी), औचित्य (प्रोप्राइटी), जटिलता (इन्ट्रीकेसी), संगति (हारमोनी), प्रमाणबद्धता (प्रोपोर्शन), संयम (माडरेशन), व्यंजना (सजेशन), स्पष्टता (सिम्प्लीसिटी), मसृणता (स्मूथनेस), कोमलता (टेन्डरनेस), वर्णप्रदीप्ति (कलरिंग), आदि। इनमें अनेक तत्त्व अलंकार-योजना में सहायक होते हैं। सम्मात्रा सादृश्यमूलक अलंकारों का आधार है, प्रमाण-बद्धता सुव्यवस्था के उभरते रूप पर अतिशय वर्ग टिका हुआ है। संगति के विस्तृत क्षेत्र में एकरूपता, औचित्य, संगति, संयम, आदि तत्त्व आते हैं। विविधता सम्मात्रा को विरोधवर्ग का आधार मान सकते हैं तो जटिलता व्यंजना आदि को गोपनमूलक वर्ग का। इनके विशेष क्रम के अनुसार इनकी परस्पर अन्विति भी होती है, तदनुसार इनके मूल्य भी बदलते रहते हैं। सौन्दर्यशास्त्र में अलंकारों का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है।[215]

## अलंकारों का मूल अनुभव और सादृश्य

उपर्युक्त विवेचन आधुनिक विचारक की दृष्टि को ध्यान में रखकर किया गया है। वस्तुतः अलंकारों के मूल में अनुभव और सादृश्य दो मूल तत्त्व पाये जाते हैं। वाग्विकल्प अनन्त हैं, उनके आधार पर अनन्त अलंकार कल्पित किये जा सकते हैं।[216] अनन्त अलंकारों की कल्पना का आधार सादृश्य[217] ही हो सकता है। प्रथमतः हम विभिन्न सांसारिक वस्तुओं का साक्षात्कार और उनका अनुभव करते हैं। पुनः वस्तुविशेष की उत्कृष्टता स्थापित करने के लिये या अपने भावों को दूसरे तक पहुंचाने के लिये प्रकृत के अनुसार तत्तद् अनुभूत वस्तु-सादृश्य के आधार पर भाषा को कल्पना-रंग से रंजित करने का प्रयास करते हैं। उपमा को ही ले लीजिये। चन्द्रमा को देखकर मन में आह्लादकता, मधुरता, आदि की एक सुखद अनुभूति होती है। चले जा रहे हैं, एक सुन्दर युवती दिखाई पड़ जाती है। युवती के मनोहारी मुख-मण्डल को देखकर आंखें तृप्त हो जाती हैं। उसके रूप-लावण्य से हमें वही सुखद अनुभूति होती है, जिसका अनुभव हम एक बार चांद में कर चुके हैं। युवती के मनोहारी मुख-मण्डल में पूर्वानुभूत चन्द्रगत माधुर्य आदि गुणों का सादृश्य पाकर हम कह उठते हैं 'इसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' अथवा 'यह तो चांद ही है'। विरोध को ही ले लें। वियोगावस्था में चन्द्र भी असह्य हो उठता है, सूर्य के

समान उष्ण बन जाता है, यह एक लौकिक अनुभव है और जब कहा जाता है कि 'शीतदीधितिरप्युष्णदीधितिः चन्द्रोऽपि सूर्यः' तो उक्त अनुभूत लौकिक सादृश्य को ही अपनाया जाता है। इसी परिसर में तर्कन्यायमूलक अलंकार अनुमान को ही ले लिया जाये। लौकिक अनुमान व्याप्ति आदि प्रक्रियाओं पर आधृत है, बिना उसका अनुभव हुए काव्य में अनुमान की कल्पना असंभव है और जब भी काव्य में अनुमान अलंकार प्रयुक्त होगा तो लौकिक अनुमान के सादृश्य का सहारा अनिवार्यतः लेना पड़ेगा। कोई निगूढ बात जिसे हम छिपाना चाहते हैं, किसी कारणवश प्रकाशित होने लगे तो उसे किसी बहानें पुनः छिपाने का प्रयास करते हैं। व्याजोक्ति आदि गूढार्थप्रतितीपरक अलंकारों की भित्ति इसी लौकिक अनुभव के सादृश्य पर टिकी है। इसी प्रकार अन्य सभी अलंकारों के मूल में यह प्रक्रिया प्रधान रूप से विद्यमान रहती है। तात्पर्य यह कि कल्पना भूमि में अवतीर्ण होने वाली समग्र वस्तु का हम पहले साक्षात्कार करते हैं, उसका अनुभव करते हैं और भावाभिव्यक्ति की दशा में अनुभूत वस्तु-सादृश्य को लेकर भाषा में कल्पना का प्रयोग करते हैं। भाषा स्वयं एक सादृश्य है, अनुकृति है। अतएव सादृश्य समग्र अलंकारों का मूल है, अप्पयदीक्षित का निम्न कथन इसी का उद्घोष है:

**उपमैका शैलूषी संप्राप्ताचित्रभूमिकाभेदान्।**
**रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।।** चि.मी., पृ. 41
और **तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमा ज्ञानात्। ज्ञातं भवति!** वही, पृ. 43

## संदर्भ

1. डॉ. फतहसिंह, भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका, पृ. 1.
2. दे., सी.एल. दवीयनोव, ले ग्रात द ग्रिमाल्दी, भाग-2, पृ. 33, 298, फलक 4, पृ. 12.
3. आर.आर. स्मित, दि डिलूवियाल फोर्त्साइत दाइजिलांज, 1912.
4. ब्रोई, लांत्रोपोलाजी, भाग-23, 1912, पृ. 529, 657.
5. तु. ई.ओ. जेम्स, प्रिहिस्टारिकल रिलीजन, 1957, पृ. 7.
6. वी. गोर्डन चाइल्ड, न्यू लाइट आन दि मोस्ट एंशियेन्ट ईस्ट, लंदन, 1952, फ. 13, पृ. 38; फ. 14, पृ. 39, फ. 19, पृ. 51.
7. डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, स्वतंत्र कला शास्त्र, भाग-1, पृ. 7.
8. देखिये, हिन्दू साइन्स ऑफ आर्किटेक्चर, पृ. 39 तथा हिन्दूकैनन्स ऑफ पेन्टिंग, भा. 3, पृ. 383.
9. ई.ओ., जेम्स, दि बिगनिंग्स ऑफ रिलीजन, 1958, प्रस्तावना, पृ. 8, पॉल राडिन, प्रिमिटिव रिलीजन, पृ. 59.

10. टॉय, क्राफोर्ड एच., रिलेशन बिटवीन मैजिक एण्ड रिलीजन, जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, भाग 20, पृ. 331.
11. पालराडिन, वही, पृ. 64.
12. जे. खोदा, स्टाइलिस्टिक रिपीटीशन इन दि वेद, एमेस्टर्डम, 1959, पृ. 27.
13. दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्।। महाभाष्य 1/1/1, पा.शि. 52, तैत्तिरीय संहिता ब्राह्मण, 2/5 तथा श.प. 1/5/2 में आख्यायिका।
14. एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति। म.भा., वही।
15. जे. खोदा, वही, पृ. 25-26.
16. खोदा, रिमार्क्स आन सिमिलीज इन संस्कृत लिट्रेचर, प्रस्तावना, पृ. 1.
17. वही, रि.सि.सं.लि., पृ. 3.
18. एम. ब्लूमफील्ड, ए वैदिक कन्कार्डेन्स, हार्वर्ड, 1906-7.
19. दे., आसुरी काव्य, दत्तात्रेय तन्त्र, आदि।
20. डॉ. भोलाशंकर व्यास, भारतीय साहित्य शास्त्र और काव्यालंकार, भाग-1, आमुख, पृ. 6.
21. सौन्दर्यमलंकारः। का.सू.वृ. 1/2/1.
22. खोंदा, स्टा.रि.वे., पृ. 360.
23. डॉ. भोलाशंकर व्यास, वही, पृ. 10.
24. आ. रामचन्द्र शुक्ल, रस मीमांसा, भाग-2, पृ. 60.
25. र.मी., भाग-2, पृ. 59.
26. दे., वही, भाग-2, पृ. 47.
27. डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु, जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, अ. 1, पृ. 11.
28. फतहसिंहः भा.सौ.भू., पृ. 9.
29. दे., वही, पृ. 9-17.
30. स्वतंत्र कला शास्त्र, पृ. 7-11 तथा कम्परेटिव एस्थेटिक्स, भाग-1, पृ. 5.
31. दे., डॉ. फतहसिंह का—भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका तथा हिन्दू प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठभूमि, वैदिकी पृ. 29-39.
32. मम्मट, विश्वनाथ, आदि के काव्य लक्षण देखिये।
33. ऋ. 1/91/14, 9/87/3, 8/79/1, 7/7/4, 8/44/12, आदि में कवि का उल्लेख है तथा काव्य का 9/6/8, 9/97/7, 8/55/5, आदि में।
34. दे., एम.के. वर्मा, पोइटिक ब्यूटी ऑफ दि ऋग्वेद, पृ. 35-37; The Vedas themselves are repositary of the poetry and music; शिल्पशास्त्र भाग 2, पृ. 246, तु. रायल आर्ट्स सिक्स फाइन आर्ट्स, पृ. वही।
35. दे., ध्व., 1/1 की वृत्ति।
36. स्वतंत्र कला शास्त्र, पृ. 9.

37. दे., महेन्द्र कुमार वर्मा का ग्रन्थ, पोइटिक ब्यूटी ऑफ दि ऋग्वेद।
38. पा. धातुपाठ. 728. 1865.
39. क्रमशः ऋ. 1/15/31, 1/21/3, 3/2/7. 2/2/1. 9/7/1.
40. अलं भूषा पर्याप्ति वारणेषु। अ.को. 3/252. वाचस्पत्यम्, भाग 1, पृ. 770, शब्दकल्पद्रुम प्रथम काण्ड, पृ. 113, एम.एम. विलियम, संस्कृति इंग्लिश डिक्शनरी, पृ. 94. आप्टे—ए प्रैक्टिकल सं.इं.डि.. पृ. 144, 155.
41. ऋ. 8/1/10. 8/5/17 तथा 8/56/3 में भी ये शब्द आये हैं।
42. वर्गेन. कलकस आब्जर्वेशन्स सरलेस फिगर्स डिरिटहॉरिक डान्सले रिग्वेद. एम.एस.एल. 4 (1881), पृ. 96.
43. सिकताभिरनुविकरत्यलंकारोऽन्वेष सिकताभ्राजन्तइव। श.ब्रा. 3/5/1/36. अज्जनाभ्यंजने प्रयच्छत्येष ह मानुषोऽलंकारः। वही. 13/8/4-7.
44. वसनेन अलंकारेणेति संस्कुर्वन्ति। छा.उ., 8/8/5.
45. दे., सुशीलकुमार दे. हि.सं.पो., पृ. 3; एम.के. वर्मा, वही, पृ. 36.
46. दे., काणे, आउटलाइन्स ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ अलंकार लिटरेचर, इन्डियन एण्टीक्वेरी, 41, (1912), पृ. 124-26.
47. दे., वही, पृ. 120 तथा सं.का.इ. (हिन्दी संस्करण), पृ. 405-12.
48. दे., डॉ. एस.के. दे, हि.सं.पो., भाग-1, पृ. 341.
49. दे., काणे, सं.का.इ., हिन्दी संस्करण, पृ. 405-13.
50. दे., खोदा, रि.सि.सं.लि., स्टा.रि.वे., सिंह, भा.सौ.भू., वर्मा., पो.ब्यू.रि.।
51. एच.आर. दिवेकर, लेस फलूअर्स दि रिटहारिक उन्सल इन्दि, पेरिस 1930. उद्धृत खोदा, स्टा.रि.वे., पृ. 12.
52. दिवेकर, वही, पृ. 7.
53. दे. खोदा, रि.सि.सं.लि.।
54. वही, स्टा.रि.वे., पृ. 10 तथा विवेचन के लिये पूरा ग्रन्थ द्रष्टव्य।
55. दे. काणे—सं.का.इति., पृ. 407.
56. दे., निघ., 3/13.
57. दे., निरु., 3/13.
58. वही, 3/13/18.
59. उपमा-प्रकरण में इन सभी आचार्यों के मतों का विवेचन देखा जा सकता है।
60. डॉ. नगेन्द्र : रस सिद्धांत : रस संप्रदाय का इतिवृत्त, पृ. 11, तु. शिवप्रसाद भट्टाचार्य, स्टडीज इन इंडियन पोइटिक्स, 1964, कश्मीर शैव दर्शन्स इम्प्रेस आन अलंकाराज इन अलंकार शास्त्र, पृ. 61.
61. अतएवचोपमा सूर्यकादिवत् (वेदान्तसूत्र 3/2/18)। आनुमानिकमप्येकेषां शरीररूपकविन्यस्त गृहीतेर्दर्शयति च। वही, 1/4/1, भगवता बादरायणेन नानुमानिकमप्येकेषामितिचेत् न, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च, इति शारीरकसूत्रे

रूपकमंगीकृतम्। चि.मी., पृ. 63.

62. दे., हि.सं.पो., पृ. 11.

63. उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणम्। मीमां. सूत्र, 1/1/15 पर शवरभाष्य।

64. दे., प्रकृतग्रन्थ का उपमा प्रकरण।

65. दे., हि.सं.पो., वही।

66. एस.पी. भट्टाचार्य ने अर्थापत्ति, परिसंख्या तथा समुच्चय को मीमांसा, अनुमान, काव्यलिंग, विभावना, विशेषोक्ति, विरोधाभास, असंगति और अधिक को न्याय तथा सम, विषम, रसनोपमा, मालोपमा प्रत्यनीक और व्याघात को भी न्याय (लौकिक) पर आधृत माना है। दे., स्ट., सं.पो., पृ. 61.

67. दे., उपाध्याय बलदेव—भा.सा.शा., पृ. 11-12; स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ. 4.5.

68. पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। का.मी.द्वि.अ.।

69. दे., का.सू., 1/3/16.

70. तद्यथा काव्यादर्शे—अश्वा संजनयति रागमुख्यमध्ये। ज.मं., पृ. 33.

71. कामसूत्र में चित्र तथा वास्तुकला के लिये द्रष्टव्यः हिन्दू कैनन्स ऑफ पेन्टिंग पृ. 12, 51; शिल्पशास्त्रभाग 2, पृ. 225; हिन्दू साइन्स ऑफ आर्किटेक्चर, पृ. 55.

72. ......... क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः, काव्यालंकार इत्यर्थः। त्रितयमपि काव्यक्रियांगं परकाव्यावबोधार्थं च। जयमंगला, पृ. 28-35.

73. वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्। काव्या. 1/19, क्रियाकल्प का अपर अभिधान है, क्रियाविधि। विचित्र मार्ग (अलंकार) का निबन्धन क्रियाविधि है।

74. दे., डॉ. एम.पी. परडेकरः सिमिलीज इन मनुस्मृति।

75. दे., डॉ. दे., हि.सं.पो., पृ. 12.

76. दे., वही।

77. डाइ इन्डेस्चेन इन्सक्रिफ्टन, ट्रान्स, आई.ए. 13, 1913, पृ. 29.

78. 'शब्दार्थ गान्धर्व न्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञान-प्रयोगावाप्तविपुलकीर्तिना ......... स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तसमयोदारालंकृतगद्यपद्य ......... स्वरगतिवर्णसारसत्वादिभिः परमलक्षणव्यंजनैरुपेतकान्तमूर्तिना ......... महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना। —गिरिनार शिलालेख।

79. '......... कृपणदीनानाथातुरजनोद्धरणसमंत्रदीक्षाद्युपगतमनसः सिद्धस्य विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य स्वभुजबलविजितानेकनरपतिविभवप्रत्यर्पण-नित्यव्यापृतायुक्तपुरुषस्य निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरु-तुंबुरुनारदादेर्विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिःप्रतिष्ठित कविराजशब्दस्य—हरिषेण अभिलेख।'

80. दे. ब्यूहलर—इंडियन इन्सक्रिप्शन्स एण्ड द ओरिजिन ऑफ आर्टिफीशियल पोइट्री।

81. '......... आनुप्रासिकं प्रचेता, यमकं यमः, चित्रं चित्रांगदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं

पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालंकारिकं कुबेरः।' का.मी., प्रथम अध्याय।

82. बलदेव उपाध्याय—भा.सा.शा., पृ. 11-12.

83. (क) प्रचेता का वि.पु. 1/15, भा.पु. 4/30, म.भा. अनुशासनपर्व 147/25 तथा आदिपर्व 195-15 में उल्लेख है। पुलस्त्य रावण के पितामह थे। पराशर के विषय में पुराणों में बहुधा उल्लेख मिलता है। उतथ्य का महाभारत आदिपर्व 66/5, शांतिपर्व अ. 90-91 तथा अनुशासनपर्व 154/12-018 में उल्लेख है। पाणिनि ने औपकायन का उल्लेख किया है—उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे (पा. 2/4/69) इस सूत्र के उदाहरण में 'औपकायन' का प्रयोग है। प्रतीत होता है कि राजशेखर प्रोक्त औपकायन पाणिनि से पहले के हैं।

(ख) रुद्रट ने शब्दालंकारों का पहले विवेचन किया है, बाद में अर्थालंकारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष चार वर्गों में रखा है। राजशेखर का शब्दश्लेष तक का उल्लेख रुद्रट के शब्दालंकार विवेचन से साम्य रखता है, वास्तव आदि चार का उल्लेख अर्थालंकार विभाजन के चार तत्त्वों का पूर्णतः स्मरण कराता है।

84. दे. दे की हि.सं.पो., पृ. 13-16, काणे, सं.का.इ., भाग-2 (हिन्दी), पृ. 419-22.

85. तेनानुप्रासः लाटीयादेरनेनैवोपसंग्रहः। ना.शा. 16/59 पर अ.भा., दे. प्रकृत-प्रबन्ध का अनुप्रास विवेचन।

86. दे., प्रकृत-प्रबन्ध का अनन्वय विवेचन।

87. (क) काव्यबन्धास्तुकर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः। ना.शा., 15 अ. काअन्त तथा दे., ना.शा. 16/1-4.

(ख) प्रश्न हो सकता है कि काव्य में अलंकरण की प्रवृत्ति ही क्योंकर जागृत हुई? पहले ही कहा गया है कि वेदी को अलंकृत करने वाले ऋषि के मन में यह सहज भाव उत्पन्न हुआ होगा कि कथन को भी अलंकृत किया जाये। यज्ञवेदी, नारी तथा मूर्तिकला में उसने अलंकार-सौन्दर्य का अनुभव किया ही था, कथन-प्रकार में भी सौन्दर्य वैविध्य की लालसा उत्पन्न हुई। सामुद्रिक शास्त्र में महापुरुषों के पद्म, चक्र, आदि लक्षण बताये गये हैं। भगवान् बुद्ध को 64 लक्षणों (दे. मैत्रेयनाथ का अभिसमयालंकार) से अलंकृत माना गया है। गिरिनार के अभिलेख में रुद्रदामा को भी लक्षणोपेत कहा गया है। स्पष्ट है कि इन लक्षणों की कल्पना साम्य के आधार पर काव्य (पुरुष) में भी कल्पित हुई और धीरे-धीरे लक्षणों को अलंकार मान लेने की प्रवृत्ति का विकास हुआ। लोक की बात और है, काव्य-लक्षण और अलंकार का पृथक्करण भी सहज नहीं है। अतएव लक्षणों का अलंकार बन जाना स्वाभाविक था।

88. दे. भामहालंकार 2/86.

89. वही, 3/55-56.

90. यच्च सन्ध्यंगवृत्त्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः।। काव्याद. 2/364 तथा 233.
91. दे., ना.शा. 16/40 पर अ.भा.।
92. जयदेव के शोभा, अभिमान, हेतु, प्रतिषेध, निरुक्त, मिथ्याध्यवसाय, युक्ति, कार्य (चन्द्रा. 2/2-10) लक्षण की अप्पय के क्रमशः, अनुज्ञा, संभावना, हेत्वपह्नुति, पर्यस्तापह्नुति, निरुक्ति, मिथ्याध्यवसिति, तुल्ययोगिता, युक्ति तथा परिणाम अलंकार से तुलना करें।
93. दे., हि.सं.पो., भाग-2, पृ. 1-5, वी. राघवन्, भोजास् शृंगार प्रकाश, पृ. 352-4
94. काणे—भा.का.ह.—(हिन्दी), भाग-1, पृ. 87.
95. वि. धर्मो. 14/1-15, उद्धृत, वही, पृ. 89.
96. काणे, वही, पृ. 90.
97. भामहालंकार 2/5-8.
98. वही, 2/19.
99. यहां चक्र से मेरा वर्ग का अभिप्राय नहीं है। भामह के बिखरे अलंकार विवेचन में वर्गीकरण की बात ही व्यर्थ है। मैंने वैसा प्रयोग विवेचन सिद्धि के लिये ही किया है।
100. दे., ग्रन्थ का तत्तदलंकार विवेचन।
101. समासेनोदितमिदं धीखेदायैव विस्तरः।
असंग्रहीतमप्यन्यदभ्यूह्यमनया दिशा। —भामह, 2/95.
अन्येषामपि कर्तव्या संसृष्टिरनया दिशा।
कियदुद्घटितज्ञेभ्यः शक्यं कथयितुं मया।। —वही, 3/52.
102. दंडी का विशेष अध्ययन करने के लिये देखें: डॉ. जयशंकर त्रिपाठी का शोधप्रबन्ध 'आचार्य दंडी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन'।
103. भामह 2.19.
104. का.सा.सं., 1/12.
105. यहां वर्ग से मेरा तात्पर्य वर्गीकरण के रूप में विभाजन नहीं है। उद्भट का भी यह तात्पर्य नहीं था। संभवतः अपने समय में प्रचलित विचारों को जो शायद छः प्रकार के थे, ही उद्भट ने छः वर्गों में, विवेचन की दृष्टि से रखा है।
106. (क) इत्येत एवालंकाराः वाचां कैश्चिदुदाहृताः। का.सा.सं., 1/2.
(ख) .......... अलंकारान् परे विन्दुः। वही, 2/1.
(ग) .......... अपरेत्रीनलंकारान् गिरामाहुरलंकृतौ। वही, 3/1.
(घ) अलंकारान् परे विदुः। वही, 4/1.
(ङ) जगदुरलंकारान् परे गिराम्। वही 5/2.
(च) अलंकारान् परे विदुः। वही, 6/1.
107. तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ। का.सू.वृ. 4/3/31.
108. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्। शब्दस्यालंकाराः। काव्यालंकार,

2/13. सभी शब्दालंकारों को सविस्तार देखें, वही. 2-5 अध्याय।

109. अर्थस्यालंकारा: वास्तवमौपम्यमतिशयश्लेषः। वही, 7/9.

110. दे., वही 7/11-12.

111. वही, 8/2-3.

112. वही, 9-2.

113. वही, 10/2.

114. वही, 10-25-29.

115. डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी का कथन है कि रुद्रट ने व्याजश्लेष, अवसर जाति स्वभावोक्ति, हेतु, भावालंकार, मत, साम्य तथा पिहित मात्र नवीन अलंकारों की उद्भावना की है, यह उनकी भ्रान्ति है। दे.अ.मी., पृ. 155. जाति, हेतु का उल्लेख दंडी कर चुके थे भले ही स्वरूप भिन्न हो, स्वभावोक्ति को उद्भट ही कह चुके थे।

116. दे., अलंकार विवेचन में रुद्रट के अलंकारों का समय-समय पर अन्तर्भाव।

117. कुन्तक अनुप्रास और यमक को वर्णवक्रता में अन्तर्भूत करते हैं। समग्र अर्थालंकार उनकी वाक्यवक्रता के भेद हैं। स्वाभावोक्ति, रसवत्, प्रेम, ऊर्जस्वि तथा समाहित अलंकार न होकर अलंकार्य हैं। उन्होंने 20 अलंकारों को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमा, श्लेष, व्यतिरेक, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, विभावना, ससन्देह, अपह्नुति, संसृष्टि तथा संकर। रसवत्, दीपक और सहोक्ति का खण्डन करके भी उसका स्वरूप स्थापित करते हैं। पूर्णतः खंडित अलंकार निम्न हैं : प्रेयस्, ऊर्जस्वि, उदात्त, समाहित, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, निदर्शना, परिवृत्ति, विरोध, समासोक्ति, यथासंख्य, आशीः विशेषोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश और उपमारूपक। ध्यातव्य है कि ग्रन्थ का अलंकार भाग त्रुटित और अशुद्ध है। इसलिये इन सभी अलंकारों पर कुन्तक का स्पष्ट अभिमत जानना कठिन है।

118. दे. स.कं. 2/3-4. गुम्फना और शय्या के स्थान पर शृं.प्र. में रचना और घटना नामोल्लेख है। शृं.प्र., पृ. 371.

119. दे. स.कं. 3/2-3. उत्तर, निदर्शना और भेद के स्थान पर शृं.प्र. में क्रमशः सार, दृष्टान्त और व्यतिरेक अलंकार पठित हैं। वही, पृ. 391.

120. दे., स.कं. 4/2-4 तथा शृं.प्र., पृ. 409.

121. शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयन्तुनः। भामहा. 1/14-15.

122. शब्दार्थालंक्रियाः चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः।
गुणादोषाश्च वाक्यानामिति संक्षिप्य दर्शिताः। काव्यादर्श, 3/186.

123. दे., कन्सेप्ट ऑफ रीति एण्ड गुण, पृ. 84 तथा 108.

124. शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्यः उपमादिः प्रतीयते।
विशिष्टोऽर्थः कवीनां ता उभयालंक्रियाः प्रियाः।। स.कं. 4/1.
भोज का यह सिद्धान्त किसी को मान्य नहीं हुआ।

125. आद्य (पुनरुक्तवदाभासः) उभयस्य शब्दस्यार्थस्य च। विवृत्ति, पृ. 1.
126. पुनरुक्तवदाभास के उदाहरण का.सा.सं. 1/4 की विवृत्ति, पृ. 3.
127. इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्त्वेन यो विभागः सोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवव्यवतिष्ठते। का.प्र., पृ. 210 (आनन्दाश्रम सीरीज)। तु. काव्ये दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थोभयगतत्त्वेन व्यवस्थायमन्वयव्यतिरेकावेव प्रभवतः। वही, पृ. 295.
128. योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकार इत्यपि कल्पनायामन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ। तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्य अभावादित्यलंकाराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान्। —वही, पृ. 295.
129. ततश्च योऽलंकारो यदीयावन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते सतदलंकारः। वही, का.प्र., (अनन्तशयनम्) का पाठ भावाभावावनुविधत्ते है। पृ. 427.
130. प्रो. चन्दोरकर द्वारा मम्मटीय अलंकार विभाग :
    (क) सादृश्य (सिमिलरिटी) के आधार पर—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति (1 और 3), निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, प्रतीप, भ्रान्तिमान्, ससन्देह, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, दीपक (1), प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, समासोक्ति, सामान्य, मीलित, अप्रस्तुतप्रशंसा (5), सम।
    (ख) विरोध (कन्ट्रास्ट) पर आधृत अलंकार—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अधिक, अतद्गुण, अतिशयोक्ति (2 और 4), विनोक्ति, परिसंख्या, उत्तर (2)।
    (ग) प्रत्यासत्ति (कन्टीगूइटी) पर आधृत—सूक्ष्म, स्मरण, उत्तर (1), अप्रस्तुत-प्रशंसा (1-3 और 4)।
    (घ) शृंखलान्यायमूल—कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार।
    (ङ) तर्कन्यायमूल—काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, अनुमान।
    (च) प्रकीर्ण अलंकार—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, दीपक (2), परिकर, आक्षेप, व्याजस्तुति, पर्यायोक्त, समुच्चय, समाधि, स्वभावोक्ति, श्लेष, भाविक, प्रत्यनीक, उदात्त, तद्गुण, संसृष्टि, संकर। —का.प्र., भूमिका, पृ. 7-8.
131. दे., गजेन्द्रगडकर, का.प्र. भूमिका, पृ. 33-34.
132. अन्वयव्यतिरेक की आलोचना में समुद्रबन्ध का कथन है : अन्वयव्यतिरेकपक्षेन केवलं युक्तिविरोधः उद्भटादिपूर्वाचार्यविरोधोऽपि। —स.बं., पृ. 288.
133. एतच्चोद्भटविवेके राजान(क) तिलकेन सप्रपंचमुक्तम्। वि., पृ. 205.
134. (क) रूपक विवेचन में तिलक का कथन है : अत्र शब्दमुखेनार्थस्य विचित्रत्वेऽपि मुख्यतः कविप्रतिभासरंभगोचरस्य शब्दस्य वैचित्र्यमिति शब्दालंकारत्वं युक्तम्। ......... किंचित्तु श्लेषस्थले वक्ष्यामः। —विवृत्ति, पृ. 11.
    (ख) श्लेष विषय में कथन है—एवं चेह चतुर्थरूपकं श्लेषव्यतिरेकश्च यदुक्तं तस्योक्तनयेन शब्दालंकारत्वमेव युक्तम्। एवमादौ शब्दमूलालंकारो न शब्दस्यालंकार इतिचेत् उक्तमत्र वैचित्र्यमलंकार इति। यद्वैचित्र्यं तस्यालंकार

·इति यथोक्तमेव साधु। वही, पृ. 40.

135. लोके हि योऽलंकारो यदाश्रितः सतदलंकारतयोच्यते, यथा कुण्डलादिः कर्णाद्याश्रितस्तदलंकारः। वि., पृ. 205.

136. अलंकार्यालंकरणभावोहि आश्रयाश्रयिभावेनोपपन्नो लोके कर्णाश्रितः कर्णालंकार इति। स., पृ. 126.

137. अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः। —अ.स., पृ. 126. आश्रयाश्रयिभावेनालंकारत्वस्य लोकवद् व्यवस्थानात्। वही, पृ. 127. तु.प्र.रु., पृ. 244-45.

138. लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलंकारनिबन्धनम्। अन्वयव्यतिरेकौतु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ, न तदलंकारत्वे। तदलंकारत्वप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्व प्रसंगात्। वही, पृ. 231, तु.र.गं., पृ. 402.

139. दे., डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, अ.मी., पृ. 166-68, तु. डॉ. भोलाशंकर व्यास, भा.सा.का., पृ. 56. डॉ. द्विवेदी जगन्नाथ, जो सर्वस्वकार का मत उद्धृत करते हैं, को अपने पक्ष की पुष्टि के लिये, जगन्नाथ का मत बताते हैं, तथ्य को गलत ढंग से उपस्थित करने का अच्छा तरीका है। दे., उन्हीं का संपादित अ.स., पृ. 379-80.

140. उपमानोपमेययोरेव साधर्म्य न तु कार्यकारणादिकयोः भवति। का.प्र., पृ. 544.

141. न ह्याश्रयाश्रयिभावमात्रेण व्यवस्था। कंकणादेः केयूरादिपदाश्रयणसंभवात्। अतो यथोक्तमेवज्यायः। सं.प्र., पृ. 428.

142. अतश्चग्रन्थकृन्मते लाटानुप्राससंसृष्टि (संसृष्टि संकर का भी सूचक है) श्लेषाणामेवोभयालंकारत्वम्। वि., पृ. 205.

143. आमुखावभासनं पुनरुक्तावदाभासम्। अ.स., 3. अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्त्वादर्थालंकारत्वं ज्ञेयम्। वही, पृ. 26.

144. दे., वि., पृ. 17-19; स.बं., पृ. 13; अ.मी., पृ. 170-72; एका., पृ. 184-85; प्र.रु., पृ. 249-50, सं. में विद्याचक्रवर्ती रुय्यक के मत की कोई टीका-टिप्पणी न करके मौन हैं, किन्तु सं.प्र. में खुलकर मम्मट का समर्थन करते हैं। दे., सं.प्र., पृ. 246-50.

145. एवंचपुनरुक्ताभासोऽपि शब्दस्योत्कटवैचित्र्याच्छब्दालंकारत्वेनोक्तः। संकेत, पृ. 295.

146. आमुखतुल्यार्थत्वस्यच शब्दधर्मत्वेन शब्दाश्रयत्वात् शब्दालंकारोऽयम्। अ.र., पृ. 1.

147. का.प्र., पृ. 245 (त्रिवेन्द्रम्)।

148. सभंगाभंगेतिश्लेषच्छायया विभागः। उभयाश्रयतयापि वक्ष्यमाणत्वात्। सा.चू., पृ. 246.

149. दे., अ.स., पृ. 125.

150. वही, अ.मी., पृ. 165. व्यास, वही, पृ. 54.

151. वही, वि., पृ. 20.

152. वही, अ.स.सूत्र, 4-5.

153. डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, वही, पृ. 178 तथा डॉ. भोलाशंकर व्यास, वही, पृ. 63-64.

154. तात्पर्यभेदवत्तुलाटानुप्रासः। अ.स., 18.
155. अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषंगिकम्। अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम्। वही, पृ. 33.
156. डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, वही, पृ. 173-74, तथा व्यास, वही, पृ. 58-60.
157. वही, पृ. 174-5. व्यास, वही, पृ. 60-61.
158. वाचकशब्दबहिर्भावाच्चनात्रकविभिरादरः कार्यः। सं., पृ. 34.
159. दे., अ.स.सूत्र, 10.
160. खंगाद्यवयवविशेषेषु वर्णानां यत्पाठे पौनरुक्त्यं तत् पौनरुक्त्यप्रस्तावे संगच्छते। सं., वही।
161. दे., अ.स., पृ. 34 तथा 'खंगादिबन्धगतानां (वर्णानां) यद्यपि वाचकशब्दालंकारतानोपपद्यते, तथापि लौकिकानां लिप्यक्षरेष्वपि वाचकत्व प्रतीतेर्वाचकशब्दालंकारत्वमुपचर्यते। सं., वही।
162. तदेवं पौनरुक्त्ये पंचालंकाराः। अ.स. सूत्र-9.
163. एवमध्यवसायाश्रयेणालंकारद्वयमुक्त्वा गम्यमानौपम्याश्रया अलंकाराइदानीमुच्यन्ते। तत्रापि पदार्थवाक्यार्थगतत्त्वेन तेषां द्वैविध्ये पदार्थगतमलंकारद्वयमुच्यते। अ.स., पृ. 85.
164. साधर्म्ये त्रयः प्रकाराः। भेदप्राधान्यं व्यतिरेकादिवत्। अभेदप्राधान्यं रूपकादिवत्। द्वयोस्तुल्यं यथास्याम्। —वही, पृ. 35.
165. इवाद्यप्रयोगे औपम्यस्य गम्यत्वम्। वही, पृ. 85.
166. डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, अ.मी., पृ. 186. व्यास, पृ. 69.
167. इत्थमभेदप्राधान्याधिकारनिपातिनोऽलंकाराः विवेचिताः। सं.पृ. 96.
168. अधुना भेदप्राधान्येनालंकारकथनम्। वही, पृ. 96.
169. सहोक्ति के लिये रुय्यक का कथन है—भेदप्राधान्य एव। वही, पृ. 97.
170. सहोक्तिप्रतिभटभूतां विनोक्तिं लक्षयति। वही, पृ. 100.
171. अ.स., पृ. 96 तथा भेदोवैलक्षण्यम्। एका., पृ. 249.
172. यह मेरा कोई आग्रह नहीं है कि यह पूर्णतः ठीक ही है, पर संभावना की जा सकती है कि रुय्यक की दृष्टि इसी तथ्य का संकेत करती है।
173. डॉ. भोलाशंकर व्यास, भा.सा.का., पृ. 73 तथा डॉ. द्विवेदी, वही, पृ. 190.
174. शृंखलाबन्धोनामशृंखलावदुत्तरोत्तरग्रथितत्त्वेन निबन्धः। स.ब., पृ. 157, तु.र.गं., पृ. 461.
175. केनचिद्धेतुनाकस्यचिदर्थस्य प्रतीतिस्तर्कन्यायः। स.ब., वही।
176. वाक्यन्यायो मीमांसान्यायः। वही, पृ. 165.
177. दे., अ.मी., पृ. 190, 203 तथा भा.सा.का., पृ. 73-83. डॉ. ओमप्रकाश शर्मा ने व्यंग्य और अव्यंग्य के आधार पर अलंकारों को मूलतः दो वर्गों में रखकर वर्गीकरण किया है। दे. रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन।

178. शोभाकर तथा जयरथ के ग्रन्थों में अलंकार सार और अलंकार भाष्य का उल्लेख मिलता है, ग्रन्थ अनुपलब्ध है।
179. उद्धृत, अ.मी., पृ. 49-54.
180. दे., अ.म., पृ. 234.
181. दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थोभयगतव्यवस्थायामन्वयव्यतिरेकावेव निमित्तम्। अ.चू., पृ. 401.
182. यद्यपि वह निदर्शना को अलंकार नहीं स्वीकारते हैं, पर उसका रूप निदर्शन में प्राप्य है।
183. काव्यानुशासन सूत्र के ऊपर हेमचन्द्र की अलंकार चूड़ामणि वृत्ति तथा विवेक टीका एतदर्थ विशेष द्रष्टव्य है। काव्यानु. अ.चू. सहित वि. अध्याय-6.
184. वाग्भट प्रथम का समय हेमचन्द्र से यद्यपि कुछ पहले पड़ता है किन्तु दोनों वाग्भटों को सुविधा के लिये न केवल यहीं बल्कि पूरे प्रबन्ध में एकत्र रखा गया है।
185. वाग्भट द्वितीय कालक्रम से यद्यपि विद्यानाथ के बाद (प्रायः चतुर्दश शतक) आते हैं, पर नामसाम्य के कारण उन्हें वाग्भट प्रथम के साथ ही रखा गया है।
186. चित्रश्लेषानुप्रासवक्रोक्तियमकपुनरुक्तवदाभासाः षट् शब्दालंकाराः। काव्यानु., पृ. 46.
187. अलंकारानिमान् सप्तकेचिदाहुर्मनीषिणः। चन्द्रा. 5/118.
188. शुद्धिरेकप्रधानत्वं तथा संसृष्टिसंकरौ।
एतेषामेव विन्यासान्नालंकारान्तराण्यमी।। वही, 5/119.
189. एतच्च काव्ये गडुभूतमितिनेह प्रतायते। एका., पृ. 191.
190. आश्रयाश्रयिभावेनालंकार्यालंकारभावो लोकवत् काव्येऽपि संमतः।प्र.रु., पृ. 244-45.
191. पद्मादिबन्धेषु वर्णानां पौनरुक्त्यात् पौनरुक्त्यमूलालंकारानन्तर्यं च द्रष्टव्यम्। रत्नापण, पृ. 251.
192. प्रथमं शब्दार्थोभयगतत्त्वेन त्रैविध्यमलंकारवर्गस्य। अर्थालंकाराणां चातुर्विध्यम्। प्र.रु., पृ. 245.
193. एस.एस. भंडारकर, एनल्स, वी.ओ.आर.आई., खण्ड 2, पृ. 191-96. श्री डी.पी. गोडे क्लासीफिकेशन ऑफ अलंकाराज, वही, खंड 2, 1921, पृ. 69-72 तथा डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी का मत मुझे अमान्य है—अ.मी., पृ. 191.
194. रसस्यपरिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका। सा.दं. 10/13.
195. अत्र ध्वनिगुणीभूतव्यंग्यदोषगुणालंकाराणं शब्दार्थगतत्त्वेन व्यवस्थितेरन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन नियमः। वही, पृ. 463.
196. इति शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालंकारत्वम्। वही, पृ. 446.
197. अनुप्रासः पंचधा ततः। वही, 10/7.
198. दे., अ.स., 5/18 तथा 51/54.
199. सुशील कुमार दे (संस्कृत पोइटिक्स भाग-1, पृ. 264-5) के अनुसार अजितसेन का

समय दशमशती का अन्तिम भाग है। अनेक तथ्यों के आधार पर यह मत असिद्ध है, तथा उपयुक्त समय मैंने ऊपर दिया है, जिसका विस्तृत विवेचन अलग से 'ऋतम्' के भाग VII, जुलाई-जनवरी 1975 के अंक में मैंने किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में इनके मत का अक्रम विवेचन समय की अनिश्चितता के कारण परिमर्षणीय है।

200. दे., अ.चि., पृ. 52-53.

201. उभयालंकृतिस्त्वत्र संसृष्ट्यन्तर्भवामता। अ.चि., 4/8-17.

202. का.सा., 6/1-5.

203. रसालंकृतयोऽन्याश्चतस्रो रसपोषिकाः। अ.कौ., 8/321.

204. 16वीं शती का उत्तरार्द्ध, काणे, सं.का.इ. (हिन्दी), पृ. 394-95.

205. कुवलयानन्द के श्लेषप्रकरण में वह कहते हैं—एतद्विवेचनं तु चित्रमीमांसायां द्रष्टव्यम्। —वही, पृ. 82.

206. चन्द्रालोक के तृतीय मयूख में वर्णित काव्यलक्षणों की इन अलंकारों से तुलना की जा सकती है, स्वरूप और उदाहरण में कोई भेद नहीं है।

207. आवृत्ति, मालादीपक, परिकरांकुर, प्रस्तुतांकुर, व्याजनिन्दा, असंभव, अल्प, विकस्वर, संभावना, मिथ्याध्यवसिति, रत्नावली, पूर्वरूप, उन्मीलित, विशेषक, आदि दीक्षित के नये अलंकारों को स्वयं निरूपित अलंकारों से गतार्थ किया है।

208. संसृष्टि संकरश्चैवमलंकारशतं मतम्। सा.सा. 8/325.

209. एते त्रिंशदलंकाराः निर्दिष्टा रसकोविदैः। सा.सा. 2/96.

210. आशीः संकीर्णमित्येवमलंकारैकविंशतिः। —1/20.

211. न च तदस्तिवस्तु किंचित् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति। ध्व., पृ. 526-27.

212. तस्मान्नतेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ। वही, पृ. 234.

213. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। भामह, 1/36 तथा 2/81-85.

214. भारतीय काव्यशास्त्र, अलंकार सिद्धान्त (शिवप्रसाद भारद्वाज), पृ. 80-85.

215. शिवप्रसाद भारद्वाज, वही, पृ. 85.

216. अनन्ताहि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः। ध्व., पृ. 505.

217. यहां सादृश्य का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। ग्रन्थ में अन्यत्र जहां कहीं भी सादृश्य का उल्लेख हुआ है, वह प्रायः साधर्म्य के लिये है, आचार्य परंपरा से उसे सादृश्य भी कह दिया गया है।

द्वितीय अध्याय

# अलंकार और अन्य प्रस्थान

राजशेखर ने 'काव्य' को पुरुष की संज्ञा प्रदान की है। शब्दार्थ ही उसका शरीर है।[1] संस्कृत काव्यशास्त्र के अधिकांश आलोचक शब्दार्थ प्रधान रचना को काव्य मानते हैं, पर जगन्नाथ प्रभृति कतिपय आचार्य शब्द-प्रधान रचना को काव्य स्वीकार करते हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्र में काव्य की दो प्रमुख धाराएँ प्रकट होती हैं: शब्दप्राधान्यपरक और शब्दार्थप्राधान्यपरक। ये दो धाराएँ वैदिक ऋषि के द्वारा भी पुष्ट की गई हैं। वाक् को ही समस्त विश्व की जननी कहा गया है।[2] भर्तृहरि के अनुसार शब्दतत्त्व ही अनादि, अनन्त, अव्यय और परमतत्त्व ब्रह्म है, सम्पूर्ण जगत् अर्थरूप में उसी का विवर्त है।[3] शब्दात्म वेद से ही समग्र शब्द और वाक्यप्रपंच का प्रादुर्भाव हुआ।

**'शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।**
**छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत।।'** वा.प., 1/20

इसका प्रभाव काव्यों तथा काव्य-लक्षणों पर भी पड़ा है तथा दंडी, जगन्नाथ प्रभृति विद्वानों ने क्रमशः 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्', 'रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दः काव्यम्' कहकर काव्य में शब्द को ही प्रधानता प्रदान की है।

उपनिषद् का 'रुद्रोऽर्थोऽक्षरस्सोमा' उद्घोष शब्दार्थ की प्रधानता का सूचक है। कविकुलगुरु कालिदास ने वाक् और अर्थ को[4] शिव और शक्ति की भांति परस्पर संश्लिष्ट माना है। नन्दिकेश्वर ने शिव और शक्ति के इस सनातन सम्बन्ध को चन्द्र, चन्द्रिका और वागर्थ के समान कहा है:

**'चन्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वत् यथा वागर्थयोरिव'**[5]

बाद में काव्य और काव्य-शास्त्र भी शब्दार्थसाहित्यप्रधानपरक मान्य हुए। कालिदास, माघ[6] का कथन तथा भामह प्रभृति का 'शब्दार्थो काव्यम्' इसी का उद्घोष है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यों और काव्यशास्त्रों पर दार्शनिक चिन्तन सरणि का प्रभाव पड़ा है। वस्तुतः किसी भी देश का साहित्य वहां

के धर्म और दर्शन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। भारत की भी साहित्यिक विचारधारा इससे अछूती नहीं है। भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों में कोई पदार्थ वैविध्य का विवेचन करता है तो कोई आत्मा और ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादित करता है। भारतीय ऋषि प्रारंभ में प्राकृतिक देवताओं का स्तवन किया करता था। क्रमशः आगे चलकर उसने देवों के स्थान पर एकेश्वरवाद को जन्म दिया और अन्ततः अपने को ईश्वर का ही एक अंश मानकर उससे ऐक्य स्थापित किया। भारत की इस धार्मिक तथा दार्शनिक विचारधारा को अनेकता में एकता तथा बाह्यवृत्तिता में अन्तःवृत्तिता का अनुसंधान कहा जा सकता है। यद्यपि दार्शनिकों की विवेचन पद्धति—पदार्थवाद (न्याय आदि), या ईश्वरवाद (वेदान्त आदि) भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु दोनों का लक्ष्य एक ही है, मोक्ष-प्राप्ति। ठीक यही बात काव्य तथा काव्य-शास्त्र पर भी लागू होती है। आदिकवि वाल्मीकि, कालिदास, व्यास, आदि 'रस समाहित-चेता' होने के कारण अन्तर्मुखी चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो भारवि, माघ, हर्ष, आदि काव्य-प्रधान होने के कारण बहिर्मुखी चेतना का। दार्शनिक तथा साहित्य-सर्जक की तरह साहित्यशास्त्री ने भी अलंकार, गुण, आदि काव्य को उपस्कृत करने वाले विविध बाह्य पदार्थों के विवेचन के बाद आत्मभूत 'ध्वनि' का विवेचन प्रस्तुत किया। वेदान्ती का ब्रह्म अनिर्वचनीय है, वाणी से वह अकथनीय है, भाषा उसका मात्र संकेत ही करती है। इसी प्रकार ध्वनि भी अनिर्वचनीय है। अभिधा से उसका अभिधान नहीं हो सकता, लक्षणा से वह लक्षित नहीं होता, वह ध्वनन, द्योतन, आदि व्यापाराश्रित है, वर्णन या अभिधान के नहीं।

काव्य का अपर अभिधान कवि-कर्म भी है। कवि यदि शिव है, तो काव्य उसका आभास। तात्पर्य यह कि कवि—स्रष्टा और काव्य तथा जगत् दोनों ही एक समान हैं। कवि की सुन्दर भावना का उन्मेष ही काव्य है। यही नहीं अपार काव्य-जगत् में कवि ही प्रजापति है—'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः'[7] इसी का उद्घोष है। इससे भी बढ़कर उसका वैशिष्ट्य यह है कि वह विश्व को जैसा चाहे वैसा निर्मित कर सकता है। उसकी वाणी नियति-नियमबद्ध नहीं है। कवि एक ऐसी शिवशक्ति है, जो बिना किसी उपादान कारण की अपेक्षा किये, बिना 'भित्तिका' आदि आधार के भी सृष्टि का विधान किया करती है।[8] कवि और शिव काव्य तथा जगत् का यह साम्य भी दार्शनिक चिन्तन पद्धति का ही प्रभाव है।

धर्म और दर्शन की भांति काव्यालोचन में भी चिन्तन की दो धाराएँ प्रकट होती हैं। एक की दृष्टि बहिर्मुखी है, तो दूसरे की अन्तर्मुखी। प्रथम की दृष्टि देव और ईश्वर की भांति काव्य के बाह्य तत्त्व गुण, अलंकार, वक्रोक्ति, आदि पर जमी

हुई है, तो दूसरे की अन्तस्तत्त्व ध्वनि, रस तथा औचित्य पर। प्रथम उपस्कारक या अलंकार का विवेचन करता है, तो द्वितीय उपस्कार्य या आत्मा का।

जैसा कि पहले अध्याय में कहा जा चुका है, वेद, वेदांग में किसी न किसी रूप में अलंकार शब्द का अभिधान पाया जाता है। गार्ग्य, यास्क, पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि सामान्य या पारिभाषिक अर्थ को लेकर उपमा का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। शिलालेख[9] आदि भी अलंकार की उत्पत्ति के मूल पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं। आगे चलकर राजशेखर ने तो अलंकार को वेद का सप्तम अंग[10] ही मान लिया। यह सब होते हुए भी वैदिक साहित्य से लेकर तब तक हम अलंकारों के शास्त्रीय ज्ञान से वंचित रह जाते हैं, जब तक भरत के नाट्यशास्त्र (तीसरी शती) तक नहीं पहुंच जाते। नाट्यशास्त्र में कहे गये चार अलंकार, लक्षण, गुण, दोष तथा रसों का महत्त्वपूर्ण विवेचन यह मानने को बाध्य करता है कि भरत से पूर्व भी अलंकार का उद्भव हो चुका था।

भामह से लेकर (षष्ठ शतक) जगन्नाथ (18वीं शती) तक लगभग 1200 वर्षों के सुदीर्घ काल में फैले हुए अलंकार शास्त्र के विवेचन को आधुनिक विद्वान् ध्वनि-आचार्य आनन्दवर्द्धन को विभाजक आधार मानकर तीन कालों में रखने के पक्षपाती हैं :[11]

(1) ध्वनिपूर्वकाल—भरत को छोड़ दें तो भामह (छठी शती) से आनन्दवर्द्धन (नवीं शती) तक।
(2) ध्वनिकाल—आनन्दवर्द्धन (नवीं शती) से लेकर मम्मट, रुय्यक, आदि (द्वादश शती) तक, तथा
(3) ध्वन्युत्तरकाल—रुय्यक आदि से लेकर जगन्नाथ (18वीं शती) तक।

आनन्द से पूर्व भामह, दंडी, उद्भट तथा वामन की अलंकार विवेचना मौलिक है। ध्वनिकाल में न केवल अलंकारों का स्वरूप निर्धारण और विकास ही हुआ, अपितु ध्वनिवाद के परिवेश में उसका स्थान भी नियत किया गया। बाद में जगन्नाथ तक अलंकारों के भेद या अभेद को लेकर उनकी संख्या घटाई या बढ़ाई गयी। वस्तुतः इस काल में अलंकार विशेष के लक्षण,-भेद, आदि को लेकर विवाद और संघर्ष ही अधिक रहा, मौलिक चिन्तन को कोई विशेष प्रश्रय नहीं दिया गया। पंडितराज जगन्नाथ इसके अपवाद कहे जा सकते हैं, जिन्होंने पूर्वापर सभी मतों की विवेचना तथा आलोचना करते हुए अपने अभीष्ट मत को भी सामने रखा है। उपर्युक्त विभाजन ऐतिहासिक दृष्टि मात्र को प्रस्तुत करता है, किन्तु इसमें वर्गीकरण

का कोई मौलिक आधार है, कहना कठिन है।

संस्कृत काव्यशास्त्र का संप्रदायानुसारी विभाजन भी किया जाता है। काव्यशास्त्र के छह[12] संप्रदाय माने जाते हैं—(1) रस संप्रदाय, (2) अलंकार संप्रदाय, (3) रीति संप्रदाय, (4) ध्वनि संप्रदाय, (5) वक्रोक्ति संप्रदाय, तथा (6) औचित्य संप्रदाय। यदि गुण को रीति से अलग कर दें, तो सातवां गुण संप्रदाय भी हो सकता है। इन छः संप्रदायों के प्रमुख आचार्य क्रमशः भरत, भामह-उद्भट, वामन, आनन्दवर्द्धन, कुन्तक तथा क्षेमेन्द्र माने जाते हैं।

रुय्यक के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन संप्रदायों का संकेत किया है। उनके अनुसार विशिष्ट शब्दार्थ ही काव्य है। शब्दार्थ की यह विशेषता प्रथमतः त्रिधा होती है—धर्म, व्यापार तथा व्यंग्य से। धर्म अलंकार और गुण भेद से द्विधा होता है। दूसरा व्यापार भी, भणिति वैचित्र्य तथा भोगकृत्व रूप से द्विधा होता है। इन पांचों में प्रथम को उद्भट आदि ने स्वीकार किया है, द्वितीय को वामन ने, तृतीय को कुन्तक ने, चतुर्थ को भट्टनायक ने और पंचम को आनन्दवर्द्धन ने। तात्पर्य यह कि ये क्रमशः अलंकार,[13] गुण, वक्रोक्ति, रस तथा ध्वनि की ओर संकेत करते हैं। परन्तु समुद्रबन्ध का यह विभाजन सदोष प्रतीत होता है। विभाजन के त्रिधा आधारों में दो, व्यापार-मूल तथा व्यंग्यमूल हैं। भोग व्यापार तथा भणिति व्यापार सभी व्यंग्य रूप व्यापार हैं। अतः इन्हें व्यंग्य से पृथक् नहीं माना जा सकता। अलंकार प्रजापति भामह की वक्रोक्ति[14] को ही कुन्तक ने सम्प्रदाय का स्वरूप प्रदान किया है तो फिर इसे अलंकार पक्ष से पृथक् क्यों माना जाये? इसी तरह से भट्टनायक का भोग व्यापार 'भरत' प्रतिपादित रस ही है। सदोष होते हुए भी समुद्रबन्ध का यह विभाजन बहुत ही महत्त्व का है। इन उक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त महिमभट्ट का 'अनुमिति' सम्प्रदाय भी कम महत्त्व नहीं रखता, किन्तु उसका यह अभाग्य ही कहा जायेगा कि उसे वह मान्यता नहीं प्राप्त हो सकी, जो कुन्तक के वक्रोक्ति संप्रदाय को।

वस्तुतः पश्चिमी साहित्यालोचन सिद्धान्त के आधार पर सम्प्रदायगत यह विभाजन भ्रान्ति को जन्म देता है। आधुनातन विद्वान् सम्प्रदाय को 'स्कूल' के नाम से पुकारता है। इससे आपाततः यही प्रतीत होता है कि ये सभी सम्प्रदाय परस्पर विरोधी हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः ये सभी सम्प्रदाय एक-दूसरे के इतने समीप और परस्पर पूरक हैं कि कभी-कभी तो इन्हें पृथक् बताना ही कठिन हो जाता है। यह बात और है कि कोई अलंकार को अधिक महत्त्व देता है, तो कोई ध्वनि को। भामह आदि आलंकारिक जहां अलंकारों का विवेचन करते हैं, वही

वे रसादि को भूल नहीं जाते। यह ठीक है कि वे उन्हें ध्वनिवादी की तरह नहीं मानते थे, अलंकार ही कहा करते थे। इसी प्रकार ध्वनिवादी, आनन्दवर्द्धन, मम्मट, आदि आचार्य ध्वनि को भले ही काव्य की आत्मा मानकर उसे ही प्रधान मानते हैं, किन्तु उन्होंने अलंकार गुण आदि का न केवल विवेचन ही किया, अपितु उनको और भी परिष्कृत किया है। रस-सम्प्रदाय और ध्वनि संप्रदाय को तो पृथक् मानना ही नहीं चाहिये। ध्वनि संप्रदाय व्यापक है, रस संप्रदाय अव्यापक। किन्तु प्रधानध्वनि रस ही माना गया है। वस्तुतः सर्वथा व्यंग्य रहने वाला रस, ध्वनिवाद में और भी परिष्कृत और स्थिर किया गया। रस तो सदैव व्यंग्य होता है, किन्तु वस्तु और अलंकार की व्यंग्यता भी ध्वनिवादी मानता है। वस्तुतः रसनीयता का सम्बन्ध केवल रस से है, किन्तु वस्तु और अलंकार में भी रसाभासवत्ता[15] तो रहती ही है। स्वतः नीरस भी पद्य रसवान् प्रबन्ध के अन्तर्गत होने से रससिक्त[16] हो जाते हैं। वस्तुतः ध्वनि में रस की इतनी प्रधानता है कि ध्वनि, रस और रस, ध्वनि का विलगाव कठिन है।

इसी प्रकार औचित्य सिद्धान्त भी रस-सिद्धान्त से अभिन्न-सा है। रससिद्ध[17] काव्य का औचित्य स्थिर जीवन है। तात्पर्य यह कि रस उपस्कार्य है और औचित्य उसे परिपुष्ट करता है। इस प्रकार औचित्यवादी, ध्वनि तथा रसवादी, तीनों ही अलंकार्य का विवेचन करते हैं। उनकी दृष्टि अलंकार्य रस पर ही टिकी हुई है। इनका पृथक् विवेचन भ्रान्ति को उत्पन्न करता है।

अलंकार, रीति और वक्रोक्ति संप्रदाय को भी इसी दृष्टि से ग्रहण करना चाहिये। भामह, उद्भट, आदि शब्दार्थ शरीर को ही अलंकार्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में रस, भाव, अलंकार, आदि सभी शब्दार्थ को ही अलंकृत करते हैं। वामन के अनुसार काव्य की आत्मा 'रीति' है। विशिष्ट पदरचना रीति मानी गयी है। यह पदरचना शब्द या शब्दार्थ से पृथक् हो नहीं सकती। इससे यही स्पष्ट होता है कि वामन के अनुसार भी शब्दार्थ ही अलंकार्य है। श्लेष आदि दश गुण शब्द और अर्थ के ही होते हैं। वामन ने 'कांति' नामक गुण की परिभाषा 'दीप्तरसत्वं'[18] किया है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि वामन की दृष्टि में रसादि भी शब्दार्थ के गुण हैं, वे अलंकार्य नहीं हो सकते। गुण सौन्दर्य है और सौन्दर्य ही अलंकार।[19] अन्ततः उक्त प्रकार से वामन भी अलंकार संप्रदायवादी ही ठहरते हैं, जो विशिष्ट पद रचना, या शब्दार्थ को ही अलंकार्य मानते हैं और काव्य के अन्य तत्त्व रसभावादि को अलंकार।

वक्रोक्ति संप्रदाय भी अलंकार संप्रदाय से भिन्न नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि

से भामह प्रोक्त अतिशयोक्ति (वक्रोक्ति) को ही कुन्तक काव्य के व्यापक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। विचित्र कथन ही वक्रोक्ति है। वह शब्दार्थ का अलंकार है। इस प्रकार कुन्तक भी अलंकारवादी ही प्रतीत होते हैं। कुन्तक ने षट्प्रकार की वक्रता में, समग्र अलंकार, गुण, रीति तथा ध्वनि के समग्र भेदों को अन्तर्भूत कर लिया है। इस प्रकार भामह सम्मत अलंकार वामन सम्मत रीति (गुण), कुन्तक सम्मत वक्रोक्ति सभी अलंकार है, अलंकार्य नहीं। अलंकार्य तो शब्दार्थ ही हैं। वही काव्य शरीर है, परन्तु आत्मा कोई नहीं। दूसरी ओर ध्वनिवादी है, जो शब्दार्थ को शरीरमात्र मानता है, अलंकार्य नहीं। उनके यहां तो अलंकार्य व्यंग्यत्रयी 'आत्मा' है। यहां गुणालंकार का निरूपण रस को ध्यान में रखकर किया जाता है। क्योंकि इनकी दृष्टि रस की ओर ही अधिक उन्मुख है, अतः गुण और अलंकार दोनों ही 'तर-तम' भाव से रस के उपस्कारक हैं। इस दृष्टि से ध्वनिवाद में, गुण और अलंकार में कोई मौलिक भेद नहीं है। ध्वनिवादी की दृष्टि काव्य के अन्तस्तत्त्व पर जमी हुई है, बहिस्तत्त्व पर नहीं। अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति संप्रदाय का साहित्यालोचक बहिर्मुखी चेतना का है, तो रस, ध्वनि औचित्य का अन्तर्मुखी चेतना का।

अनुमितिवादी महिमभट्ट रस को काव्य की आत्मा तो मानते[20] हैं, किन्तु उसकी प्रतीति वे व्यंजनावृत्ति से न मानकर अनुमिति प्रक्रिया द्वारा मानते हैं। वस्तुतः उनके यहां अर्थ द्विधा[21] होता है, वाच्य और अनुमेय। वाच्य, मुख्य अभिधा व्यापार का विषय है और अनुमेय ही ध्वनिवादी के व्यंजना व्यापार का। महिमभट्ट भी अलंकारों को भंगीभणिति[22] ही स्वीकारते हैं, किन्तु शुष्क तर्क के अतिरिक्त प्रबल ध्वनि-सिद्धान्त के आगे उनका अनुमितिवाद तो कहीं-कहीं बिल्कुल ध्वनिवाद-सा जान पड़ता है। वस्तुतः महिमभट्ट को भी अभिधावादी भामह, कुन्तक, आदि की श्रेणी में ही रखना उपयुक्त होगा।

इस प्रकार उक्त आधारों पर काव्य का दो ही संविभाग बनता है, जो समस्त साहित्यालोचन में व्याप्त है, वह है ध्वनि और अलंकार। प्रकृत अध्याय में इन्हीं दो आधारों पर अलंकारस्वरूपविवेचन तथा अलंकार से अन्य संप्रदायों का सम्बन्ध निरूपण ही अभीष्ट है।

अलंकार प्रजापति[23] भामह अलंकार संप्रदाय के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। भामह की दृष्टि में शब्द और अर्थ का साहित्य ही काव्य है।[24] यहां सामान्य शब्द और अर्थ का ग्रहण अभिप्रेत न होकर शब्दार्थ से विशिष्ट शब्द,[25] अर्थ को ही ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार न केवल कविकौशल कल्पित कमनीयातिशय

शब्द ही काव्य है, और न रचना-चमत्कारकारी केवल अर्थ। अपितु दोनों का समान रूप से साहित्य ही काव्य है।[26] अलंकारवादियों के मतानुसार शब्दार्थ को अलंकृत करने वाले तत्त्व अलंकार कहे जाते हैं। 'अलंकार' शब्द में दो पद पाये जाते हैं—अलम् और कार। अलम् अव्यय है, जिसका अर्थ यहां भूषण है। 'कार' में करणार्थक कृ धातु और घञ् प्रत्यय का विधान है। घञ् भाव और करण दोनों ही अर्थों में होता है। 'अलंकृतिरलंकारः'[27] इस प्रकार भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होने वाला 'अलंकार' शब्द दोष-हान और गुणालंकार के आदान (ग्रहण) का वाचक[28] है। अतएव भावार्थ अलंकार शब्द गुणदोषादि समग्र काव्य-अर्थ में गृहीत होता है। 'अलंक्रियतेऽनेन' इस प्रकार की करणार्थक व्युत्पत्ति शब्द और अर्थ को सुशोभित करने वाले अर्थ में गृहीत होती है। इसके अनुसार गुणों की काव्य के प्रति कोई भी हेतुता नहीं रह जाती। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' में बहुल ग्रहण से करणार्थ में घञ्[29] प्रत्यय करने पर अलंकार शब्द शिष्टप्रयोगात् कटक-मुकुटादि की भांति यमकोपमादि में[30] गृहीत होता है। पुनश्च यदि ऐसा माने कि करण-साधन अलंकार शब्द यमकोपमादि का वाचक होते हुए भी गुणों को ग्रहण कर लेता है, क्योंकि दोनों में ही हेतुता सौन्दर्य की ही होती है, तो यह अनुचित है। केवल व्युत्पत्ति होने के कारण ही शब्द का सर्वत्र प्रयोग होगा, यह कोई युक्ति नहीं है। समुचित प्रयोग होने पर ही व्युत्पत्ति का औचित्य माना जा सकता है। अन्यथा, यदि व्युत्पत्ति को ही अर्थ का आधार माना जाये तब तो पंकज आदि शब्दों का प्रयोग पद्मादि की भांति कुमुदादि में भी होने लगेगा, क्योंकि पंक से उत्पत्तिरूप वैशिष्ट्य दोनों में समान है। अस्तु। जैसे पंकजादि पद्मादि में ही गृहीत होते हैं, न कि कुमुदादि में, उसी प्रकार अलंकार शब्द भी कटक, कुंडल केयूरादि की भांति यमक, उपमा, आदि अलंकारों में योगरूढ़ हैं। यदि करण साधन अलंकार शब्द यमक उपमादि में रूढ़ माना जायेगा तो काव्य सालंकार ही होंगे, गुणों का ग्रहण नहीं हो सकेगा? इस प्रकार की शंका निराधार है, क्योंकि अलंकार की अनुपलब्धि में भी शुद्धगुण वाला काव्य आस्वाद्य होता ही है। काव्य में दोष, गुण का हान और उपादान नियमतः किया जाता है। किन्तु अलंकार[31] के विषय में कामचार है। अतएव भावसाधन अलंकार शब्द काव्य का और करणसाधन अलंकार शब्द यमकोपमादि अलंकारों का वाचक है। इस प्रकार अलंकार का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ हुआ सुशोभित या अलंकृत करना।

अलंकार स्वरूप निर्धारण करने वाले सर्वप्रथम आचार्य भामह हैं। भामह की दृष्टि मौलिक है। भामह प्रोक्त रामशर्मा, अच्युत, मेधावी प्रभृति आचार्यों के ग्रन्थ अलभ्य हैं। यद्यपि इन आचार्यों के मतों का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता, किन्तु

निश्चित ही भामह को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से अवश्य ही दृष्टि मिली रही होगी। उनके अनुसार वक्र शब्द और अर्थ का अभिधान ही अलंकार है।[32] वक्रता, सौन्दर्य, विच्छित्ति, शोभा, आदि एक ही सौन्दर्यतत्त्व के विभिन्न अभिधान हैं। उनके अनुसार सर्वालंकार प्राणभूत वक्रोक्ति ही काव्य का सर्वस्व है। लोक सीमा का अतिक्रमण करने वाली अपूर्व वाणी का प्रयोग ही अतिशयोक्ति (वक्रोक्ति) है। वक्रता के अभाव के कारण 'सूर्य डूब गया', 'चन्द्र उदित हो रहा है' इस प्रकार का स्वभाव वर्णन उनके मत में वार्तामात्र है, काव्य नहीं।[33] वक्रोक्ति ही काव्य का उत्तम भूषण है। वह सभी अलंकारों में सामान्य रूप से स्थित है।[34] वक्रोक्ति से ही अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। इसके बिना काव्य अकाव्य हो जाता है। काव्य जगत् में इसी का सर्वत्र साम्राज्य है। चारुत्व विधान की समस्त प्रक्रिया ही अलंकार है। भामह को शब्द तथा अर्थ दोनों प्रकार के अलंकार अभीष्ट हैं।[35] चाहे प्रकृत कितना ही मनोहारी क्यों न हो, भूषण या अलंकार के बिना काव्य में चमत्कार का आधान नहीं होता, बिना अलंकार के कामिनी मुख-मंडल की शोभा नहीं बढ़ती। सौन्दर्य का विधान ही कवि-प्रतिभा का चमत्कार है। यही अलंकृति है, जो प्रकृति मनोहर तथा स्वभाव-सुन्दर भी नारी को सुवर्णालंकार की भांति स्वभाव सुन्दर भी प्रकृत को परिपुष्ट तथा सुशोभित करती है।[36] इस प्रकार सुशोभित कविगिरा नितरां सौन्दर्यमयी बन जाती है। यही सौन्दर्य या अलंकार काव्य का सर्वस्व है। इसी अलंकार के परिवेश में ही वह रसादि को भी अन्तर्भूत कर लेते हैं।[37] भामह के अनुसार रसयुक्त भी अपेशल काव्य हृदयावर्जक नहीं होता।[38]

भामह ने तीन गुणों और दो वृत्तियों का उल्लेख किया है।[39] लाटीयावृत्तिको वे अनुप्रास अलंकार का भेद मानते हैं। किन्तु उनकी दृष्टि से गुण और अलंकार में कोई भेद-प्रतिपादन नहीं किया गया है।

दंडी भी अलंकारवादी आचार्य हैं। उनके अनुसार विचित्र मार्ग का निबन्धन क्रियाविधि का लक्ष्य है।[40] यहां क्रिया-विधि काव्यकरण का तथा विचित्र शब्द, शब्द और अर्थ के नाना अलंकारों का संकेत करता है।[41] दंडी की दृष्टि से काव्य के शोभाकारी समस्त धर्म अलंकार हैं।[42] अलंकृत, लोकरंजक तथा विभिन्न वृत्तान्तों से युक्त काव्य कल्पान्तर स्थायी होता है।[43] अलंकारादि समस्त शोभाधायक तत्त्व काव्यशरीर को उपस्कृत करते हैं। शरीर है, इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।[44] और यह पदावली शब्द-अर्थ से भिन्न नहीं है। इस प्रकार दंडी की दृष्टि से भी शब्दार्थ ही अलंकार्य हैं। रस दंडी को मान्य न हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु रस की स्थिति वे माधुर्य गुण में मानते हैं, जिससे मधु पर मधुकर की भांति विद्वज्जन[45] मत्त हो

उठते हैं। प्रायः सभी अलंकार अर्थ में रस का निषेचन करते हैं।[46] इस प्रकार दंडी को रस तो अभिप्रेत अवश्य है, किन्तु वह एकान्त मधुर ही है। अर्थात्[47] वह माधुर्य गुण से भिन्न नहीं है। उन्हें अग्राम्य अर्थ ही रसावह है[48] और अग्राम्य तथा स्वभाव कथन ही स्वाभावोक्ति अलंकार है। जहां भामह स्वभावोक्ति को वार्तामात्र कहकर अनादृत कर देते हैं, वहीं दंडी उसे काव्य का उत्तम भूषण और 'प्रथमा अलंकृतिः' मानते हैं। भामह की वक्रोक्ति को दंडी ने भी काव्य में उचित स्थान प्रदान किया है, किन्तु उसकी सीमा भामह की अपेक्षा दंडी ने कम कर दी है। वह वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति को ही आधार मानकर वाङ्मय का द्विधा विभाजन करते हैं तथा समस्त वक्रोक्ति के मूल में श्लेष को पोषक-तत्त्व स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत भामह की वक्रोक्ति शुद्ध रूप में समस्त अलंकारों के मूल में अवस्थित रहती है। यही कारण है कि भामह द्वारा निषिद्ध हेतु, सूक्ष्म तथा लेश अलंकार दंडी की दृष्टि में न केवल अलंकार हैं अपितु वे वाणी के उत्तम[49] भूषण हैं। यही नहीं दंडी अलंकार के ही अन्तर्गत सन्धि, सन्ध्यंग, वृत्यंग, रस, गुण, आदि समस्त काव्य तत्त्व को अन्तर्भूत कर लेते हैं।[50] परन्तु यहां यह न समझना चाहिये कि दंडी किसी नये सिद्धान्त का स्थापन कर रहे हैं, अपितु इसे तो भामहादि प्राचीन आचार्यों ने प्रतिपादित कर दिया था।[51] इस प्रकार भामह तथा दंडी दोनों ही शब्दार्थ को अलंकार्य और रस, गुण, अलंकार, आदि को अलंकार मानते हैं। अभिनव भारती के रचनाकार ने इसे स्पष्ट भी किया है:

'दण्डिनाऽपि काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान्प्रचक्षते' इति ब्रुवता गुणमध्य एव तत्र प्रसादादीनमिदधता च गुणालंकारविभागोऽप्यसंभवीति सूचितं भवति।'[52]

उद्भट (नवीं शती का प्रारंभ)[53] ने भी भामहादि की तरह रसादि को अलंकार में निक्षिप्त कर अलंकार सम्प्रदाय की मान्यता को पुनरुज्जीवित किया है। अलंकार सार संग्रह[54] के अतिरिक्त उनका भामह विवरण, नाट्यशास्त्र[55] की टीका, तथा कुमारसंभव काव्य में कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतएव उद्भट के मत को जानने के लिये हमें यत्र-तत्र दिये गये उनके मतों का ही सहारा लेना पड़ता है। भामह, दंडी ने गुणालंकार का कोई स्पष्ट विभाग नहीं किया था।

उद्भट के अनुसार गुण और अलंकार में कोई भेद नहीं है। काव्य में उनका भेद मानना अन्ध-परंपरामात्र है, क्योंकि गुण और अलंकार दोनों ही शब्दार्थ में समवाय वृत्ति से रहते हैं।[56] उद्भट गुण को संघटनाश्रित तथा अलंकार को शब्दार्थाश्रित मानते हैं।[57] चारुत्व द्विधा होता है: स्वरूपमात्र-निष्ठ और संघटनाश्रित। शब्दों की स्वरूपमात्र-निष्ठ चारुता शब्दालंकार से तथा संघटनाश्रित

चारुता शब्द गुणों से होती है। इसी प्रकार अर्थों की स्वरूपमात्र-निष्ठ चारुता अर्थालंकारों से तथा संघटनाश्रित चारुता अर्थगुणों से संभव है।[58] इस प्रकार गुण संघटनाश्रित हैं तो अलंकार शब्दार्थाश्रित। तात्पर्य यह कि विषय और आश्रय मात्र का भेद है, अन्यथा गुणालंकार में इनके भी मत से कोई तात्त्विक विभेद[59] नहीं है।

उद्भट के टीकाकार इन्दुराज ने 'काव्यलिंग' अलंकार के परिवेश में गुणालंकार पर पूर्वापर आचार्यों के मतों का विवेचन किया है। गुणसंस्कृत शब्दार्थ-शरीर होने से काव्य सरस ही होता है, नीरस नहीं। गुण माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन हैं, उनमें प्रसाद ही प्रधान है। उनका कहना है कि केवल गुण की ही स्थिति यदि काव्य में स्वीकार कर ली जाये तब तो अलंकारों की उपयोगिता ही व्यर्थ हो जायेगी। लौकिक अलंकार की तरह गुण से सुन्दर काव्य में अलंकार शोभातिशय का विधान करते हैं। जिस प्रकार गुण से संस्कृत, सुशोभित युवती के शरीर में निबध्यमान अलंकारों की अलंकारता है, उसी प्रकार गुणयुक्त काव्य में अलंकारों की। उनकी दृष्टि से निर्गुण काव्य में अलंकार का संयोजन गुण के समान सौन्दर्य सर्जन नहीं कर सकता। वृद्धा स्त्री में अलंकारों का संविधान शोभा-विधायक नहीं होता। प्रत्युत उन अलंकारों का सौभाग्य भी विनष्ट हो जाता है। इसी प्रकार काव्यालंकारों का भी निर्गुण काव्य में संविधान न केवल शोभा का अनुत्पादक होता है, अपितु उसकी सौन्दर्य-छटा भी व्यर्थ हो जाती है।[60] इसलिये अलंकार अनित्य हैं, गुण नित्य। गुण रहित काव्य अकाव्य ही रह जाता है, न कि अलंकार रहित। अलंकाररहित भी गुणयुक्त अमरुक के रसनिष्यन्दी श्लोक सहृदय हृदय को बलात् आकर्षित कर लेते हैं। आगे उन्होंने रस को आत्मभूत मानते हुए भी उसे प्रसाद गुण से अभिव्यक्त मानकर पूर्वाचार्यों के मतों का ही अनुगमन किया है। इस प्रकार इन्दुराज भी भामहादि के ही अनुयायी हैं।[61]

वामन (नवीं शती)[62] ही सर्वप्रथम ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने काव्यात्मा[63] के अनुसंधान का प्रथम प्रयास किया है। यही नहीं गुणालंकार के भेद का प्रतिपादन भी उन्होंने ही पहले किया। उनके अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है।[64] रीति विशिष्टपदरचना को कहा जाता है।[65] गुण ही विशेष है।[66] पदरचना का विशेष शब्दार्थ से भिन्न नहीं हो सकता। वामन के मत को स्पष्ट करते हुए कामधेनु में कहा गया है कि शब्दार्थ-युगल का शरीरत्व औपचारिक है।[67] अलंकार का लक्षण करते हुए वामन का कथन है कि काव्य अलंकार-ग्रहण से उपादेय होता है।[68] गुणालंकार से ही संस्कृत काव्य का उपादान करना चाहिये। यद्यपि काव्य शब्द स्वभावतया गुणालंकार-संस्कृत शब्दार्थ को ही अभिव्यक्त करता है, तथापि उपचार

से शब्दार्थ का भी ग्रहण किया जाता है।[69] तात्पर्य यह कि शब्दार्थ को ही अलंकृत किया जाता है। संस्कृत का अर्थ यहां अलंकृत है। सौन्दर्य में एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है और वामन के अनुसार सौन्दर्य[70] ही अलंकार है। यहां अलंकार विधान भावात्मक तथा अभावात्मक दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रथम स्थिति में दोषों की परिहार्यता तथा द्वितीय में गुणालंकार का उपादान विवक्षित है। विच्छित्ति तथा सौन्दर्याधायक तत्त्व होने के कारण अलंकार में स्वभावतया गुण का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार वामन की अलंकार परिभाषा भी दंडी से मिलती-जुलती है।[71] यद्यपि गुण तथा अलंकार दोनों से ही काव्य में सौन्दर्य-विधान संभव है, किन्तु यौवन की भांति गुण अन्तरंग,[72] नित्य[73] तथा शोभा[74] के उपपादक धर्म हैं। तात्पर्य यह कि केवल उनकी स्थिति से भी काव्य में सौन्दर्य का संपादन संभव है, किन्तु अलंकार की स्थिति उनसे भिन्न है। वे अनित्य, बाह्य तथा काव्यशोभा में अतिशयिता को ला देते हैं।[75] केवल उनकी स्थिति से काव्य में शोभा या सौन्दर्य असंभव है।[76] जैसा कि कहा गया है, गुण बिना अलंकार के भी सौन्दर्य-संपादन कर सकते हैं। इस प्रकार वामन की दृष्टि में अलंकार का क्षेत्र गुण की अपेक्षा संकुचित हो गया है। कहा जा सकता है कि गुण यदि काव्य का सौन्दर्य है तो अलंकार उक्ति की मात्रविदग्धता। काव्य एक चित्र है, उसमें रीति रेखायें हैं, और अलंकार रंग, जो रेखा के सोन्दर्य में निखार ला देता है। गुण यौवन है, तो अलंकार कुसुम और कुंकुम। एक अन्तरंग धर्म है, दूसरा बहिरंग, पर आत्मा कोई भी नहीं है। अतएव वामन भी अलंकार के ही आचार्य कहे जा सकते हैं।

भामहोक्त वक्रोक्ति—जो अलंकार सामान्य है, वामन के यहां अलंकारमात्र[77] रह गयी है। वस्तुतः गुण और वक्रोक्ति दोनों ही गुणात्मा रीति में अन्तर्भूत हैं। रीति को उपस्कार्य या आत्मा मानना वामन का उचित प्रतीत नहीं होता। गुण (गुणात्मा रीति) को उपस्कार्य तथा उपमादि को उपस्कारक कहना कहां तक ठीक है, यह विद्ववज्जन ही समझ सकते हैं। विशेषकर उस समय जब गुण (रीति) और अलंकार सौन्दर्य रूप एक ही तत्त्व के दो अभिधान हों तो परस्पर उपस्कार्य तथा उपस्कारक मानना और भी असंगत है। और यदि गुण को उपस्कार्य मानते हैं, तो यह भी तर्क दिया जा सकता है कि तत्समकक्ष अलंकार को भी क्यों न उपस्कार्य कहें :

> **'अभिन्नकक्ष्याणां ह्युपस्कार्योपस्कारकत्वस्यानुपपत्तेः। तथात्वे चालंकाराणामपि गुणोपस्कार्यत्वं प्रसज्येत समानन्यायत्वात्।'** वि., पृ. 9.

यही नहीं विद्याचक्रवर्ती तो गुणात्मा रीति को अलंकार से भी निम्न श्रेणी में रखते

हैं। उनके अनुसार रीति का स्थान अनुप्रास से अधिक महत्त्व का नहीं। क्योंकि शब्दालंकार से भी बाह्य वर्णानुप्रास के समान ही ये रीतियां हैं :

(क) शब्दालंकारेभ्योऽपि यो वर्णालंकारोऽनुप्रासस्तत्समकक्ष्यका एता रीतयः। यतो द्वयोरपिवर्णधर्मता। —संजी., पृ. 9

(ख) शब्दालंकारेभ्योऽपि यो बहिरंगो वृत्यनुप्रासात्मा वर्णालंकारः तद्धर्मत्वात् तच्छेषभूता एताः। —वही, पृ. 29.

इससे स्पष्ट है कि वामन का रीतिवाद भी अलंकार सम्प्रदाय से भिन्न नहीं है। वामन ने रस-विवेचन नहीं किया है। दश अर्थ गुणों में कान्तिनामक गुण का लक्षण वह करते हैं, 'दीप्तरसत्वं कान्तिः'[78] अर्थात् विभावानुभाव व्यभिचारी से अभिव्यक्त जहां श्रृंगारादि रस स्फुट हों,[79] वह कान्ति नामक गुण है। इस प्रकार वामन के यहां भी रस गुणालंकार से अतिरिक्त नहीं है।

रुद्रट (नवम शती) तक काव्यशास्त्र पर नाटकों का काफी प्रभाव पड़ चुका था तथा ध्वनि का उन्मीलन भी होने लगा था। फिर तो इस प्रभाव से रुद्रट भी कैसे बच सकते थे। परिणामस्वरूप, गुण, अलंकार, रीति, आदि का विवेचन करते हुए रुद्रट ने रसादि का भी विवेचन अपने ग्रन्थ (काव्यालंकार) में किया है। इतना होते हुए भी रुद्रट चाहे कितना ही रस के प्रति अपना आग्रह[80] रखें और नवीन[81] रसों का विवेचन भी करें, किन्तु उन्हें अलंकारवादी ही कहना अधिक समीचीन होगा, क्योंकि अलंकार का उन्होंने जितना सविस्तार विवेचन किया है, उतना काव्य के अन्य तत्त्वों का नहीं। उनके ग्रन्थ का नाम भी अलंकार के प्रति उनके आग्रह का सूचक है। अलंकार विधा में वह रसादि का समावेश करते हैं तथा काव्य का परमसार[82] 'अलंकार' को ही मानते हैं। अतः उन्हें समन्वयवादी[83] कहना, जैसा कि डॉ. शंकरन् का मत है, उपयुक्त नहीं जान पड़ता। हाँ, संग्रह की वह प्रवृत्ति जो मम्मट में देखी जाती है, रुद्रट में अवश्य ही माननी पड़ेगी। रुद्रट के अनुसार उसी शब्द का विधान करना चाहिये जो रचना में चारुता की अभिवृद्धि[84] करे। सुधी को अन्यूनाधिक, वाचक, क्रमयुक्त, पुष्टार्थक, चारुपदवाले परिपूर्ण अर्थनिर्भर वाक्य का प्रयोग करना चाहिये।[85] रुद्रट ने अलंकार का कोई लक्षण नहीं किया है। उनका कहना है कि काव्य को अलंकृत करने के लिये कवि को समुचित बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है।[86] जाज्वल्यमान, उज्ज्वल वाक् युक्त, सरस काव्य करता हुआ[87] महाकवि आकल्प अनल्प यश का भागी होता है। जाज्वल्यमान का अर्थ यहां नमिसाधु ने 'अलंकार योगाद्देदीप्यमानः'[88] किया है। इस प्रकार रुद्रट को भी

काव्य में अलंकार की प्रधानता ही मान्य है।

उस समय तक ध्वनि का उन्मीलन आरंभ हो चुका था तथा प्रतीयमानगर्भ अलंकारों की रचना भी की जाने लगी थी।[89] ध्वनि के बढ़ते हुए इस प्रभाव को ही कम करने के लिये रुद्रट ने पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा जैसे व्यंग्यप्रधान अलंकारों का प्रादुर्भाव किया। इस प्रकार रस, वस्तु, अलंकार सभी को अलंकार-प्रक्रिया में बांधने का प्रयास किया।

रुद्रट से भिन्न किसी रुद्रभट्ट नामक आचार्य का यद्यपि कोई ग्रन्थ समुपलब्ध नहीं होता, फिर भी उनके नाम से अलंकार का स्वरूप विद्यानाथ तथा नरसिंह (अभिनव कालिदास) कवि उद्धृत करते हैं। रुद्रभट्ट के अनुसार काव्यशोभा हेतु अलंकार हैं, और तद्वत् ही स्थिति गुणों की भी है।[90]

काव्य मीमांसा में राजशेखर ने शब्दार्थ को शरीर, रस को आत्मा तथा अनुप्रासोपमादि को अलंकार कहा है :

**'शब्दार्थो ते शरीरं .......... रस आत्मा .......... अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति।'** का.मी., अ. 3, पृ. 4.

कुन्तक भी (10वीं शती का मध्य) अलंकारवादी आचार्य हैं। अतएव कालक्रम का व्यतिक्रम करके ध्वनिकार से पूर्व कुन्तक-मत का विवेचन अधिक समीचीन होगा। कुन्तक ध्वनि-विरोधी और अभिधावादी हैं। सालंकार शब्दार्थ का साहित्य ही उनके मत से काव्य है। वक्रोक्ति ही अलंकार है। शब्दार्थ अलंकार्य हैं, वक्रोक्ति उन्हें अलंकृत करती है। वक्रोक्ति वैदग्ध्यभंगीभणिति है। वर्णवक्रता तथा वाक्य-वक्रता में समग्र अलंकार वर्ग का अन्तर्भाव हो जाता है। अलंकार से काव्य में लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि हो जाती है।[91] अलंकार शब्द शरीर की अतिशय शोभावर्द्धन करने के कारण मुख्यतया कटक आदि लौकिक अलंकारों में गृहीत होता है, तद्वत् काव्य में शोभाधायक होने से उपचार रूप में उपमादि में गृहीत होता है, तत्सदृश होने के कारण गुणादि का भी उसी से ग्रहण होता है।[92] इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि में गुणालंकार में कोई भेद नहीं है। दंडी प्रभृति आचार्य भी तो यही मानते हैं।

कुन्तक-अभिमत 'अलंक्रियते यया' अलंकृति की यह व्युत्पत्ति भाव साधन होने से गुणालंकार दोनों का ही परिग्रह कर लेती है। 'सालंकारस्य काव्यता' का भी यही तात्पर्य है कि अलंकृत करने वाली समस्त विधा ही अलंकार है। लोक में हारादि अलंकारों का कंठ आदि से संयोग सम्बन्ध रहता है, किन्तु काव्य की

स्थिति भिन्न है। कुन्तक के अनुसार अलंकारों की सत्ता शब्द और अर्थ से भिन्न नहीं है। शब्दार्थ ही अलंकारों के स्वरूप हैं और इसी रूप में उनकी अभिव्यक्ति होती है। अतएव उन्हें बहिरंग भी नहीं माना जा सकता। बहिरंग तब कहा जा सकता था जब वे शब्दार्थ से भिन्न होते। वस्तुतः अलंकार काव्य में कहीं से लाकर जुड़ते नहीं, अपितु अलंकार के रूप में ही काव्य की अभिव्यक्ति होती है।[93] एतदर्थ चारुत्व आवश्यक है।

जैसा कि कहा जा चुका है, कुन्तक के अनुसार शब्दार्थ ही अलंकार्य है। उन्हें उपस्कृत करने वाले तत्त्व अलंकार कहे जाते हैं। विदग्धभंगीभणिति वक्रोक्ति, प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकी विचित्र ही अभिधा है।[94] भामह की वक्रोक्ति को ही कुन्तक के यहां सम्प्रदाय का स्वरूप प्राप्त हो गया है। ध्वनि का प्रतिद्वन्द्वीभूत व्यापक वक्रोक्ति रस, ध्वनि, गुणालंकार, रीति सभी को अपने में समाहित कर लेती है। स्वभावोक्ति, जिसकी अलंकारता भामह को भी अमान्य है, का खण्डन कुन्तक की भामहानुसारी वृत्ति का द्योतक है। उनका अभिमत है कि स्वभाव से व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि वर्ण्य स्वभाव ही अलंकार बन जायेगा, तो अलंकार्य किसे माना जायेगा? वर्ण्य वस्तु ही शरीर है, वही अलंकार्य है, विभूषित करने योग्य है। अलंकार्य अलंकार नहीं हो सकता, शरीर स्वयं को विभूषित नहीं करता, शरीर ही स्वयं अपने स्कन्ध पर आरूढ़ नहीं होता।[95] यदि स्वभावोक्ति को अलंकार मानेंगे तो दो ही स्थिति होगी, या तो अन्य अलंकार से उसका भेद-ज्ञान प्रकट होगा अथवा अप्रकट। यदि स्पष्ट होगा तो संसृष्टि हो जायेगी और अस्पष्ट होने पर संकर। इस प्रकार स्वतंत्र अलंकार का विषय ही विलुप्त हो जायेगा।

रसवदादि के विषय में कुन्तक का भामह आदि से मतभेद है। वे रसादि को अलंकार न मानकर अलंकार्य ही मानते हैं। एक स्थल पर अलंकार का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है, कि जहां कविजन अलंकार का अन्य अलंकारों में निबन्धन करते हैं, वहां लोक में रमणी की भूषा केयूरादि की भांति अलंकार काव्य की शोभा में चमत्कृति को उत्पन्न करता है।[96] अलंकारों का आनन्त्य कविप्रतिभा के कारण है। क्योंकि अलंकार शब्दार्थ को ही अलंकृत करता है अतएव यद्यपि कुन्तक की दृष्टि से वह अन्तरंग है, किन्तु वास्तव में है बहिरंग ही। जहां अलंकार अन्तरंग होगा, वहां उसकी स्थिति शब्दार्थ के माध्यम से तो अवश्य होगी, किन्तु उसका वास्तविक सम्बन्ध आत्मा से होगा। अतएव कुन्तक जहां अलंकार को अन्तरंग मानते हैं, वहां उक्त स्थिति होना अनिवार्य है। अस्तु। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्तक भी अलंकारवादी हैं। अलंकार शब्दार्थ को ही अलंकृत करते हैं, किन्तु

वह आत्मा नहीं है।

महिमभट्ट (11वीं शती का मध्य) भी अभिधावादी आचार्य हैं। अतएव उनका भी विवेचन पहले ही कर देना उपयुक्त होगा। महिमभट्ट ने ध्वनि के विरोध में अनुमितिवाद नामक एक नवीन प्रस्थान की उद्भावना की है। महिम के अनुसार अर्थ द्विधा होता है[97]—वाच्य और अनुमेय। वाच्य मुख्य व्यापार है तथा लिंग (साधन) से अर्थान्तर की प्रतीति अनुमेय है। अनुमेयार्थ त्रिधा होता है : वस्तु, अलंकार और रसादि। जिसमें प्रथम दो वाच्य भी हो सकते हैं। किन्तु रसादि सदैव अनुमेय होते हैं। विभावादि से होने वाली समस्त रसादि प्रतीति अनुमान में ही अन्तर्भूत हो जाती है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी की[98] प्रतीति रसादि का साधन है। तात्पर्य यह कि रस साध्य है, विभावादि साधन से अनुमेय है। किन्तु व्यंग्य नहीं।

महिम के अनुसार विभावादि की समीचीन योजनास्वरूप, रसाभिव्यंजक कवि-व्यापार ही काव्य है।[99] इसलिये जैसा कि वामनादि मानते हैं, गुणालंकार से संस्कृत शब्दार्थ मात्र शरीर काव्य नहीं है और जैसा कि कुन्तकादि मानते हैं, वक्रोक्ति काव्य का जीवन[100] नहीं है, जीवन तो केवल रसादि ही हो सकते हैं। इस प्रकार रस ही काव्य की आत्मा है,[101] ध्वनिकार के इस मत का अपलाप महिम भी न कर सके।

महिम के अनुसार काव्य-क्रिया का प्रयोजन अर्थ में सौन्दर्य के अतिशय को बढ़ाना है। एतदर्थ ही अलंकार की निष्पत्ति की जाती है। वह सौन्दर्य का साधन है, साध्य नहीं क्योंकि भणितिभंगी ही अलंकार है।[102] रसभिनिवेशी कवि की रचना में अलंकार स्वयं ही आ पड़ते हैं।[103] अतएव कवि को रसाभिनिवेशी होना चाहिये। स्वभावतया बिना उत्कर्ष और अपकर्ष के अर्थों में आस्वाद्यता नहीं आती एतदर्थ ही अलंकार की साधना और उपासना की जाती है।[104]

अलंकार रसादि की वैचित्र्य सिद्धि करते हैं किन्तु वे अर्थ की अपेक्षा से चारुता के निष्पादक होते हैं।[105] यद्यपि महिम रस को काव्य का जीवन मानते हैं किन्तु रसप्रतीति अभिधा (अनुमान) से ही होती है और अलंकार उनके वैचित्र्य का निष्पादन करते हैं अर्थ के माध्यम से। अतएव महिम को भी कुन्तक तथा ध्वनिवादी आनन्द के समान ही अलंकार का स्वरूप निश्चित है, क्योंकि उनके मत से भी अलंकार भंगीभणिति ही है—

(क) **महाकवीनां या विचित्रा भंगीभणितयोऽलंकारसंज्ञाः।**

(ख) **भंगीभणितिभेदानामेवालंकारत्वोपगमात्।।**[106]

यही नहीं स्पष्टतया महिम यह कहते हैं कि अलंकारों का वाच्यत्वसिद्ध है, अलंकाराणां चाभिधेयत्वमुपगतं तेषां भंगीभणितिरूपत्वात्'। कुन्तक की तरह महिम भी स्वभावोक्ति की अलंकारता का खण्डन करते हुए[107] अर्थ के स्वभाव कथन को स्वभावोक्ति अलंकार मानते हैं। इस प्रकार महिम कुन्तक तथा आनन्द दोनों ही आचार्यों के मतों का समन्वय करते जान पड़ते हैं।

भामह से लेकर महिम तक प्रमुख आलंकारिकों का अभिमत अलंकार स्वरूप दिया गया। यद्यपि ध्वनि की उद्भावना के पश्चात् भी जयदेव आदि अलंकार को काव्य में प्रधान स्थान देते रहे तथापि ध्वनि के बाद 'आत्मा' का अनुसंधान हो जाने के कारण प्रायः अभिधावादी कम ही लोग रह गये। काल-क्रम का अधिक व्यवधान न पड़ जाये, इसलिये अब रस, ध्वनि तथा औचित्यवादी—जिनकी दृष्टि में अलंकार बहिरंग हैं, का मत स्पष्ट करना समीचीन होगा।

रस-सिद्धान्त के प्रधान आचार्य भरत (तीसरी शती) माने जाते हैं। भूषण नामक लक्षण की व्याख्या में भरत का कहना है कि अनेक अलंकार और गुणों से अलंकृत (लौकिक) भूषण की तरह जो विन्यस्त किया जाता है, उसे भूषण कहते हैं।[108] टीका में अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है कि विभूषण नामक यह काव्य-लक्षण समस्त गुणालंकार शब्दार्थ तथा उसके व्यापार[109] का अनुग्राहक है। तात्पर्य यह कि भरत की दृष्टि में गुण और अलंकार में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। भरत समता नामक[110] गुण, गुणालंकार के समान स्तर पर होने की स्थिति में मानते हैं। इससे भी स्पष्ट होता है कि उन्हें गुणालंकार में कोई भेद नहीं जान पड़ता। भरत के अनुसार इन गुण,[111] अलंकार, आदि का समावेश नाटक (काव्य) में रसापेक्षी होना चाहिये। रसवादी आचार्य के रूप में भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त प्रधानतया प्रसिद्ध हैं। प्रथम तीन आचार्यों का अलंकार स्वरूप के प्रति क्या दृष्टिकोण है, ग्रन्थ के अभाव में कहना कठिन है। अभिनव के मत का स्थापन आगे किया जायेगा। वस्तुतः रसवाद, ध्वनिवाद से भिन्न नहीं है अतएव ध्वनिवाद में अलंकार को अच्छी तरह परखा जाना चाहिये।

प्राचीन आलंकारिकों को काव्य में अलंकार ही प्रधान रूप से अभिमत था। ध्वनिकार (10वीं शती) ने ध्वनि विरोधी तीन अभाववादियों[112] का उल्लेख किया है, जो अलंकारवादी ही हैं। ध्वनि-विरोधियों को आनन्दवर्द्धन त्रिधा स्थापित करते हैं—अभाववादी, भाक्तवादी तथा अनिर्वर्णनीयतावादी। अभाववादी के भी तीन पक्ष हैं। प्रथम[113] अभाववादी के अनुसार शब्दार्थ ही काव्य-शरीर है। शब्दगत चारुता अनुप्रसादि अलंकारों से और अर्थगत चारुता उपमादि से संभव है। वर्ण संघटना

की विच्छित्ति माधुर्यादि गुणों से प्रसिद्ध ही है। अतएव गुणालंकार से अतिरिक्त शब्दार्थ-शरीर काव्य की चारुत्व निष्पत्ति का हेतु कोई दूसरा तत्त्व नहीं हो सकता। वैदर्भी आदि रीतियां, जिन्हें उपनागरिका आदि अन्य अभिधान प्रदान किया जाता है, वे भी गुणालंकार से भिन्न नहीं है। फिर तो इनसे अतिरिक्त ध्वनि का कोई स्थान नहीं है।

दूसरे अभाववादी के अनुसार शब्दार्थमय ही काव्य सहृदय हृदयहारी हो सकता है। 'शंब्दार्थौ काव्यम्' के प्रसिद्ध मार्ग का परित्याग करके अप्रसिद्ध ध्वनि का विस्तार करना, उसे काव्य की आत्मा घोषित करना, अग्राह्य है। तीसरे विकल्प के अनुसार यदि ध्वनि कोई शोभाकारी तत्त्व है, तो उसका गुणालंकार में ही अन्तर्भाव संभव है। यदि इन्हीं में से किसी धर्म का दूसरा अभिधान ध्वनि है, तो नाम परिवर्तन मात्र का पांडित्य है। और यदि ध्वनि कोई अप्रदर्शित प्रकार विशेष है, तो ध्वनि-ध्वनि कहकर व्यर्थ ही आंख मूंदकर नर्तन उचित नहीं है, क्योंकि वाक् विकल्प अनेक हैं। उनमें से किसी एक प्रकार विशेष की उद्भावना कोई महत्त्व नहीं रखती। भामह से लेकर निरन्तर नये-नये अलंकारों का प्रादुर्भाव होता रहा है। उनकी ही तरह यह भी कोई अलंकार विशेष हो सकता है। लोचनकार ने इस मत को सरल भाषा में व्यक्त किया है।[114]

ध्वनिउद्भावना से पूर्व भामहादि आलंकारिक ध्वनितत्त्व को स्पष्ट भले ही नहीं कर पाये थे, किन्तु प्रतीयमान अर्थ को वे पर्यायोक्त आदि अलंकार से गतार्थ अवश्य करते थे।[115] व्यंजनावृत्ति का उन्हें बोध अवश्य नहीं था, किन्तु इस तत्त्व का बोध वे लक्षणावृत्ति से किया करते थे। वामन का 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' और उद्भट का 'शब्दानामभिधानमभिधा व्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' कथन स्पष्ट करता है, कि उन्हें लक्षणावृत्ति स्वीकार थी। उसी से ध्वनि का भी वे अनुभव करते थे, किन्तु उसका उन्मीलन नहीं कर पाये थे।[116] पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, सामासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, आदि अलंकारों में वस्तुमात्र ही प्रतीयमान होता है, न कि रसालंकार। प्राचीन आचार्य इनमें व्यंजना व्यापार को लक्षणामूल मानकर विवेचन करते थे और लक्षणामूलकता में रस और अलंकार की व्यंग्यता असंभव है। जब कभी वाच्यार्थ की संगति नहीं बैठती तो लक्षणा का सहारा लेना पड़ता है। लक्षणा[117] में अभिधेय अर्थ का बोध होने पर वाच्यार्थ से सम्बद्ध अन्यार्थ की प्रतीति होती है।[118] द्वितीय अर्थ का बोध रूढ़ि या प्रयोजन के कारण होता है। उदाहरणार्थ 'कुन्ताः प्रविशन्ति' का अर्थ है, भाले प्रवेश कर रहे हैं। निर्जीव भालों का प्रवेश असंभव है। अतएव कुन्त शब्द बाधित होकर स्वसिद्धि के लिये कुन्त

से सम्बद्ध अपर अर्थ कुन्तधारी पुरुषों का आक्षेप कर लेता है। इसी प्रकार 'गंगायां घोषः' में भी प्रवाह में घोष का अवस्थान अनुपपन्न होने के कारण गंगा शब्द अपने अर्थ को दूसरे की सिद्धि के लिये छोड़कर तट रूप अर्थ का अवबोध कराता है। इसी प्रकार प्राचीन आचार्य प्रतीयमान अर्थ का लक्षणा से आक्षेप करते थे।

समासोक्ति आदि सभी अलंकारों में निश्चय ही व्यंग्य की प्रतीति हुआ करती है।[119] परन्तु वहां प्रधानता व्यंग्यार्थ की न होकर वाच्यार्थ की ही होती है। वहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कार करने के कारण अप्रधान हो जाता है। अतएव प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होने पर भी वाच्यार्थ ही अधिक रमणीय होता है।[120] प्राचीन आलंकारिक प्रतीयमान अलंकारों को भी वाच्यालंकार की कोटि में रखते थे। भामह दीपक को 'अन्तर्गतोपमाधर्माः' कहते हैं,[121] जो अपह्नुति के लिये प्रसिद्ध है। 'उपमैव तिरोभूतभेदारूपकमिष्यते' रूपक का यह लक्षण मानने वाले दंडी रूपक आदि को व्यंग्य अलंकार मानते ही थे।[122] रुद्रट ने औपम्य, अतिशय आदि के आधार पर अलंकारों का विभाजन किया है।[123] इस प्रकार अलंकार से अलंकारान्तर की प्रतीयमानता भी प्राचीनों को ज्ञात थी,[124] पर वह इन्हें वाच्योपस्कारक ही मानते थे।[125] यही नहीं भामह आदि रस, भाव, रसाभास तथा भावाभास के निबन्धन में, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहिक अलंकारों को भी वाच्यार्थ की शोभा का हेतु मानते हैं। उत्प्रेक्षा तो स्वयं प्रतीयमान है। इस प्रकार रस, वस्तु अलंकार प्रतीयमान तीनों को ही प्राचीन आचार्य अलंकार[126] मानते थे। विद्याधर के शब्दों में अलंकारवादियों का मत इस प्रकार है :

> **'अथ लब्धसत्ताक एव ध्वनिस्तथापि यदि न करोति काव्यस्य कामनीयकम् तर्हि किमनेनाजागलस्तनन्यायेन। उतस्वित् करोति तर्हि गुणालंकारान्तर्भूत एव। तथाविधस्य च नामान्तरकरणनैपुण्यं कियन्नाम। अत्रानुमानमपि। ध्वनिर्गुणालंकारिभ्यो नव्यतिरिच्यते चारुता हेतुत्वात् यदेभ्यो व्यतिरिच्यते न तच्चारुताहेतुः। अविमृष्टविधेयांशादि दोषवत्, चारुता हेतुश्च ध्वनिः। ततो न व्यतिरिच्यते तेभ्य इति।'**[127]

पर्यायोक्त्यादि में व्यंग्यभूत वस्तु अलंकार आदि का अवबोध प्राचीन आचार्य 'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्'[128] आदि द्विविध प्रकार से करते थे। इन्हें ही ध्वनिकार भाक्तवादी मानते हैं। इस प्रकार ध्वनिवाद की व्यंजना[129] प्राच्यों के अनुसार लक्षणा, भक्ति, या गौणवृत्ति से वेद्य है।

यद्यपि भामहादि आचार्य ध्वनि उद्भव के पूर्व ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य आदि

का अवबोध नहीं कर पाये थे, किन्तु वे इस तत्त्व को व्यंग्यप्रधान अलंकार और लक्षणा आदि मे गतार्थ करते थे। ध्वनि की अनुभूति स्वभावतः सभी को होती है, चाहे वे आदि कवि वाल्मीकि हों या परवर्ती श्री हर्ष आदि। यह बात अवश्य थी कि अलंकारवादी आचार्य इसको काव्य-शास्त्र का स्वरूप प्रदान नहीं कर पाये थे। वे इसे ध्वनि शब्द से अभिहित न कर सके थे और न वे आत्मा को पहचान पाये थे।

काव्य, काव्यात्मा तथा गुणालंकार का स्वरूप भली-भांति स्पष्ट ध्वनिवादियों ने ही किया, जिसका प्रमुख श्रेय आनन्दवर्द्धन को है। जैसा कि कहा गया है—शब्दार्थ काव्य-शरीर हैं। किसी भी शरीर के लिये शरीरी का होना आवश्यक है, क्योंकि शरीर का अनुप्राणक बिना आत्मा (शरीरी) के अन्य कोई नहीं हो सकता। अतएव स्पष्ट है कि काव्य-शरीर से परे आत्मा कोई है और कोई है तो वह ध्वनि ही हो सकता है, अन्य कोई नहीं। शब्द और अर्थ जहां अपने को गुणीभूत करके अन्य प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, उसे ध्वनि कहा जाता है।[130] वह वाच्य उपमादि से भिन्न अंगना के अवयव से अतिरिक्त तल्लावण्यप्रख्य[131] है। अवयवों की निर्दोषता या उसमें भूषण का योग ही लावण्य नहीं है, अपितु उससे अतिरिक्त यह अलौकिक तत्त्व है, क्योंकि काणत्व आदि दोषरहित सुसंस्थित[132] अवयव वाली युवती अनलंकृत होने पर भी लावण्यामृतचन्द्रिका मानी जाती है और सुन्दर अवयवों से रहित दोष-मुक्त, अलंकृत भी युवती को वैसा नहीं माना जाता है। ध्वनि तत्त्व का अवबोध जो कि अलौकिक है, वह वाग्देवी के प्रसाद से प्रतिभा विशेष को ही होता है। शब्दार्थ का ज्ञान शब्दानुशासन से ज्ञात होता है, किन्तु ध्वनि का ज्ञान सहृदय ही कर सकता है।[133] अतएव शब्दार्थ या वाच्य, वाचक से ध्वनि अतिरिक्त ही विषय है।

अनुप्रास, उपमा, आदि अलंकार शब्दार्थ चारुत्व के हेतु हैं। परन्तु अलंकार की अलंकारता तभी संभव है जब वह शरीर का उपस्करण करते हुए आत्मा का भी उपस्कार करे। अतएव अनुप्रास उपमा आदि की सार्थकता भी वाच्यवाचक के उपस्करण के माध्यम से काव्यात्मा के उपस्कार में है। इस दृष्टि से लौकिक अलंकार और काव्यालंकार में भेद भी है। हारादि 'अलंकारों' का कंठादि अवयवों से केवल संयोग सम्बन्ध होता है। वस्तुतः लौकिक अलंकार अलंकार्य परतन्त्र नहीं होते। उनका यथारूचि विन्यास, सन्यास संभव है। उससे शरीर या आत्मा को कोई क्षति नहीं पहुंचती। किन्तु काव्यालंकार[134] का शब्दार्थ से संयोग सम्बन्ध नहीं है। शब्दार्थ की भणितिभंगी शब्द और अर्थ के साथ समवेत है, संयुक्त नहीं। इस प्रकार अलंकार अयुत सिद्ध है। अभिनव का कथन है कि उपमादि अलंकार भले ही वाच्यार्थ का

उपस्करण करें, किन्तु उनकी अलंकारता तभी है जब वे वाच्यार्थ को अभिव्यक्ति का माध्यम बना सकें। कटक, केयूर, आदि लौकिक अलंकार का सम्बन्ध शरीर से अवश्य है, पर वे अन्ततः आत्मा को ही अलंकृत करते हैं। अचेतन निष्प्राण शवशरीर को कितना ही अलंकृत क्यों न किया जाये, चेतना या प्राण के अभाव में उसकी कोई भी उपयोगिता नहीं है। 'मैं अलंकृत हूँ' इस प्रकार के प्रयोग में 'मैं' (आत्मा) ही अलंकार्य है, न कि शरीर, इसी का सूचक है।[135] अभिनव का आत्मा को ही यहां अलंकार्य मानना, न कि शरीर को, केवल इतना ही सूचित करता है कि आत्मा नियमतः अलंकार्य है, शरीर नहीं। यदि शरीर की अनलंकारता एकान्ततः स्वीकार कर ली जाये, तब तो काव्य अलंकृत हो ही नहीं सकता, क्योंकि काव्य शब्दार्थमय है। अलंकार पहले शब्दार्थ शरीर को अलंकृत करते हैं, पश्चात् परम्परया शब्दार्थ के माध्यम से वे आत्मा को भी उपस्कृत करते हैं। अभिनव के कथन का यही सार है, न कि शरीर का अलंकरण होता ही नहीं।

इस प्रकार अलंकार शब्द और अर्थ में चारुता का आधान करते हैं, पर उनकी अलंकारता आत्मा (रस) को अलंकृत करने में है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि (आत्मा) को वाच्य वाचक के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। समासोक्ति आदि अलंकारों में जहां प्रतीयमान द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है, वहां वह प्रतीयमानता वाच्यानुगत होती है। ध्वनि वाच्यवाचक से सदैव अतिशायी होता है। वाच्य-वाचक का संविधान केवल ध्वनि (आत्मा) की चारुता के लिये है। ध्वनि महाविषय और अंगी है, तथा अलंकार स्वल्पविषय तथा अंग। अंग अंगी नहीं हो सकता, अवयव अवयवी नहीं बन सकता। जहां प्राधान्येन प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है, वहां वस्तु, अलंकार तथा रस ही व्यंग्य होते हैं। वस्तु और अलंकार वाच्य तथा व्यंग्य दोनों होते हैं, किन्तु रस सदैव व्यंग्य होता है, वह स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता।

प्रतीयमान के दो भेद हैं, लौकिक तथा काव्य व्यापारमात्रैकगोचर। लौकिक जो स्वशब्द वाच्य होता है, वह विधिनिषेध अनेक प्रकार का होता है, वस्तु कहा जाता है। उसके भी दो भेद होते हैं। जो पहले (वाच्यावस्था में) किसी वाक्यार्थ में उपमादि रूप से अलंकारभाव को प्राप्त हुआ था, व्यंग्यावस्था में वह अलंकार रूप नहीं रह जाता, क्योंकि अन्यत्र (वाक्यार्थ में) होने वाला गुणीभाव नहीं रह जाता। वह ब्राह्मणश्रमणन्याय से पूर्व प्रत्यभिज्ञा बल से अलंकार ध्वनि कहा जाता है। उस रूप के अभाव से उपलक्षित 'वस्तुमात्र' कहा जाता है। जो स्वप्न में भी स्वशब्द वाच्य नहीं होता है तथा लौकिक व्यवहार में नहीं आता, शब्दसमर्प्यमाण और

सहृदयहृदयसंवादी होने के कारण सुन्दर, विभावानुभावसंचारी के संयोग से उद्बुद्ध रत्यादि वासनाओं का चवर्णाव्यापार से आस्वादन ही रस है, वही काव्य-व्यापारमात्रैकगोचर रसध्वनि है, वही मुख्यतया आत्मा है।[136]

ध्वनिकार ने काव्य के तीन भेद माने हैं, ध्वनि, गुणभूत व्यंग्य और चित्र। ध्वनि-व्यंग्य की प्राधान्यावस्था में माना जाता है। व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य की चारुता के अधिक उत्कृष्ट होने या समान होने पर गुणीभूत[137] व्यंग्य होता है तथा रसभावादि रहित व्यंग्यार्थ प्रकाशनशक्तिशून्य अलंकारप्रधान काव्य 'चित्र' कहा जाता है।[138] ध्वनि उत्तम काव्य है, जैसा कि कहा गया है, रस, वस्तु और अलंकार तीनों ही व्यंग्य होते हैं, किन्तु प्रधान रस है वही काव्यात्मा है। रसादि के गुणीभाव में रसवत् आदि अलंकार होते हैं। प्रायः अलंकारों में अलंकारान्तर और वस्त्वन्तर व्यंग्य होता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, समासोक्ति आदि में वस्तु व्यंग्य होता है। रूपक, उपमा, तुल्ययोगिता निदर्शना आदि में सादृश्यगम्य रहता है। व्यंग्य प्रधान ये समग्र अलंकार गुणीभूतव्यंग्य के विषय हैं। इनमें भी (गुणीभूत व्यंग्य में भी) कुछ अलंकार, अलंकार विशेष गर्भ होते हैं। व्याजस्तुति प्रेय अलंकार गर्भ होता है। कुछ में अलंकार मात्र की गर्भता रहती है, जैसे संदेह आदि उपमा गर्भ होते हैं। किन्हीं की परस्पर गर्भता भी होती है, जैसे कहीं दीपक उपमा गर्भ होता है, कहीं उपमा ही दीपकगर्भ होती है।[139] इस प्रकार प्राचीनों के समग्र व्यंग्यप्रधान अलंकार गुणीभूतव्यंग्य के मार्ग हैं :

> **'तदेवं व्यंग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलंकाराः सर्व एव गुणीभूतव्यंग्यस्य मार्गः।'**[140]

वस्तुतः अलंकार की अलंकारान्तर से संकीर्णता द्विधा होती है, कभी वाच्य से और कभी व्यंग्य से। व्यंग्यता भी प्रधान, गुणीभाव से द्विधा होती है। वाच्यावस्था में अलंकार वाच्य होते हैं। द्वितीय अवस्था में उनका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाता है तथा तृतीय अवस्था गुणीभूत व्यंग्य की है।[141]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अलंकार प्रधान काव्य चित्र काव्य कहा जाता है। रसभावादि तात्पर्य से रहित व्यंग्यार्थ विशेष प्रकाशन शक्तिशून्य काव्यचित्र काव्य कहा जाता है वह केवल वाच्य वाचक के वैचित्र्य मात्र में निबन्धित होने से आलेख्यप्रख्य होता है। वह मुख्य काव्य नहीं है, काव्य का अनुकरण मात्र है। शब्दचित्र दुष्कर यमक आदि हैं, अर्थचित्र व्यंग्यार्थ तथा रसादितात्पर्यरहित उत्प्रेक्षादि अलंकार है।[142] यहां सन्देह हो सकता है कि जहां वस्तु-अलंकार का व्यंग्य न हो,

वह 'चित्र' कहा जा सकता है, किन्तु जहां रसादि की विषयता ही न हो तो काव्यभेद माना ही नहीं जा सकता? संसारगत समस्त वस्तु विभाव रूप होने के कारण अन्ततः किसी न किसी रस या भाव का अंग होती ही है, रसादि चित्तवृत्ति विशेष हैं, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो चित्तवृत्ति विशेष को उत्पन्न नहीं करती, उसके अनुत्पादन में तो कविविषयता ही नहीं रह जायेगी?[143]

ठीक है, ऐसा कोई भी काव्य प्रकार नहीं है जहां रसादि की प्रतीति न हो। किन्तु जब रसभावादि की विवक्षा से शून्य कवि शब्दालंकार या अर्थालंकार का उपनिबन्धन करता है, तो उसकी विवक्षा की अपेक्षा से काव्यरसशून्य कहा जाता है। काव्य में शब्दों का अर्थ विवक्षाधीन ही है। वाच्य सामर्थ्यवश कवि विवक्षा के अभाव में भी उस प्रकार के विषय में रसादि प्रतीति होते हुए भी दुर्वल हो जाती है, इसलिये भी काव्य नीरस कहा जाता है। वस्तुतः यह 'चित्र' काव्य की कल्पना विशृंखल गिरा वाले कवियों की रचनाओं को देखकर की गयी है। नव्य विद्वानों के अनुसार काव्य मार्ग के व्यवस्थान में ध्वनि से अतिरिक्त कोई काव्यप्रकार है ही नहीं, क्योंकि परिपक्व कवियों के व्यापार में रसादि-तात्पर्य का अभाव रहता ही नहीं। और रसादि तात्पर्य होने पर ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो अभिमत रस की अंगता को प्राप्त होकर प्रकृष्ट गुणशाली न हो जाये। अचेतन भी भाव यथारूचि रस के विभाव या चेतनवस्तु की वृत्तान्त योजना से रसांगता को प्राप्त हो जाते हैं। अतएव कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो सर्वांश में रसतात्पर्यवान् कवि की या उसके अभिमत रस की अंगता को प्राप्त नहीं होती है, अथवा वैसा निबन्धन करने पर चारुत्वातिशय का पोषण नहीं करती। इसलिये अभ्यासार्थी प्राथमिक कवि के लिये ही 'चित्र काव्य' है, परिपक्व कवि के लिये नहीं।[144] तात्पर्य यह कि अलंकार प्रधान काव्य ही चित्र का विषय है, न कि शब्दार्थ के अलंकार।

अलंकार पर विचार करते समय ध्वनिकार की दृष्टि काव्य के बहिरंग पक्ष के साथ अन्तरंग पर भी रहती हैं। अतएव रस पर उनकी दृष्टि लगी रहती है। रस अंगी है, अलंकार कटकादि की तरह अंग है।[145] ध्वनि में वे ही अलंकार अभीष्ट हैं जो रसाक्षिप्त, बिना किसी यत्न के निष्पादित तथा सुसंलिष्ट होते हैं।[146] अभिनव के अनुसार काव्य शरीर की शोभा करने वाले अलंकार पृथक्सिद्ध हैं। जिस प्रकार रमणी को विभूषित करने वाले हारादि अलंकार उससे भिन्न होते हैं,[147] उसी प्रकार काव्य-शोभा के हेतु उपमादि अलंकार भी काव्य से पृथक् होते हैं। यमक आदि क्लिष्ट अलंकारों में प्रतिभावान् कवि को भी आयास करना पड़ता है, अतः उन्हें रस का अंग मानना आनन्दवर्द्धन को अभीष्ट नहीं है। वैसे तो आनन्द उपमादि

अलंकारों को हारादि की तरह बहिरंग मानते हैं, किन्तु रसाभिव्यक्ति की दशा में वे बहिरंग नहीं मानते। रस वाच्य-वाचक विशेष से ही आक्षिप्त है, रूपकादि अलंकार उन्हें प्रकाशित करते हैं। अतएव रसाभिव्यक्तिदशा में वे बहिरंग नहीं होते :

> **'रसांगत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वम् ………… तस्मान्न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ। यत्तु रसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दृश्यन्ते, तत्र रसादीनामंगता यमकादीनां त्वंगितैव।'**[148]

रस ध्वनि से भिन्न स्थल में जो कुछ रसयुक्त यमकादि देखे जाते हैं, वहां उन्हीं की अंगिता है, रसादि अंग हो जाते हैं। चारुता के हेतु असंख्य है, वाग्विकल्प अनन्त हैं तत्प्रकार ही अलंकार हैं, अतएव अलंकारों का नियमन करना भी कठिन है।[149] अलंकारों का विवेकपूर्वक विनिवेश ही उनकी सार्थकता है, उनका अनावश्यक, अनवसर विस्तार प्रयोक्ता के अविवेक को लक्षित करता है।[150] अलंकारों का उचित स्थान पर विनिवेश ही उनकी अलंकारता को स्पष्ट करता है, यही क्षेमेन्द्र भी कहते हैं, 'उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः'। वह अंगी की चारुता का हेतु है।[151] आनन्द का कथन है कि अलंकार की विवक्षा रस के अनुरूप होनी चाहिये, अंगी के रूप में कभी नहीं। दूर तक अलंकार निर्वाह की प्रवृत्ति न होनी चाहिये, यदि दूर तक निर्वाह करना अभीष्ट भी हो तो यत्नतः उसे अंग रूप में ही रखना चाहिये। अलंकार वर्ग की अंगता का यही स्वरूप और साधन है।[152] शब्दार्थ वक्रता का लोकोत्तर अवस्थान ही अलंकार है।[153] अस्तु। ध्वनिकार का इष्ट यही है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है। त्रिविध ध्वनि में रस ध्वनि ही प्रधान है। अतः वही काव्य का अंतरंग धर्म और अलंकार्य है। अलंकार शब्दार्थ शरीर को अलंकृत करते हुए अन्ततः आत्मा को उपस्कृत करते हैं। यद्यपि शब्दार्थ काव्यशरीर हैं, उन्हें ही अलंकृत करना उपयुक्त होगा, लोक में रमणी तनु को ही अलंकार सुशोभित करते हैं, आभासतः यह कथन उचित है, परन्तु बिना जीव के शरीर का अलंकरण व्यर्थ है। अतः अलंकार् शरीर को अलंकृत करते हुए भी अन्ततः आत्मा को उपस्कृत[154] करते हैं।

भोजराज ने दंडी का अलंकार लक्षण अंशतः स्वीकार किया है। काव्य में अलंकारों का ग्रहण गुण तथा रसादि के उपसंग्रहार्थ किया जाता है। गुण तथा रसादि भी काव्यशोभाकारी होने से अलंकार हैं।[155] भोज दंडी का 'काव्यशोभाकरान्धर्मान् अलंकारान्प्रचक्षते' इत्यादि कथन रखकर यह स्पष्ट करते हैं कि श्लेष, उपमा, आदि की तरह रस, भावादि को भी अलंकार वर्ग में ग्रहण किया जाता है। श्लेषादि गुण

की अलंकारता भी है। तात्पर्य यह कि गुण, रस, आदि भी अलंकार हैं। गुणयोग की तरह काव्य में रसादियोग नित्य है :[156]

**'नित्यो हि काव्ये गुणयोग इव रसादियोगः'** —वही, पृ. 706

यद्यपि गुणवान् वाक्य में ही अलंकारयोग संभव है, तथापि कहीं गुण प्रधान होता है, कहीं अलंकार।[157] परन्तु गुणालंकार की समान अवस्था में अलंकार ही प्रधान होता है, न कि गुण, क्योंकि प्रायः गुणीभूत गुणों से ही अलंकारों का प्रारंभ होता है।

**'गुणालंकारयोश्च तुल्यकक्षतायामलंकारः प्रधानं भवति न गुणः।**
**गुणैर्हि गुणभूतैरेवालंकाराः प्राय आरभ्यन्ते।'** —वही, पृ. 714

किन्तु कहीं अलंकार योग भी त्याग दिया जाता है, न कि रसादियोग। तात्पर्य यह कि भोज के अनुसार भी काव्य में रसादियोग नित्य है। ध्वनिकार का प्रभाव भोज पर भी पड़ना अवश्यंभावी था।

सभी अलंकारों को बाह्य न मान लिया जाये इसलिये उन्होंने अलंकार को बाह्य, आभ्यन्तर और बाह्याभ्यन्तर त्रिधा विभाजित किया है। कामिनी शरीर के बाह्य अंगों को हारादि की तरह सुशोभित करने वाले शब्दालंकार बाह्य हैं। जो कलाभियोगादि की तरह कामिनी शरीर के अन्तस् को सुशोभित करते हैं वे आभ्यन्तर अर्थालंकार हैं तथा कामिनी के बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों को जिस प्रकार ताम्बूलादि सुशोभित करते हैं, उसी प्रकार उभयालंकार काव्य के बहिरंग और अन्तरंग दोनों ही हैं।[158] 'बाह्य माल्य विभूषणादि की तरह हैं, आन्तरिक परिकर्म नखच्छेद अलकादि[159] परिकल्पन की तरह आन्तर और बाह्यान्तर स्नान, गन्ध, धूप, विलेपन, आदि की तरह है।[160] दंडी की तरह भोज भी गुणालंकार, रीति, रसादि को अलंकार मानते हैं, उनकी इस प्रवृत्ति की ओर डॉ. राघवन् ने अपने ग्रन्थ में संकेत किया है। सरस्वती कंठाभरण की टीका में नरसिंह ने गुण को काव्य का नित्यधर्म और अलंकार को आगमापायी कहा है :

**'नियतधर्मोगुणः आगमापायी अलंकारः। जातिवद्गतेरपि अर्थौचित्यादिभिः आगमापायित्वादलंकारत्वसंभवः।'**[161]

मम्मट (12वीं शती का प्रारंभ) न केवल ध्वनिवादी आचार्य हैं, अपितु जितना श्रेय आनन्दवर्द्धन को ध्वनि उद्भावना का है, उससे कम श्रेय ध्वनि प्रस्थापन का उन्हें नहीं है, क्योंकि वक्रोक्तिकार कुन्तक और महिमभट्ट ने अपने सिद्धान्तों में ध्वनि को बिल्कुल ही आत्मसात् कर लिया था। ध्वनिवादी होने के कारण उचित ही था

कि मम्मट ध्वन्याचार्य का अनुगमन करते। अतएव उन्होंने भी काव्य को त्रिधा विभाजित कर अलंकार प्रधान काव्य को काव्य की तृतीय श्रेणी चित्रकाव्य[162] माना, जिसे अधम भी कहते हैं। चित्र की व्याख्या उन्होंने भी आनन्द के ही समान की है, वह शब्दार्थ भेद से द्विधा होता है। वह अव्यंग्य है, किन्तु गुणालंकार युक्त है। यहां अव्यंग्य का अर्थ सर्वथा व्यंग्यशून्य न होकर अस्फुट व्यंग्य है। अस्फुट होने से वहां रसप्रतीति भी नहीं होती है।[163] ध्वनिकार के ही अनुसार वह भी अलंकार का लक्षण करते हैं। जो वर्तमान अंगी (रस) का अंग द्वारा हारादि अलंकार की तरह उपस्कार करते हैं, वे ही अनुप्रास उपमा आदि अलंकार हैं।[164] उनकी दृष्टि से काव्य में अलंकार की त्रिधा अवस्थिति है। जहां रस प्राधान्येन अवस्थित रहता है, वहां अलंकार शब्दार्थ के सौन्दर्यातिरेक के कारण अंग द्वारा शरीर को अलंकृत करते हुए अन्ततः आत्मा को उपस्कृत करते हैं, उसी प्रकार जैसे सुरूपा कामिनी को हारादि अलंकृत करते हुए अन्ततः आत्मा को भी उपस्कृत करते हैं।[165] दूसरी अवस्था में, जैसे लावण्यविहिन ललना में हारादि का सन्निवेश लोगों की केवल दृष्टिमात्र को चमत्कृत कर देता है, उसी प्रकार रसविहीन काव्य में अलंकार उक्तिवैचित्र्यमात्र होते हैं। जिस प्रकार अत्यन्त कमनीय कामिनी कलेवर पर कभी-कभी अलंकार भारभूत भी हो जाते हैं या तदनुरूप अलंकार न होने से उसके स्वरूप को सुशोभित नहीं करते, उसी प्रकार कभी-कभी अलंकार, अत्यन्त सरस काव्य में रस को उपस्कृत न करके काव्य के भारभूत[166] हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि काव्य में अलंकार रसपरक तथा अस्थायी होते हैं।

मम्मट ने उद्भट तथा वामन के गुणालंकार स्वरूप भेद का खण्डन किया है। उद्भट के अनुसार शौर्यादि गुण समवायवृत्ति से तथा हारादि संयोगवृत्ति से शरीर में रहते हैं। किन्तु काव्य में ओजः प्रभृति गुणों तथा अनुप्रास, उपमादि अलंकारों दोनों की समवायवृत्ति से अवस्थिति रहती है, अतएव इनका भेद भेड़चाल मात्र है। मम्मट की दृष्टि से यह अयुक्त है।[167] इसी प्रकार वामन के 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणास्तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः' इस कथन को भी मम्मट ने सदोष सिद्ध किया है। क्योंकि यदि गुण से यहां समग्र गुणों का ग्रहण वामन को अभिमत है, तो असमग्र गुणोपेता, गौडी पांचाली रीतियों को काव्यात्मा नहीं माना जा सकता और यदि कतिपय गुणों से अभिप्राय है तो 'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येषधूमः' इत्यादि में ओज होने पर काव्य व्यवहार होना चाहिये, किन्तु होता नहीं है। और 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनि। अस्या रदच्छद-रसोन्यक्करोतितरांसुधाम्'—वही, पृ. 188—में विशेषोक्ति और व्यतिरेक[168]

गुणनिरपेक्ष हैं, किन्तु यहां न केवल काव्य व्यवहार होता है, अपितु ये पद्य अतीव कर्णसुखद तथा मनोहारी हैं। अतएव वामन का उक्त मत भी अयुक्त है। तात्पर्य यह कि गुण की अवस्थिति में भी कभी-कभी काव्य व्यवहार असंभव हो जाता है और कभी-कभी गुणाभाव होने पर भी काव्य व्यवहार होता है। अतएव काव्यशोभा के हेतु गुण ही हैं, यह कथन अव्याप्त्यादि दोषग्रस्त है।

अग्निपुराण भी स्त्री के स्तन, कंठ को अलंकृत करने वाले हारादि की भांति शब्दार्थ को अलंकृत करने वाले तत्त्वों को अलंकार मानता है। अलंकार की सार्थकता—प्रशस्ति, कांति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता तथा अभिव्यक्ति—छः प्रकार से संभव है।[169]

रुय्यक (द्वादश शती का मध्य) भी ध्वनिवादी आचार्य हैं। उनके अनुसार व्यंग्य ही काव्य का जीवन है, उसी के लिये गुण-अलंकारकृतचारुत्वपरिग्रह का साम्राज्य है। रसादि काव्य-जीवन हैं, वे अलंकार नहीं कहे जा सकते, क्योंकि अलंकार उपस्कारक हैं और रसादि प्रधानतया अलंकार्य।[170] रुय्यक भी ध्वनिवादी की तरह काव्य के तीन भेद करके, ध्वनि को उत्तम काव्य मानते हैं। व्यंग्य की प्राधान्याप्राधान्य दशा में क्रमशः ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य होते हैं। व्यंग्य की अस्फुटता में 'चित्राख्य' तृतीय काव्य होता है। वे शब्दार्थ के अलंकार हैं।[171] संजीवनीकार भी रुय्यक के मत से सहमत हैं।[172] रस और अलंकार की व्याख्या में विद्याचक्रवर्ती ने स्पष्ट कहा है कि गुण अंगी रस के धर्म हैं, अलंकार अंगभूत शब्दार्थ के। गुण काव्य को नियमेन उत्कृष्ट बनाते हैं, अलंकार अनियमपूर्वक। गुणों की काव्य में समवाय सम्बन्ध से अवस्थिति होती है, अलंकार की संयोग सम्बन्ध से।[173] समुद्रबन्ध दंडी के मत का अनुसरण करते हैं।[174] विद्याचक्रवर्ती विच्छित्ति को ही अलंकार मानते हैं :

**'अलंकारो हि विच्छित्तिः।**
**कविकल्पितविच्छित्तिसध्रीचीनमलंकारः।।** सं., पृ. 16

जयरथ के अनुसार वाच्यार्थ का उपस्कार करना ही अलंकारों का स्वरूप[175] है, तथा वह स्वसंवेदन सिद्ध प्रतीयमान से भिन्न भी है। विद्याचक्रवर्ती भी रसादि को अलंकार नहीं स्वीकारते।

**'रसादीनां हि यदा गुणीभावस्तदालंकारत्वं, यदा तु प्राधान्यं तदालंकार्यमेव।'**
—सं., पृ. 13

रुय्यक ने सविस्तार अपने पूर्ववर्ती, भामहोद्भट, वामन, दंडी, कुन्तक, महिम,

आनन्द—सभी आचार्यों के मतों का आकलन किया है।[176] 'अलंकार रत्नाकर' कार शोभाकरमित्र (12वीं शती का तृतीय भाग) का अभिमत है कि कविप्रतिपादन शैली अथवा शब्दार्थगत तत्प्रतीतिरूप संभवधर्मविशेष अलंकार शब्द से वाच्य होते हैं।[177]

अमृतानन्द योगी (14वीं शती का उत्तरार्द्ध) भी दंडी की तरह सालंकार, सगुण तथा निर्दोष काव्य को कल्पान्तर स्थायी स्वीकार करते हैं।[178] वैसे इन्होंने अलंकार का कोई सामान्य लक्षण नहीं किया है। किन्तु कविता की प्रशंसा में कहते हैं कि नाना प्रकार के आभूषणों से अलंकृत मनोहारी कन्या की तरह काव्य को ग्रहण करना चाहिये।[179] कह सकते हैं कि योगी जी भी दंडी के मत के अनुयायी हैं।

नरेन्द्रप्रभसूरि (द्वादश शती का मध्य) ने गुण तथा अलंकारों को मम्मट की तरह ही व्यवस्थित किया है, तथा वामन और उद्भट के मतों का मम्मट रीति से खण्डन भी किया है। गुण शौर्यादिवत् नित्य, सहज चमत्कारी आत्मा के धर्म हैं, तथा अलंकार आहार्य और अनित्य। अलंकार के अभाव में भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।[180]

हेमचन्द्र (द्वादश शती) भी ध्वनिमतानुयायी हैं। अतएव उन्होंने भी अलंकार को अंगी रस का अंगभूत माना है।[181]

वाग्भट (1) भी अलंकारवादी आचार्य हैं। उनका कहना है कि कवि को एक ही (वर्ण्य) वस्तु में नाना प्रकार के अलंकारों का अभ्यास करना चाहिये।[182] उनके अनुसार दोषमुक्त और गुणयुक्त भी काव्य अलंकार के अभाव में स्त्री रूप की तरह शोभित नहीं होता। तात्पर्य यह कि अलंकार ही काव्य में प्रधान और नित्यधर्म है, गुण अनित्य और अप्रधान।[183]

वाग्भट (2) (14वीं शती) ने अलंकार का कोई भी लक्षण नहीं किया है, किन्तु काव्य का लक्षण मम्मट की तरह ही किया है और कहा है कि काव्य में अलंकार आवश्यक नहीं है।[184]

चन्द्रालोककार जयदेव (13वीं शती का उत्तरार्द्ध) दोषरहित, सलक्षण रीतिगुणोपेत, सालंकार तथा रसवृत्तियुक्त वाक्य को ही काव्य मानते[185] हैं। उनके अनुसार अलंकार ही काव्य का अनिवार्य धर्म है। काव्य को वैसे ही अलंकार युक्त होना चाहिये, जैसे अग्नि उष्णत्व धर्म संवलित है। मम्मट के 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का खण्डन करते हुए जयदेव इस मतवाद का उपहास करते हैं।[186] उन्होंने अलंकार का निम्न लक्षण किया है :

**'शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कवेः प्रौढिवशेन वा।**
**हारादिवदलंकारः सन्निवेशो मनोहरः।।'** —चन्द्रा. 5/1

**'अलंकारेषु तथ्येषु यद्यनास्था मनीषिणाम्।**
**तदर्वाचीनभेदेषु नाम्नां नाम्नाय इष्यताम्।।'** 5/125

जयदेव कितना भी अलंकार का गुणगान गाते रहें किन्तु उन्हें ध्वनिवादी ही मानना उपयुक्त होगा। उनके मत को पौर्णमासी टीका में स्पष्ट किया गया है।[187] ये अलंकार काव्यरूप ही होते हैं, न कि पुरुष के अलंकार की तरह शरीर से पृथक्। गुणों के मनोहर सन्निवेष रूप होने पर भी उन्हें अलंकार नहीं कहा जा सकता। किन्तु 'हारादिवत्' कहने से यही प्रतीत होता है कि अलंकार काव्य से पृथग्भूत हैं।

विद्याधर[188] (13वीं शती का उत्तरार्द्ध) भी रुय्यकादि का अनुगमन करते हैं। विद्यानाथ (13वीं शती का अन्त और 14वीं शती का पूर्वार्द्ध) भी रुय्यक मतानुयायी हैं। विद्यानाथ ध्वनिवार आदि की तरह ही शब्दार्थ को काव्यशरीर, व्यंग्य को जीवन, उपमादि को हारादि की तरह अलंकार और शौर्यादि की तरह श्लेषादि को गुण[189] मानते हैं, किन्तु उद्भट-रुय्यक की तरह वे भी गुणों को संघटनाश्रित और अलंकारों को शब्दार्थाश्रित स्वीकारते हैं।[190] वस्तुतः विद्यानाथ ने उद्भटादि के मत को वहां प्रदर्शित मात्र किया[191] है, न कि उन्हें भी यही मत अभीष्ट था। अतएव 'रत्नापण' में स्पष्ट कहा गया है कि रुय्यक ने उद्भट के मत का अनुवाद मात्र किया है :

**उद्भटादिमतानुवादत्वेनेति भावः।**—रत्नापण, पृ. 242

विद्यानाथ ने भी अलंकार को चारुत्व का हेतु माना है। जिस प्रकार उन-उन वलय नूपुर आदि अलंकारों से कर चरणादि अवयव को सुशोभित कर प्रसिद्ध अवयवी ही अलंकृत किया जाता है, उसी प्रकार शब्दार्थ अवयवगत उपमादि के द्वारा प्रसिद्ध अवयवीभूत काव्य उपस्कृत किया जाता है, न कि रस को। क्योंकि लोक की तरह काव्य में भी अलंकारों का आश्रयाश्रयी भाव से अवस्थान है। गुण और अलंकार यद्यपि दोनों ही चारुता के हेतु हैं, तथापि आश्रयभेद से उनमें भेद प्रकल्पित किया जाता है, गुण संघटनाश्रित हैं[192] और अलंकार शब्दार्थाश्रित। इस प्रकार विद्यानाथ गुणलंकार के भेद प्रतिपादन में उद्भटादि मत का अनुसरण करते हैं :

**'अथालंकारविभागंकरिष्यमाणस्तदुपयोगितयोद्भटादिमतेनोक्तमेव गुणालंकार भेदमनुवदति।'** —रत्नापण, पृ. 245

अतएव अलंकार स्वरूप मम्मट आदि की तरह स्वीकार करते हुए भी गुणालंकार का भेद निरूपण विद्यानाथ उद्भट की तरह करते हैं। फिर भी ध्वनिवाद को वे

छोड़ना नहीं चाहते। अवयवी काव्य को मानकर विद्यानाथ स्पष्ट कर देते हैं कि अलंकार रस को नहीं शब्दार्थमय काव्य को उपस्कृत करते हैं। रत्नापणकार का कथन है कि यद्यपि भामहादि की दृष्टि में श्लेषादि गुणों की रसधर्मिता सिद्ध थी, तथापि अलंकारों की शब्दार्थ धर्मिता भी सिद्ध थी। अतएव गुणालंकार का स्वरूपभेद पहले भी स्पष्ट था।[193] इसी परिसर में वे वामन के गुणालंकार स्वरूप का खण्डन करते हैं।[194]

विश्वनाथ (14वीं शती का पूर्वार्द्ध) भी ध्वनि मतानुयायी हैं। उनके अनुसार गुण, अलंकार, रीति सभी काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं।[195] काव्यशरीर में गुण की स्थिति शौर्यादि की तरह, अलंकार की हारादि की तरह तथा रीतियों की अवयव संस्थान की तरह है। जिस प्रकार इन तत्त्वों से आत्मा में सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है, उसी प्रकार रीति आदि से रस की।[196] यद्यपि गुण आत्मा के धर्म हैं, किन्तु अभिव्यंजक होने के कारण वे उपचार से शब्दार्थाश्रित ही हैं।[197] शरीर को हारादि की भांति, अस्थिर शोभाधायक तत्त्व अनुप्रासोपमादि शब्दार्थ को अलंकृत करते हुए परम्परया आत्मा को भी अलंकृत करते हैं। अलंकार अस्थिर धर्म है, अतः गुण की भांति काव्य में इनकी अनिवार्यता नहीं है।[198] ध्यान देने योग्य है कि विश्वनाथ काव्य को रसात्मक ही मानते हैं और काव्य को ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य दो ही भेद में विभाजित करते हैं। चित्र नामक अधम काव्य को उन्होंने स्वीकार नहीं किया है।

केशवमिश्र (16वीं शती) भी रस को आत्मा और अलंकार को[199] काव्य का शोभाधायक तत्त्व स्वीकारते हैं। काव्य में अलंकार की अपेक्षा[200] गुणयोग अधिक आवश्यक है, क्योंकि अलंकृत भी गुणवर्जित काव्य अश्रव्य होता है। यदि गुण न हो तो सहस्रों अलंकारों से भी कुछ होने को नहीं है।[201] क्या दुग्धविहीन गायें घंटों से बेची जाती हैं? तात्पर्य यह कि गुण नित्य धर्म हैं, अलंकार अनित्य है।

कवि कर्णपूर (16वीं शती) की काव्यालंकार आदि निरूपण की दृष्टि मम्मट की है। कविवाङ्निर्मित ही काव्य है।[202] उन्होंने शब्दार्थ को काव्यशरीर, रसध्वनि को आत्मा, माधुर्यादि को गुण और उपमादि अलंकार को अलंकार, रीति को अवयव संस्थान और श्रुति कटुत्वादि को काव्यशरीर का दोष कहा है :

> **'शरीरं शब्दार्थौ ध्वनिरसव आत्मा किल रसो।**
> **गुणा माधुर्याद्या उपमिति मुखोऽलंकृतिगणः।।**
> **सुसंस्थानं रीतिः स किल परमः काव्यपुरुषो।**
> **यदस्मिन्दोषः स्याच्छ्रवणकटुतादिः स न परः।।'** —अ.कौ. 1/1

उनका गुण स्वरूप विवेचन मम्मट[203] की कारिका का हेरफेर मात्र है। गुण को रसोत्कर्षक धर्म कहा गया है तथा वर्णादि को उसका व्यंजक। 'रसोत्कर्षकत्वं गुणत्वं' यह उनका सामान्य लक्षण है। वह स्वयं सन्देह उत्पन्न कर उसका समाधान करते हैं कि यदि रसोत्कर्षकत्व ही गुण है, और अलंकारों का भी रसोत्कर्षकत्व सिद्ध ही है, फिर अलंकार को गुण क्यों न माना जाये? उनका कहना है कि यह सन्देह होना उचित ही है। जिस प्रकार हारादि अलंकार कंठादि शरीर अवयव को विभूषित करते हैं, न कि आत्मा को उसी प्रकार अनुप्रासोपमा आदि अलंकार वस्तुतः शब्दार्थ[204] को ही अलंकृत करते हैं, न कि काव्य को। यदि ऐसा मानते हैं तव तो शब्दार्थाश्रित श्रुति कटुत्वादि दोष से भी उन्हीं का अपकर्ष होना चाहिये न कि रस का। इसलिये जैसे शब्दार्थाश्रित भी दोष रस का ही अपकर्ष करते हैं उसी प्रकार शब्दार्थाश्रित अलंकार भी रस का ही उत्कर्ष करते हैं, यह कर्णपूर का अभिमत है, किन्तु गुण तो आत्मा के ही धर्म हैं। अतएव दोनों को अभिन्न नहीं कहा जा सकता। मम्मट की रीति से वे वामन के गुणालंकार विभाग का भी खण्डन करते हैं।[205]

अप्पयदीक्षित (16वीं शती का उत्तरार्द्ध) प्रणीत कुवलयानन्द की चौथी कारिका की व्याख्या में अलंकार चन्द्रिकाकार ने चमत्कार को ही अलंकार की संज्ञा प्रदान की है :

> **'अलंकारत्वं च रसादिभिन्नाव्यंग्यभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या विषयिता सम्बन्धावच्छिन्ना चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता, तदवच्छेदकत्वम्। अनुप्रासादिविशिष्टशब्दज्ञानादुपमादिविशिष्टार्थज्ञानाच्च चमत्कारोदयात्तेषु लक्षणसमन्वयः। शब्दार्थयोर्ज्ञाननिष्ठचमत्कृतिजनकताया विषयितावच्छेदकत्वेन तद्विशेषणीभूतानुप्रासोपमादेस्तन्निष्ठावच्छेदकतावच्छेदकत्वात्।'** —अ.चं., पृ. 2

चित्र-मीमांसा की 'सुधा' टीका में भी अविकल रूप से यही उद्धृत है।[206] चित्र-मीमांसा में एक स्थल पर काव्य शोभाकारी तत्त्व को दीक्षित ने अलंकार संज्ञा प्रदान की है तथा उन्हें वे कवि प्रतिभा के अनुरोध वश सहृदय हृदयहारी मानते हैं। यह हृदयता ही कान्तिमती है और वही अलंकार है।[207]

नरसिंह (अभिनव कालिदास—1687-1716) कविवर अलंकार गुण स्वरूप का निरूपण उद्भट, रुय्यक तथा विद्यानाथ के ही अनुसार करते हैं। वस्तुतः 'नंजराजयशोभूषण' में कविवर ने अविकल रूप से विद्यानाथ को उद्धृत कर दिया है। अतएव उसे यहां पुनः उद्धृत करना दोष ही होगा।[208] वे दोष विपर्यय को

ही गुण माननेवालों के मत का खण्डन भी करते हैं।[209] अलंकार स्वरूप मम्मट जैसा है।[210] गुणसंयोग वृत्ति से तथा अलंकार समवायवृत्ति से रस को उपस्कृत करते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शती का पूर्वार्द्ध) रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाले शब्द को काव्य मानते हैं।[211] रमणीयता लोकोत्तर आह्लादजनक ज्ञान-गोचरता है और लोकोत्तरता चमत्कार का अपर पर्याय आह्लादगत अनुभवसाक्षिक जातिविशेष है। वह काव्य को चतुर्धा विभाजित करते हैं, उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम।[212] शब्दार्थ अपने को जहां गुणीभूत करके किसी अन्य अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वह 'उत्तमोत्तम' ध्वनि काव्य है।[213] जहां व्यंग्य अप्रधान ही चमत्कारकारी होता है, वह उत्तम नामक द्वितीय काव्य है।[214] जागरूक व्यंग्य, समासोक्ति आदि समस्त व्यंग्यप्रधान अलंकार इसमें अन्तर्भूत हैं। 'अतादृशिगुणीभूतव्यंग्यम्' इत्यादि काव्यप्रकाश पर टीकाकारों द्वारा चित्र से अन्य अर्थ करना असत् है, क्योंकि पर्यायोक्त, समासोक्ति, आदि में यह लक्षण अव्याप्त होगा। जगन्नाथ[215] का यह कथन भी स्पष्ट करता है कि वे व्यंग्यप्रधान अर्थालंकारों को काव्य की द्वितीय श्रेणी में रखते हैं। जहां व्यंग्य चमत्कार का असमानाधिकरण वाच्य चमत्कार हो, वह 'मध्यम' नामक तृतीय काव्य भेद है।[216] असमानाधिकरण का अर्थ है वाच्य और व्यंग्य दोनों की एककालिक तथा एक साथ प्रतीति का न होना। इन्हीं दोनों द्वितीय, तृतीय काव्य भेदों में समस्त अलंकार[217] प्रधान काव्य अन्तर्भुक्त हैं। यद्यपि इन दोनों भेदों में गुणीभूतव्यंग्य की विषयता रहती है, किन्तु द्वितीय भेद में व्यंग्य जागरूक रहता है, तृतीय में नहीं। तृतीय भेद में सीमित व्यंग्य अर्थ का चमत्कार व्यापक वाच्य के चमत्कार में अन्तर्लीन रहता है, अतएव उसकी अनुभूति देर से होती है। वस्तुतः यहां व्यंग्य चमत्कारविशेष का जनक न होने से अनुभव का विषय नहीं बनता। अतएव समासोक्ति आदि में जहां व्यंग्य अप्रधान होकर भी चमत्कारी होता है, अनुभूति को जागृत करता है, वहां काव्य का द्वितीय भेद है और आक्षेपादि में, जहां व्यंग्य होता तो अवश्य है, किन्तु वाच्य के चमत्कार में अन्तर्लीन रहता है, ऐसे दीपक आदि अलंकारों तथा अन्य अर्थ के वाच्य अलंकारों को काव्य के तृतीय भेद में रखना होगा। जहां अर्थ चमत्कार से सुशोभित[218] शब्द चमत्कार प्रधान हो वह 'अधम नामक' चतुर्थ काव्य-भेद है। स्पष्ट है कि काव्य का यह भेद शब्दालंकार को अपने में समाभूत करता है। अर्थ चमत्कार सामान्य से शून्य शब्द चमत्कार प्रधान पंचम अधमाधम काव्य 'एकाक्षर यमकादि' भी हो सकते हैं, किन्तु काव्य लक्षण 'शब्द' को ध्यान में रखते हुए जगन्नाथ ने उसे मानना उचित नहीं समझा है।[219] यहां जगन्नाथ काव्य के चार भेद मानकर किसी नई

परम्परा को जन्म नहीं देते, प्रत्युत काव्यप्रकाशोक्त अर्थालंकारघटित अवर काव्य को 'मध्यम' तथा शब्दालंकार घटित अवर काव्य को वे अधम काव्य मानते हैं।[220] मधुसूदनशास्त्री का यह कथन भी संकेत करता है कि उत्तम काव्य में व्यंग्यप्रधान अलंकार, मध्यम में अर्थालंकार (वाच्य) तथा अधम में शब्दालंकार अन्तर्भूत हैं।

जगन्नाथ कहीं भी अलंकार का सामान्य लक्षण नहीं करते। काव्य लक्षण में वह स्पष्ट कहते हैं कि चमत्कारिता ही काव्य-जीवन है।[221] उनका कथन है कि गुणों को शौर्यादि की तरह आत्मधर्म, और हारादि की तरह अलंकारों को उपस्कारक मानना शरीर घटकत्व की अनुपपत्ति को सूचित करता है।[222] अलंकार के प्रारंभ में उन्होंने अलंकार के विषय में लिखा है, 'अथास्य प्रागभिहितस्य काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकारा निरूप्यन्ते' इससे प्रतीत होता है कि काव्यात्मा व्यंग्य (रस) की रमणीयता को ही अलंकार निष्पन्न करते हैं। इससे यह भी प्रतीत होता है कि जगन्नाथ को व्यंग्य ही 'काव्यात्म' के रूप में अभीष्ट है। स्मरणालंकार के लक्षण में वे लिखते हैं 'प्रधान व्यंग्यव्यावृत्त्यर्थं पुनरूपस्कारकत्वं सर्वेष्वलंकारलक्षणेषु देयम्' इसी की व्याख्या में उनका कथन है 'एतच्च विशेषणं सामान्यालंकारलक्षणप्राप्तमेव। एवमुपस्कारकत्वमपि, बोध्यम्।' भ्रान्तिमान् के लक्षण में, 'चमत्कारीति कविप्रतिभा निवर्तित इत्यर्थः' लिखा है। इन सबसे यही प्रतीत होता है कि कविप्रतिभा निवर्तित, मुख्य वाक्यार्थोपस्कारक, सुन्दर शब्दार्थधर्मत्व ही अलंकार है। यह मत बहुत कुछ कुन्तक की भंगीभणिति को अलंकार मानने के समान है।

साहित्यसार में श्रीमदच्युतराय (1831 ई.) ने दंडी आदि के मत का अवलम्बन करते हुए गुण को अलंकार से श्रेष्ठ सिद्ध किया है। उनकी दृष्टि से अलंकार, लक्षण, रस, रीति, आदि सभी गुण हैं, क्योंकि वे सहृदय हृदयहारी होते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार कामिनीकमलशरीर को विभूषित करने के लिये अलंकार गुण (डोरे) में ही पिरोये जाते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी अलंकार गुणों में ही निबन्धित होते हैं। यद्यपि चमत्कारी होने के कारण अलंकार में भी गुण का अन्तर्भाव हो सकता है, किन्तु विद्वानों ने गुण को ही आधार माना है, अतः वही प्रधान है। यदि रमणी सौन्दर्यमयी है, तो अलंकार विहीन होने पर भी वह हृदयहारिणी हो सकती है, किन्तु गुणविहीन होने पर सहस्रों अलंकार से भी क्या होगा? यदि यह सन्देह किया जाये कि अलंकार तो गुण से अभिन्न हैं? ठीक है, किन्तु गुण तो रस के धर्म हैं, फिर रस का क्या होगा? इसका उत्तर अच्युतराय ने स्वयं दिया है,[223] रस आदि भी गुण में ही अन्तर्भूत कर लिये जायेंगे। 'सरसामोद' व्याख्या में उनका मत इस प्रकार है :

**'रसिकाह्लादकत्वं हेतूकृत्य यद्यनुमानेन मया गुणेष्वलंकारान्तर्भावः साधितः स्यात्तदा भवेदेव तस्याप्रयोजकत्वं, मया तु माधुर्यादयस्त्रय एव ये काव्यप्रकाशे गुणत्वेनोक्तास्तान्धर्मत्वेन गृहीत्वा, ये तावदाद्या रसालंकारलक्षणरीतिवृत्तिरूपाः काव्ये उपादेयाः पदार्थास्तान् सर्वानपि रसिकाह्लादकत्वलक्षणसाधर्म्येण गुणत्वेनोररीकृत्य ……… काव्यलक्षणं कृतमिति।'** —सरसामोद, पृ. 13

रसादि से भिन्न शब्द विशेष श्रवण के बाद जो चमत्कार की अनुभूति होती है, वही काव्य में अलंकार कहा गया है :

**'रसादि भिन्नत्वे शब्दविशेषश्रवणोत्तरम्।**
**चमत्कारकत्वं यदलंकारत्वमत्र तत्॥'** —सा.सा., 8/4

इस प्रकार अच्युतराय भी चमत्कार को अलंकार का सामान्य लक्षण मानते हैं।

सर्वेश्वराचार्य ने कविनिःसृत वाणी को अलंकारमयी कामिनी शरीर के समान सौन्दर्यमयी कहा है।[224] यह कथन उनकी अलंकरणप्रियता का द्योतक है।

इस प्रकार अब तक अलंकार के प्रति संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों के मत को उपस्थित किया गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के समग्र अलंकार ग्रन्थों का अध्ययन करने पर पूर्वकथित दो प्रमुख धारायें काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आती हैं। एक की दृष्टि बहिरंग काव्यतत्त्वों को ही काव्यसर्वस्व मानने की है, दूसरे की अन्तरंग को। प्रथम श्रेणी में भामह, दंडी, उद्‌भट, वामन, रुद्रट, भोज, कुन्तक, महिमभट्ट तथा परवर्ती अनेक आचार्य आते हैं, तो द्वितीय कोटि में ध्वन्याचार्य आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति आलोचक। प्रथम श्रेणी के आचार्य शब्दार्थ को ही काव्य मानते हैं और उनकी दृष्टि में वही अलंकार्य भी है। इनकी दृष्टि में शोभाधायक समस्त तत्त्व अलंकार हैं। इस प्रकार रस, गुण, अलंकार, रीति, आदि में कोई मौलिक भेद ये नहीं स्वीकारते। वामन, यद्यपि आत्मवादी अवश्य हैं, किन्तु गुणात्मा रीति भी उनकी अलंकार मात्र रह गयी है, अलंकार्य नहीं।

काव्य के दूसरे छोर पर ध्वनिवादी हैं। ध्वनि-काल में रस, गुण अलंकार की समुचित व्यवस्था की गयी। ध्वनिवादियों को ध्वनि-सिद्धान्त के प्रस्थापन और प्रख्यापन के लिये अलंकार का क्षेत्र संकुचित करना स्वाभाविक ही था। उनका यह प्रयास सफल भी रहा। वस्तुतः ध्वनिकाल में अलंकार व ध्वनि तथा अन्य प्रस्थानों की प्रतिस्पर्धा में काव्यशास्त्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन प्रणालियों का आविर्भाव हुआ। फलस्वरूप ध्वनिवादियों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। उन्होंने

भी यद्यपि काव्यशरीर तो शब्दार्थ को ही कहा, किन्तु आत्मा के अनुसन्धान का श्रेय उन्हें है। रस-ध्वनि को ही प्रधानतया काव्य की आत्मा मान लेने पर काव्य के अन्य धर्मों का व्यवस्थापन भी स्पष्ट और सुगम हो गया। ध्वनिवादियों ने अपने कथन की पुष्टि के लिये लोक का भी सहारा लिया। उन्होंने यह दिखाया कि लोक में शरीर प्राण से ही प्राणवान् है। अतएव शरीरी (आत्मा) के बिना शरीर निष्प्राण है, उसमें अलंकार, गुण का कोई महत्त्व ही नहीं है। प्राणवान् सुन्दर शरीर में शौर्यादि गुणों की भांति काव्य में गुण भी काव्यशरीर को अत्यधिक रमणीय तथा आकर्षक बना देते हैं। शौर्यादि गुण बाह्य न होकर आन्तरिक आत्मा के धर्म हैं, तद्वत् स्थिति माधुर्यादि की काव्य में भी है। इसी प्रकार उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया कि यद्यपि शरीर को अलंकृत किया जाता है किन्तु यदि प्राणविहीन शरीर हो तो अलंकरण व्यर्थ हो जाते हैं। अतएव आत्मा ही प्रधान है, वही प्राधान्येन अलंकरणीय भी। यह अवश्य है कि शरीर आत्मा को अलंकृत करने का माध्यम है। इसी प्रकार काव्य में अलकारों की स्थिति है। यद्यपि वे शब्दार्थशरीर को अलंकृत करते अवश्य हैं, किन्तु प्रधानतया वे रस को उपस्कृत करते हैं, क्योंकि वही प्राण है, उपस्कार्य है। शब्दार्थ केवल उसका माध्यम है। उसकी अलंकार्यता उपचार है, गौण है। इस प्रकार ध्वनि-वाद में आकर अलंकार का स्थान गौण हो गया, प्रधान अलंकार न होकर ध्वनि हो गया।

यद्यपि ध्वनि-उद्भावना के पश्चात् भी अलंकार-प्रधान आचार्यों की कमी नहीं रही, जैसे वाग्भट, जयदेव, दीक्षित, देवशंकर, अच्युतराय, आदि लिये जा सकते हैं। किन्तु ध्वनि उद्भावना के बाद काव्य में एक नयी प्रवृत्ति अवश्य आई, वह है रस को काव्यात्मा का स्थान देना। रुय्यक, विद्यानाथ, जयदेव, नरसिंह प्रभृति आचार्य जहां ध्वनिवादी हैं, वहीं वे गुणालंकार के भेद प्रतिपादन में उद्भटादि प्राचीन आचार्यों के मत के समर्थक भी हैं। उनका गुणालंकार का संघटना और शब्दार्थ के आधार पर भेद स्थापन उद्भट मत का ही अनुकार है। इस प्रकार रुय्यक आदि आचार्य प्राच्य तथा नव्य दोनों ही मतों का सामंजस्य स्थापित करते हैं। जयदेव, वाग्भट, आदि अलंकार पर अत्यधिक आग्रह रखते हैं।

ध्वनि-विरोधी कुन्तक तथा आचार्य महिमभट्ट का आविर्भाव भी काव्यशास्त्र में एक नयी परम्परा को जन्म देता है। कुन्तक की दृष्टि से वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है, वही अलंकार है शब्दार्थ ही शरीर तथा अलंकार्य है। ये अलंकार लौकिक कटक, कुण्डलादि अलंकारों के समान नहीं अपितु उनसे भिन्न हैं। इनका सम्बन्ध शब्दार्थ से है, वे काव्य में कहीं से आकर जुड़ते नहीं, अपितु अलंकार के रूप में

ही काव्य की अभिव्यक्ति होती है।[225] कथन (भणिति) की विचित्रता (भंगी) ही अलंकार है। 'सामान्यतः वक्रोक्ति सिद्धान्त अलंकार सिद्धान्त का ही प्रतिरूप और परिणामतः रसवाद का विरोधी माना जाता है। किन्तु वक्रोक्ति जीवित के सम्यक् अध्ययन करने पर इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि कुन्तक का मत रसविरोधी नहीं था,[226] हाँ, उनका मत रस से स्वतंत्र अथवा भिन्न अवश्य था। उन्होंने रस को अलंकार मानने का प्रबल शब्दों में विरोध किया है। यह अवश्य रहा कि 'वक्रोक्ति' को ही काव्य का आत्मतत्त्व मानने के कारण रसादि को वह गुणों में अन्तर्भूत करते थे।

यद्यपि महिमभट्ट भी ध्वनिविरोधी हैं, किन्तु रस को काव्यात्मा के रूप में वह स्वीकार करते ही हैं। यह बात और है कि रस को अनुमिति का विषय मानना, अव्यावहारिक अवश्य है, क्योंकि रस अनुभूति का विषय है, अनुभूति में अनुमान का कोई भी स्थान संभव नहीं है। शुष्कतर्क का वाग्जाल कहां और कहां सरस, सहृदयहृदयसंवादी, चर्वणाविषय अलौकिक रस? दोनों का आपस में कोई औचित्य ही नहीं है। अलंकार को वह भी कवि की विदग्धपूर्ण उक्ति ही मानते हैं। अलंकार निरूपण में वे भी कुन्तक के ही समीप हैं। यद्यपि वे रस को आत्मा मानकर उसका विवेचन करते हैं, किन्तु रस अनुमितिगम्य होने के कारण शुष्क तार्किक अभिधा ही रह गया। अतएव अन्ततः उनका भी प्रतिपादन काव्य के बहिरंग तत्त्व तक ही सीमित रह गया।

ध्वनिवादियों का अलंकार-विवेचन स्पष्ट और निर्भ्रान्त है। उन्हें काव्य में अलंकार और वस्तु न केवल वाच्य रूप में अभीष्ट हैं, अपितु वे व्यंग्य भी हैं। इसलिये अलंकार सर्वथा काव्य का बहिरंग तत्त्व ही बना रहे यह भी स्थिति नहीं है। काव्य के अलंकार उपमा आदि सर्वथा उसी तरह नहीं होते, जिस तरह लोक में हारादि, इन अलंकारों को शरीर से पृथक् किया जा सकता है। कटक, कुण्डल की उपमा केवल इतना ही व्यक्त करती है कि अलंकार से काव्य की श्रीवृद्धि होती है, न कि सभी अलंकार काव्य में जड़ दिये जाते हैं। रस, शब्द अर्थ के माध्यम से व्यंग्य होता है। आत्मा को उपस्कृत करने वाले तत्त्व शरीर को भी उपस्कृत करते ही हैं। अलंकार भी शब्द और अर्थ के रूप में ही होते हैं। वे प्रधानतया आत्मा को उपस्कृत करते हैं, अप्रधानतया शब्दार्थशरीर को। जहां वे काव्य-सौन्दर्य के संपादक उपादान हैं, वहां वे शब्दार्थ के ही रूपमात्र हैं। जहां केवल शब्द और अर्थ के अलंकारों का निबन्धन कर काव्य की इतिवृत्ति मान ली जाती है, वहां अलंकार की महत्ता तो नष्ट ही होती है, रस में भी व्याघात पड़ सकता है। इसीलिये जैसा कि पहले

कहा जा चुका है। आनन्दवर्द्धन का कथन है कि रसाभिव्यक्ति की स्थिति में अलंकार काव्य के बहिरंग नहीं माने जा सकते। तात्पर्य यह कि जहां रूप अलंकार पर आश्रित होता है, वहां अपृथग्भाव से रसोपलब्धि भी होती रहती है, पर दोनों का सम्बन्ध इस प्रकार का नहीं होता कि उन्हें अलग किया जा सके।

प्राचीन भारतीय साहित्यालोचकों की सूक्ष्म दृष्टि काव्य के सौन्दर्य तत्त्व पर जमी हुई है। इसलिये भारतीय आचार्य बाह्य आभूषण को काव्य का अलंकार तब तक मानने को उद्यत नहीं होते, जब तक उसमें सौन्दर्य न हो। सौन्दर्य ही विच्छित्ति, चमत्कार, शोभा, वैचित्र्य, वक्र, आदि अभिधानों से अभिहित किया गया है। सौन्दर्य या अलंकार का प्रयोग कभी-कभी भावों को अत्यधिक तीव्र और भाषा को सौन्दर्यमयी बनाने के लिये भी किया जाता है। डॉ. खोदा के अनुसार किसी व्यक्ति या पदार्थ को उपयुक्त, समान, अनुरूप बनाने, पुष्ट करने या बल प्रदान करने आदि अर्थों की अभिव्यक्ति में अलंकार शब्द का प्रयोग किया जाता है।[227]

अस्तु। उक्ति का वैचित्र्यपूर्ण कथन ही अलंकार है, वह आत्मा को अलंकृत करता है। कवि प्रतिभा द्वारा निर्वर्तित लोकोत्तर शब्दार्थ सौन्दर्य में रहने वाला (रस) ध्वनि ही काव्यात्मा है। वह व्यापक तथा विभु है। चेतन शरीर में रहने वाली आत्मा का अभिधान जीव है। देह या शरीर के सम्बन्ध से ही उसे देही या शरीरी कहते हैं। इसी तरह रमणीय शब्दार्थ शरीर में रहने वाला ध्वनि ही काव्य का शरीरी, देही और जीव है। अतएव सप्राणता के लिये न केवल अलंकार को ही रसध्वनि की अपेक्षा है, अपितु ध्वनि को भी वाच्य-वाचक रमणीयक शरीर को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना अभीष्ट है। समुचित रूप से अलंकृत चारुशब्द और अर्थ ही काव्यात्मा का अवच्छेदक हो सकता है। अलंकार और अलंकार्य का सम्बन्ध भी यही है।

काव्य न केवल शुद्ध भावना या विचार का समूह है, न ही कथनमात्र, क्योंकि यह इतिहास पुराण आदि से पार्थक्य रखता है। कवि-व्यापार रमणीय विचारों का स्वरूप है। रमणीय विचार अभिव्यक्ति की चारुता में निहित है। अभिव्यक्ति को पूर्ण बनाने, भावों को उत्कष्ट करने तथा भाषा को प्रांजल करने के लिये अलंकार का सहारा लिया जाता है। परन्तु इन्हें यत्नप्रतिपाद्य नहीं होना चाहिये। काव्य में बरबस ही अलंकारों को ठूंसना न केवल उसके सौन्दर्य का व्याघात करता है, प्रत्युत आस्वाद में भी व्यवधान पड़ता है। इस प्रकार की अलंकरण प्रक्रिया सहृदय को उकता देने वाली होती है। कविकर्म सौन्दर्यातिरेक की निष्पत्ति के लिये होता है, न कि अलंकार निष्पत्ति के लिये। इसलिये सौन्दर्याधायक तत्त्व ही अलंकार हैं।

वर्ण्य का उत्कर्ष और परिपोष ही उनकी सार्थकता है। उनका उचित विन्यास काव्य में लावण्य को द्विगुणित कर देता है। वर्ण्य रसादि के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता। अतएव रस और अलंकार का आपस में भूष्य-भूषण भाव सम्बन्ध है। व्यावहारिक जगत् में आभूषणों के विन्यास मानव की मनःस्थिति के द्योतक होते हैं। भावों के विषय में अलंकारों की भी यही स्थिति है।[228]

पाश्चात्त्य विचारक भी अलंकार को काव्य का बहिरंगतत्त्व स्वीकार करते हैं। लोंगिनुस ने औदात्त्य के पांच उद्‌गम स्रोतों का निर्देश किया है, उनमें प्रथम तीन कलागत या बहिरंग तत्त्व हैं :

(1) अलंकारों की समुचित योजना—जिसके अंतर्गत भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही से सम्बन्धित अलंकार आ जाते हैं।
(2) उत्कृष्ट भाषा—जिसके अन्तर्गत शब्दचयन, रूपकादि का प्रयोग और भाषा की सज्जा-समृद्धि आदि गुण आ जाते हैं।
(3) गरिमामय एवं ऊर्जित रचना विधान।

उपर्युक्त तीनों को अलंकार, रीति और गुण माना जा सकता है। लोंगिनुस के अनुसार काव्य के दो अन्तरंग भी तत्त्व है :

(1) महान् धारणाओं की क्षमता—प्रथम और सर्वप्रमुख है।
(2) उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत आवेग।[229]

इन दोनों का सम्बन्ध आत्मा की गरिमा से है। ये दो जन्मजात और अन्तरंग माने गये हैं, शेष प्रथम तीन कलागत या बहिरंग।

अलंकारों की समुचित योजना के अन्तर्गत लोंगिनुस ने दो तथ्यों को ग्रहण किया है : एक है अलंकारविधान का औचित्य और दूसरा है उदात्त के पोषक अलंकारों का निर्देश। वह अलंकार विधान में औचित्य को प्राथमिकता देते हैं। 'उदात्त शैली के निर्माण में अलंकारों का प्रयोग तो आवश्यक होता ही है, किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक होता है—अलंकार प्रयोग का औचित्य, जो स्थान, ढंग, परिस्थिति, रीति और उद्देश्य के ऊपर निर्भर रहता है। अर्थात् भव्य से भव्य अलंकार भी उसी स्थिति में उदात्त का पोषक हो सकता है, जब उसका प्रयोग स्थान, परिस्थिति, रीति और उद्देश्य के अनुकूल हो। किसी अलंकार का प्रयोग स्वतंत्र और निरपेक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो साधनमात्र है। वास्तव में अलंकारप्रयोग की सार्थकता तो तब है, जब वह प्रसंग का सहज अंग बनकर आये और इस बात

पर भी किसी का ध्यान न जाये कि यह अलंकार है।[230] स्पष्टतः कला की यही सबसे बड़ी सिद्धि है कि उसके प्रयोग के विषय में प्रमाता को सन्देह तक न हो। परवर्ती आलोचनाशास्त्र में इसे ही कला का आत्मगोपन कहा गया है। जब अलंकारों का प्रयोग स्वतंत्र रूप में होने लगता है, अर्थात् जब वे साध्य बन जाते हैं तो उनका उद्देश्य ही विफल हो जाता है। इसीलिये लोंगिनुस अलंकार प्रयोग के लिये यह आवश्यक मानते हैं कि वह साधन रूप हो, प्रसंगानुकूल हो, अतिचार मुक्त और अयत्नजन्य हो—कम से कम अयत्नजन्य प्रतीत हो, क्योंकि कला प्रकृति के समान प्रतीत होने पर ही सम्पूर्ण होती है।[231] लोंगिनुस का यह अलंकारविधान का तरीका भारतीय ध्वनिवाद और औचित्य से समानता रखता है।

ब्रैडले के अनुसार स्थूल सौन्दर्य के पांच भेद किये जा सकते हैं—उदात्त, भव्य, सुन्दर, मनोरम (सुष्ठु) और ललित। सीमित अर्थ में प्रयुक्त सुन्दर की स्थिति मध्यवर्ती है।[232] उदात्त की अनुकृति में एक प्रकार की आत्मसमर्पण की अभिभूति अनिवार्य होती है। उसमें प्रीति नहीं, उल्लास का भाव रहता है, जिसमें संभ्रम अर्थात् विस्मय और आदर, यहां तक कि एक प्रकार का भय भी विद्यमान रहता है।[233]

लोंगिनुस और ब्रेडले दोनों के विचारों को देखते हुए उन्हें भारतीय अलंकार शास्त्र के अत्यधिक समीप कहना उपयुक्त होगा। वस्तुतः चाहे देश कोई ही क्यों न हो, किन्तु विचारसरणि और भावोत्तेजना सर्वत्र समान रूप से होती है।

अब तक विभिन्न सम्प्रदायों में अलंकार स्वरूप पर प्राप्त होने वाले दृष्टिकोण का विवेचन किया गया। स्थूल रूप से उसका रसादि, गुण, रीति, आदि से सम्बन्ध भी बता दिया गया है। किन्तु रसादि, गुण, रीति, आदि का बिना ऐतिहासिक विवेचन किये यह कार्य अधूरा ही रह जाता है। अतएव इनका ऐतिहासिक विवेचन और सम्बन्ध ही आगे अभिप्रेत है।

### रस-अलंकार

रस सिद्धान्त के मान्य आचार्य नाट्यशास्त्र प्रणेता भरत माने जाते हैं। भरत के 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र पर, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने रस-सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया है। इनके मतों का विवेचन यहां प्रकृत नहीं है, इसे अभिनव भारती, काव्यप्रकाश, लोचन तथा अन्य ग्रन्थों में देखना चाहिये। वस्तुतः विभाव, अनुभाव, संचारी भावों से उद्बुद्ध, सहृदयहृदय में रहने वाला रत्यादि स्थायी भाव, पानकरसन्याय से चर्वणीय, ब्रह्मानन्दसहोदर ही रस है। भरत ने स्पष्ट रूप से कहा है कि गुणालंकार, दोष, आदि

का प्रयोग रसाश्रय को[234] लेकर किया जाना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि नाटक (काव्य) में उन्हें रस ही प्रधान रूप से अभीष्ट था।

भामह ने शृंगारादि रसों के विवेचन में रसवत्, देवादि विषयक भाव स्थल में प्रेयस्वत् तथा वीरादि ओजःपूर्ण रसों में ऊर्जस्वि अलंकार स्वीकार किया है।[235] उन्होंने शोभाकर धर्म होने के कारण रसादि को भी अलंकार मान लिया अतएव उनकी दृष्टि में रस, अलंकार से भिन्न नहीं है। दंडी के अनुसार भी प्रियतर आख्यान प्रेय,[236] रस पेशल वर्ण्य रसवत्, रूढ अहंकार ऊर्जस्वि कहा जाता है। यद्यपि उन्होंने तीन ही रसादि अलंकारों का प्रयोग किया है, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उनकी दृष्टि में सभी अलंकार रस के लिये ही प्रयुक्त होते हैं। रसवदादि के विषय, शृंगारादि आठ रस, उन्हें मान्य हैं।[237]

उद्भट के अनुसार शृंगारादि नव रसों की पुष्टि होने पर काव्य रसवत्[238] कहा जाता है। रसों की यह पुष्टि शृंगारादि शब्दों से, रत्यादि स्थायी भावों से, निर्वेदादि संचारी भावों से, विभावों तथा आंगिक आदि अभिनयों से होती है। जिस काव्य में शृंगारादि रसों का आविर्भाव दिखाया जाता है वह रसवत् कहा जाता है और रस उसके अलंकार होते हैं।[239] अनुभाव आदि से सूचित रत्यादि भावों के निबन्धन में (काव्य) प्रेयस्वत् होता है।[240] प्रेयः शब्द से यहां प्रियतर रति उपलक्षित होती है। उसके साहचर्य से रत्यादि भावों की प्रतीति होती है। इसलिये भाव काव्य ही प्रेयस्वत् है, यहां भाव अलंकार है और काव्य अलंकार्य।[241] काम, क्रोध, आदि कारणों से अनौचित्य प्रवृत्त भावों और रसों का निबन्धन ऊर्जस्वि कहा[242] जाता है, तथा यह अनौचित्य शास्त्र विरुद्ध होता है।[243] वस्तुतः शास्त्रसंमित अविरुद्ध निबन्धन रसवत् प्रेय अलंकार है और विरुद्ध निबन्धन ऊर्जस्वि। रस, भाव, रसाभास तथा भावाभास के प्रशमन में समाहित अलंकार होता है,[244] वहां अन्य रसादि के विभावादि भी प्रशमित हो जाते हैं। भामह दंडी केवल तीन रसादि अलंकार का विवेचन करते हैं उद्भट चार का। इस प्रकार भामहादि के अनुसार रस की प्रधानता में रसवत्, भाव की प्रधानता में प्रेयस्, दंडी के अनुसार प्ररूढ अहंकार और उद्भट के अनुसार अनौचित्य प्रवृत्त रस, भाव का उपनिबन्धन ऊर्जस्वि अलंकार है। उद्भट की दृष्टि में रस, भाव, रसाभास भावाभास का प्रशमन समाहित है। यद्यपि समाहित का विवेचन वामन ने भी किया है परन्तु वह गृहीतवस्तु के सादृश्य निबन्धन[245] का विषय है। भामहादि सभी की दृष्टि में रसादि अलंकार हैं काव्य अलंकार्य।

रुद्रट ने यद्यपि रसवदादि अलंकारों का विवेचन नहीं किया है, किन्तु उन्होंने रसों का भी काव्यालंकार में अलग से विवेचन किया है। सरस तथा सालंकार काव्य

करने वाला महाकवि कल्पान्तर स्थायी यश का भागी होता है।[246] इससे स्पष्ट है कि काव्य में उन्हें रस का महत्त्व मान्य है। शृंगारादि रसों से चतुर्वर्ग में सरस वस्तुओं की प्रतीति की जाती है।[247] रुद्रट शृंगार, वीर, करुण, वीभत्स, भयानक, अद्‌भुत, हास्य, रौद्र, शान्ति और प्रेयान् ग्यारह रसों की विवेचना प्रस्तुत करते हैं। मधुर, अम्ल, आदि लौकिक रसों की भांति इन काव्यरसों का भी आस्वादन किया जाता है।[248] प्रेयान् रस उनका नूतन रस है उसका स्थायी भाव स्नेह है, साहचर्यादि विभाव, बहते हुए प्रमदादि के अश्रु आदि अनुभाव हैं।[249] आगे चलकर विश्वनाथ आदि ने इसे ही वात्सल्य नामक रस माना है।

रस और अलंकार का स्पष्ट भेद निरूपण आनन्दवर्द्धन ने भामहादि के मत को उपस्थित करते हुए किया है। ध्वनिवाद में ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। ध्वनि वस्तु, अलंकार और रसभेद से त्रिधा होती है, किन्तु आत्मा रसध्वनि ही है। वस्तु अलंकार तो सर्वथा रस के प्रति पर्यवसित होते हैं, किन्तु वाच्य से उत्कृष्ट होने के कारण उन्हें भी काव्यात्मा कहा जाता है।[250] जहां मुख्य रूप से विभाव, अनुभाव व्यभिचारी के संयोग से उत्पन्न स्थायी भाव की प्रतिपत्तियां सहृदय प्रमाता के स्थायी अंश की चर्वणा का प्रकृष्ट आस्वाद होता है, वहां रसध्वनि होती है।[251] व्यंग्यत्रयी में रस ही प्रधान है। रस की प्रधानव्यंग्यता में ध्वनि होती है, अन्यथा रसवदादि अलंकार।[252] वस्तुतः जहां रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम रूप मुख्यार्थ का अनुगमन करते हुए शब्दार्थ के अलंकार और गुण, परस्पर ध्वनि की अपेक्षा भिन्न रूप में अवस्थित हों, वहां काव्य में ध्वनि व्यपदेश होता है।[253] जहां वाक्यार्थ ही प्रधान हो तथा रसादि उसके अंगभूत हो जायें, वहां काव्य में रसवत्,[254] प्रेय, आदि रसादि अलंकार होते हैं। जैसे चाटु के विषय में प्रेय अलंकार के मुख्य वाक्यार्थ होने पर भी रसादि उसके अंगभूत देखे जाते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भामहादि प्राचीन आचार्य हर अवस्था में ही रसादि को अलंकार मानने के पक्षपाती हैं। उनके अनुसार जहां प्रेयान् या अतिशय प्रियप्राणी अलंकरणीय होता है, वहां प्रेय अलंकार होता है।[255] किन्तु ध्वनिकार के अनुसार 'प्रेय' अलंकार नहीं अपितु प्रधानीभूत वाक्यार्थ होने के कारण अलंकरणीय हैं। गुरु, देव, नृपति विषयक प्रीतिरूप भामह का प्रेय मम्मट[256] आदि की दृष्टि से भाव है। उद्‌भटादि चाटु विषय के वाक्यार्थ होने पर प्रेयान् अलंकार स्वीकार करते हैं। उद्‌भट की दृष्टि में प्रेम ही भावों का उपलक्षण है, क्योंकि प्रेम से ही भाव उपक्षित होते हैं। इसलिये प्रेम ही भावालंकार है।[257] किन्तु जहां रसादि का वाक्यार्थीभाव हो, वहां की स्थिति क्या होगी? क्यों न उन्हें अलंकार माना जाये?

वस्तुतः चारुता ही अलंकार है। रस अपने को ही अलंकृत कैसे कर सकता है? आत्मा आत्मा को अलंकृत नहीं करती।[258] अतएव प्रधानात्मा रस अलंकार नहीं हो सकता। रस, भाव, आदि के तात्पर्य के अनुसार अलंकारस्थापना उनकी अलंकारता का साधन है। इसलिये जहां रसादि वाक्यार्थ हैं, वह रसवदादि का विषय नहीं है, प्रत्युत् वह ध्वनि का विषय है, उपमादि उसी के अलंकार हैं। जहां अर्थान्तरप्रधान वाक्यार्थ हो जाता है और रसादि चारुता-निष्पादन के हेतु होते हैं, वहां रसवदादि अलंकार होते हैं।[259] इस प्रकार ध्वनि से उपमादि अलंकारों की विषयता निम्न है :

**'एवं ध्वनेरूपमादीनां रसवदलंकारस्य च विभक्तविषयता भवति।'**

—वही, पृ. 210

अलंकारों में व्यंग्य सर्वथा वाच्य में गुणीभूत हो जाता है :

**'सर्वथालंकारेषु व्यंग्यं वाच्ये गुणीभवतीति नः साध्यम्।'** लो, पृ. 115

जैसा कि, भामह आदि कहते हैं, यदि चेतन वस्तु के ही वर्ण्य विषय होने पर रसवदादि अलंकार माना जाये, तब तो उपमादि अलंकारों की अविरल विषयता या निर्विषयता हो जायेगी, क्योंकि यदि कभी अचेतनवस्तुवृत्तान्त वाक्यार्थीभूत (प्रधानीभूत) हो जाये तब तो चेतन वस्तु की वृत्तान्तयोजना कथंचित् हो पायेगी। और यदि यह कहा जाये कि जहां चेतनवस्तुवृत्तान्त योजना होने पर भी अचेतन विषय का वाक्यार्थी भाव है रसवद् का विषय है, तब तो रसालुप्त महान् प्रबन्ध भी नीरस हो जायेंगे। 'तरंगंभ्रूभंगा' 'तन्वीमेघजलार्द' आदि 'विक्रमोर्वशीय' के पद्य में अचेतन वस्तु ही प्रधान है, किन्तु फिर भी चेतन वस्तु वृत्तान्त योजना है ही। अतएव जहां चेतनवस्तु की वृत्तान्तयोजना है, वहीं रसादि अलंकार होते हैं, यह मानने पर उपमादि की प्रविरल विषयता, निर्विषयता सिद्ध हो जायेगी, क्योंकि ऐसा कोई भी अचेतन वृत्तान्त नहीं है, जहां अन्ततः चेतन वृत्तान्त विभावादि के रूप में न हो। इसलिये रसादि के अंगी होने पर आत्म व्यवहार उचित है और अंग होने पर रसवदादि अलंकार। अंगी रस अलंकार्य है, अंगभूत अलंकार।[260] रसादि अंगी हैं अलंकार अंग।[261] यद्यपि अलंकार भी व्यंग्य होते हैं, तथापि उसे सर्वत्र प्रधानतया आत्मा नहीं कहा जाता, क्योंकि आत्म-व्यवहार होने पर भी सर्वत्र जीव-व्यवहार नहीं किया जाता :

**'तेन सर्वत्रापि ध्वनिसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः। आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहारः।'** लो., पृ. 90

वस्तु और अलंकार का आंगित्व (ध्वनि) तो औचित्यवश ही किया गया है, वस्तुतः रस ही आत्मा है :

> **'रसस्यैवात्मभूततत्वंयुक्तं भवति .......... वस्त्वलंकारध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुक्तमिति।'** —वही, पृ. 92

आत्मा कभी शरीर की चारुता का हेतु नहीं होता, अलंकार्य ही अलंकार और गुणी ही गुण नहीं कहा जाता।[262] इस प्रकार रसादि और अलंकार का भेद स्पष्ट है। वह रस का अंग है। रसांग दशा में उसे अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य होना चाहिए। अलंकार वाच्य भी होते हैं व्यंग्य भी। वाच्य अवस्था में वे प्रधानभूत काव्यात्मा रस को शब्दार्थ शरीर के माध्यम से सुशोभित करते हैं। व्यंग्य दशा में भी उनका पर्यवसान अन्ततः रस में ही होता है।[263]

कुन्तक न केवल भामह आदि प्राचीन आचार्यों की रस को अलंकार मानने की प्रवृत्ति का विरोध करते हैं, अपितु वे ध्वनिवादी के रसवत् का भी खण्डन करते हैं। उनका कहना है, कि सहृदय सत्कवियों को काव्यों में सर्वत्र अलंकार्य और अलंकार की सत्ता का पृथक् रूप से परिज्ञान रहता है। रसवत् में यह परिज्ञान असंभव है। यदि वर्ण्यमान प्रधानभूत शृंगारादि रस ही अलंकार्य हैं, तो अलंकार किसी और को होना चाहिये अथवा यदि रस को ही अलंकार मानें तो इससे भिन्न अलंकार्य अवश्य किसी को होना चाहिये। किन्तु भामह आदि के अलंकार में इस प्रकार का कोई तत्त्व नहीं दीख पड़ता। यदि 'रसवद्दर्शितस्पष्ट' आदि का बहुब्रीहि के द्वारा अर्थ करें कि जिसमें स्पष्ट रूप से शृंगारादि रस प्रदर्शित किये गये हैं, ऐसा काव्य ही रसवत् अलंकार है, तो भामह के ही कथन से विरोध हो जाता है, क्योंकि वह काव्य के एकदेश शब्द, अर्थ में ही अलंकार मानते हैं। इस प्रकार उपक्रमोपसंहार दोष (जिसका उपक्रम है, उपसंहार में उसी का परित्याग रूप) हो जाता है। यदि 'दर्शिता स्पष्टशृंगारादयोयेन' ऐसा समास मानें तो यहां प्रदर्शित करने वाला कौन है? यह सन्देह जागरित होता है। यदि रसों को प्रतिपादन वैचित्र्य माना जाये तो उसे प्रतिपाद्यमान अलंकार से भिन्न मानना पड़ेगा। प्रतिपाद्य ही स्वयं प्रतिपादक नहीं हो सकता। यदि रसवत् को रसों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन वैचित्र्य मान लिया जाये, तो शृंगारादि रसों के स्पष्ट दर्शन में उनके स्वरूप की ही सिद्धि होती है, न कि अलंकार या अलंकार्य की।

उद्भट शृंगारादि रसों के स्वशब्द वाच्य होने पर रसवत् अलंकार स्वीकारते हैं, यह तो और भी दोषपूर्ण है। रस तो स्वशब्द वाच्य होता नहीं। इसी प्रकार दंडी

का 'रसवद्रससंश्रयः' लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहां बहुव्रीहि मानने पर तो काव्य ही रसवत् होगा और कह चुके हैं कि काव्य वैसा नहीं होता। रस के अनुप्रवेश से पदार्थ रूप अलंकार्य अलंकरण का विषय हो जाता है, यह कहना तर्कहीन है, क्योंकि जो पहले अलंकार्य रह चुका है, बाद में वह अलंकार कैसे हो सकता है? यदि 'रसवत् का अलंकार' या रसवान् जो अलंकार यह तत्पुरुष मानकर अर्थ करें तो भी संगत नहीं है, क्योंकि रसवान् है क्या? रसवान् तो अलंकार्य ही हो सकता है, उसका अलंकार विशेषण होना संभव नहीं। यदि 'रसवतः अलंकारः' यह षष्ठी तत्पुरुष मानें तो रसवान् काव्य ही कहा जा सकता है, रसवान् काव्य का अपर अभिधान हो जायेगा। इससे उपमादि में भी उसकी सत्ता अनिवार्य होगी और सर्वत्र संकर की आपत्ति आ खड़ी होगी। चेतन वस्तु के सम्बन्ध में रसवत् अचेतन के सम्बन्ध में उपमादि कहें, तो भी दोष ही है। यहां ध्वनिकार का मार्ग कुन्तक ने अवलंबित किया है।

इतना ही नहीं कुन्तक ने ध्वनिकार की रसवत् को अलंकार मानने की दिशा का भी खण्डन किया है।[264] और 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' आदि में शृंगार तथा करुण विरोधी रसों की सहस्थिति को दुष्ट कहा है। इसी प्रकार उन्होंने प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहित अलंकारों को भी अलंकार मानने का खण्डन किया है।[265] रसवत् का स्वरूप कुन्तक कुछ और ही प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार रस तत्त्व के विधान से सहृदय-आह्लादकत्व होने के कारण जब अलंकार भी रस के समान हो जाता है, तो उसे रसवत् कहा जाता है।[266]

भोज ने भी सविस्तार 'रसवत्' के ऊपर प्रकाश डाला है। रसों के प्रतिपादन में जो समर्थ होता है, उसे रसवत् कहते हैं। चमत्कार के दो रूप माने जा सकते हैं—भावगत और कल्पनागत। प्रथम के अन्तर्गत रस प्रपंच आता है द्वितीय में अलंकार। कल्पनाजन्य चमत्कार के साथ जब भाव सौन्दर्य का समावेश होता है, तो रसवत् अलंकार होता है। रसवान् वस्तु (रामादि) का वर्णन करने वाला कवि स्वयं रसिक होता है। यदि कवि शृंगारी हो तो सम्पूर्ण काव्य जगत् ही रसमय हो उठता है। अस्तु जहां रस प्रतिपादन में कवि समर्थ होता है, वहां रसवत् अलंकार होता है तथा काव्य भी रसवत् होता है।

ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन के बाद प्रायः सभी आलंकारिकों ने रस-अलंकार का वही स्वरूप भेद माना जो ध्वनिवादी ने स्थिर कर दिया था। आनन्द के पूर्व भामहादि आचार्य, जो कि समस्त काव्यशोभाकर धर्म को अलंकार मानते थे, स्वाभाविक ही था, कि वे रस को भी अलंकार मानते। उनके लिये तो अलंकार्य

था, केवल शब्दार्थ। अतएव आत्मा का कोई प्रश्न नहीं था। ध्वनिवादियों ने ध्वनि (रस) को काव्य की आत्मा, अंगी विभु तथा प्रधान माना और अलंकार को उसका (शब्दार्थ शरीर के द्वारा) अंग द्वारा उत्कर्षक धर्म, अंग तथा अव्यापक। और दोनों को अंगांगि भाव से काव्य में उन्होंने व्यवस्थित किया। मम्मटादि परवर्ती आचार्य भी यही मानते रहे। अलंकारप्रधान जयदेव, दीक्षित प्रभृति भी ध्वनिवादी के मत को अस्वीकार नहीं कर सके। अमृतानन्दयोगी प्रभृति विद्वान इसके अपवाद हैं, जिन्होंने भामह, दंडी, आदि की नीति अपनाकर रसादि को ही रसवदादि मान रखा है।[267] अस्तु परवर्ती आचार्यों के मत का प्रदर्शन व्यर्थ ही है।

### गुण-अलंकार

सामान्यतः गुणालंकार का स्वरूप भेद अलंकार परिसर में ही हो चुका है। संकेत मात्र करना है। भरत ने गुणालंकार के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया, किन्तु नाट्यशास्त्र[268] में उन्होंने गुण, अलंकार का विवेचन किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्हें इसका ज्ञान था। भरत ने दोष विपर्यय ही गुण कहा है तथा शब्द और अर्थ के श्लेष, प्रसाद समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति[269]—दश गुणों का विवेचन किया है। भरत के समता गुण के लक्षण :

**अन्योन्यसदृशं तत्र यत्रह्यन्योन्यभूषणम्।**
**अलंकारा गुणाश्चैव समास्युः समता मता।।** —ना.शा., 16/101

पर आलोचना करते हुए हेमचन्द्र कहते हैं कि परस्पर विभूपित करना ही गुणालंकार का धर्म है, किन्तु गुणालंकार भिन्न अधिकरण वाले हैं, फिर एक-दूसरे को विभूपित कैसे कर सकते हैं?[270] अभिनव का कथन है कि गुणालंकार वैसे ही काव्य को सुशोभित करते हैं, जैसे रंग, चित्र और भवन भित्तियों को।[271] उनके अनुसार गुण रस को अधिक उपस्कृत करते हैं अपेक्षा अलंकारों के। रसाभिव्यक्ति के हेतु गुण हैं और वस्त्वन्तर के हेतु अलंकार।[272] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भामह दंडी की दृष्टि में गुणालंकार में कोई तात्त्विक भेद नहीं है।[273] भामह माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुणों का उल्लेख करते हैं, किन्तु दंडी दश गुणों का। दंडी के (1/3) पर तरुणवाचस्पति ने यह मन्तव्य प्रकट किया है :

**'शोभाहेतवो गुणाः, शोभातिशयहेतवोऽलंकाराः, इति कैश्चिदुक्तम्। शोभातिशयस्यैव विवक्षितत्वान्नायं हेतुरिति गुणा अलंकारा एव इत्याचार्याः ततः श्लेपादयो गुणात्मका अलंकाराः।'**

उद्भट तथा वामन के मतों को रखते हुए उनका काव्यप्रकाशकार की रीति से खण्डन भी किया जा चुका है। उद्भट ने गुण को संघटनाश्रित तथा अलंकार को शब्दार्थ पर आश्रित माना है। इस प्रकार गुणालंकार में उनकी दृष्टि से कोई भेद नहीं है, विषय मात्र का ही भेद है। संजीवनीकार ने स्पष्ट ही प्राचीनों के मत को यहां रखा है :

**'अथोद्भटादिभिः गुणालंकारयोर्भेदोऽपिनावधारितः।'** —सं., पृ. 9

वामन भरतमतानुयायी हैं। काव्य शोभाकर धर्म, अलंकार का जो स्वरूप दंडी ने स्थिर किया था, वामन में वह उसी स्थिति में रह गया। डॉ. राघवन् के अनुसार दोषाभाव को ही उन्होंने सौन्दर्याधायक तत्त्व मान लिया। वही गुण हुआ। गुण को नित्य अलंकार को अनित्य तथा गुण को अत्यधिक उत्कर्षक अलंकार को कम उत्कर्षक मानना ही उनका वैशिष्ट्य है। दोषाभाव को गुण और 10 शब्दार्थ गुण मानना वामन के ऊपर भरत का स्पष्ट प्रभाव लक्षित करता है।

रुद्रट के काव्यालंकार 2/6 की टीका में नमिसाधु का कथन है कि ये रीतियां अलंकार नहीं हैं अपितु शब्दाश्रित गुण हैं। पुनः रसों को भी अलंकार मान लेने का सन्देह व्यक्त करते हुए उनका कहना है कि शब्दार्थ काव्य के शरीर हैं, वक्रोक्ति वास्तव आदि उसके कटक कुंडल की तरह कृत्रिम अलंकार और रस सहज सौन्दर्य गुण हैं :

**'अथालंकारमध्ये रसा अपि किं नोक्ता। उच्यते—काव्यस्य हि शब्दार्थौ शरीरं, तस्य च वक्रोक्तिवास्तवादयः कटक कुंडलादय इव कृत्रिमा अलंकाराः, रसास्तु सौन्दर्यादय इव सहजा गुणा इति'**—न. साधु., पृ. 150

जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रतिहारेन्दुराज भी गुण को नित्य और अलंकार को काव्य का अनित्य शोभाधायक तत्त्व मानते हैं।[274] भोज का मन्तव्य पहले ही दिया जा चुका है। भट्ट नरसिंह गुण को नियत धर्म तथा अलंकार को आगमापायी मानते हैं।

पहले ही कह चुके हैं कि ध्वनि के उद्भावक आचार्य 'वर्द्धन' ने गुणालंकार का भेद भी व्यवस्थित किया। उनके अनुसार अलंकार काव्य शरीर का बाह्य सौन्दर्य है और गुण रस के धर्म हैं। जिस प्रकार मानव आत्मा के शूरता, वीरता, आदि आन्तरिक धर्म हैं,[275] उसी प्रकार माधुर्यादि रस के। गुण अंगी के धर्म हैं अलंकार अंग के। शौर्यादि को अभिव्यक्त करने का माध्यम शरीर है, माधुर्यादि के लिये

वर्ण, शब्दार्थ, आदि। मम्मट ने स्पष्ट कहा है:

**'ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।**
**उत्कर्ष हेतवेस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः।।'** का. प्र., 8/1

इस प्रकार रस के बिना जिसकी स्थिति असंभव है, तथा स्थित रहने पर जो अवश्य ही रसको उपस्कृत करते हैं वे गुण हैं, इनसे भिन्न स्थिति अलंकारों की है, जिनका विवेचन पहले ही किया जा चुका है। विश्वनाथ ध्वनि मतावलम्बी हैं। रुय्यक, विद्यानाथ नरसिंह—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उद्भट मतानुयायी है—संघटनाश्रित गुण और शब्दार्थाश्रित अलंकार को मानते हैं। अच्युतराय, गुणालंकार सभी को अलंकार ही कहते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ का मत वामन, ध्वनिवादी, मम्मट, आदि का विरोधी है। उनका कथन है कि गुण रस के धर्म नहीं हो सकते।[276] उनका अभिमत है कि यह रचना मधुर है, 'यह पदावली मधुर है' 'यह ओजस्वी है' इत्यादि व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये लक्षण का आश्रयण नहीं करना पड़ता, क्योंकि उक्त प्रकार के माधुर्य आदि गुण शब्द अर्थ तथा रचना आदि में भी रह सकते हैं।[277] इस प्रकार जगन्नाथ की दृष्टि से गुण, रस, रचना तथा शब्दार्थ के धर्म हैं।

जगन्नाथ का यह मत कोई नवीनता का सूचक नहीं है। रसों की अभिव्यक्ति भी शब्दार्थ के द्वारा ही होती है। गुणों की अभिव्यक्ति के भी माध्यम शब्दार्थ ही हैं। इस प्रकार गुण शब्दार्थ में तो रहता ही है, परन्तु शब्दार्थ में रहते हुए भी वह उपचार से आत्मा का धर्म कहा जाता है। शूरता, वीरता, आदि आत्मा के धर्म भले ही हों उनको प्रकट करने का माध्यम तो शरीर ही है। वस्तुतः यह कथन तो विश्वनाथ की इस उक्ति में ही है :

**'यथा खल्वङ्गित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयोगुणशब्दवाच्या, तथा काव्येऽङ्गित्वमाप्तस्य रसस्य धर्माः स्वरूपविशेषामाधुर्यादयोऽपि स्वसमर्पकपदसन्दर्भस्य काव्यव्यपदेशस्यौपयिकानुगुण्यभाज इत्यर्थः।'**[278]

विश्वनाथ, कर्णपूर, विश्वेश्वर, नरेन्द्रप्रभसूरि, आदि आचार्य गुणालंकार विवेचन में जहां ध्वनि मतानुयायी हैं, वहां रुय्यक, जयदेव, दीक्षित, विद्यानाथ, नरसिंह आदि, आचार्य प्राचीन तथा नव्य—दोनों शैलियों का समन्वय करते हैं।

आलोचकों ने मानव की तरह काव्य के दो स्वरूप माने हैं : शरीर और आत्मा। नव्य आलोचकों के अनुसार वाच्यवाचक ही शरीर या काव्य के अंग हैं, तथा रस

आत्मा और अंगी। शरीर तभी तक प्राणवान् है, जब तक उसमें आत्मा का निवास है। आत्म (रस) विहीन काव्य निर्जीव चित्र मात्र रह जाता है। जैसा कि भामह आदि रसादि को रसवदादि अलंकार मानते हैं, अंगी हर स्थिति में अंग नहीं बन सकता। अलंकार शरीर या आत्मा की शोभा को बढ़ाने के उपकरण हैं, किन्तु वे सभी स्थिति में शोभावर्द्धक हों ही, यह आवश्यक नहीं है। गुणविहीन व्यक्ति को कितने ही आभूषणों से क्यों न ढक दिया जाये, क्या वह शोभा का वर्द्धक होगा? भले ही वह ऊपर से अच्छा लगे, किन्तु अन्ततः वह श्रीयुक्त नहीं माना जा सकता, निर्गन्धा इव किंशुकाः'। यह अवश्य है कि कहीं-कहीं वे शोभा के उत्पादक भी हो जाते हैं। लोक में देखा जाता है कि सुन्दर, गुणवान् व्यक्ति की सर्वत्र पूजा होती है। सुकरात में कुरूपता की कमी नहीं थी, पर विश्व आज भी उसके गुणों पर मुग्ध है। अस्तु गुण आवश्यक धर्म हैं, अलंकार नहीं।

शरीर की शोभा अलंकारों से अवश्य होती है, किन्तु यदि शरीर स्वयं सौन्दर्यपूर्ण है, तो इनकी जरूरत नहीं है। सौन्दर्यपूर्ण शरीर में अलंकार योग कदाचित् ही शोभावर्द्धक होता है। वस्तुतः अलंकरण औचित्य पर निर्भर करता है। रति की कामना से युक्त रमणी अपने प्रियतम को आकर्षित करने के लिये अपने को आभूषणों से मंडित करती है। देखने वाला एकाएक कह उठता है 'कितनी अच्छी लग रही है' पर वास्तव में उस युवती का उपक्रम तो अपने प्रियतम को रिझाने के लिये ही है। वस्तुतः अलंकार केवल मनोभावों को इंगित करते हैं। कभी-कभी भावों के न रहने पर भी अलंकार उन्हें थोड़ा-बहुत उद्दीप्त करने में सफल हो जाते हैं। परन्तु जहां भाव का सर्वथा अभाव ही हो तो हजार-हजार अलंकार क्यों न हों, सब व्यर्थ हैं। कभी-कभी जब चित्तवृत्ति बिल्कुल ही भावमयी हो जाती है, तथा मन आनन्द निमग्न हो जाता है, तो वहां अलंकार की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। कभी-कभी तो वे इतनी विचित्र स्थिति पैदा कर देते हैं कि भाव, रूप, रंग सभी को चौपट सा कर देते हैं। डॉ. राघवन् ने तमिल की एक कहावत पेश की है कि 'यदि नाक का बेसर (मोती), चुम्बन (रति) में बाधक हो तो उसे दूर फेंक देना चाहिये। इसलिये यदि भाव अपने चरमोत्कर्ष पर है, नहीं भी है, दोनों ही स्थिति में अलंकार परिहार्य हैं। यदि भाव हैं तो अलंकार के बिना भी रमणी रमणीय हो सकती है, भावशून्य होने पर कानी-कुबड़ी में हारादि के सन्निवेश की भांति, काव्यालंकार भी व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि :

**'रक्ते विरक्ते च वरे वधूनां निरर्थकं कुंकुमपत्रभङ्गः।'**[279]

राघवन् के अनुसार तो कभी-कभी गुणों की भी व्यर्थता सिद्ध हो जाती है, जैसे प्राचीनों के श्लेषादि गुण।[280]

इस प्रकार यद्यपि गुण, अलंकार दोनों ही आत्मा के उपस्कारक धर्म हैं, किन्तु गुण आत्मा का धर्म होने से आराद्उपकारक है। अलंकार की स्थिति इससे भिन्न है। यद्यपि वे भी अन्ततः आत्मा का ही उपस्कार करते हैं, किन्तु प्रथम वे शरीर को उपस्कृत करते हैं, तदनन्तर उसके द्वारा शरीरी को भी। इस प्रकार अलंकार की अलंकारता गौण है, उपचार है। गुण अन्तरंग और नित्य धर्म है, तो अलंकार काव्य का बहिरंग और अनित्य। इस प्रकार दोनों में स्वरूप भेद तो अवश्य है, किन्तु विषय भेद नहीं है, क्योंकि दोनों ही आत्मा को उपस्कृत करते हैं।

**रीति-अलंकार**

जिस पर परम्परापूर्वक कविगण चला करते हैं, उसे रीति,[281] वृत्ति या मार्ग आदि कहा जाता है। आधुनिक युग में रीति (शैली) का बहुत ही महत्त्व है। मार्ग की भी व्युत्पत्ति इसी प्रकार है—मृग्यते कविभिरासंसारमिति मार्गपदेनोच्यते।[282] रीति का काव्य में वही स्थान है, जो शरीर में अवयव संस्थानों का।[283] भरत के नाट्यशास्त्र में सात्वती, भारती, आरमटी तथा कैशिकी चार नाट्यवृत्तियों का उल्लेख है। भरत ने उन्हें काव्य-माता कहा है 'वृत्तयः काव्यामातृकाः'। भामह ने, वैदर्भी, गौडी, पांचाली तीन रीतियों का उल्लेख किया है तथा शोभाधायक तत्त्व मानकर अलंकार में ही परिगणित कर लिया है।[284] अनुप्रास में लाटीया का भी वह संकेत करते हैं। दंडी रीति को वाणी या रचना का प्रकार मानते हैं तथा वैदर्भी और गौडी दो ही रीतियों का विवेचन करते हैं।[285] उन्होंने श्लेषादि दश गुणों को वैदर्भी का प्राण भी कहा है।[286] परन्तु दंडी भी रीति को काव्य का उत्कर्षकधर्म मानकर अलंकार में अन्तर्भूत[287] करते हैं।

रीति की स्थिति अलंकार से भिन्न नहीं है, इसका स्पष्टीकरण उद्भट उन्हें अनुप्रास का भेद मानकर करते हैं। अनुप्रास के दो भेद हैं : छेक तथा वृत्ति। वृत्यनुप्रास के कोमला, परुषा तथा उपनागरिका तीन भेद हैं।[288] उद्भट का यही मत बाद में मम्मट आदि आचार्यों ने भी स्वीकार किया।

यद्यपि दंडी को भी रीति का आचार्य माना जाता है, किन्तु काव्यात्मा का स्थान इसे वामन ने ही प्रदान किया।[289] उन्होंने पद रचना[290] विशेष को रीति कहा है तथा विशेष गुण को माना है।[291] वह भामहोक्त, वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली तीन रीतियों का ही विवेचन प्रस्तुत करते हैं।[292] वैदर्भी ही समग्रगुणोपेता[293] है। वैदर्भी

आदि अभिधान उन-उन देशों में उनका व्यवहार[294] होने के कारण पड़ा है। परन्तु देश विशेष में व्यवहृत होने के कारण उनका नामकरण जैसा कि वामन मानते हैं, उचित नहीं है क्योंकि न वैदर्भी केवल विदर्भ में चलती है, न गौडी गौड देश में। कुन्तक ने वामन के इस मत का विधिवत् खण्डन किया है। ओजः कांतिमती[295] गौडी तथ माधुर्य सौकुमार्य गुणोपेता पांचाली[296] कही गयी है। इनमें गुणसाकल्य होने के कारण वैदर्भी ही ग्राह्य है,[297] अन्य स्तोक गुणवाली होने के कारण अग्राह्य।[298] वामन का कहना है कि इन्हीं तीन रीतियों में रेखा में चित्र की भांति काव्य प्रतिष्ठित है।[299]

रुद्रट ने चार रीतियों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार चार रीतियां हैं। प्रेय, करुण, भयानक तथा अद्भुत रस में वैदर्भी, पांचाली रीतियां होती हैं, और रौद्र रस में लाटी तथा गौडी रीति का प्रयोग किया जाता है।[300] वृत्ति तो अनुप्रास का भेद है। वृत्तियां पांच हैं :[301] मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता तथा भद्रा। वर्णों के नानात्व में ही इनकी यथार्थता है। इस प्रकार रीति, वृत्ति कुल मिलाकर रुद्रट नव का विवेचन करते हैं। नभिसाधु के अनुसार ये रीतियां अलंकार नहीं अपितु शब्दाश्रित गुण हैं :

**एताश्च रीतयो नालंकाराः, किन्तु शब्दाश्रयाः गुणा इति**। न. साधु., पृ. 10

काव्यालंकार शास्त्र की टीका में नभिसाधु ने 'हरि' नामक किसी आचार्य के अनुसार आठ वृत्तियों का उल्लेख किया है :

**'महुरं परुसं कोमलमोजस्सिं निट्ठुरं च ललियं च।**
**गंभीरं सामण्णं च अद्धभणिति उनायच्चा**।। —न.सा., पृ. 17

ध्वनिकार के अनुसार अस्फुट ध्वनि-तत्त्व की उद्भावना करने में असमर्थ विद्वानों ने रीति का प्रवर्तन किया।[302] संघटना को उन्होंने तृतीय उद्योत में भली-भांति निरूपित किया है। उन्होंने भी वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली तीन रीतियों का उल्लेख किया है। वृत्तियों में कुछ को शब्दाश्रित तथा कुछ को अर्थाश्रित[303] कहा है। अभाववाद के खण्डन में उन्होंने रीति का भी खण्डन किया है, तथा स्पष्ट कहा है कि वृत्तियों की स्थिति अनुप्रास से भिन्न नहीं है। अतएव ध्वनिवादी की दृष्टि में रीति, वृत्ति का कोई महत्त्व नहीं है।[304] 'वृत्तयः काव्यमातृकाः' नाट्याचार्य की इस उक्ति पर अभिनव का कथन है कि रसोचितचेष्टाविशेष ही वृत्ति है।[305]

कुन्तक ने रीति को ही 'मार्ग' का अभिधान प्रदान किया है। काव्यमार्ग त्रिधा

है—सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक मध्यम ।[306] उन्होंने वामन की देश-विदेश के आधार पर रीति विभाजन-प्रक्रिया का खण्डन किया है, क्योंकि देश तो अनन्त हैं, उनके आधार पर रीति[307] मानने पर तो उनकी अनन्तता हो जायेगी, जो कि काव्य में असंभव है। भामह, वामनादि आचार्य जो रीतियों को उत्तम, मध्यम, अधम, आदि कहते हैं, कुन्तक के अनुसार यह विचार भी भ्रान्तिपूर्ण है। वैदर्भी सदृश गुण अन्य रीतियों में नहीं होते। इसलिये यदि उत्तमादि संज्ञा मानी जायेगी तब तो अन्य रीतियों को छोड़ देना ही उचित होगा। कवि स्वभाव अनन्त होने से रीतियां भी अनन्त हो सकती हैं। अतः उनकी गणना असंभव होने के कारण केवल तीन प्रकार की रीतियों का ही वे वर्णन करते हैं। स्वभावतया सुकुमार नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से उद्भिन्न, अयत्नज, मनोहर भूषणों से अलंकृत, नव मंजुल शब्दार्थ मय, रसादियुक्त, अनाहार्य कौशल निष्पन्न, विधि वैदग्ध्य निर्माण को भी अतिक्रान्त कर जाने वाली, रमणीयता जहां स्वयं टपक पड़ रही हो, समग्र वैचित्र्य पूर्ण, कालिदास आदि कवियों से सेवित मार्ग ही सुकुमार मार्ग है, तदितर विचित्र है और उभयात्मक मध्यम ।[308] कुन्तक के अनुसार जैसा कि कहा गया है, वक्रोक्ति ही काव्यात्मा है, शब्दार्थ ही अलंकार्य हैं, वक्रोक्ति का स्थान अलंकार से भिन्न नहीं है। कवि प्रस्थान हेतु त्रिविधि मार्ग शब्दार्थ को उपस्कृत करने वाले वक्रोक्ति के अंग हैं। अतएव इन्हें भी अलंकार से भिन्न नहीं माना जा सकता। वर्ण वक्रता में ही इनका अन्तर्भाव संभव है। अतएव रीति या मार्ग भी अलंकार ही हैं।

भोज के अनुसार काव्यमार्ग ही रीति है, वह गत्यर्थक रीङ् धातु[309] से निष्पन्न होती है। रीति, वृत्ति उनकी दृष्टि में शब्दालंकार हैं। कवि नित्यनूतन वस्तु का जिसके द्वारा अन्वेषण (मार्गण) करता है, उसे मार्ग कहा जाता है।[310] उन्होंने वैदर्भी, पांचाली, गौडी, आवन्ती, लाटी तथा मागधी[311] छः प्रकार की रीति और कैशिकी, आरमटी, भारती, सात्वती, मध्यभारमटी तथा मध्यम कैशिकी छः[312] प्रकार की वृत्ति स्वीकार की है। इनके अतिरिक्त वृत्यनुप्रास के भेद में 12 अन्य वृत्तियों का भी भोज ने विवेचन किया है : कर्णाटी, कौन्तली, कौङ्की, कौङ्कणी, वाणवासिका, द्राविडी, माधुरी, मात्सी, मागधी तथा ताम्रलिप्तिका[313] हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर भोज 24 प्रकार की रीति-वृत्ति का विवेचन करते हैं। अन्तिम बारह को वे गम्भीरा, ओजस्विनी, प्रौढ़ा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परुषा, ललिता[314] तथा अमिता अन्यों का मत मानकर विवेचन करते हैं और कहते हैं ये गुण से व्यतिरिक्त नहीं हैं।[315] रीति, वृत्ति, आदि को शब्दालंकार की कोटि में रखने से स्पष्ट है कि इनका स्थान अलंकारों से भिन्न नहीं है।

मम्मट ने भी उद्भट का अनुकरण करते हुए वृत्त्यनुप्रास में वृत्ति को त्रिधा विभाजित किया है—उपनागरिका, परुषा और कोमला। वहीं उन्होंने यह भी कहा है कि वामनादि के मत में यही वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली रीतियां हैं।[316] इस प्रकार मम्मट ने स्पष्ट रूप से रीति, वृत्ति को एककर अलंकार का भेद मान लिया। विश्वनाथ अवयवसंस्थानविशेष रीति को रसोपस्कारक स्वीकारते हैं।[317] वह गुणालंकार रीति सभी को रसोत्कर्षक मानकर एक ही कोटि में रखते हैं। रीतियां शब्द की साक्षात् उपस्कारक हैं, परम्परया वे रसको भी उपस्कृत करती हैं, और रसको उपस्कृत करने के कारण काव्य की भी उपस्कारक हैं।[318] विद्यानाथ के अनुसार आत्मा के स्वभाव की तरह रीतियां भी आत्मोत्कर्षक हैं, तथा वृत्तियां आहार्य शोभा हैं।[319] वृत्ति में रीतियों का अन्तर्भाव भी अशक्य है।[320]

परवर्ती आचार्यों ने भी ऊपरकथित विवेचन में किसी न किसी का सहारा लिया है। उदाहरण के लिये नरेन्द्रप्रभसूरि भोज का अनुकरण करते हैं, अमृतानन्द योगी दंडी का तथा कर्णपूर मम्मट का।

वस्तुतः रीति का स्थान काव्य में अलंकार से भिन्न नहीं है। अलंकार काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं। रीतियां भी पदों की रचना प्रकार हैं और उनसे भी काव्य का उत्कर्ष होता ही है। अलंकार से इसे अतिरिक्त न समझकर ही भामह आदि ने इसे भी अलंकार की कोटि में रख दिया, जिसका समर्थन दंडी ने भी किया। और उद्भट ने तो उन्हें अनुप्रास का भेदमात्र-मान लिया। बाद में ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन, मम्मट, आदि ने उद्भट का अनुसरण करते हुए अनुप्रास का भेदमात्र स्वीकार कर रीति, वृत्ति दोनों को ही शब्दचमत्कारमात्र सिद्ध कर दिया। संजीवनीकार विद्याचक्रवर्ती ने रसविषयक व्यापार को वृत्ति[321] कहा, तथा यह कहा कि शब्दालंकार से भी बाह्य जो वर्णालंकार है, तत्समान ही ये रीतियां हैं, क्योंकि दोनों की ही वर्णधर्मता है। संजीवनीकार का कथन ही यहां उद्धृत करना उपयुक्त होगा :

> **'शृंगारादिरसविषयो योऽयं प्रतिनियमभाजां वर्णानां व्यंजनाव्यापारः स वृत्तिरुच्यते। सोऽयं वर्णव्यापारोऽस्मिन्वर्णरचनात्मके कविव्यापारेऽस्तीति वर्णरचना वृत्तिः ……… एता रीतियो वामनादिभिः काव्यात्मत्वेन सिद्धान्तिताः। उपपत्तिपर्यालोचनायां तु काव्यात्मकथा तावदास्तॉम्। यावता शब्दालंकारेष्वपि यो बहिरंगो, वृत्यनुप्रासात्मा वर्णालंकारः तद्धर्मत्वात्, तच्छेषभूता एता इति।'** —सं., पृ. 29

अस्तु। रीतियां रसविषयक व्यापार तथा वर्णधर्मात्मिका हैं। अनुप्रास भी

वर्णधर्मात्मक हैं। अतः रीति अनुप्रास या अलंकार से भिन्न नहीं है। वस्तुतथ्य तो यह है—

**'धर्मा रसा लक्षणानि रीत्यलंकृतिवृत्तयः।**
**रसिकाह्लादका ह्येते काव्ये सन्ति च षड्गुणाः।।**

—अच्युतराय, सा.सा., 1/1

रस-अलंकार के विवेचन से ही ध्वनि तथा अलंकार का सम्बन्ध भी विवेचित हो जाता है।

**वक्रोक्ति-अलंकार**

भामह से लेकर जगन्नाथ तक वक्रोक्ति का स्थान काव्यशास्त्र में अक्षुण्ण रहा है। भामह वक्रोक्ति को वाणी का उत्तम भूषण मानते हैं।[322] उनका तात्पर्य है कि वक्र शब्द और अर्थ का कथन होने पर ही अलंकार अलंकार हो सकता है। इसका द्वितीय अभिधान अतिशयोक्ति भी है। लोक का अतिक्रमण करके अवस्थित अलौकिक अगोचर वाणी ही अतिशयोक्ति है। लोकोत्तरता का अर्थ लोकोत्तर अह्लाद गोचरत्व रूप रमणीयता है।[323] वक्रोक्ति समस्त अलंकारवर्ग में विद्यमान है, क्योंकि इसी के द्वारा अर्थों का विभावन होता है। अतएव कवि को इसी में प्रयास करना चाहिये। इससे रहित कोई अलंकार हो ही नहीं सकता।[324] भामह ने वक्रोक्ति की महत्ता का प्रतिपादन काव्यालंकार 1/30,36 तथा 5/66 में भी किया है। वक्रता न होने के कारण ही उन्होंने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश जैसे अलंकारों को अमान्य ठहराया है। वक्रोक्ति रहित काव्य वार्ता मात्र रह जाता है। 'सूर्य अस्त हो रहा है चन्द्र उदित हो रहा है, पक्षिगण नीड को जा रहे हैं, इत्यादि स्वभाव-कथन कोई काव्य नहीं है', 'वार्ता' मात्र है।[325] अतएव वक्रता के अभाव में स्वभावोक्ति अलंकार नहीं है। भामह की वक्रोक्ति अलंकार सामान्य है, वह विच्छित्ति का अपर पर्याय ही है।

भामह निषिद्ध स्वभावोक्ति को दंडी न केवल मान्यता प्रदान करते हैं, अपितु वे उसे प्रथमा अलंकृति मानते हैं। वह जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, रूप नाना पदार्थों के रूपों को साक्षात् प्रकट करती है।[326] स्वभावतया जाति से इतर अलंकारों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत रखा गया है।[327] वह समस्त वाङ्मय को ही वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति दो भागों में विभाजित करते हैं, तथा समग्र वक्रोक्ति के मूल में श्लेष को पोषक तत्त्व मानते हैं।[328] इस प्रकार भामह की व्यापक वक्रोक्ति दंडी के यहां सीमित हो गयी, उसका क्षेत्र संकुचित हो गया।

वामन ने 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' कहकर वक्रोक्ति को एक अर्थालंकार

विशेष मान लिया। वामन की यह सादृश्यात्मक लक्षणा, लक्षणामूल गूढ व्यंग्य प्राधान्य ध्वनि का मूल सिद्ध हुई। आगे चलकर रुद्रट ने तो इसे एक शब्दालंकार मात्र रूप में स्थापित किया।[329]

वक्रोक्ति का उल्लेख नवीं शती में रत्नाकर ने 'वक्रोक्ति पंचाशिका' में भी किया है, परन्तु उसका स्वरूप वैसा नहीं है, जैसा राघव पाण्डवीय का (1/41) जहां कविराज, सुबन्धु, बाण और अपने को वक्रोक्ति में निपुण माना गया है।[330] परन्तु यहां वक्रोक्ति का स्वरूप स्थिर नहीं किया गया है।

ध्वनिकार भी वक्रोक्ति को सर्वालंकार सामान्य सिद्ध करते हैं।[331] ध्वनिकार के अतिरिक्त लोचनकार भी अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति[332] तथा काव्यजीवित मानते हैं।[333] अभिनव ने तो दंडी की तरह स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति को वाङ्मय विभाजन का द्विधा आधार भी स्वीकार कर लिया है :

> **'काव्येऽपि च लोकनाट्य धर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्ति वक्रोक्तिप्रकार-द्वयेनालौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता।'**[334]

अग्निपुराण में वाकोवाक्य नामक शब्दालंकार के दो भेद माने गये हैं—ऋजु तथा वक्रोक्ति। वक्रोक्ति श्लेष तथा काकु द्वारा द्विधा मानी गयी है।[335] भोज ने वक्रोक्ति, रसोक्ति तथा स्वभावोक्ति के आधार पर वाङ्मय को त्रिधा विभाजित किया है।[336] इस प्रकार उन्होंने रसादि को भी एक काव्य विधा मान लिया है। दंडी के मार्ग को उन्होंने और भी आगे बढ़ाया है। 'वाकोवाक्य' नामक शब्दालंकार के षट् भेदों में वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति अलंकार अन्तर्भूत हैं। किन्तु यहां ये दोनों अलंकार मात्र हैं, काव्य विभाजन का माध्यम नहीं। वाकोवाक्य के छः भेद हैं : ऋजूक्ति, वैयात्त्योक्ति, गूढोक्ति, प्रश्नोक्ति, वक्रोक्ति तथा चित्रोक्ति। इनमें ऋजूक्ति तथा वक्रोक्ति ही स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति अलंकार हैं।[337]

वक्रोक्ति को काव्य का जीवन और व्यापक काव्य तत्त्व स्थिर करने का श्रेय आचार्य कुन्तक को है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय ध्वनि-विरोध को लेकर उद्भूत हुआ था अतः स्वाभाविक था कि वह ध्वनिवादी के समग्र ध्वनितत्त्व को अपने में समाविष्ट करता। कुन्तक ने भामह की लोकातिक्रान्त वचनागोचर वक्रोक्ति को ही काव्य का प्राणभूत तत्त्व माना। और जैसा कि कहा गया है, उन्होंने स्पष्ट कहा कि शब्दार्थ अलंकार्य है, वक्रोक्ति उन्हें अलंकृत करती है। अलंकृत करने के कारण वक्रोक्ति भी अलंकार ही सिद्ध हुई। वक्रता, विच्छित्ति सौन्दर्य आदि एक ही तत्त्व

के विभिन्न अभिधान हैं। मम्मट—जो कि ध्वनिवादी हैं, वे भी वैचित्र्यमलंकारः' स्वीकार करते ही हैं। कुन्तक की दृष्टि में 'काव्य सालंकार ही होते हैं।[338] इसलिये काव्य अलंकृत ही काव्य होता है, न कि काव्य का अलंकार से योग होता है। वक्र कवि-व्यापार ही काव्य है। वक्रोक्ति भंगीभणिति (कथन-वैचित्र्य) विचित्र ही अभिधा है। जैसा कि कहा है वह शब्दार्थ रूप काव्य को सुशोभित करती है, काव्य का जीवन है।[339] कवि व्यापार सहज प्रतिभा[340] की देन है। अलंकार अभिधा प्रकार विशेष[341] हैं, इस प्रकार अलंकार-वक्रोक्ति में कोई तात्विक विभेद नहीं है। परन्तु वह अलंकार आदि से व्यापक है। यहां तक कि काव्य के समस्त धर्मों के साथ रस चर्वणा का आधार चारुता होने के कारण कुन्तक रसध्वनि का भी अन्तर्भाव वक्रोक्ति में करते हैं। वर्णवक्रता में समस्त शब्दालंकार, वाक्यवक्रता में अर्थालंकार का अन्तर्भाव हो जाता है। पदपूर्वार्द्ध वक्रता तथा परार्द्धवक्रता में समग्र ध्वनि प्रपंच और प्रकरण तथा प्रबन्ध वक्रता में 'रस' का अन्तर्भाव कर लिया जाता है। कुन्तक स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते। स्वभाव से व्यतिरिक्त कुछ भी कहना असंभव होने से, स्वभाव विहीन वस्तु असत्कल्प हो जाता है। वस्तु वर्णन का प्राण स्वभाव होता है, यदि उसे ही अलंकार मान लेंगे तो अलंकार्य कौन वस्तु होगी?

मम्मट ने भी सैषा 'सर्वैव वक्रोक्तिः' आदि भामह कथन को आदर प्रदान किया है, तथा रुद्रट की तरह वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार भी कहा है। परवर्ती विश्वनाथ,[342] जयदेव, आदि समग्र आलंकारिक मम्मटादि का अनुकरण करते हैं। रुय्यक,[343] अमृतानन्दयोगी तथा शोभाकर प्रभृति इसे अर्थालंकार मानते हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि महिमभट्ट वक्रोक्ति को काव्यात्मा मानने का खण्डन करते हैं।

ऊपर वक्रोक्ति का ऐतिहासिक स्वरूप प्रदान किया गया है। ग्रन्थ के प्रारंभ में ही कुन्तक 'सालंकारस्य काव्यता' मानकरः

**'उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।**
**वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणिति रुच्यते।।'** —व.जी., 1/10

काव्य में अलंकार की अपरिहार्यता तथा वक्रोक्ति की अलंकारता स्पष्ट स्वीकार करते हैं। इससे यह सिद्धान्त अलंकार सम्प्रदाय का रूपान्तर सा प्रतीत होता है। सामान्यतः वक्रोक्तिसिद्धान्त अलंकार सिद्धान्त का प्रतिरूप है।[344] कवि कौशलविच्छित्ति, प्रबन्ध सौन्दर्य, वर्ण सौन्दर्य चमत्कार आदि का साम्राज्य दोनों ही ओर है। दोनों में ही अभिधा का प्रधान है। दोनों ही भङ्गीभणिति हैं।

इस प्रकार यद्यपि दोनों का स्वरूप एक-सा ही प्रतीत होता है, किन्तु वक्रोक्ति का क्षेत्र अलंकार से व्यापक है। अलंकारवादी रसादि को भी अलंकार मानते हैं, पर वक्रोक्तिवाद उसका खण्डन करते हुए यद्यपि रसवदादि अलंकार मानता है, किन्तु रस को ही अलंकार नहीं मान बैठता। वह तो यहां परमतत्त्व और सुकुमार मार्ग का प्राण है। अलंकारवादी स्वभावोक्ति को अलंकार कहता है, किन्तु वक्रोक्ति सिद्धान्त में वह अलंकार्य है, आत्म स्थानीय है। यद्यपि चमत्कार तथा सौन्दर्य दोनों को ही समान रूप से अभिमत हैं, किन्तु अलंकार मात्र बाह्य ही रह गया, वक्रोक्ति काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व को भी अपने में समाहित करने की क्षमता रखती है। वस्तुतः वक्रोक्तिवाद अधिक व्यापक उदार तथा परिपूर्ण है, अलंकार की स्थिति यहां तक नहीं है। ध्वनिवाद को सीधे ही अपने में अन्तर्भूत करने की क्षमता यदि किसी सिद्धान्त में है, तो वह है, वक्रोक्ति सिद्धान्त, अलंकार की तो वहां गति ही नहीं है।

### अलंकार-औचित्य

भरत से लेकर समस्त आचार्यों ने काव्यशास्त्र में औचित्य को महत्त्व प्रदान किया है। भरत ने नाटक को लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी मानकर लोक को ही प्रमाण सिद्ध किया है।[345] नाट्य में अवस्थानुकूल,[346] वेष, भूषण, भूषा, पाठ्य एवं प्रक्रिया का होना आवश्यक होता है। देश आदि के प्रतिकूल विहित वेश आदि शोभा का उत्पादक नहीं होता प्रत्युत कंठ में मेखला की भांति वह हास्यावह होता है :

**'अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।**
**मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते।।'** —ना.शा., 23/68

क्षेमेन्द्र का 'कण्ठे मेखलया' आदि श्लोक नाट्याचार्य की इसी कारिका पर आधृत है। भामह के अनुसार माला के मध्य में उचित रूप में रखे गये नील कपास के समान रचना विशेष के द्वारा दुरुक्त भी शोभाधायक हो जाता है। स्वभाव से काला अंजन भी कामिनी के दृगंचल में अद्भुत लालित्य पैदा कर देता है, उचित आश्रय से असुन्दर भी सुन्दर बन जाता है।[347] इसी प्रकार दंडी,[348] रुद्रट,[349] आदि आचार्यों ने भी औचित्य पर प्रभूत ध्यान रखा है।

यद्यपि औचित्य को प्रस्थान का प्रारूप देने का श्रेय क्षेमेन्द्र को ही है, पर उनके गुरु ध्वनिकार आनन्द ने औचित्य पर जितना ध्यान रखा है, उतना देखा जाये तो क्षेमेन्द्र का भी नहीं है। आनन्द के ही शिष्य होने के कारण, उनके द्वारा बहुचर्चित

औचित्य को प्रस्थान का रूप देकर क्षेमेन्द्र भी एक प्रस्थान प्रस्थापक के रूप में विख्यात हो गये। परन्तु श्रेय आनन्द को क्षेमेन्द्र से कम नहीं मिलना चाहिये। ध्वनिकार ने 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत की छटीं से चौदहवीं कारिका तथा उसकी वृत्ति में सविस्तार औचित्य विवेचन किया है।

अलंकार वर्ग के औचित्य का प्रतिपादन ध्वनिकार की दृष्टि से पहले ही कर दिया गया है।[350] रस विषयक औचित्य का प्रतिपादन् करते हुए उन्होंने कहा है कि अनौचित्य से अतिरिक्त रसभङ्ग का और कोई भी कारण नहीं हो सकता। औचित्य निबन्धन रस की परा उपनिषद् है :

**'अनौचित्यादृतेनान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।**
**प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।'** ध्व., पृ. 362

अभिनव गुप्त तो स्थान-स्थान पर लोचन में औचित्य का प्रतिपादन करते हैं तथा रस को ही औचिती का विषय मानते हैं।[351] कुन्तक भी स्थान-स्थान पर औचित्य का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार औचित्य से शीघ्रतापूर्वक स्वभाव या पदार्थ की महत्ता का परिपोष होता है। उचित कथन ही औचित्य है। जहां शोभातिशायी स्वभाव से वक्ता या प्रमाता का वाच्य ढक सा लिया जाता है, उसे भी औचित्य कहा जाता है।[352]

परवर्ती आचार्यों में मम्मट आदि भी औचित्य पर पूर्णतः दृष्टि रखते हैं। परन्तु औचित्य की स्थापना की क्षेमेन्द्र ने, अतः उन्हीं का मत स्पष्ट करना उचित होगा जो जिस वस्तु के योग्य हैं उसे उचित कहा जाता है, उचित का भाव ही औचित्य है।[353] रस ही औचित्य का प्राण है। औचित्य से ही काव्य में चारुता का आधान किया जाता है।[354] काव्य में गुण अलंकार सभी व्यर्थ हैं यदि खोजने पर भी उसका प्राणभूत औचित्य नहीं है।[355] अलंकार तो अलंकार ही हैं, काव्य के बहिरंग तत्त्व, और गुण मात्र गुण हैं, किन्तु औचित्य रससिद्ध काव्य का जीवन है। जीवन ही नहीं, अपितु वह स्थिर जीवन है।[356] अलंकार की अलंकारता, गुण का गुणत्व उचित स्थान-विन्यास पर निर्भर करता है।[357] लोक में भी अलंकार तभी सौन्दर्य का वर्द्धन करता है, जब उसका उचित अवयवों में विन्यास किया गया हो। स्वर्ण-विनिर्मित सुन्दर हार कामिनी के कण्ठ और वक्षस्थल पर ही शोभावर्द्धक होता है, और यदि वही हार नितम्ब पर डाल रखा जाये तो न केवल वह ललना ललाम की असावधानी और अज्ञता को प्रकट करता है अपितु उसे हास्यावह भी बना देता है, यही नहीं, हार भी अपनी यथार्थता से वंचित हो जाता है। इसी तरह काव्य में भी रस, गुण,

रीति, अलंकार, आदि का सम्यक् औचित्यपूर्ण विनिवेश ही उसकी शोभा में दुगुनी-तिगुनी आभा का संचार कर देता है। इसी को लक्ष्य कर आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है :

**कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा**
**पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूर पाशेन वा।**
**शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतम्।।**
**औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नोगुणः।।**[358]

कि कंठ में मेखला, नितम्ब पर सुन्दर हार, हाथ में नूपुर, पैर में केयूरपाश के धारण से कौन उपहास का पात्र नहीं बनता, इसी तरह प्रणत शत्रु पर शूरता आदि दिखा कर कौन हास्यास्पद नहीं बन जाता। एक ही व्यक्ति का पुत्री, पत्नी, माता पर तदनुरूप ही प्रेम हुआ करता है। यदि औचित्य-व्यवहार का स्थान लोक में न रहे, तो संसार का स्वरूप ही कुछ और हो जाये तथा मां, बहन, पत्नी, पुत्री का व्यवहार ही इस दुनिया से उठ जाये। क्योंकि यदि अनौचित्य का विस्तार हो जाये तो इनमें विभेद करना कठिन होगा। यही स्थिति काव्य की भी है।[359]

अलंकार तथा औचित्य का नित्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है। अलंकार्य के रहने पर ही अलंकार का महत्त्व है, मृत शरीर पर अलंकार न केवल व्यर्थ होते हैं, अपितु वे वैरस्य को भी जन्म देते हैं। संन्यासी के शरीर पर उनका विन्यास उपहास ही है। औचित्य के कारण ही अलंकार की अलंकारता है। जैसा कि पहले कहा गया है, अलंकार का प्रयोग ऐसा होना चाहिये जो रस के अनुकूल हो, अयत्नज तथा स्वाभाविक हो। काव्य के आत्मभूत ध्वन्यमान श्रृंगार विशेषकर विप्रलंभ आदि रसों में यमक, श्लिष्ट, षड्गबन्धादि चित्रालंकारों का विनिवेश काव्य-सौन्दर्य का विनाश तो करता ही है, रसास्वाद में भी बाधक होता है, क्योंकि प्रतिभावान् व्यक्ति को भी इनमें शब्दों की क्लिष्टता के कारण शब्द का अन्वेषण रूप आयास करना ही पड़ता है। अलंकार की बाहरी चमक-दमक में आकर उसके मर्मभूत रसादि का हनन उचित नहीं है। लांजायनस का भी कथन है कि 'वही सर्वोत्तम अलंकार है, जहां यह अलंकार है, इस प्रकार का ध्यान ही पाठक के सम्मुख उपस्थित नहीं करता।' तात्पर्य यह कि कविता में अलंकार को इस प्रकार घुलमिल जाना चाहिये कि उनकी पृथक् सत्ता का आभास ही न हो, अन्यथा रसानुभूति में व्यवधान की आशंका रहती है।[360] अस्तु। औचित्य रहने पर ही अलंकार अलंकार है, अन्यथा वह व्यर्थ है :

**'औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणः'**

अब तक शास्त्रीय दृष्टि से अलंकार गुण, रीति, आदि प्रस्थानों के अनुसार उनका विवेचन किया गया। इनका विवेचन आधुनिक भाषा में आवश्यक है।

वस्तुवादी (देहवादी) आचार्य काव्य के बाह्य सौन्दर्य पर बल देते हैं : भाव (रसादि) की उपेक्षा वे भी नहीं करते, किन्तु उनकी दृष्टि में वह गौण है। कवित्व उनके मत से कथन की चारुता का नाम है, जिसमें भाव और विचार दोनों अन्तर्भूत हैं।

'अलंकार सिद्धान्त के अनुसार अलंकार ही काव्यशोभा के हेतु हैं। काव्य का सौन्दर्य अलंकार पर आश्रित है। कवित्व अलंकार में निहित है। अलंकार शब्दार्थ के धर्म हैं, वे सामान्य धर्म न होकर ऐसे विशेष धर्म हैं जो शब्दार्थ में सौन्दर्य की सृष्टि कर उसे काव्य का रूप प्रदान करते हैं। अलंकार के दो भेद माने गये हैं : सामान्य और विशेष। सामान्य के अन्तर्गत काव्य के प्रसिद्ध वर्ण्य विषयों का समावेश होता है। इनका क्षेत्र प्रबन्ध या काव्य है। विशेष अलंकारों में अनुप्रास आदि शब्दालंकार तथा उपमादि अर्थालंकारों का समावेश होता है। आगे चलकर विशेष अलंकार ही मान्य हुए तथा रस और अलंकार के द्वन्द्व में अलंकार का अर्थ शब्दार्थ के अलंकार से ही लिया गया। आधुनिक शब्दावली में व्यापक अर्थ में अलंकार शिल्प का पर्याय है, सीमित अर्थ में उक्ति चमत्कार या अभिव्यंजना शिल्प का। अलंकार सम्प्रदाय का जन्म ही यह मानकर हुआ कि रस का सम्बन्ध नाट्य से है। इसी आधार पर शब्दार्थ रूप काव्य से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं स्थापित किया गया। काव्य का सार तो शब्दार्थ का सौन्दर्य—अलंकार ही हो सकता है। प्रबन्ध के व्यापक क्षेत्र में अलंकार से अभिप्राय वर्णन शैली के सौन्दर्य का है, और मुक्तक या सूक्ति में उसका अर्थ है, उक्ति चमत्कार। इन दोनों में भी सामान्य अलंकारों की कल्पना रस से बहुत दूर नहीं पड़ती, क्योंकि उनका रस के विभाव, अनुभाव पक्ष से सीधा सम्बन्ध है, काव्य के वर्ण्य विषय ही तो रस के विभाव, अनुभाव भी होते हैं। प्रतीत होता है कि आलंकारिक इस सम्बन्ध सूत्र को समझ नहीं पाये और काव्य में रस की उपेक्षा कर बैठे।

'विशेष अलंकार में चमत्कार वाक्य तक ही सीमित रहता है। अलंकारवादी शब्दार्थगत इस चमत्कार को ही कवित्व का आधार मानता है, इसके द्वारा व्यक्त भाव को नहीं। वह शब्दार्थगत चमत्कार से ही सीधे काव्यानन्द की प्रतीति मान लेता है। भाव का वह परित्याग कर देता है। उसे शब्दार्थ की जिस चमत्कृति को कवित्व का पर्याय मान्य है, उसका आधार तन्निहित भावना ही है, स्वीकार्य नहीं है। कवि प्रतिभा या सर्जनात्मक कल्पना शक्ति को वह साग्रह स्वीकार करता है।

पर उसके प्रेरक भाव संस्कारों का अलंकारवादी के लिये कोई महत्त्व नहीं है, प्राथमिक महत्त्व तो नहीं ही है। इसके विपरीत वह यह मानता है कि रस या भाव सामग्री अलंकार सृष्टि का साधन अवश्य बन सकती है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि के वर्णन से भी कवित्व की सृष्टि हो सकती है, किन्तु ये विभावादि प्रत्यक्ष रूप से कवित्व की सृष्टि नहीं करते—ये भी शब्दार्थ का उपकार करते हुए उसमें चमत्कार उत्पन्न करते हैं, अर्थात् रस भी अलंकार का ही अंग है।

'अलंकार सम्प्रदाय की स्थापना से पहले रस सम्प्रदाय का विस्तृत एवं सर्वांग विवेचन हो चुका था और रसमय काव्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था, अतः उसकी नितान्त उपेक्षा तो संभव नहीं थी। इसलिये अलंकारवादियों ने रस तथा भाव को सर्वथा रूढ एवं स्थूल रूप में ग्रहण करते हुए उनका अपने सिद्धान्त में अन्तर्भाव करने के लिये रसवद्, ऊर्जस्वी प्रेय आदि अलंकारों की उद्भावना कर ली। तथापि रस के प्रति सभी अलंकारवादियों का दृष्टिकोण एक जैसा नहीं था। भामह और उद्भट की दृष्टि जहां अधिक उदासीन थी, वहीं दंडी और रुद्रट का दृष्टिकोण अधिक स्निग्ध था। परवर्ती अलंकारवादी तो उसके महत्त्व से पूर्णतः अवगत थे, जयदेव जैसे उग्र अलंकारवादी के काव्य-सिद्धान्त रस और ध्वनि के भाव से ओतप्रोत हैं।

'तात्पर्य यह कि आरम्भ में जब तक यह भ्रान्ति रही कि रस का सम्बन्ध मूलतः नाटक से ही है, अलंकार सम्प्रदाय में रस की उपेक्षा हुई। परन्तु भ्रमनिवारण के पश्चात् अलंकार और रस के सम्बन्ध अधिक मधुर हो गये। शुद्ध अलंकार शास्त्र के ग्रन्थों में भी रस और ध्वनि का विस्तार के साथ विवेचन होता रहा, अलंकार का महत्त्व कम नहीं हुआ, पर रस का मूल्य बढ़ गया। यही नहीं परवर्ती जयदेव आदि को अलंकारवादी न कहकर अलंकार प्रेमी ही कहना उपयुक्त होगा।

आधुनिक आलोचना शास्त्र में अलंकार या अप्रस्तुत विधान या बिम्ब योजना का महत्त्व केवल केयूर या मुरजबन्ध के तुल्य नहीं है, जिसे यथासमय उतार कर रख दिया जा सके—उसका महत्त्व शरीर के रूप रंग से भी अधिक है, फिर भी उसे प्राण तत्त्व प्रायः नहीं माना गया। और यह ठीक भी है, अलंकार को कवित्व का पर्याय मान लेने पर यह भी मानना आवश्यक हो जायेगा कि कला चमत्कार की सृष्टि मात्र है, अनुभूति की सम्प्रेषण या अभिव्यक्ति नहीं। रीति-सिद्धान्त भी अलंकार सम्प्रदाय की भांति रस के बहुत अनुकूल नहीं है। अलंकार का सच्चा रूप वह है, जो रस के प्रभाव से चमत्कृत हो, भावना के रंगों से रंजित हो। भारतीय कलावाद क्रमशः अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति सिद्धान्तों में प्रस्फुटित हुआ और

वक्रोक्ति की प्रकल्पना में उसका पूर्ण विकसित रूप सामने आया। इन सिद्धान्तों में काव्य को सारतः कला माना गया और अनुभूति को उसका पोषक तत्त्व। सामान्यतः तो अलंकार को आभूषण और रीति को अंग संस्थान के समान ही माना गया, परन्तु यह केवल स्थूल कल्पना थी। तत्त्व-दृष्टि से गुण अलंकार तथा अन्य कला उपकरणों को विभावादि का साधारणीकरण करने और फिर उसके द्वारा भाव को व्यक्ति संसर्गों से मुक्त कर आस्वाद का विषय बनाने के लिये आवश्यक ठहराया गया। शब्दार्थ के कलात्मक प्रयोग के बिना न तो विभाव, अनुभाव, आदि की साक्षात् उपस्थापना ही संभव है और न उसका साधारणीकरण, और इसके बिना स्थायी भाव की निर्विघ्न प्रतीति संभव नहीं हो सकती। अतः अलंकार, गुण (रीति), बिम्ब विधान प्रबन्धकल्पना आदि सभी रस के सहायक उपकरण हैं और रस प्रतीति के लिये उनकी आवश्यकता अनिवार्य है। अलंकार, रीति और वक्रोक्ति का रस के साथ वही सम्बन्ध है जो आधुनिक आलोचना शास्त्र की शब्दावली में काव्य के अन्तर्गत कला-तत्त्व का अनुभूति तत्त्व के साथ है। वास्तव में आज तो दोनों के तादात्म्य का नाम ही काव्य माना जाता है। कला या कलात्मक अभिव्यक्ति के बिना भाव-विभूति केवल अनुभव का विषय रह जाती है और भावना के संस्पर्श के बिना कला शब्द क्रीडामात्र।

'रस और ध्वनि का भेद वस्तुतः बलाबल मात्र का है : ध्वनि-सिद्धान्त भाव की व्यंजना—आधुनिक शब्दावली में कल्पनात्मक अभिव्यक्ति पर और रस-सिद्धान्त भावतत्त्व पर अधिक बल देता है, यद्यपि न ध्वनिवादी भाव की अवमानना करता है, न रसवादी व्यंजना की। इस प्रकार काव्य में ध्वनि और रस का संयोग कल्पना तथा भावना का सहयोग है। दोनों का प्रतियोग भी कल्पना तथा भावना का प्रतियोग है। जिस प्रकार केवल भावना या केवल कल्पना से कवित्व की सिद्धि संभव नहीं है, इसी प्रकार केवल भाव या केवल ध्वनि के आधार पर भी काव्य का अस्तित्व संभव नहीं हो सकता—दोनों के पूर्ण सहयोग से ही काव्य की सृष्टि होती है। कल्पना और भावना में भावना का ही महत्त्व अधिक है, क्योंकि काव्य का संवेद्य तो भाव ही है, कल्पना उसके सम्प्रेषण का माध्यम है। यद्यपि यह माध्यम अनिवार्य है, फिर भी वह संवेद्य के समकक्ष तो नहीं हो सकता। इस युग के सर्वाधिक प्रामाणिक आलोचक आई.ए. रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान के प्रकाश में कविता को अनुभूति रूप ही माना है। अनुभूति शब्द ही भाव की प्रधानता का प्रमाण है।

'रस सिद्धान्त जहां कल्पनात्मक भावना को कवित्व का प्राण मानता है, वहीं ध्वनि-सिद्धान्त भावरंजित कल्पना को। और यह भेद वास्तव में इतना सूक्ष्म है कि

कालान्तर में इसका एक प्रकार से लोप ही हो गया। अपने व्यापक अर्थ में रस सौन्दर्य का ही पर्याय है, सौन्दर्य अपने तत्त्वरूप में रमणीय अर्थ-बोध का ही नाम है—और रमणीय वह है, जिसमें सहृदय का चित्त रमण करे, अर्थात् जो उसकी आनन्द चेतना का विषय हो। इस प्रकार सौन्दर्य की कल्पना रस के बिना नहीं हो सकती।'[361]

## संदर्भ


1. 'शब्दार्थौ ते शरीरम्' का.मी., अ. 3, पृ. 4; वि.रा.भा.परि., पटना, 1954.
2. वागेव विश्वा भुवनानि यज्ञे वाच इत् सर्वममृतं यच्चमर्त्यम्। अथेह वाग्, बुभुजे वागुवाच पुरुत्रावाचं न परं यच्चनाह।
3. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। —वा.प., 1/1.
4. वागर्थाविव संपृक्तौ ·········। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ। र.वं. 1/1.
5. उद्धृत डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, अलंकार मीमांसा, पृ. 91.
6. रघुवंश, 1/1, तथा 'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।' —शिशु. 2/86.
7. 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः'
8. निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्यायशूलिने।। —का.प्र., पृ. 71, आनन्दाश्रम ग्रन्था.
तु.—अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलाम् जगत् ·········। —मंगल श्लोक, लोचन।
9. द्रष्टव्य—प्रथम अध्याय, अभिलेख और अलंकार।
10. 'उपकारकत्वादलंकारः सप्तममंगमिति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः।। —का.मी., पृ. 6.
11. एस्.के. डे, हि.सं.पो., पृ. 327-28.
12. देखिये—भारतीय साहित्य शास्त्र, बलदेव उपाध्याय, पृ. 18-27.
13. 'इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेन चेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति वैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम् इति पंचसु पक्षेषु आद्यउद्भटादिभिरंगीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयोवक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचमआनन्दवर्द्धनेन। स.बं., पृ. 3-4.
14. हि. संस्कृत पोइटिक्स, पृ. 329.
15. ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा तदा ·· ······· वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहारः इति, चेन्न। अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः। —सा.द., पृ. 18 (चौ.सं.सी., काशी, 1955)।

16. ननु तर्हि प्रबन्धन्तर्वर्तिनां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेन्न। रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्तांगीकारात्। —वही, पृ. 19.
17. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। औ.वि. 5.
18. का.सू.वृ., 3/2/14.
19. सौन्दर्यमलंकारः वही, 1/1/2.
20. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः —व्य.वि., पृ. 111, (चौ.सं.सी., काशी, 1964)।
21. अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च। —वही, पृ. 47.
22. अलंकाराणां चाभिधात्वमुपगतं तेषां भंगीभणिति भेदरूपत्वात्। —वही, पृ. 22.
23. अलंकार तन्त्रप्रजापतिभिर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः।। —वही
24. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—भामह, 1/16.
25. काव्यं हि नाम विशिष्टशब्दार्थात्मकम्। संजी., पृ. 3, एस. जानकी।
26. व.जी., पृ. 7-10; एस.के. डे, 1961; द्वयोः सम्भूयाह्लादनिबन्धनत्वमिति—का.धे., पृ. 6.
27. का.सू.वृ., पृ. 7, वाणीविलासशास्त्र सीरीज, 1909, श्रीरंगम्।
28. कामधेनु, पृ. 4.
29. वही, पृ. 8.
30. का.सू.वृ., 1/1/2 तथा वही, वृत्ति।
31. का.धे, पृ. 8.
32. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। —भामह., 1/36.
वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।। वही, 5/66.
33. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किंकाव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते। —वही, 2/28.
34. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।। —वही, 2/85.
35. शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः। —वही, 1/13/15.
36. इयं चन्द्रमुखीकन्या प्रकृत्यैव मनोहरा।
अस्यां सुवर्णालंकारः पुष्णाति नितरां श्रियम्।। —वही, 6/30.
अनेन वागर्थविदामलंकृतिर्विभातिनारीव विदग्धमण्डना।। —वही, 3/58.
37. युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् —वही, 1/21 तथा 5/3.
38. अहृद्यमसुभिर्भेदं रसवत्वेऽप्यपेशलम्। काव्यं कपित्थमाम्रवत्। —वही, 5/62.
39. वही, 1/31/36.
40. वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्। —काव्यादर्श, 1/9.
41. विचित्रो नानाप्रकार (शब्दालंकारार्थालंकारादि युक्तोमार्गः) काव्यान्येव। रत्नश्रीटीका, पृ. 7.

42. काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते ।। —वही, 2/1.
43. वही, 1/19.
44. शरीरंतावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्नापदावली ।। वही, 1/10.
45. मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येनमाद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ।। —वही, 1/51.
46. कामं सर्वोऽप्यलंकारः रसमर्थे निषिंचति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ।। वही, 1/62.
47. वही, 1/64.
48. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायोवक्रोक्तिषुश्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।। 2/360.
49. हेतुश्च सूक्ष्मलेशश्च वाचामुत्तमभूषणम्। 2/233.
50. यच्च सन्ध्यंगवृत्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः ।। 2/364.
51. किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्। —वही, 2/2.
52. अ.भा., पृ. 295; ना.शा. भाग-2, गा.ओ.सी., 1934.
53. डे., हि. संस्कृत पोइटिक्स, पृ. 73.
54. इसका उल्लेख चतुर्धा किया जाता है :
(1) अलंकार सार संग्रह—काणे तथा उपाध्याय,
(2) काव्यालंकार सार—शंकरन्,
(3) काव्यालंकार सार संग्रह—पोद्दार बनहट्टी गायकवाड़ संस्करण, तथा
(4) काव्यालंकार संग्रह—डॉ. दे।
55. सम आस्पेक्ट्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ. 30.
56. ओजः प्रभृतीनामनुप्रसोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डरिका प्रवाहेणैवैषा भेदः। —का.प्र., अष्टमोल्लास।
57. उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन चेष्टेः। —अ.स., पृ. 9.
58. द्विविधिं चारुत्वम् स्वरूपमात्रनिष्ठं संघटनाश्रितं च। —लोचन, पृ. 18.
59. गुणालंकाराणां तुल्यत्ववादिन एवोद्भटाः —वि., पृ. 8.
60. काव्यं खलु गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरत्वात्सरसमेव भवति। ......... तथा काव्यालंकाराणामपि निर्गुणे काव्ये निबध्यमानानां काव्यशोभाहेतुत्वाभावः स्वशोभाहानिश्च भवति। क.वृ., पृ. 75-76.
61. अतएवालंकाराणामनित्यता, गुणरहितं हि काव्यमकाव्यमेव भवति, नत्वलंकाररहितम्। अलंकाराणां गुणोपजनित शोभे काव्ये शोभातिशयविधायित्वात्। ......... तस्माद्रसानां काव्यशरीरभूतशब्दार्थविषयतयात्मत्वेनावस्थानं, न त्वलंकारतया। —वही, पृ. 76-78.
62. दे., हि. संस्कृत पोइटिक्स, पृ. 79.

63. रुय्यक के 'काव्यतत्त्वेनोक्तं' इत्यादि कथन पर जयरथ और विद्याचक्रवर्ती के ये विचार हैं : (क) तदुपस्कार्यः पुनरात्मा कैश्चिदपि नाभ्युपगतः। वामनेन तु तदुपस्कार्य आत्मा कश्चिदुक्तः (विन्ट-7), (ख) काव्ये जीवितांशविचारविमुखानां अलंकारमात्ररसिकत्वादुत्तानदृशां मतमुपन्यस्य जीवितांशविचारगणां मतानि यथावदुपन्यस्यति। —सं., पृ. 8.
64. रीतिरात्मा काव्यस्य — का.सू.वृ., 1/2/6.
65. विशिष्टपदरचना रीतिः। वही, 1/2/7.
66. विशेषो गुणात्मा। वही, 1/2/8.
67. शब्दार्थयुगलस्य शरीरत्वमौपचारिकं इति मन्तव्यम् — का.धे., पृ. 16.
68. काव्यंग्राह्यमलंकारात् — वही, 1/1/1.
69. काव्यं खलु ग्राह्यमुपादेयं भवति, अलंकारात्। काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते। वृत्ति, पृ. 4.
70. सौन्दर्यमलंकारः — 1/1/2.
71. पी.सी. लाहिरी—कान्सेप्ट ऑफ रीति एण्ड गुण, पृ. 56-58.
72. युवतेरिव रूपमंगकाव्यं स्वदते काव्यगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः।।
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यभंगनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते।। —का.सू., वृ., पृ. 70.
73. पूर्वेनित्याः — 3/1/3.
74. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः — 3/1/1.
75. तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः — 3/1/2.
76. कैवल्ये तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजः प्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति — 3/1/1 पर वृत्ति।
77. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। वही, 4/3/8, लक्षणाग्रहण से यहां यह भी प्रतीत होता है कि वामनादि को भी अप्रत्यक्ष रूप से ध्वनि-तत्त्व ज्ञात था।
78. दीप्तरसत्वं कान्तिः। वही, 3/2/14.
दीप्ताः रसाः शृंगारादयो यस्य स दीप्तरसः। तस्य भावो दीप्तरसत्वम्। वृत्ति।
79. दीप्ताः विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्ताः। का.धे., पृ. 95.
80. तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्, काव्यालंकार, 12/2.
81. स्नेहप्रकृतिः प्रेयान् —वही, 15/17.
82. सारं समाहितमनाः परमाददानः — 12/36, पर नामिसाधु का कथन है : परमुत्कृष्टं सारमलंकारानाददानो गृह्णन्।
83. सम आस्पेक्ट्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ. 34, मद्रास यूनीवर्सिटी, 1929.
84. रचयेत्तमेव शब्दं रचनायाः यः करोति चारुत्वम्।
सत्यपि सकलयथोदितपदगुण साम्येऽभिधानेषु।। वही, 2/9.

85. अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम् ।
क्षोदक्षममक्षुण्णं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत ।। — 2/8.
86. काव्यमलंकर्तुमलंकर्तुरुदारा मतिर्भवति ।। — 1/3.
87. ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम् ।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ।। — 1/4.
88. ज्वलन्देदीप्यमानोऽलंकार योगात् । —न.सा., पृ. 3
89. इह तावद्भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयाऽलंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते । —अ.स., पृ. 3-4.
90. काव्यशोभाकरत्वमेव गुणालंकारस्वरूपत्वम् । तदुक्तं रुद्रभट्टेन—
यो हेतुः काव्यशोभायाः सोऽलंकार प्रकीर्त्यते ।
गुणोऽपि तादृशो ज्ञेयो दोषः स्यात्तद्विपर्ययः ।। —प्रताप रु., पृ. 243.
नंयराजयशोभूषण, पंचमविलास, पृ. 57 पर भी यह अविकल उद्धृत है । ओ.रि.इ., बडौदा, 1930.
91. लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ।। -व.जी., 1/2.
92. अलंकारशब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुख्यतया कटकादिषु वर्तते, तत्कारित्वसामान्यादुपचारादुपमादिषु, तद्वदेव तत्सदृशेषु गुणादिषु । —वही, पृ. 3.
93. तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः न तु पुनः काव्यस्यालंकारयोगः । —व.जी., पृ. 7.
94. .......... वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । —व.जी., 1/10 वृत्ति में ।
95. अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः ।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ।। —वही, 1/11-15.
96. दे., वही, 1/35/6.
97. अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च । .......... लिंगभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः । स च त्रिविधः । वस्तुमात्रमलंकाररसादयश्चेति । तत्राद्यौ वाच्यावपि संभवतः । अन्यस्त्वनुमेय एवेति । व्यक्ति विवेक, पृ. 47, रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौ.सं.सी., 1964.
98. यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भवितुमर्हति । विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते । वही, पृ. 476.
99. कविव्यापारो हि विभावादि संयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते । .......... अतएव च न गुणालंकार संस्कृतशब्दार्थमात्रशरीरं तावत्काव्यम् । पृ. 101-3.
100. .......... वक्रत्वं नाम काव्यस्य जीवितमिति सहृदयमानिनः केचिदाचक्षते तदप्यसमीचीनम् । वही, पृ. 142.
101. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः —वही, पृ. 111.
102. किंच सौन्दर्यातिरेकनिष्पत्तयेऽर्थस्यकाव्यक्रियारंभः कवेर्नतु अलंकारनिष्पत्तये, तेषां

नान्तरीयकतयैव निष्पत्तिसिद्धेः, भंगीभणितिभेदानामेवालंकारत्वोपगमात्। —वही, पृ. 397.

103. न चालंकारनिष्पत्यै रसबन्धोद्यतः कविः।
यतते ते हि तत्सिद्धिं नान्तरीयकसिद्धयः।। —वही, 2/75.

104. विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।
तदर्थमेव कवयोऽलंकारान् पर्युपासते।। —वही, 2/14.

105. वही, 2/76-80.

106. वही, पृ. 315, 16 तथा 397.

107. कथं तर्हि स्वभावोक्तेरलंकारत्वमिष्यते। 2/113.
अर्थस्वभावस्योक्तिर्या सालंकारतया मता।
यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्था प्रतिमार्पिताः।। 2/120.

108. अलंकारैर्गुणैश्चैद बहुभिर्यदलंकृतम्।
भूषणैरिव विन्यस्तैस्तद्भूषणमिति स्मृतम्। —ना.शा., 16/5.

109. '.......... एवं समस्तस्य गुणालंकारवर्गस्यानुग्राहकमिदं कविव्यापाररूपं, तद्वशाच्च, शब्दार्थतद्व्यापाराद्यपि स्पृशद्विभूषणाख्यं लक्षणम्।' —अ.भा., भाग-3, पृ. 299.

110. वही, 10/101.

111. प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम्। —वही, 16/113.

112. तस्याभावं जगदुरपरे ..........। —ध्व., 1/1.

113. वही, 1/1 की वृत्ति।

114. '.......... तावता क आत्मनि बहुभावः। एवं प्रकृतेऽपीति तृतीयः प्रकारः। लो. पृ. 14-15.

115. इह तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालंकार पक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते। —अ.स., पृ. 3-4.

116. अभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो वभाषे —'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' इति। वामनोऽपि, सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः इति। .......... तैस्तावद्ध्वनिदिगुन्मीलिता, यथालिखितपाठकैस्तु स्वरूपविवेकं कर्तुमशक्नुवद्भिः तत् स्वरूपविवेको न कृतः। —लो., पृ. 34.

117. दे., संजीवनी, पृ. 4-5.

118. मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो ज्ञायते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।। —का.प्र., 2/9.

119. दे., ध्व., पृ. 109-134; अ.स., पृ. 4 तथा वही, संजीवनी।

120. वही।

121. भामहालंकार, 1/14 तथा 3/22.

122. काव्यादर्श, 2/66.

123. दे., काव्यालंकार का सप्तम, आठवां, नवां और दशम अध्याय।

124. अन्यत्र वाच्यत्वेन यो रूपकादिरलंकारः सोऽप्यन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्र भवद्भिर्भामहोद्भटादिभिः। तथा च सन्देहादिषु उपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितम्। —ध्व., पृ. 279
125. पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वे, रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादौ उपमालंकारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः। —अ.स., पृ. 7.
126. तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलंकारतया ख्यापितमेव। अ.स., पृ. 8, संजीवनी भी।
127. एकावली, पृ. 23-27.
128. संजीवनी, पृ. 6.
129. यद्यपि ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिः गुणवृत्तिरन्यो वा नकश्चित्प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति। ध्व., पृ. 34 तथा लोचन।
130. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषं स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्व. 1/13.
131. ध्व., 1/4.
132. दे.लो., पृ. 49.
133. वही, 1/6-7.
134. डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, अलंकार मीमांसा, पृ. 126.
135. उपमया यद्यपि वाच्यार्थोऽलंक्रियते तथा तस्य तदेवालंकरणं यद्व्यंग्यार्थाभिव्यंजन-सामर्थ्याधानमिति वस्तुतो ध्वन्यात्मैवालंकार्यः। कटककेयूरादिभिरपिहि शरीरसमवायिभिश्चेतन आत्मैव तत्ताच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतयालंक्रियते। तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्, यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्यानौचित्यात्। ……… इति वस्तुत आत्मैवालंकार्यः 'अहमलंकृत' इत्यभिधानात्। —लोचन, पृ. 209, तु.—साहित्य चूड़ामणि, पृ. 169-70.
136. प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिकः काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति। यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलंकारभावमुपमादिरूपतयान्वभूत इदानीं त्वनलंकार एवान्यत्र गुणीभावाभावात्, स पूर्वप्रत्यभिज्ञाबलादलंकारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तु मात्रमुच्यते। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः, किन्तु शब्दसमर्प्यमाण हृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविस्टरत्यादिवासनानुराग सुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः, स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, ……… स एव मुख्यतयात्मेति। लोचन, पृ. 50.
137. ध्व., 3/34.
138. वही, 3/41-42.

139. ध्व., पृ. 492-503.
140. वही, पृ. 503.
141. तस्याश्चालंकारान्तरसंकीर्णत्वं कदाचिद्वाच्यत्वेन कदाचिद्व्यंग्यत्वेन। व्यंग्यत्वमपि कदाचित्प्राधान्येन कदाचिद्गुणभावेन। तत्राद्ये पक्षे वाच्यालंकारमार्गः। द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भावः, तृतीये तु गुणीभूतव्यंग्यता। —ध्व., पृ. 501.
142. ध्व., पृ. 525-26.
143. यत्रतु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। ......... चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः, न च तदस्ति वस्तु किंचिद्यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात्। —वही, पृ. 526-27.
144. सत्यं न तादृक्काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः। किन्तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालंकारमर्थालंकारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते। ......... प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः प्राप्तपरिणीतानां तु ध्वनिरेव काव्यमिति। —ध्व., पृ. 526-32.
145. अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्।। —ध्व., पृ. 2-6.
146. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियोभवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।। —वही, 2/16.
147. यथा हि पृथग्भूतेन हारेण रमणी विभूष्यते तथोपमानेन शशिना तत्सदृशेन वा कविबुद्धिचंचलतया परिवर्तमानत्वात् प्रकृतसिद्धेनैव प्रकृतवर्णनीयवनितावदनादि सुन्दरी क्रियत इति तदेवालंकारः। -अ.भा., पृ. 321.
148. ध्व., पृ. 233-4.
149. अनन्ताहि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः। —वही, 505.
150. ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्।। —ध्व., 2/17.
151. अलंकारो हि बाह्यालंकारादंगिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते। वही, पृ. 235.
152. वही, 2/18-19.
153. शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवासावलंकारभावः। लो., पृ. 499-50.
154. ध्वनिकारः ......... व्यंग्यरूपस्य गुणालंकारोपस्कर्तव्यत्वेन प्राधान्याद्विश्रान्तिस्थानत्वादात्मत्वं सिद्धान्तितवान्। —अ.स., पृ. 12.
155. नानालंकार ग्रहणं गुणरसानामुपसंग्रहार्थम्। तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेनालंकारत्वात्। —स.कं., पृ. 703.
156. तत्र काव्यशोभाकरानित्येन श्लेषोपमादिवद्गुणरसभावतदाभासप्रशमादीनप्युपगृह्णाति। मार्गविभागकृद्गुणानामलंक्रियोपदेशेन श्लेषादीनां गुणत्वमिवालंकारत्वमपि। ......... काव्यशोभाकरत्वेन गुणान्तराणामप्यलंकारत्वमुपकल्पयति। ......... युक्तोत्कर्षणा-

मूर्जस्विरसवत्प्रेयसामलंकारेषूपदेशात्। —वही, पृ. 704.
157. यद्यपि गुणवत्येव काव्येऽलंकारयोगस्तथापि क्वचिद्गुणस्य प्राधान्यं क्वचिदलंकारस्येति। वही, पृ. 712.
158. दे., शृं.प्र., पृ. 371.
159. सरस्वती कंठाभरण की टीका में नरसिंह, मद्रास, पृ. 48, उद्धृत डॉ. राघवन्—भोजा'ज् शृंगार प्रकाश, पृ. 353.
160. तेषु बाह्याः वस्त्रमाल्यविभूषणादयः। आन्तराः दन्तकर्मनखच्छेदालककल्पनादयः, बाह्याभ्यान्तराः स्नानधूपविलेपनांजनमुखवासताम्बूलोपयोगादयः शरीरे। वही।
161. सरस्वती कंठाभरण की टीका में नरसिंह, मद्रास, पृ. 28. उद्धृत डॉ. राघवन् भोजा'ज शृंगार प्रकाश, पृ. 353.
162. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्। —का.प्र., 1/5.
163. चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। वही, 1/5 की वृत्ति।
164. अस्फुटतमतया रसपर्यवसायित्वं नास्तीति। संकेत, पृ. 10.
165. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेणजातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।। —का.प्र., 8/2.
166. का.प्र. 8/2 की वृत्ति तथा 'एतावता रसवृत्तित्वं चलस्थितिकत्वं चालंकाराणां दर्शितम्। तथा च रसोपस्कारकत्वे सति तदवृत्तित्वम्, तथात्वे सति रसव्यभिचरितत्वम्, अनियमेन रसोपस्कारकत्वं चेति सामान्यलक्षणत्रयमलंकाराणाम्। सुधासागर, पृ. 491; तु.—प्रदीप, पृ. 175.
167. का.प्र., पृ. 187 (आ.सं. सीरिज) तथा—शब्दार्थगुणालंकाराणां गुणवत्समवायेन स्थितिरिति भामहवृत्तौ भट्टोद्भटेन भणनमसत्। —संकेत, पृ. 187.
168. वही, पृ. 188.
169. अ.पु., 344/1-2.
170. विषय एव व्यंग्यनामा जीवितत्त्वेन वक्तव्यः यस्य गुणालंकारकृतचारुत्वपरिग्रह साम्राज्यम्। रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद्रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। तस्माद्व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमिति। —अ.स., पृ. 13.
171. व्यंग्यस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यां ध्वनिगुणीभूतव्यंग्याख्यौ द्वौ काव्यभेदौ। व्यंग्यस्यास्फुटत्वेऽलंकारत्वेन चित्राख्यः काव्यभेदस्तृतीयः। तत्रोत्तमो ध्वनिः। चित्रं तु शब्दार्थालंकारस्वभावतया बहुतरप्रभेदम्। —अ.स., पृ. 14-24.
172. अतो व्यंग्य एव काव्यात्मेति सिद्धान्तितम्। —सं., पृ. 12.
173. अंगिनो रसस्य धर्माः गुणाः अंगयोः शब्दार्थयोस्त्वलंकाराः। गुणास्तु नियमेनोत्कर्षहेतवः अलंकारास्त्वनियमेन, गुणाः समवाय सम्बन्धेन वर्तन्ते, अलंकारास्तु संयोगेन। वही, पृ. 10.

174. अलंकारशब्दस्य काव्यगतशोभातिशयहेतुभूतधर्मवाचकतया ………। —म.वं., पृ. 3, तथा काव्यशोभारत्वेनालंकारत्वसंभवात्। वही, पृ. 163.
175. वाच्यव्यतिरिक्तत्वेन स्वसंवेदनसिद्धम्। वाच्योपस्कारकत्वं ह्यलंकाराणामात्मभूतम्।
176. दे., अ.स.पृ., 1-23.
177. तस्मात्सर्वत्र काव्यस्य वस्तुतः कविप्रतिपादनया वा संभवी कश्चित्प्रतीतिरूपो धर्मविशेषः शब्दगतोऽर्थगतो वाऽलंकारतया वाच्यः। अ.र., पृ. 2.
178. काव्यं कल्पान्तरस्थापि कल्पतेऽनल्पभूतये।। वही, 1/11-19.
179. नाना विधालंकृतिनन्द्यवर्णां कन्यामिवैनां कवितां वृणीष्व अस्यां यशः सन्तति बृद्धिरस्तु। —अलंकार संग्रह, 5/66.
180. दे., अ.म. 6/1-2 तथा वृत्ति।
181. शब्दार्थौ सालंकारौ काव्यमित्युक्तम्। तत्रालंकाराणामंगाश्रिता, अलंकाराः इति सामान्यलक्षणमुक्तम्। —काव्यानु., पृ. 294.
182. वाग्भटा., 1/16.
183. दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तं अपियेनोज्झितं वचः।
स्त्रीरूपमिव नो भाति तं ब्रुवेऽलंक्रियोच्चयम्।। —वाग्भटा., 4/1.
184. शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्। सूत्र—प्रायः सालंकाराविति निरलंकारयोरपि शब्दार्थयोरपि क्वचित्काव्यत्वख्यापनार्थम्। काव्यानु., पृ. 14.
185. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्।। —चन्द्रा., 1/7.
186. अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।। —वही, 1/8.
187. 'अलंक्रियतेऽनेनेति करण व्युत्पत्याऽलंकारशब्दः शरीरसुषमाधायकत्वेन हारादीनामिव काव्यशोभासंपादकत्वेनानुप्रासोपमादीनामलंकाराणां वाचकः। अलंकृतिरलंकरणं वाऽलंकार इति भावप्रधानोऽलंकारशब्दस्तु साहित्यशास्त्रापरपर्यायः। ……… गुणानां मनोहरसन्निवेश रूपत्वेऽपि नालंकारत्वम्। ……… वस्तुतस्तु हारादिवदित्यनेन अलंकाराणां काव्यात्पृथग्भावः सूचितः। पौर्णमासी., पृ. 90-92, चौ.सं.सी., वाराणसी, 1950.
188. एकावली, पृ. 23-36.
189. शब्दार्थौ मूर्तिराख्यातं जीवितं व्यंग्यवैभवम्।
हारादिवदलंकारास्तत्रस्युरुपमादयः।।
श्लेषादयोगुणास्तत्रशौर्यादय इव स्थिताः।। —प्रतापरुद्रीयकाव्यप्रकरण, पृ. 32.
190. प्र.रु., पृ. 242-43.
191. प्राचामाचार्याणां मतेन संघटनाश्रयत्वमेव गुणानाम्। तदुक्तमलंकारसर्वस्वे—संघटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन च गुणालंकाराणां व्यवस्थानम् इति। अनयैव भंग्या गुणालंकाराणां निरूपितः स्वरूपभेदः। अन्यथा स्वरूपभेदस्य दुर्निवारत्वात्।

काव्यशोभाकरत्वमेव गुणालंकारस्वरूपत्वम्। ……… अतो गुणानां संघटनाश्रयत्वमेव। वही, पृ. 242.

192. वही, पृ. 244-5.

193. वस्तुतस्तु भामहादिमतेनान्तर्भावे श्लेषादिगुणानां रसधर्मत्वम्। अलंकाराणां तु शब्दार्थधर्मत्वमिति विद्यत एव स्वरूपभेद इति स्पष्टम्। रत्नापण, पृ. 243.

194. दे., रत्नापण, पृ. 243.

195. उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः। सा.द. 1/3.

196. गुणाः शौर्यादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत् देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते। सा.द. 1/3 की वृत्ति।

197. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्। —सा.द. 10/1 तथा वृत्ति।

198. दे., सा.द., पृ. 291-92. चौ.सं.सी., 1955.

199. अलंकारास्तु शोभायै रस आत्मा परे मनः।। —अ.शे. 1/2/1.

200. अलंकृतमयि काव्यं न श्रव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः।। —वही, 3/1/1.

201. अलंकारसहस्रैः किं गुणो यदि न विद्यते।
विक्रीयन्ते न घंटाभिर्गावो दुग्धविवर्जिताः।। वही

202. कविवाङ्निर्मितिः काव्यम् — अ.कौ., 1/2.

203. रसस्योत्कर्षकः कश्चिद्धर्मः साधारणो गुणः।
शौर्यादिरात्मन इव वर्णास्तद्व्यंजका मताः।। वही 6/11.

204. रसोत्कर्षकत्वं गुणत्वमिति मुख्यं लक्षणम् ……… रसशब्दोऽत्र तदास्वादार्थः। तेन रसास्वादोत्कर्षकत्वं गुणत्वम्। ……… ननु उत्कर्षकत्वं गुणत्वमिति चेत्, तदाऽलंकाराणामप्युत्कर्षकत्वं वर्तते, तेषामपि गुणत्वमस्तु। सत्यं, यथा हारादयो ह्यलंकाराः कंठाद्यंगान्येवोपकुर्वन्ति नात्मानं, तथाऽनुप्रासोपमादयोऽलंकारा शब्दार्थमेव, न तु काव्यम्। एवंचेत्तदा श्रुतिकटुत्वपुष्टार्थादिदोषाणां शब्दार्थाश्रयत्वेन तदपकर्षत्वमेवास्तु, कथं रसापकर्षकत्वं, यन्मूलातेषांदोषता? —वही, पृ. 238.

205. यदुक्तमन्यैः-कर्तारः काव्यशोभाया धर्माएवगुणाः स्मृताः।
अलंकारास्तदुत्कर्षहेतवः स्युरिति क्रमः।। इति तदपि नाति ललितम्। वही, पृ. 240-241.

206. दे., उपमा निरूपण के परिसर में घरानन्द विरचित सुधा, पृ. 41. चित्रमीमांसा सुधा, वाणी विलास प्रेस, वाराणसी-1.

207. हृद्यमेव कांतिमत्वादिकम्। सर्वोऽपि ह्यलंकारः कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेन हृद्यतया काव्यशोभाकर एवालंकारतो भजते। चि.मी., पृ. 45.

208. नंजराजयशोभूषण, पंचमविलास, पृ. 57 (ओ.आई., बरौदा, 1930)।

209. दोषपरिहारहेतूनां गुणत्वं न सर्वैः सम्मतम्। ये तु दोषाभावतयापि गुणत्वमिच्छन्ति तेषामेव सौकुमार्यादयो गुणत्वेनाभिमताः। —वही, पृ. 153.

210. काव्यार्थभूतस्य रसस्य समवायवृत्त्या रसोपस्कारगुणनिरूपणानन्तरं संयोगवृत्त्या रसोपस्कारकालंकारनिरूपणं क्रियते। इसके बाद उन्होंने विद्यानाथ के लक्षण को अविकल रख दिया है। वही, विलास 7, पृ. 154.

211. रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दः काव्यम्—र.गं., पृ. 4.

212. तच्चोत्तमोमत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा।। वहो, पृ. 9.

213. शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्। वही।

214. यत्र व्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम्। वही, पृ. 17.

215. यत्तु, अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यम्, इत्यादि काव्यप्रकाशगतलक्षणे चित्रान्यत्वं टीकाकारैर्दत्तम् तन्न। पर्यायोक्तसमासोक्त्यादिप्रधानकाव्येष्वव्याप्त्यापत्तेः। तेषां गुणीभूतव्यंग्यता-याश्चित्रतायाश्च सर्वालंकारिकसंभतत्वात्। वही, पृ. 17.

216. यत्र व्यंग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम्। —वही, पृ. 19.

217. अनयोरेवद्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यंग्ययोः प्रविष्टं निखिलमलंकारप्रधानं काव्यम्। वही, पृ. 19.

218. यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्। वही, पृ. 19.

219. यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्दचमत्कृतिस्तत्पंचममधमाधममपि काव्यविधासु गणयितुमुचितं, यथैकाक्षरपाद्यार्धावृत्तियमकपद्मबन्धादि—तथापि .......... नास्माभिर्गणितम्। —वही, पृ. 20.

220. काव्यप्रकाशोक्तस्य अवरकाव्यस्यैव अर्थालंकारघटितस्य मध्यमकाव्यत्वम्, शब्दालंकारघटितस्य अधमकाव्यत्वमाश्रित्य भेदद्वयेन चतुर्धा विभक्तम्। —मधुसूदनी, पृ. 61.

221. काव्यजीवितं चमत्कारित्वंचाविशिष्टमेव। —वही, पृ. 7.

222. शौर्यादिवदात्मधर्माणां गुणानां, हारादिवदुपस्कारकाणामलंकाराणां च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च।। वही, पृ. 7.

223. अलंकारा गुणेष्वेव ग्रथ्यन्ते प्रायशो भुवि।<br>गुणेभ्योऽत्र पृथक्त्वेन प्रगल्भानां न तद्ग्रहः।।<br>अलंकारा यदाप्येवमन्तर्भूता गुणेष्वमी।<br>रसलक्षणमाधुर्यवृत्तिरीति तदा न किम्।। —सा.सा., 1/21-24.

224. सा.सा. 1/2.

225. अलंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः समुदायस्य काव्यता कविकर्मत्वम्। तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति। —व.जी., पृ. 7.

226. डॉ. नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृ. 48.

227. दे., The meaning of the word *Alankar*, A Volume of Eastern and Indian Studies in honour of F.W. James, Bombay, 1939, p. 77; तथा Remark

on the Similes in Sanskrit Literature, Introduction, p. 2; Stylistic Repetition in *Veda*, p. 22.

228. दे. रेमन्ड, पोइट्री इज ए रिप्रेजेंटेशन आर्ट।
229. डॉ. नगेन्द्र, काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ. 53.
230. वही, पृ. 77.
231. वही, पृ. 82.
232. ब्रैडले, आक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोयट्री, निबन्ध सं. 2.
233. वही, पृ. 38-52.
234. एवमेते ह्यलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः।
प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम्।। —ना.शा., 10/133.
235. काव्यालंकार 36/7/5.
236. प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत्त्रयम्।। —काव्यादर्श, 2/273.
237. इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्।। —वही, 2/290.
238. रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्।। —का.सा., सं. 4/4.
239. येन काव्येन स्फुटरूपतया शृंगारादिरसाविर्भावो दर्श्यते तत्काव्यं रसवत्। रसाः खलु तस्यालंकाराः। ल.वृ., पृ. 50.
240. रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः। यत्काव्यं वध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्। —वही, 4/2.
241. प्रेयः शब्दवाच्येन प्रियतरेण रत्यालम्बनेन विभावनेन रतिरुपलक्ष्यते। एवं च भावकाव्यस्य प्रेयस्वदिति लक्षणया व्यपदेशः। अत्र व भावानामलंकारता, काव्यमलंकार्यम्। —वही, पृ. 48.
242. वही, 49.
243. कामक्रोधादिभिः कारणैः शास्त्रविरुद्धेन रूपेण रसा भावा यदुपनिबध्यन्ते, तदूर्जस्वि। शास्त्राविरोधे तु प्रेयोरसवदलंकारौ। विवृत्ति, पृ. 35, तु. ल.वृ., पृ. 51.
244. वही, 4/14.
245. का.सू.वृ., 4/3/29.
246. ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुवन्महीपतिः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि।। —काव्यालंकार 1/4.
247. वही, 12/1.
248. वही, 12/3.
249. वही, 12/14.
250. तेन रसएव वस्तुत आत्मा वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसंप्रतिपर्यवस्येते। लोचन, पृ. 86.
251. लो., पृ. 188.

252. अभिव्यंजूयन्ते रसाः प्रतीत्यैव रस्यन्त इति। तत्राभिव्यक्तिः प्रधानतया भवत्यन्यथावा। प्रधानत्वे ध्वनिः अन्यथा रसवदाद्यलंकारः। —लो., पृ. 200, 201.
253. ध्वन्या. 2/4 तथा वृत्ति।
254. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्रांगं तु रसादयः। काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः।। —वही, 2/5 वृत्ति तथा लोचन भी।
255. भामहेन हि गुरुनृपतिपुत्रविषयप्रीतिवर्णनं प्रेयोऽलंकार इत्युक्तम्। तत्र प्रेयानलंकारो यत्र सं प्रेयोऽलंकारोऽलंकरणीय इति। —लो., पृ. 202.
256. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः। —का.प्र. 4/35.
257. उद्भटमते हि भावालंकार एव प्रेयइत्युक्तः प्रेम्णा भावानामुपलक्षणात्। लो., पृ. 203.
258. यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलंकारत्वम्? अलंकारो हि चारुताहेतुः प्रसिद्धः न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः।। —ध्व., प्र. 208.
259. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्रांगंतु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः।। —वही, 2/5.
तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थोभूताः स सर्वो न रसादेरलंकारस्य विषयः स ध्वनेः प्रभेदः, तस्योपमादयोऽलंकाराः। यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्व-निष्पत्तिः क्रियते, स रसादेरलंकारताया विषयः। वही, पृ. 209.
260. '.......... य स्मान्नास्त्येवासावचेतन-वस्तु वृत्तान्तो यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन्न तस्मादंगत्वेन च रसादीनामलंकारता। यः पुनरंगी रसो भावो वा सर्वाकारमलंकार्यः स ध्वनेरात्मेति। —ध्व., पृ. 211-15.
261. ध्व., 2/6.
262. नह्यात्मा चारुत्वहेतुर्देहस्येति भवति। ......... नह्यलंकार्य एवालंकारः गुणी एव गुणः। लो., पृ. 45-6.
263. दे., ध्व., पृ. 231-33.
264. अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिपादनात्।·
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासंगतेरपि। —व.जी., 3/11, दे., पृ. 156-166.
265. वही, पृ. 167-77.
266. व.जी., पृ. 175.
267. अ.सं., 5/36/37.
268. ना.शा., 16/5.
269. वही, 16/96.
270. परस्परविभूषणो गुणालंकारग्रामो समम् इति भरतः। भिन्नाधिकरणाहि गुणालंकारास्तत्कथमन्योन्यं भूषयेयुः। —विवेक, पृ. 278-79.
271. चित्रकर्मप्रतिभमलंकारगुणनिवेशनम्। अ.भा., पृ. 377, जिल्द 2, मद्रास।
272. एवमर्थस्यापि यद्रसाभिव्यक्तिहेतुत्वं सोऽर्थ गुणः। यस्तु वस्त्वन्तरवदनस्येव चन्द्रः सोऽलंकारः। —ना.शा., भाग 2 (गा.ओ.सी.), अ.भा., पृ. 29.

273. ये केचित्काव्यशोभाकराविशेषास्तेऽलंकारा विज्ञेयाइति यावत्।। —काव्यादर्श 2/1 पर रत्नश्री।
274. ल. वृत्ति, पृ. 75-78.
275. ध्वन्या., तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्या कटकादिवत्।। ध्व., 2/6.
276. येऽमी माधुर्यौजः प्रसादाः रसमात्रधर्मतयोक्ताः, तेषां रसमात्रधर्मत्वे किं मानम्? प्रत्यक्षमेवेति चेत्, न दाहादेः कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्नतयानुभवः, तथाद्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात्। —र.गं., पृ. 204, प्रथमाननं, बिहार राष्ट्रभाषा, पटना।
277. तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यदेरीदृशस्य सत्वादुपचारो नैव कल्प्यः इति तु मादृशाः।। —वही, पृ. 208.
278. सा.द., 8/1 की वृत्ति।
279. कृष्णा कर्णामृतम्।
280. शृंगारप्रकाश भोज, राघवन्, पृ. 326.
281. रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यनयेति, रीति शब्दो मार्गपर्यायः। —सरस्वती कंठाभरण, 2-27 पर रामसिंह की टीका, पृ. 155.
282. वही।
283. रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्। —सा.द. 1/3 की वृत्ति।
284. काव्यालं. 1/31-35.
285. अत्स्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयो वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ।। —काव्या. 1/40.
286. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्ति समाधयः।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।। —काव्यादर्श, 1/41-2.
287. वही, 2/1 तथा 2/234.
288. काव्या., 1/6-10.
289. का.सू.वृ., 1/2/6.
290. वही, 1/2/7.
291. वही, 1/2/8.
292. वही, 1/2/9.
293. वही, 2/1/11.
294. विदर्भादिषुदृष्टत्वात्तत्समाख्या 2/10.
295. वही, 1/2/12.
296. वही, 1/2/13.

297. तासां पूर्वाग्राह्या गुणसाकल्यात्। 1/2/14.

298. नपुनरितरे स्तोकगुणत्वात्। 1/2/15.

299. एतासुतिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितम्। पृ. 22.

300. काव्यालंकार, 15/20.

301. मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता, भद्रेति वृत्तयः पञ्च।
वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलप्रदाः।। —काव्या. 2/19.

302. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्। अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः —ध्व. 3/46.

303. शब्दतत्त्वाश्रया काश्चिदर्थतत्त्वयुजो परा। वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन्काव्यलक्षणे।।
—वही, 3/47.

उपनागरिकाद्याः शब्दतत्त्वाश्रयाः, ......... अर्थसम्बद्धा कैशिक्यादयः सम्यग्रीतिपदवीमवतरन्ति, पृ. 552.

304. दे., लोचन, पृ. 21.

305. 'वृत्तयः काव्यामातृकाः' इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एव चेष्टाविशेषो वृत्तिः। लो., पृ. 553.

306. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः। सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः। व.जी., 1/24.

307. चिरन्तनैर्हिविदर्भादिदेशसमाश्रयणेन वैदर्भीप्रभृतयो रीतयस्तिस्रः समाम्नाताः। तासां चोत्तमाधममध्यमवैचित्र्येणं त्रैविध्यम्। अन्येन्यैश्च वैदर्भीगौडीयलक्षणं मार्ग द्वितयमाख्यातम्। एतच्चोभयमप्ययुक्तियुतम्। —वही, पृ. 45-46.

308. दे., व.जी., 1/25-29.

309. वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरिष्यते।। —स.कं., 2/27.

310. टीकारामचन्द्रसिंह, पृ. 155.

311. वही, 2/28.

312. वही, 2/35.

313. वही, 2/79.

314. वही, 2/85/6.

315. इति द्वादशधा वृत्तिः कैश्चिद्या कयितेह सा।
न गुणेभ्यो न वृत्तिभ्यः पृथक्त्वेनावभासते।। —वही, 2/87.

316. का.प्र., 9/80-81, एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी, गौडी, पांचाल्याख्या रीतयो मताः। —वही, 9-81 की वृत्ति।

317. पदसंघटनारीतिरंगसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्, सा.द., 9/1.

318. ननु रीतेः साक्षादेव शब्दस्योत्कर्षाभिधायकत्वं निरुक्तम्, परम्परया तु रसादीनाभित्युपपन्नम् तथा च तस्याः काव्योत्कर्षाधायकत्वमित्युपपन्नम्। —रामचरणतर्कवागीश, पृ. 439.

319. आत्मोत्कर्षावहास्तत्र स्वभावा इव रीतयः। —प्रता. रु., 1/3.
शोभामाहार्यिकीं प्राप्ता रीतयो रीतयोयथा।। —1/4.
320. वैदर्भी प्रभृतयो रीति विशेषा न वृत्तिष्वन्तर्भूताः। —वही, पृ 35.
321. वृत्तिस्तु रसविषयो व्यापारः। तद्वतीवर्णरचनेह वृत्तिः।। —संजी., पृ. 29.
322. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः —काव्या. 1/26-31.
323. रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। —र.गं., पृ. 4.
324. सैषा, सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।। 2/85, तु.—काव्यादर्श 2/14.
325. वही, 2/87.
326. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा। —काव्यादर्श, 2/8.
327. वक्रोक्तिशब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलंकारा उच्यन्ते। हृदयंगमा टीका।
328. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायोवक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।। —काव्या. 2/262.
329. काव्यालं., 2/14-16.
330. सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इतिश्रुतः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा।। द्र., व.जी., भूमिका डॉ. दे, पृ. 16.
331. अतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। ध्व., 498-99.
332. यातिशयोक्तिर्लक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलंकारः।। लोचन, पृ. 499.
333. अथ सा जीवितत्त्वेनेत्थं विवक्षिता। वही, पृ. 500-501.
334. लो., पृ. 197.
335. अ.पु.।
336. वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रति जानते।। —स.कं., 5/8.
337. वही, 2/131-32.
338. व.जी., 1/6 तथा वृत्ति।
339. दे., व.जी., 1/10.
340. डॉ. दे, व.जी. की भूमिका, पृ. 31.
341. भङ्गी विच्छितिः तयाभणितिः विचित्रैवाविधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। वही, 1/10 की वृत्ति।
342. दे. काव्यानुशासन, 5/8, अलं महो. 9/23, चन्द्रा. 5/162, सा.द. 10/11, अ.शे., पृ. 29, सा.सा. 82-88, प्रतापरु. पृ. 410; काव्यानु. 49, वाग्भटा. 4/14.
343. अ.स. सू. 77.
344. डॉ. नगेन्द्र रससिद्धान्त, पृ. 48.
345. ना.शा. 26/113-19.

346. वही, 14/68.
347. काव्यालं., 1/54-56.
348. काव्यादर्श 3/128-37.
349. एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरथनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः।। काव्यालं., 2/32.
350. दे., ध्वन्या., 2/14-18. इसी अध्याय में ध्वनिकार का अलंकार निरूपण भी।
351. औचित्य निबन्धनं रसभावादि मुक्त्वा नान्यत् किंचिदस्तीति तदेवान्तर्यामि मुख्यम्। लो., पृ. 500-501.
352. आंजसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्।।
यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते। —व.जी., 1/53/4.
353. उचितं प्राहुराचार्या सदृशं किलयस्ययत्।
उचिततस्य हि यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।। —औ.वि., 7.
354. औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।। औ.वि., 3.
355. काव्यस्याममलंकारैः किं मिथ्या गणितैः गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापिंन दृश्यते।। —वही, 4.
356. अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।। —वही, 5.
357. उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युतान्नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः।। वही, 6.
358. वही, पृ. 3.
359. विशेष अध्ययन के लिये द्रष्टव्य, क्षेमेन्द्र स्टडीज।
360. 'A figure looks best when it escapes one's notice that it is a figure'; On the Sublime, Chap. XVII, or A figure then most affectual when it appears in disguise. *ibid*, 309, On the Sublimes, Chap. XVII.
361. डॉ. नगेन्द्र, रससिद्धान्त, पृ. 321-355.

## तृतीय अध्याय

# पौनरुक्त्य अलंकार

### अनुप्रास

अनुप्रास, यमक, पौनरुक्त्य, आदि अलंकार वर्ण, पद, शब्द, अर्थ, आदि की आवृत्ति (पुनरुक्ति) पर आधृत हैं। अतएव इन्हें पौनरुक्त्य-वर्ग में रखा गया है।[1] अनुप्रास शब्द में तीन अंश हैं, अनु प्र आस।[2] यहां अनु से अनुगत, प्र से प्रकृष्ट तथा आस से न्यास अर्थ विवक्षित है।[3] रस, भाव, आदि के अनुसार अव्यवहित वर्णों का प्रकृष्ट विनिवेश (न्यास, आवृत्ति) अनुप्रास अलंकार माना जाता है। अतएव इस अलंकार का यह अभिधान अन्वर्थक है।[4]

ऋग्वेद में अनुप्रास के प्रचुर प्रमाण पाये जाते हैं।[5] अनुप्रास का प्रथम विवेचन यद्यपि भामह के 'काव्यालंकार' में प्राप्त होता है, तथापि भरत का यमक अलंकार अनुप्रास को भी व्यक्त करने में सक्षम है। उनके अनुसार (श्लोक के) पाद आदि में विकल्पित शब्दाभ्यास शब्द की आवृत्ति) यमक अलंकार है।[6] अभिनवगुप्त का अभिमत है कि, यहां शब्दपद, वर्ण, पद, पदेकदेश, आदि का बोधक है। अतएव अनुप्रास तथा लाटानुप्रास आदि का यमक से ही ग्रहण हो जाता है।[7] इससे स्पष्ट हो जाता है कि भरत के समय तक शब्दालंकारों का बोध यमक के द्वारा होता था। भरत के मालायमक के अन्तिम दो उदाहरण भी इस तथ्य को पुष्ट करते हैं।[8] भामह सरूप वर्णों के विन्यास को अनुप्रास मानते हैं। वह ग्राम्या, मध्यमा तथा लाटीया को अन्यों के नाम से उद्धृत करते हैं।[9] दंडी अनुप्रास का विवेचन नहीं करते। उद्भट ने छेकानुप्रास (त्रिधा) तथा लाटानुप्रास (पंचधा) का विवेचन किया है। प्रतीत होता है कि उद्भट इन्हें एक ही अलंकार के दो भेद न मानकर, पृथक् अलंकार मानते हैं। उनके अनुसार व्यवधान रहित दो-दो वर्णों की समान आवृत्ति छेकानुप्रास है।[10] उद्भट के दोनों टीकाकार इस बात पर सहमत हैं कि दो-दो समान समुदायों, न कि तीन-तीन का असकृत् निबन्धन छेकानुप्रास है।[11] कुलाय-अमिरत पक्षियों को छेक कहा जाता है। जिस प्रकार कुलाय (नीड) में रहने वाले, किसी से अपीड़ित पक्षिगण मधुर वाणी का उच्चारण करते हैं, उसी प्रकार इसमें भी मधुर वाणी का विनिवेश पाया जाता है। अतएव छेक के सादृश्य पर इसे छेकानुप्रास कहते हैं।

छेक का अर्थ विदग्ध भी है। विदग्ध जनों का प्रिय होने के कारण भी इसे छेकानुप्रास कहा जाता है।[12] जहां शब्दों या पदों के स्वरूप और अर्थ में भेद (अविशेष) न होने पर भी तात्पर्य मात्र से पुनरुक्ति हो, वहां लाटानुप्रास होता है। लाटजनों का प्रिय होने के कारण इसे लाटानुप्रास कहते हैं।[13] वामन का कथन है कि अनियत स्थान समान अक्षर तथा एकार्थक, अनेकार्थक समान पदों की (आवृत्ति) अनुप्रास है।[14]

रुद्रट के अनुसार अविवक्षित स्वर (स्वर की आवृत्ति की अपेक्षा किये बिना) एक, दो या तीन (व्यंजनों) के अन्तर अथवा निरन्तर से की जाने वाली व्यंजन की असकृत् आवृत्ति अनुप्रास अलंकार है।[15] भोजराज का भी लक्षण प्रायः रुद्रट के समान है, अनति दूरान्तर (बिना अधिक अन्तर से) वर्णों की आवृत्ति अनुप्रास है।[16] अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का सम्यक् आलोडन करके मम्मट ने अनुप्रास का एक संक्षिप्त किन्तु सरल और स्पष्ट लक्षण बनाया—वर्णसाम्यमनुप्रासः।[17] स्वर की विसदृशता होने पर भी व्यंजन-साम्य अनुप्रास अलंकार है। सर्वप्रथम रुय्यक ने अलंकारों का वैज्ञानिक विभाजन तथा विवेचन प्रस्तुत किया। प्राचीनों के अधिकांश शब्दालंकारों को वह पौनरुक्त्य-वर्ग में प्रतिष्ठित करते हैं। पौनरुक्त्य त्रिधा होता है—अर्थपौनरुक्त्य, शब्दपौनरुक्त्य तथा शब्दार्थपौनरुक्त्य।[18] अर्थपौनरुक्त्य तथा शब्दार्थपौनरुक्त्य प्ररूढ होने पर दोष माना जाता है।[19] अप्ररूढ होने पर ये दोनों क्रमशः पुनरुक्तवदाभास और लाटानुप्रास के विषय होते हैं। शेष तीन, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा यमक शब्दपौनरुक्त्य पर आधृत हैं। इस प्रकार पौनरुक्त्य वर्ण में रुय्यक ने पांच अलंकारों का विवेचन किया है।[20] रुय्यक की एक अन्य विशेषता यह भी है कि मम्मट आदि आचर्य जहां लाटानुप्रास को शब्दालंकार और पुनरुक्त्वदाभास को शब्दार्थालंकार (उभयालंकार) मानते हैं, वहीं उनकी दृष्टि में ये क्रमशः शब्दार्थालंकार और अर्थालंकार हैं। उपर्युक्त विवेचन से एक बात और स्पष्ट होती है कि कदाचित् अनुप्रासत्रय को वह स्वतंत्र अलंकार मानते हैं, न कि अनुप्रास के मात्र भेद। शोभाकर भी उपर्युक्त अनुप्रास त्रय का विवेचन करते हैं, पर अनुप्रास का कोई सामान्य लक्षण नहीं करते। नरेन्द्रप्रभसूरि का अनुप्रासलक्षण भोजराज से प्रभावित है।[21] हेमचन्द्र मम्मट का अनुगमन करते हैं।[22] वाग्भट प्रथम के अनुसार स्फुरद्गुण समान सुनाई पड़ने वाले अक्षरों की अनेकधा आवृत्ति अनुप्रास है।[23] वाग्भट द्वितीय भी भोजराज के समान लक्षण करते हैं।[24] तथा तीनों अनुप्रासों को अनुप्रास का भेद स्वीकार करते हैं। जयदेव भी अनुप्रास की मंजिल छेकानुप्रास से प्रारंभ करते हैं। विद्याधर, विद्यानाथ तथा नरसिंह

रुय्यक के पूर्णतः अनुगामी हैं। विश्वनाथ, केशव मिश्र तथा कर्णपूर के लक्षण मम्मट के समान हैं।[25] अप्पय, देवशंकर तथा जगन्नाथ शब्दालंकारों का विवेचन नहीं करते। अजितसेन, रामचन्द्रतर्कवागीश, छज्जूराम, ब्रह्मतन्त्र स्वामी, चन्द्रशेखर, आदि पूर्वाचार्यों से व्यतिरिक्त कुछ नहीं कहते।[26] अच्युतराय भी उद्भट-रुय्यक परंपरा का अनुसरण करते हैं। स्पष्ट है कि उद्भट प्रभृति कतिपय आलंकारिक अनुप्रास का सामान्य लक्षण न बताकर भेद-विवेचन प्रारंभ कर देते हैं। समष्टि रूप में कहा जा सकता है कि स्वर का वैसादृश्य होने पर भी शब्द-साम्य अनुप्रास अलंकार है।

## भेद विवेचन

भामह ने अनुप्रास का कोई स्पष्ट भेद नहीं किया है, पर ग्राम्या, मध्यमा तथा लाटीया का निर्देश अवश्य किया है। इन्हीं के आधार पर उद्भट ने अनुप्रास के दो स्वरूप स्थिर किये, छेकानुप्रास और लाटानुप्रास। छेकानुप्रास के वह तीन भेद करते हैं, जिनका आधार परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या नाम की तीन वृत्तियाँ हैं।[27] उनके अनुसार ये तीनों वृत्तियाँ पृथक्-पृथक् अनुप्रास हैं।[28] ध्यातव्य है कि इनमें ग्राम्या तथा उपनागरिका (मध्यमा) का निर्देश भामह ने ही कर दिया था। उद्भट ने लाटानुप्रास के पांच भेद किये हैं। इन्दुराज के अनुसार इसके प्रथमतः तीन भेद होते हैं, स्वतंत्र पदाश्रय (दो समान पदों की पुनरुक्ति), परतन्त्र शब्दाश्रय (दो समान शब्दों की पुनरुक्ति) तथा स्वतंत्र परतंत्राश्रय (दो पद-शब्द की पुनरुक्ति)। एकैकपदाश्रय तथा पदसमुदायाश्रय भेद से प्रथम के दो भेद होते हैं। इसी प्रकार दूसरे के भी दो भेद होते हैं, पदद्वितीयआश्रय तथा एकपदाश्रय। तृतीय का कोई भेद नहीं होता। एवमयं पंचविधो लाटानुप्रासः।[29] राजानकतिलक ने इन्हीं को निम्न शब्दों में उपस्थित किया है, एषद्वयोः शब्दयोः, द्वयोः पदयोः पदशब्दयोर्वा यदा भवति तदा पूर्वस्त्रिभेदः। पदद्वयाश्रयत्वेनैकपदाश्रयत्वेन च शब्दाश्रयो द्विविधः। एकमिति (स्मिन्) पदे पदसमूहात्मके पादे च भावात् पदाश्रयो द्विविधः। एवं च पंचविधोऽयम्। वि., पृ. 6.

वामन रीतिवादी आचार्य हैं। कदाचित् इसीलिये उन्होंने अनुप्रास में वृत्तियों को उपयोगी नहीं समझा। वह अनुप्रास के दो भेद करते हैं, वर्णानुप्रास और पदानुप्रास। अनुल्वण वर्णों का विनिवेश वर्णानुप्रास है। पादयमक की तरह पदों का विन्यास पदानुप्रास माना जाता है।[30] रुद्रट ने अनुप्रास का कोई विभाग नहीं किया, पर अनुप्रास की मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता तथा भद्रा पांच वृत्तियों का

उल्लेख किया है।[31] भोजराज अनुप्रास के प्रथमतः छः भेद करते हैं : श्रुति, वृत्ति, वर्ण, पद, नाम द्विरुक्ति तथा लाटोक्ति।[32] आवृत्ति दो प्रकार की होती है, वर्णमात्रावलम्बिनी तथा समुदाय से अगोचर। प्रथम भी द्विधा मानी जाती है, सामान्य तथा रूप। सामान्य दो रीति से होती है, स्थान और व्यापार से। कंठ आदि से अभिव्यक्त अभिव्यंजन रूप वर्णव्यापार को श्रुति कहते हैं।[33] श्रुत्यनुप्रास के प्रथमतः तीन भेद होते हैं, ग्राम्य, नागर तथा उपनागर। पुनः ग्राम्य श्रुति चार प्रकार की होती है, मसृण, वर्णमसृण, वर्णोत्कट तथा वर्णानुत्कट। ग्राम्य श्रुति से विपरीत अनतिप्रसिद्ध श्रुति नागर श्रुति कही जाती है। उसके भी दो भेद होते हैं, श्रुतिभेद होने पर भी एकत्व बुद्धि तथा अभेद होने पर भी भेदबुद्धि। दोनों (ग्राम्य और नागर) के गुणयोग से उपनागर श्रुति होती है। इसमें उक्त न-ण-, र-ल, आदि श्रुतियों का ऐक्य पाया जाता है। भोज का कथन है कि सौभाग्य से ही सुसमाहितचेता कवि श्रुति अनुप्रास का प्रयोग करता है। यह श्रुत्यनुप्रास अन्य अनुप्रासों का नायक है। जिस प्रकार ज्योत्स्ना चांद को तथा लावण्य अंगना को सुशोभित करता है, उसी प्रकार श्रुत्यनुप्रास काव्य को अलंकृत करता है।[34] यही नहीं पद-वर्ण-गत अनुप्रास भी श्रुत्यनुप्रास से संवलित होने पर लोकोत्तर शोभा की सृष्टि करता है। पुनः पुनः आवर्त्यमान स्वकीय वर्गजन्य काव्यव्यापी संदर्भ वृत्यनुप्रास कहा जाता है। तात्पर्य यह कि जहां समानवर्गीय वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति होती है, वहां भोज वृत्त्यनुप्रास मानते हैं। उनके अनुसार वृत्तियां 12 प्रकार की होती हैं, कर्णाटी, कौंकणी, कौन्ती, कौंकी, वाणवासिका, द्राविडी, माथुरी, मात्सी, मागधी, ताम्रलिप्तिका, औण्ड्री तथा पौण्ड्री। भोजराज का कथन है कि अन्य लोग वृत्ति की अन्यथा व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। स्फुट आदि बन्ध की सिद्धि के लिये स्पर्शादि वर्णों का आपस में सम्बन्ध या असम्बन्ध वृत्ति है। अन्यों की दृष्टि में काव्यव्यापी संदर्भ वृत्ति कही जाती है। उसके तीन गुण हैं, सौकुमार्य, प्रौढ़ि तथा मध्यम। गंभीरा, ओजस्विनी, प्रौढ़ा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परुषा, ललिता तथा अमिता उसकी द्वादश वृत्तियां हैं। भोज की दृष्टि में ये गुण तथा नाट्यवृत्तियों से व्यतिरिक्त नहीं हैं। यही नहीं उनका यह भी अभिमत है कि कभी-कभी श्रुत्यनुप्रास तथा वर्णानुप्रास से इन्हें प्रथक् करना भी कठिन हो जाता है। जिस प्रकार माला में सजातीय पुष्पों के अतिरिक्त बीच-बीच में विजातीय का भी संनिवेश कर दिया जाता है, उसी प्रकार कुछ अन्तर से वर्णों की आवृत्ति होने पर वर्णानुप्रास होता है। इसके भी बारह भेद होते हैं, स्तबकवान्, स्थानी, गर्भ, विवृत संवृत, गृहीतमुक्त, क्रमवान्, विपर्यस्त, संपुट, मिथुन, वेणिका, चित्र तथा विचित्र। समग्र या असमग्र पदों की आवृत्ति होने

पर पदानुप्रास होता है। यह भी 12 प्रकार का होता है, मसृण, दन्तुर, श्लक्ष्ण, संपुट, संपुटावली, खिन्न, स्तवकवान्, स्थानी, मिथुन, मिथुनावली, गृहीतमुक्त तथा पुनरुक्ति। स्वभाव, गौणीवृत्ति, वीप्सा, आभीक्ष्ण्य, आदि के द्वारा वाक्य में नाम की द्विरावृत्ति होने पर नामद्विरुक्ति अनुप्रास होता है। अर्थ-भेद न होने पर भी तात्पर्य भेद से पदों की आवृत्ति को लाटानुप्रास कहा जाता है। उसके सात प्रकार हैं। व्यवहित, अव्यवहित भेद से प्रथमतः द्विधा होता है। प्रथम के अनन्त और अगणित भेद संभव हैं। द्वितीय के छः भेद होते हैं। समस्त, व्यस्त तथा उभय (व्यस्त समस्त, समस्त व्यस्त) रूप से प्रथमतः चार भेद होते हैं। उभय रूप लाटानुप्रास चक्रवाल और गर्भ भेद से द्वेधा होता है। इस प्रकार भोज के अनुसार लाटानुप्रास के प्रधानतया सात भेद होते हैं। उनका अभिमत है कि लाटानुप्रास में वे समग्र भेद हो सकते हैं, जो यमक में होते हैं। उपमा आदि अर्थालंकारों के अभाव में भी काव्य में शोभा बनी रहती है, यदि अनुप्रास का लेश भी वहां निविष्ट हो। यदि कुंकुम के द्वारा सर्वांगीण अंगराग प्रयुक्त हो तो कुण्डल के बिना भी कामिनी में लोकोत्तर सौन्दर्य आ जाता है। भोजकृत अनुप्रास-प्रपंच का प्रकृत में सविस्तार विवेचन अशक्य है।[35] संभवतः इसीलिये शृंगारप्रकाश में कुछ नामान्तर के साथ मूल छः भेदों का ही विवेचन किया गया है।[36]

उद्भट से लेकर भोजराज तक अनुप्रास-प्रपंच इतना विस्तृत हो गया था, कि सामान्य जन के लिये वह दुर्बोध ही था। मम्मट ने इन सबको संक्षिप्त और व्यवस्थित करने का प्रयास किया है। अनुप्रास द्विधा होता है—वर्णानुप्रास और शब्दानुप्रास। प्रथम के दो भेद हैं—छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास। अनेक व्यंजनों की सकृत् आवृत्ति होने पर छेकानुप्रास होता है। प्रदीपकार के अनुसार एक वर्ण का असकृत् साम्य (आवृत्ति) वृत्त्यनुप्रास कहा जाता है।[37] माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों के अभिव्यंजक वर्णों से उपेत क्रमशः उपनागरिका, परुषा तथा कोमला (ग्राम्या) तीन वृत्तियों का मम्मट ने भी उल्लेख किया है। इन्हीं को वामन वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली रीति कहते हैं।[38] इस प्रकार मम्मट ने प्रकारान्तर से यह भी सिद्ध कर दिया है कि रीति-वृत्ति वर्णानुप्रास से व्यतिरिक्त नहीं हैं, काव्य की आत्मा मानना तो दूर की बात है। लाटानुप्रास को वह शब्दानुप्रास मानते हैं। शब्द और अर्थ में अभेद होने पर भी तात्पर्य भेद से शब्दों की आवृत्ति को लाटानुप्रास कहा जाता है। वामन आदि की दृष्टि से इसे पदानुप्रास कहा जाता है, मम्मट इसके विरोधी हैं। लाटानुप्रास के वह पांच भेद करते हैं। प्रथमतः इसके दो भेद होते हैं—पदगत और नामगत (आवृत्ति)। अनेक पद तथा एक पद की आवृत्ति होने से प्रथम के

दो भेद होते हैं। द्वितीय त्रिधा होता है, एक समासगत, भिन्न समासगत तथा समासासमासगत। इस प्रकार मम्मट के अनुसार अनुप्रास के पांच भेद होते हैं।[39] उद्भट ने वृत्तियों को छेकानुप्रास का भेद माना था। मम्मट ने छेकानुप्रास को बने रहने दिया। वृत्ति को उससे पृथक् कर वृत्यनुप्रास का निर्माण किया, जिसका बहुत कुछ श्रेय भोज को है।

रुय्यक छेक तथा वृत्त्यनुप्रास को शब्दपुनरुक्ति तथा लाटानुप्रास को शब्दार्थ-पुनरुक्ति पर आधृत मानते हैं। उनके अनुसार संख्या का नियमन होने पर छेकानुप्रास होता है। दो व्यंजन समुदायों का परस्पर अनेक बार सादृश्य संख्यानियम कहा जाता है।[40] छेकानुप्रास से अन्यथा होने पर वृत्त्यनुप्रास होता है। रुय्यक ने अन्यथा की त्रिधा व्याख्या की है, केवल एक व्यंजन का सादृश्य, व्यंजन समुदाय का एकबार सादृश्य तथा दो से अधिक तीन आदि व्यंजनों का सादृश्य। रस विषयक व्यापार ही वृत्ति कहा जाता है। उससे युक्त वर्ण रचना होने के कारण यहां इसे वृत्ति कहते हैं। मम्मट की रीति से रुय्यक ने भी इसे त्रिधा माना है।[41] विद्याचक्रवर्ती ने स्पष्ट कर दिया है कि रीतियों की काव्यात्मकता व्यर्थ है, क्योंकि ये शब्दालंकार से भी बहिर्भूत वर्णालंकार की धर्ममात्र हैं।[42] रुय्यक का लाटानुप्रास लक्षण मम्मट के समान है। पद और नामगत इसका दो भेद भी उन्हें मान्य है।[43] शोभाकर के तीनों अनुप्रास लक्षण रुय्यक के समान हैं,[44] पर जैसा कि रुय्यक लाटानुप्रास को शब्दार्थालंकार मानते हैं, शोभाकर इसके विरुद्ध हैं। उनका कथन है कि यद्यपि यहां अर्थ का भी पौनरुक्त्य पाया जाता है, तथापि वह अलंकारता का प्रयोजक नहीं है, प्रत्युत यहां शब्दावृत्ति से ही चारुता का निबन्धन होता है। इसलिये शब्द के चारुत्व हेतु होने से यह शब्दालंकार है न कि उभयालंकार।[45] अर्थभेद होने पर शब्दावृत्ति यमक माना जाता है तथा अर्थ का अभेद होने पर शब्दावृत्ति लाटानुप्रास। यही इन दोनों में भेद है।[46] नरेन्द्रप्रभसूरि ने अनुप्रास के चार भेद किये हैं—श्रुति, छेक, वृत्ति तथा लाट। इन पर उन्होंने भोज तथा मम्मट की रीति से उभयथा विचार किया है।[47] हेमचन्द्र ने छेक-वृत्ति का नाम नहीं लिया है। वह व्यंजन की आवृत्ति को अनुप्रास मानते हैं। एक व्यंजन की सकृत् आवृत्ति में कोई चारुता नहीं है। इसलिये एक व्यंजन की असकृत् तथा अनेक व्यंजन की सकृत् असकृत् आवृत्ति में वह अनुप्रास स्वीकार करते हैं। स्पष्ट है कि यह स्थिति वृत्ति-छेक से भिन्न नहीं है। लाटानुप्रास का वह पृथक् लक्षण करते हैं, जो पूर्वाचार्यों से व्यतिरिक्त नहीं है। वह एक-अनेक पद और नाम की सकृत् असकृत् आवृत्ति यहां भी मानते हैं। उनका यह विवेचन भी प्रकारान्तर से मम्मट-मत का परिपोष ही है।[48] वाग्भट प्रथम छेक

तथा लाटानुप्रास का उल्लेख करते हैं, जो उद्भट-परम्परा का अनुसरण मात्र है। वाग्भट द्वितीय मम्मट की भांति वृत्ति, छेक तथा लाटानुप्रास का विवेचन करते हैं।[49] जयदेव ने इन तीन अनुप्रासों के अतिरिक्त स्फुट तथा अर्थानुप्रास का भी विवेचन किया है।[50] विद्याधर, विद्यानाथ तथा नरसिंह कवि भेद-विवेचन में भी रुय्यक के पूर्णतः अनुगामी हैं।[51]

विश्वनाथ ने छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य तथा लाटानुप्रास पांच भेदों का विवेचन किया है। व्यंजन समुदाय का अनेकधा (स्वरूप और क्रम से) सकृत् साम्य छेकानुप्रास कहा जाता है। अनेक व्यंजन का एकधा (स्वरूपतः) सकृत् या असकृत् साम्य, अनेक व्यंजन का अनेकधा (स्वरूप तथा क्रम से) असकृत् साम्य तथा एक व्यंजन का सकृत् या असकृत् साम्य वृत्ति-अनुप्रास कहा जाता है। स्वरूपतः सादृश्य न होने पर भी स्थान ऐक्य के कारण व्यंजनों का सादृश्य श्रुत्यनुप्रास है। यथावस्थित (अनुस्वार, विसर्ग, स्वर, आदि से युक्त) व्यंजन जहां आदि स्वर के साथ आवृत्त होता है, वहां अन्त्यानुप्रास होता है। इसका प्रयोग प्रायः पाद और पद के अन्त में किया जाता है, अतएव अन्त्यानुप्रास कहते हैं। लाटानुप्रास तो मम्मट, रुय्यक के समान है।[52] इस प्रकार विश्वनाथ ने भी उद्भट, मम्मट के अतिरिक्त भोजराज के विचारों को भी समादर प्रदान किया है। कर्णपूर का अनुप्रास विभाग तो मम्मट के समान है, पर विवेचन में भेद है। छेक में वह उपनागरिका वृत्ति को स्वीकार कर लेते हैं। वृत्यनुप्रास में केवल माधुर्य और ओजोव्यंजक वर्णों का सन्निवेश मानते हैं। कोमलापरपर्याय लाटानुप्रास के वह भी पांच भेद करते हैं।[53] केशव मिश्र केवल छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास का उल्लेख करते हैं। अजितसेन, छज्जूराम, आदि भेद त्रितय को मान्यता देते हैं। ब्रह्मतन्त्र स्वामी मम्मट के अनुसार वर्णानुप्रास के दो भेद तथा लाटानुप्रास के पांच भेद करते हैं। केवल लाटानुप्रास के अनेक पदगतभेद को वाक्यगत का नाम दे देते हैं।[54]

विवेचन से स्पष्ट होता है कि अनुप्रास के विषय में दो प्रमुख विचारधारायें विकसित हुई हैं। प्रथम के अनुसार छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास तीनों शब्दालंकार हैं तथा एक ही अनुप्रास के तीन भेद हैं। इस विचारधारा का संकेत भामह से मिलता है, जिसका पल्लवन मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति आलंकारिक करते हैं। शोभाकर को भी इसी वर्ग में रखा जायेगा। द्वितीय विचारधारा के उद्भावक उद्भट हैं (ध्यातव्य है कि रुय्यक को पौनरुक्त्य-त्रय का विचार उद्भट से ही प्राप्त हुआ है) रुय्यक की प्रकृष्ट मेधा जिसका विस्तार करती है। इस मत में छेक तथा वृत्त्यनुप्रास शब्दालंकार हैं, जबकि लाटानुप्रास शब्दार्थालंकार। इस विचारधारा की

अपनी विशेषता है। वह है पुनरुक्तवदाभास, छेक, वृत्ति, यमक तथा लाटानुप्रास को पौनरुक्त्य-वर्ग का अलंकार मानना। इस प्रकार इस मत में अनुप्रासत्रय एक ही अलंकार के तीन भेद न होकर अलग-अलग तीन स्वतंत्र अलंकार हैं। इन दो मतों के अतिरिक्त एक तीसरा मत भोजराज का भी है, जो अनुप्रास का षोढा और सर्वाधिक प्रपंच प्रस्तुत करते हैं। नरेन्द्र प्रभसूरि भोजराज की विचार-सरणि को परिपुष्ट तो अवश्य करते हैं, पर मम्मट आदि के विचारों को वह पूर्णतया परित्याग देने को उद्यत नहीं हैं। अतएव उन्हें तथा कुछ-कुछ विश्वनाथ को भी उभय पक्षावलंबी माना जा सकता है।

शब्दों (वर्ण-पद आदि) की व्यवहित अथवा अव्यवहित आवृत्ति अनुप्रास अलंकार है। प्रथमतः यह दो प्रकार का होता है—वर्णानुप्रास तथा शब्दानुप्रास। वर्णानुप्रास के दो भेद हो जाते हैं—छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास। व्यवहित या अव्यवहित अनेक व्यंजनों का सकृत् साम्य छेकानुप्रास कहा जाता है। एक या अनेक व्यंजनों की दो अथवा अनेक आवृत्ति वृत्त्यनुप्रास कही जाती है। अर्थ भेद न होने पर भी जहां वक्ता के तात्पर्य मात्र से भेद होता है, ऐसे शब्दों (शब्दार्थों) की आवृत्ति (पुनरुक्ति) लाटानुप्रास कही जाती है। मम्मट आदि इसके पांच भेदों का विवेचन करते हैं।

**ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी।**
**दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम्**।। का.प्र., पृ. 289

यहां स्पन्द-मन्द, काम-कामि, गण्ड-पाण्डु अनेक वर्णों का सकृत् साम्य होने के कारण छेकानुप्रास है।

**वाचाटाकटपूतना चटुपटुः कापट्यकोटी पुटी।**
**विस्पष्टानृतनाटिकानटभटीलाम्पट्यसाटाटवी।।**
**व्याचष्टे प्रकटं जनाश्रुतिपुटी तट्टीकते वो मुचां।**
**साटोपे भुवि नाभिभावकभटे मट्यत्रवर्तिन्यपि**।। काव्यानु., पृ. 50

यहां व, च, क, ट, प, भ, आदि अनेक वर्णों की अनेकधा आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है।

**यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।**
**यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।।**

तात्पर्य मात्र भेद होने से अनेक पदों (वाक्य) की आवृत्ति होने के कारण यहां अनेक

पदगत लाटानुप्रास अलंकार है। पूर्वार्द्ध में तुहिनदीधिति (चन्द्र) दवदहन (अग्नि) बन जाता है, उत्तरार्द्ध में दवदहन तुहिनदीधित बन जाता है। अनुप्रास के अन्य उदाहरण मूलग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

**भोज के कतिपय शब्दालंकार**

स्वभावोक्ति प्रकरण में जात्यलंकार का विवेचन किया जायेगा। पद्य, गद्य तथा मिश्र काव्यरूप गति[55] को अलंकार नहीं माना जा सकता, काव्य को अलंकृत किया जाता है। मार्ग अपर पर्याय रीति को भी भोज शब्दालंकार मानकर वैदर्भी, पांचाली, गौडी, अवन्तिका, लाटी तथा मागधी छः रीतियों का विवेचन करते हैं।[56] रीतियां वृत्ति से भिन्न नहीं हैं। अतएव रीत्यलंकार भी वृत्त्यनुप्रास से गतार्थ है।[57] चित्त के विकास, विक्षेप, संकोच तथा विस्तार की वर्तयित्री षोढा-कैशिकी, आरभटी, भारती, सात्वती, मध्यमारभटी तथा मध्यकैशिकी वृत्ति[58] रूपक (नाट्य) का विषय है। और यदि अलंकार ही मानना हो तो इन्हें भी वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत रखा जाना चाहिये। रीति से वृत्ति का इतना ही भेद है कि रीतियों का प्रयोग काव्य में होता है वृत्तियों का रूपक में, अन्यथा दोनों के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। अतएव वृत्ति भी अनुप्रास से गतार्थ हो सकती है। अन्योक्तियों की अनुकृति को छाया अलंकार कहा जाता है।[59] इसके भी छः भेद हैं, लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति, मत्तोक्ति, उन्मत्तोक्ति तथा पोटोक्ति। इस प्रकार के कथन स्वभाव से व्यतिरिक्त नहीं माने जा सकते। आनन्दप्रद साभिप्राय वाक्य का विन्यास मुद्रा अलंकार माना जाता है। यह भी पद, विभक्ति, वचन, वाक्य, समुच्चय तथा संवृत्ति भेद से षोढा होता है।[60] मुद्रा भी रूपक का विष्य है, कहीं-कहीं यह ध्वनि से आक्रान्त होती है। अतएव इसे भी अलंकार नहीं कहा जा सकता। अर्थालंकारों में इसका भी विवेचन किया जायेगा। विधि-निषेध के द्वारा प्रतीयमान विशिष्ट अर्थ को उक्ति अलंकार माना जाता है। यह भी विधि, निषेध, अधिकार, विकल्प, नियम तथा परिसंख्या भेद से छः प्रकार का होता है।[61] प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि कहा गया है। वैसे भी भोज के ये समग्र स्थल परिसंख्या आदि अर्थालंकारों के विषय हो सकते हैं, शब्दालंकार के नहीं। परस्पर अयुज्यमान शब्दार्थ योजना को युक्ति कहा जाता है। इसके भी छः भेद हैं—पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ, प्रकरण तथा प्रबन्ध विषय।[62] स्पष्ट है कि ये काव्य तथा नाट्य के स्वरूप साधक तत्त्व हैं, अलंकार नहीं। उक्ति का प्रकारान्तर से कथन भणिति अलंकार है। यह संभव, असंभव, कल्पना, आश्चर्य, संवृत्ति तथा विशेष भणिति भेद से छः प्रकार की होती है।[63] भंगी भणिति प्रायः

सभी अलंकारों का सामान्य तत्त्व है। वह अलंकार विशेष कैसे हो सकता है? ऐसे स्थलों में कभी-कभी ध्वनि तत्त्व भी पाया जाता है। वाक्य में शब्दार्थ की सम्यक् रचना को गुंफना कहते हैं। वह भी शब्द, अर्थ, क्रम, पर्याय, वाक्य तथा पद भेद से छः प्रकार की होती है।[64] इस प्रकार का विधान अनुप्रास तथा यमक से व्यतिरिक्त सौन्दर्य-सृष्टि नहीं करता। पदार्थों की परस्पर घटना में शैया अलंकार होता है। वह भी घटना के प्रक्रान्त, अप्रकान्त, अतिक्रान्त, पद, वाक्य, प्रकीर्ण आदि में होने से अनेक प्रकार की होती है।[65] इस प्रकार के वर्णन वस्तुकथन मात्र हैं, अलंकार नहीं। काकु, स्वर, विच्छेद, कान्ति, अभिनय तथा उपदेश आदि से वाक्योच्चारण रूप पठिति[66] वक्रोक्ति अलंकार का विषय है। वाकोवाक्य का विवेचन अर्थालंकार में किया जायेगा। विधि, निषेध तथा व्युत्पत्ति हेतुक अध्येय अलंकार भी छः प्रकार का होता है : काव्य, शास्त्र, इतिहास, काव्यशास्त्र, काव्येतिहास तथा शास्त्रेतिहास।[67]

ये इतिवृत्ति के भेद मात्र हैं, अलंकार नहीं। अदर्श्य तथा अनभिनेय मात्र श्रुति सुखद काव्य को श्रव्य कहा जाता है। आशीः नान्दी नमस्कार वस्तुनिर्देश, आक्षिप्तिका तथा ध्रुवा इसके भी छः भेद हैं।[68] यह नाट्यशास्त्र का विषय है, अलंकार का नहीं। वाचिक आदि अभिनय से रहित आंगिक मात्र निर्वर्त्य प्रेक्षणीय वस्तु को प्रेक्ष्य अलंकार माना गया है। वह भी लास्य, ताण्डव, छलिक, सम्पा (शम्पा), हल्लीसक तथा रासक छः प्रकार का होता है।[69] ये नृत्य के भेद मात्र हैं, न कि अलंकार। इसी प्रकार आंगिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य, सामान्य तथा चित्राभिनय,[70] अलंकार न होकर अभिनय के प्रभेद मात्र हैं। 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते'[71] के अनुसार समग्र काव्य तत्त्वों को अलंकार मानने की जो प्रवृतित दंडी में दिखाई पड़ती है, उसका पूर्णतः विकास भोजराज में देखा जा सकता है। अतएव भोज की दृष्टि में उपर्युक्त सभी तत्त्व अलंकार हैं। पर वस्तुदृष्टि से विचार करने पर देखा जाये तो इनमें कुछ तो अनुप्रास के धर्म हैं, कुछ रूपक के तत्त्व हैं और कुछ काव्यशरीर स्वभाव ही हैं। अतएव हेमचन्द्र की यह उक्ति बड़ी उपयुक्त है :

**जातिगतिरीतिवृत्तिच्छायामुद्रायुक्तिभणितिगुम्फनाशय्या पठितिवाको वाक्याध्येयप्रेक्ष्यगेयाभिनयानि शब्दालंकाराः .......... ये भोजराजेन प्रतिपादिताः ते केचिदुक्तेष्वेवान्तर्भवन्ति, केचिच्च कंचनापि चमत्कारं नावहन्ति केचिच्च काव्यशरीरस्वभावा एव।** —विवेक, पृ. 405.

## यमक

गोपेन्द्र तिप्पभूपाल के अनुसार उपरमार्थक यम् धातु से कर्म अर्थ में बाहुलकात् घ् प्रत्यय करने पर यम शब्द की निष्पत्ति होती है। अक्षरों या पदों की आवृत्ति को यम कहते हैं। यम ही यमक है।[72] अधिकांश आलंकारिक यम शब्द से प्रतिकृति अर्थ में कन् प्रत्यय (इवे प्रतिकृतौ, पा. 5/3/96) करके यमक शब्द की सिद्धि करते हैं। एक साथ उत्पन्न दो (वस्तुओं) को यम कहा जाता है। यमक अलंकार में शब्दों की युग्मशः आवृत्ति पायी जाती है। अतएव यम की प्रतिकृति या समानता होने के कारण इसका यमक अभिधान महत्त्वपूर्ण है।[73]

ऋग्वेद में यमक के अनेक रमणीय स्थल पाये जाते हैं।[74] डॉ. खोदा ने अपने ग्रन्थ में वैदिक साहित्य से अनुप्रास, यमक, लाटानुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, आदि अलंकारों के अनेक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[75] भरत-प्रोक्त प्रसिद्ध चार अलंकारों में यमक शब्दालंकार है, अवशिष्ट तीन अर्थालंकार हैं। निश्चय ही भरत के पूर्व यमक का उद्भव हो चुका रहा होगा, अन्यथा यमक के दश भेदों का एकाएक विवेचन भरत के लिये कठिन होता। उनके अनुसार पाद के आदि (मध्य-अन्त) में विकल्पित शब्द (वर्ण, पद, तदेकदेश, आदि) का अभ्यास (आवृत्ति) यमक अलंकार है।[76] अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है कि अनुप्रास आदि का भी ग्रहण इसी से हो जाता है।[77] अतएव भरत का यमक, यमक और अनुप्रास दोनों में गृहीत है। भामह तक अनुप्रास को यमक से पृथक् कर दिया गया था। उनका कथन है कि समान श्रुति वाले भिन्नार्थक वर्णों की परस्पर पुनरुक्ति (पुनर्वाद) यमक अलंकार है।[78] इसमें सुश्लिष्ट पद-संधियुक्त, प्रसिद्ध, ओजस्वी तथा प्रसन्न शब्दों का निबन्धन पाया जाता है। भामह का यह भी कथन है कि रामशर्मा ने यमक को प्रहेलिका माना है।[79] इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन विद्वान् प्रहेलिका से ही यमक का बोध किया करते थे। ऐसी स्थिति में कामशास्त्र में आया प्रहेलिका शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो उठता है और यमक की ऐतिहासिकता को भामह-भरत से पूर्व तक ले जाता है। विष्णुधर्मोत्तर का यमक लक्षण भामह के समान है।[80] वर्णान्तर से व्यवहित तथा अव्यवहित वर्ण समूहों (स्वर, व्यंजन, पद, वाक्य) की आवृत्ति को दंडी यमक मानते हैं।[81] भरत की भांति दंडी का यमक अनुप्रास को अपने में समाहित किये हुए है। उद्भट इसका उल्लेख नहीं करते। कदाचित् इसकी अचारुता ही उपेक्षा का कारण है। वामन के अनुसार स्थान-नियम होने पर अनेकार्थक पद तथा अक्षर की आवृत्ति यमक कही जाती है।[82] भामह के लक्षण को अयुक्त सिद्ध करने के लिये यहां स्थान-नियम पद का ग्रहण किया गया है।[83] कामधेनु में वामनीय लक्षण

को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है :

> **'भिन्नार्थकमेकमनेकं वा पदम्, तद्वदेकमनेकं वाक्षरं च स्थाननियमे सत्यावृत्तं यमकं भवति।'** (का.धे., पृ. 99)

रुद्रट ने लक्षण तो भामह के समान किया है, पर उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि प्रायः पद्य ही इसके विषय होते हैं,[84] (गद्यों में भी यमक पाया जाता है)। अनुप्रास, यमक, आदि अलंकारों को कुन्तक ने वर्णवक्रता में अन्तर्भूत कर दिया है।[85] भोज तथा अग्निपुराण के लक्षण दंडी के अनुवाद मात्र हैं।[86] मम्मट ने पूर्वाचार्यों से कुछ अधिक विशेषता का प्रदर्शन किया है। उनका कथन है कि न केवल सार्थक पदों की आवृत्ति में ही यमक होता है, प्रत्युत निरर्थक पदों की आवृत्ति में भी होता है। 'समर समरसोऽयम्' इत्यादि में प्रथम समर युद्ध का बोधक है, अतएव सार्थक है। द्वितीय 'समरस' का अंश होने के कारण निरर्थक है। इसलिये मम्मट के अनुसार केवल भिन्नार्थक वर्णों की आवृत्ति यमक नहीं है, प्रत्युत अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से पुनः आवृत्ति (श्रवण) यमक अलंकार है।[87] रुय्यक के मत में स्वयव्यंजन समुदाय का पौनरुक्त्य यमक है।[88] शोभाकर का लक्षण इससे भिन्न नहीं है।[89] नरेन्द्रप्रभसूरि भी कोई नवीन बात नहीं कहते।[90] हेमचन्द्र तथा वाग्भट द्वितीय के लक्षण मम्मट के समान हैं।[91] वाग्भट प्रथम के अनुसार भिन्न अर्थ वाले पद और वर्ण की संयुक्त अथवा असंयुक्त रूप से आवृत्ति यमक है।[92] जयदेव वर्ण समूहों की आवृत्ति को यमक मानते हैं।[93] विद्याधर, विद्यानाथ तथा नरसिंह भी रुय्यक के समान लक्षण करते हैं।[94] विश्वनाथ, कर्णपूर तथा अन्य परवर्ती आलंकारिक भी मम्मट रुय्यक आदि से व्यतिरिक्त लक्षण नहीं करते।[95] अस्तु। अर्थ होने पर भिन्न अर्थवाले स्वर व्यंजन समुदाय की पूर्वक्रम से आवृत्ति यमक अलंकार है। छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास में स्वर का पौनरुक्त्य आनुषंगिक होता है, जबकि यमक में दो स्वरों और व्यंजनयुग्मों की आवृत्ति होती है।[96] लाटानुप्रास में भी शब्द की आवृत्ति होती है पर वहां अर्थ भिन्न न होकर एक ही होता है।

### यमक के भेद

भरत तक यमक का इतना विकास हो चुका था कि उसके दश भेदों की कल्पना कर ली गयी थी, वे हैं: पादान्तयमक, कांचीयमक, समुद्गयमक, विक्रान्तयमक, चक्रवालयमक, संदष्टयमक, पादादियमक, आम्रेडितयमक,

चतुर्व्यवसित तथा मालायमक। चारों पादों के अन्त में समान अक्षरों का विनिवेश प्रथम यमक है। पाद के आदि और अन्त में समान पद होने पर कांचीयमक होता है। श्लोक के पूर्वार्द्ध का उत्तरार्द्ध में निबन्धन तृतीय यमक कहा जाता है। तृतीय-चतुर्थ पाद के समान होने पर विक्रान्त, प्रथम-तृतीय पाद के अन्तपद की द्वितीय-चतुर्थ पाद के आदि में आवृत्ति होने पर चक्रवाल, पाद के आदि के दो अक्षरों (पदों) के समान होने पर संदष्ट, चारों पादों के आदि में समान अक्षर होने पर पादादि, पादान्त्य के एक पद की द्विरावृत्ति में आम्रेडित, पादचतुष्ट्य के समान और नियताक्षर होने पर चतुर्व्यवसित तथा नाना रूप स्वरों से युक्त एक व्यंजन की अनेकधा आवृत्ति होने पर मालायमक होता है।[97] इनमें चतुर्व्यवसित, मालायमक, आदि कतिपय भेद अनुप्रास से भिन्न नहीं हैं। भामह ने केवल पांच भेद स्वीकार किये हैं, आदि, मध्यान्त, पादाभ्यास, यमकावली तथा समस्तपाद। उनके अनुसार संदष्ट तथा समुद्ग आदि के दो भेदों में अन्तर्भूत हैं।[98] अनन्तर, एकान्तरित, पादान्त तथा सर्वपाद यमक को वह उपयुक्त नहीं मानते।[99] यमक-प्रहेलिका आदि को वह अनादर की दृष्टि से देखते हैं। उनका कथन है कि यदि अलंकार-काव्य भी शास्त्र की भांति व्याख्या से ही ग्रहण करने योग्य होगा, तो बेचारे अल्पबुद्धि वालों का क्या होगा?[100]

व्याख्यागम्य मानकर भामह ने जहां इसको अनादृत किया, वहीं दंडी ने इसका विस्तार ही नहीं, अतिविस्तार कर दिया। वह पहले इसके दो भेद करते हैं—व्यपेत और अव्यपेत। इसके बाद आदि, मध्य, अन्त, एकपाद, द्विपाद, त्रिपाद, चतुष्पाद भेदों के आधार पर वह यमक के असंख्य भेदों की कल्पना करते हैं। मूलतः इनके सात भेदों की उन्होंने परिचर्चा की है : एकपाद, द्विपाद, त्रिपाद तथा चतुष्पाद के आदि, मध्य तथा अन्त्यगत होने से तीन भेद होते हैं। मध्य और अन्त्यपाद के समान होने पर चतुर्थ भेद होता है। पंचम में आदि और मध्य पाद, षष्ठ में आदि और अन्त्यपाद तथा सप्तम में आदि, मध्य और अन्त्य सभी पाद समान होते हैं। इनके संकरत्व में अनेक सुकर-दुष्कर भेदों की उत्पत्ति हो सकती है। इतना कहने के बाद वह अव्यपेत यमक के निम्न भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं : प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पाद के आदि पद की आवृत्ति तथा प्रथम-द्वितीय, प्रथम-तृतीय, प्रथम-चतुर्थ, द्वितीय-तृतीय, द्वितीय-चतुर्थ, तृतीय-चतुर्थ, प्रथम-द्वितीय-तृतीय, प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ, प्रथम-तृतीय-चतुर्थ, द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ तथा पादचतुष्ट्य के आदि पद की आवृत्ति। इसी प्रकार व्यपेत यमक के भी उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, जो इस प्रकार के भेदों में परिकल्पित हैं, प्रथम-द्वितीय पादादि, प्रथम-तृतीय

पादादि, प्रथम-चतुर्थ पादादि, द्वितीय-तृतीय पादादि, द्वितीय-चतुर्थ पादादि, तृतीय-चतुर्थ पादादि, प्रथम-द्वितीय-तृतीय पादादि, प्रथम-तृतीय-चतुर्थ पादादि, द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पादादि, पादचतुष्ट्य, आदि व्यपेत यमक एक जातीय प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पादादि, प्रथम-तृतीय-द्वितीय-चतुर्थ पादादि तथा प्रथम-चतुर्थ-द्वितीय-तृतीय। इसी प्रकार उन्होंने व्यपेताव्यपेत पादादि यमक की भी कल्पना की है। ये समग्र भेद आदि पादयमक के हैं, क्योंकि इनमें पादों के आदि पदों की आवृत्ति पायी जाती है। ये यमक के सुकर भेद हैं, इनके अतिरिक्त दुष्कर यमक भी होता है। उदाहरणों से निम्न भेदों का निश्चय किया जा सकता है, पादचतुष्ट्य मध्यगत एकरूप व्यपेत तथा अव्यपेत, पादचतुष्ट्य अन्तगत एक रूप व्यपेत तथा अव्यपेत, पादचतुष्ट्य मध्यान्तगत एकरूप व्यपेत तथा अव्यपेत, पादचतुष्ट्य आदि मध्यगत एकरूप व्यपेत तथा अवयपेत, पादचतुष्ट्य आद्यन्तगत एकरूप व्यपेत तथा अव्यपेत और चतुष्पाद मध्यान्त यमक व्यपेत-अव्यपेत। यद्यपि सन्दष्ट का आद्यन्त यमक में अन्तर्भाव हो जाता है, तथापि दंडी संदष्ट, समुद्ग का व्यवहिताव्यवहित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पुनः वे पादाभ्यास के उदाहरण दिये हैं, जिनमें पाद का एक बार दो बार या तीन-चार बार अभ्यास है, ऐसे में प्रथम-द्वितीय, प्रथम-तृतीय, प्रथम-चतुर्थ, द्वितीय-चतुर्थ, द्वितीय-तृतीय, तृतीय-चतुर्थ, प्रथम-द्वितीय-तृतीय, प्रथम-तृतीय-चतुर्थ, द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ तथा पादचतुष्ट्य की आवृत्ति पायी जाती है। इनमें प्रथमादि पादों की द्वितीयादि में आवृत्ति होती है। इसी प्रकार वह श्लोकाभ्यास यमक भी उद्धृत करते हैं। चारों पादों के एक आकार का होने पर महायमक होता है। श्लोक में पादार्ध की प्रतिलोम आवृत्ति में प्रतिलोम यमक कहा गया है। इस प्रकार दंडी ने यमक का अत्यधिक विस्तृत वर्णन किया है।[101] वामन ने पादगत यमक का एक-अनेक पाद तथा आदि, मध्य अन्त गतत्त्वेन विभाग प्रस्तुत किया है। अक्षर यमक भी एकाक्षर, अनेकाक्षर भेद से द्विधा माना गया है। उनका कथन है कि भंग (वर्ण विच्छेद) होने पर ही यमक में उत्कर्ष आता है। यमक भंग तीन प्रकार से होता है, शृंखला, परिवर्तक और चूर्ण। वर्ण विच्छेद की चलस्थिति शृंखला कही जाती है। अन्यवर्ण के संसर्ग की निवृत्ति होने पर स्वरूप (तिरस्कृत अन्य वर्ण) की प्राप्ति परिवर्तक है और पिण्डाक्षर के भेद होने पर पद का स्वरूप लोप चूर्ण कहा जाता है। विभक्ति, विभक्त-कारक वचन तथा सुप् तिङ् की परस्पर आवृत्ति में यमक अत्यधिक चमत्कारी होता है।[102]

यमक का सर्वाधिक विस्तार रुद्रट के ग्रन्थ में मिलता है। उन्होंने प्रथमतः इसके पांच भेद किये हैं: समस्तपाद, एकदेशज, पादावृत्ति, अर्धावृत्ति तथा

श्लोकावृत्ति। समस्त पाद में एकदेश समास हुआ है, अतएव उसका अर्थ है, समस्त एकपाद, द्विपाद तथा अनेकपाद। इसी प्रकार एकदेशज में भी एक देश समास है। नमिसाधु का अभिमत है कि आगे कहे जाने वाले समग्र भेद इन्हीं में अन्तर्भूत हैं : अत्र च वक्ष्यमाणभेदाः सर्वेऽप्यन्तर्भवन्ति।[103] प्रथम पाद की द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थपाद में आवृत्ति होने पर क्रमशः मुख, संदंश तथा आवृत्ति यमक होते हैं। द्वितीय पाद चतुर्थ में यमित हो तो संदष्टक यमक होता है। तृतीय पाद चतुर्थ में आवृत्त हो और प्रथम पाद अन्य तीनों पादों में आवृत्त हो तो क्रमशः पुच्छ और पंक्ति यमक होते हैं। गर्भ तथा आवृत्ति के प्रयोग में परिवृत्ति तथा मुख्य और पुच्छ के योग में युग्मक होता है। अर्धश्लोकावृत्ति तथा श्लोकावृत्ति को क्रमशः समुद्गक तथा महायमक कहा जाता है। ये ग्यारह भेद समस्त पाद यमक के हैं। पाद को द्विधा, त्रिधा विभक्त कर आवृत्ति करने पर एकदेशज के अनेक भेद उद्भूत होते हैं। पादों को द्विधा विभक्त कर प्रथमार्ध तथा अन्त्यार्ध की पूर्वोक्त रीति से परस्पर आवृत्ति करने पर एकदेशज के अन्यदश-दंश, मुख, संदंश, आवृत्ति, गर्भ, संदष्टक, पुच्छ, पंक्ति, परिवृत्ति, युग्मक तथा समुद्गक भेद होते हैं। प्रथम पाद के अन्त्यार्ध के द्वितीय पाद के आद्यर्ध में, तृतीय पाद के अन्त्यार्ध के चतुर्थ के आद्यर्ध में तथा प्रथम-तृतीय के अन्त्यार्ध के द्वितीय-चतुर्थ के आद्यर्ध में आवृत्त होने पर त्रिधा अन्तादि यमक होता है। द्वितीय पाद के अन्त्यार्ध के तृतीय पाद के आद्यर्ध में आवृत्त होने पर मध्य तथा मध्य और समस्तान्तादिक के योग से वंश यमक बनता है। प्रथम पाद का आद्यर्ध चतुर्थ पाद के अन्त्यार्ध में आवृत्त हो और वंश यमक भी हो तो अन्तादिक यमक का छठा भेद चक्रक होता है। इसी प्रकार प्रथमादि पादों के आद्यर्ध द्वितीययादि पादों के अन्त्यार्ध में आवृत्त हों तो आद्यान्तक कहा जाता है। इसके भी पूर्ववत अन्तादिक यमक की भांति छः भेद होते हैं। प्रथम और तृतीय पाद का आद्यर्ध यदि क्रमशः द्वितीय और चतुर्थ पाद के अन्त्यार्ध में आवृत्त हो तो समस्तान्तादिक के योग से अर्धपरिवृत्ति नामक यमक परिकल्पित होता है। चारों पादों के अर्धांश उन्हीं पादों में अन्तर या निरन्तर आवृत्त हों तो समुद्गम की समानता के कारण पादसमुद्ग यमक होता है (नमिसाधु ने इसके 15 भेदों की कल्पना की है, रुद्रट केवल तीन उदाहरण देते हैं)।[104] आद्यर्ध के विभक्त अर्धांश में उसी विभक्त अंश के आवृत्त होने पर वक्त्र, अन्त्यार्ध के विभक्त अर्धांश में आवृत्ति होने पर शिखा तथा दोनों के संयोग से मालायमक उद्भूत होता है। मध्य में अर्धार्ध के उसी स्थान पर आवृत्त होने पर मध्य तथा इसी प्रकार आद्यन्त होने पर आद्यन्त यमक होता है, दोनों के योग में कांची कहलाता है। त्रिधा विभक्त पाद के आदि

मध्य और अन्त के अंशों के पदान्तर के साथ क्रम से आवृत्त होने पर पुनः तीस (दश-दश प्रत्येक के होने से) यमक प्रभेद बनता है। ये तीसों पूर्वोक्त मुख, संदश, आदि की भांति होते हैं। इसके भी अन्तादिक तथा आद्यन्तक के समान छः छः तथा पाद के दो अंशों में विभक्त होने पर अर्धपरिवृत्ति भेद होने से तेरह भेद संभव हैं। स्थान कृत यमक त्रिधा होता है, आदि भाग के मध्य और अन्त में तथा मध्य भाग के अन्त में आवृत्त होने से आदिमध्य, आद्यन्त और मध्यान्तयमक।[105] इतने पर भी रुद्रट को सन्तोष नहीं है और कहते हैं :

**यमकानां गतिरेषा देशावयवावपेक्षमाणानाम्।**
**अनियतदेशावयवं तत्परमसंख्यं सदेवास्ति।।** काव्यालं. 3/56

यही नहीं यमक पर उनकी आदर-दृष्टि भी है।[106]

दंडी तथा रुद्रट ने यमक के इतने भेद-प्रभेद परिकल्पित कर दिये थे कि उससे अधिक भेदों की परिकल्पना भोज के लिये असंभव थी, सभी के लिये असंभव हुई। भोजराज का दंडी से इतना ही अधिक वैशिष्ट्य है कि दंडी के यमक विभाग में क्रम और अभिधान का जो अभाव पाया जाता है, भोज ने उसे दूर करने का प्रयास किया है। भोजकृत यमक विवेचन उनके ग्रन्थ में देखना चाहिये।[107] मम्मट अनेक विचारों के लिये रुद्रट के ऋणी हैं। यमक के लक्षण, भेद तथा उदाहरण में भी यह बात लागू होती है। उनके पादावृत्ति के मूल ग्यारह भेद पादभागावृत्ति के चालीस भेद तथा पादभागावृत्ति के अन्य विजातीय भेद सभी रुद्रट से गृहीत हैं, इनमें मम्मट की अपनी कोई मौलिक देन नहीं है।[108] इनका स्पष्ट विवेचन प्रदीप तथा संप्रदायप्रकाशिनी आदि टीकाओं में देखा जा सकता है।[109] भट्ट सोमेश्वर ने काव्यप्रकाश की टीका में रुद्रटोक्त भेदों की सविस्तार चर्चा की है।[110] अग्निपुराण में दंडी और नाट्यशास्त्र का अनुकरण किया गया है।[111] लक्ष्यों की अप्राप्ति, बुद्धि का आयास, रस-प्रतीति-व्याघात तथा काव्यगडु होने के कारण स्वाभाविक ही था कि रुय्यक इन सब पूर्वोक्त भेदों का तिरस्कार करते, उन्होंने किया भी यही। रुय्यक ने मात्र तीन यमक प्रकार का उल्लेख किया है, यमक में कहीं अर्थ भिन्न होता है, कहीं अर्थ भिन्न नहीं होता, कहीं कोई एक (स्वर व्यंजन समुदाय) अर्थहीन होता है दूसरा सार्थक।[112]

भट्टलोल्लट ने ही यमक को रस-प्रतीति में व्याधिभूत माना था :

**यमकानुलोमवदितरवक्त्रादिभिदा हि रसविरोधिन्यः।**
**अभिधानमात्रमेतद्गडुरिकादिप्रवाहो वा।।**[113]

बाद में ध्वनिकार ने तो इस बात को एकदम स्पष्ट ही कर दिया था :

> **यमकादिनिबन्धेषु पृथग्यत्नोऽस्य जायते।**
> **शक्तस्यापि रसेङ्गंत्वं तस्मादेषां न विद्यते।।** ध्व., पृ. 235

यही कारण है कि शोभाकर ने भेद का उल्लेख ही नहीं किया, केवल एक उदाहरण मात्र देकर यमक की पूर्णतः उपेक्षा कर डाली। रुय्यक और शोभाकर की इस उपेक्षा से यह नहीं समझना चाहिये कि बाद में यमक को आदर प्राप्त हुआ ही नहीं। यमक के प्रति हेमचन्द्र का अतुल प्रेम दिखायी पड़ता है। उन्होंने वामन, रुद्रट तथा मम्मट कथित भेदों को न केवल स्वीकार किया, बल्कि उन्हें और विस्तृत करने का भी प्रयास किया। पादयमक के पन्द्रह भेद उन्हें मान्य हैं : प्रथम पाद के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ में आवृत्त होने से तीन भेद, द्वितीयपाद की तृतीय, चतुर्थ में आवृत्ति होने से दो भेद तथा तृतीय पाद के चतुर्थ पाद में आवृत्त होने से एक भेद, कुल मिलाकर प्रथमतः छः भेद होते हैं, प्रथम पाद के द्वितीय-तृतीय, द्वितीय-चतुर्थ तथा तृतीय-चतुर्थ में और द्वितीय पाद के तृतीय-चतुर्थ में आवृत्त होने पर एक भेद कुल मिलाकर चार और भेद हुए, प्रथम पाद के तीनों पादों में होने से एक भेद, प्रथम के द्वितीय, तृतीय के चतुर्थ में और प्रथम के चतुर्थ तथा द्वितीय के तृतीय में होने से दो भेद, तथा अर्धावृत्ति और श्लोकावृत्ति के दो भेद होते हैं। इस प्रकार पादावृत्ति यमक के 15 भेद हो जाते हैं। पादभागावृत्ति यमक में पाद के द्विधा विभक्त करने पर प्रथम पादादि भाग के पूर्ववत् द्वितीय पादादिभाग में होने से चौदह तथा अन्त भाग के अन्त भाग में आवृत्त होने से अन्य और चौदह, कुल अठाइस भेद पादभागजयमक के होते हैं। भागावृत्ति श्लोकान्तर में संभव नहीं है। इसी प्रकार पाद के त्रिधा विभाग करने पर बयालीस, चतुर्धा विभाग करने पर छप्पन भेद हो जाते हैं। इन भेदों के अतिरिक्त अन्तादिक, आद्यन्तक, मध्यादिक, आदिमध्य, मध्यान्त, अन्तमध्य तथा उसी पाद में आद्यादि भागों के मध्यादि अनियत स्थानों में आवृत्त होने से अनेक भेदों का निर्देश हेमचन्द्र ने किया है, जो रुद्रट के विवेचन पर आधृत है।[114]

वाग्भट प्रथम पद, पाद, वर्ण, संयुक्त, असंयुक्त, आदि भेदों का संकेत मात्र करके मुखादि नव भेदों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।[115] वाग्भट द्वितीय श्लोक, श्लोकार्ध, पाद, भाग, आदि भेदों का संकेत मात्र करके मुखादि नव भेदों का विवेचन करते हैं।[116] जयदेव तो प्रायः अलंकारों के भेद का विवेचन ही नहीं करते। विद्याधर रुय्यक का पूर्णतः अनुगमन करते हैं।[117] विद्यानाथ, विश्वनाथ, नरसिंह मात्र संकेत

करते हैं।[118] कर्णपूर तो मम्मट के अनुगामी हैं।[119] अन्य परवर्ती आलंकारिक छज्जूराम, आदि भी आदि, मध्य, अन्त, आदि का संकेत मात्र करते हैं। श्री ब्रह्मतन्त्र स्वामी पुनः इसके विस्तृत स्वरूप की प्रतिष्ठा कर देते हैं।[120]

यमक बहुत प्राचीन अलंकार है। भामह उद्धृत रामशर्मा आदि विद्वानों के मत से जैसा प्रतीत होता है और जैसा कि कामशास्त्र में प्रहेलिका आदि का उल्लेख मिलता है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में सुशिक्षित, सभ्य नागरिक वाद-विवाद तथा गोष्ठियों में मनोविनोद के लिये चित्र, गूढ, प्रहेलिका (यमक) आदि का प्रयोग किया करते थे। भामह का कथन 'उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः' इसी बात का सूचक है कि इस प्रकार के काव्य-प्रयोग सामान्य व्यक्ति की मेधा से परे हैं। रामशर्मा के उक्त कथन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रहेलिका यमक से व्यतिरिक्त नहीं है। अतएव जैसा कि कुछ विद्वान् प्रहेलिका को पृथक् अलंकार मानकर, उसका विवेचन करते हैं,[121] वह अग्राह्य है और इसीलिये प्रकृत में उनका विवेचन नहीं किया जायेगा। यमक के विस्तार का बहुत कुछ श्रेय भरत को है। उसके बाद दंडी को लिया जा सकता है। दंडी के भेदों को व्यवस्थित और स्पष्ट स्वरूप प्रदान किया रुद्रट ने, जिसके मम्मट, हेमचन्द्र, कर्णपूर, आदि पूर्णतः ऋणी हैं। दंडी और भोजराज उस काल में काव्यसेवा में तत्पर थे, जब काव्य-जगत् में गूढ़ श्लेष, यमक, चित्रादि अलंकारों का बोलबाला था। अतएव स्वाभाविक ही था कि ये आचार्य यमक के अनन्तभेदों का विवेचन करते। चित्रालंकारों की प्रवृत्ति मध्यकालीन भारत में कम नहीं हुई थी, पर ध्वनि के उद्भव के साथ-साथ उसका अनादर भी होने लगा था। यही कारण है कि रुय्यक आदि कुछ आलंकारिक इसको बिल्कुल संकीर्ण बना देते हैं, तो हेमचन्द्र आदि उसे पुनर्जीवन प्रदान करते देखे जाते हैं। यह सब होते हुए भी एक बात स्पष्ट है कि चित्रालंकारों की यह प्रवृत्ति इतनी व्याधिभूत हो गयी थी कि अप्पय, जगन्नाथ, आदि ने इनका उल्लेख न करना ही उपयुक्त समझा। वस्तुतः यमक से तो भामह ही ऊब चुके थे :

**उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः।** —काव्या., 2/20

समुद्गक यमक का उदाहरण :

**ननामलोको विदमानवेन महीनचारित्रमुदारधीरम्।**
**ननामलोकोऽविदमानवेन महीन चारित्रमुदारधीरम्।।** —काव्यानु., 3/17

पूर्वार्द्ध के उत्तरार्द्ध में आवृत्त होने से यहां समुद्गक यमक है। स्थान और अंशभेद की निरपेक्षा में यमक :

**कमलिनी सरसा सरसामियं विकसितानवमंनवमण्डनम्।**
**किमितिनाधिगता धिगतादृशं मधुकरेणुवताणवताकृतम्।।** वही, 3/58

यहां सरसा-सरसा, नवमं-नवमं तथा अधिगता-अधिगता का बिना किसी नियत स्थान आदि में नियमन हुआ है, अतएव यह अनियत स्थान भेद का उदाहरण है। यमक के अन्यान्य भेद-प्रभेद के उदाहरण तत्तत् काव्यों और काव्य-ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

## पुनरुक्तवदाभास

पुनरुक्तवदाभास में दो पद हैं, पुनरुक्तवत् और आभास। पुनरुक्त शब्द से सादृश्यार्थ में वति (वत्) प्रत्यय (तत्रतस्येव, पा. 5/1/116) करने पर पुनरुक्तवत् शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है, पुनरुक्त के समान—पुनरुक्तस्य इव पुनरुक्तवत्। आङ् उपसर्गपूर्वक दीप्त्यर्थक भास् धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करके आभास शब्द बनाया जाता है, जो ज्ञान या प्रतीति अर्थ का बोधक है—आभासनं आभासः ज्ञानम्। इस प्रकार पुनरुक्तवदाभास का अर्थ हुआ, (शब्दार्थ अथवा अर्थ की) पुनरुक्त के समान आपाततः न कि वास्तविक प्रतीति।[122] प्रकृत अलंकार में विभिन्न आकारवाले शब्दों में आपाततः एकार्थता की प्रतीति होती है, अतएव इसका पुनरुक्तवदाभास नाम महत्त्वपूर्ण है। उद्भट, इन्दुराज, रुय्यक, शोभाकर, जयरथ, नरेन्द्रप्रभ, विद्याधर, आदि आलंकारिक लौकिक अलंकार के विपरीत काव्यालंकार की अलंकार्य परतंत्रता सूचित करने के लिये, बहुब्रीहि समास करके शब्द का नपुंसक लिंग में प्रयोग करते हैं, पुनरुक्तवत् आभासो यत्र तत् पुनरुक्तवदाभासम्।[123] ध्यातव्य है कि उद्भट, इन्दुराज, रुय्यक, जयरथ, आदि आश्रयाश्रयीभाव के आधार पर अर्थाश्रित मानकर इसे अर्थालंकार मानते हैं, जबकि राजानकतिलक, मम्मट, शोभाकर, विश्वनाथ, आदि अन्वयव्यतिरेक भाव के आधार पर शब्दार्थाश्रित मानकर उभयालंकार।

ऋग्वेद में भी इसके उदाहरण पाये जाते हैं।[124] भरत, भामह, दंडी तथा वामन इसका उल्लेख नहीं करते। सर्वप्रथम उद्भट ने प्रथमवर्ग के अलंकारों में पुनरुक्तवदाभास का प्रथम विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार जहां भिन्नरूप पद अभिन्न अर्थ (वस्तु) से प्रतीत होते हैं, वहां पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है।[125] व्याख्या में इन्दुराज का कथन है कि अलंकार्य से अपृथक् रूप में ही (काव्य के) अलंकारों का निरूपण उपयुक्त है। इसलिये जहां भिन्नरूप पद एकार्थ से प्रतीत होते हैं, वहां अलंकार्य भूत काव्य पुनरुक्ताभास कहा जाता है और पुनरुक्तवत् आभासमान पद उसके अलंकार होते हैं।[126] शब्दगत सभंग-अभंग भेदों का निर्देश

करते हुए राजानकतिलक ने इसे उभयालंकार माना है।[127] रुद्रट और भोज पुनरुक्तवदाभास का उल्लेख नहीं करते। मम्मट का लक्षण उद्भट के समान है, भेद-विवेचन राजानकतिलक से गृहीत है। उनका अभिमत है कि भिन्न रूप सार्थक-निरर्थक शब्दों की आमुख में ही, न कि प्रतीति पर्यवसान में भी, एकार्थ के समान प्रतीति पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। वह भी इसे शब्द तथा शब्दार्थोभयगत मानते हैं और तिलक की भांति शब्दगत पुनरुक्तवदाभास के सभंग-अभंग दो भेद भी स्वीकार करते हैं।[128] संकेतकार ने अर्थपौनरुक्त्य के आधार पर इसे अर्थालंकार माननेवाले रुय्यक-मत का प्रत्याख्यान किया है।[129] शब्द भेद होने पर भी एकार्थता का आभास पुनरुक्तवदाभास है, शब्दार्थ के अभेद में भी तात्पर्य मात्र भेद होने पर लाटानुप्रास होता है, तथा भिन्नार्थक शब्दों के श्रुतिक्रम में ऐक्य होने पर यमक अलंकार होता है, यही इन तीनों में भेद है।[130] प्ररूढ अर्थ पौनरुक्त्य दोष माना जाता है। इसलिये रुय्यक के अनुसार जहां आमुख में अर्थ पौनरुक्त्य का आभास हो, किन्तु प्रतीति पर्यवसान में अन्यथात्व हो जाये वहां पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है।[131] यहां अर्थ की पौनरुक्त्यप्रतीति अर्थाश्रित होती है। यही कारण है कि रुय्यक तथा उनके समग्र टीकाकार इसे अर्थालंकार मानते हैं।[132] विद्याचक्रवर्ती काव्यप्रकाश की टीका में तो मम्मट का अनुगमन करते हैं,[133] किन्तु यहां वह रुय्यक के पूर्ण समर्थक हैं।[134]

शोभाकर के अनुसार आमुख में पदों की एकार्थता पुनरुक्तवदाभास है। वह रुय्यक की भांति इसे अर्थालंकार न मानकर शब्दालंकार मानते हैं। उनका तर्क है कि यहां आमुख में प्रतीत होनेवाली एकार्थता शब्द का धर्म है, न कि अर्थ का। अतएव शब्दाश्रित होने के कारण यह शब्दालंकार है न कि अर्थालंकार। इसी आधार पर उन्होंने विस्तारपूर्वक रुय्यक-मत का खण्डन प्रस्तुत किया है।[135] जयरथ शोभाकर के प्रकृत मत का विरोध करते हुए रुय्यक के मत की पुनः प्रतिष्ठा करते हैं। उनका कथन है कि यहां अर्थ की पौनरुक्त्य प्रतीति होती है, इसमें कोई विवाद नहीं है। अर्थ शब्द का धर्म है, इसीलिये यह शब्दालंकार है, इस आधार पर तो समग्र अर्थालंकारों को शब्दालंकार स्वीकार करना पड़ जायेगा। अर्थपौनरुक्त्य ही पुनरुक्तवदाभास का प्राण है। इसलिये पौनरुक्त्य के अर्थाश्रित होने के कारण यह अर्थालंकार है, न कि शब्दालंकार।[136] हेमचन्द्र का लक्षण तो मम्मट के समान है, किन्तु उभयालंकार मानते हुए भी वह शब्दवैचित्र्य की उत्कटता के आधार पर इसे शब्दालंकार की मानना उचित समझते हैं।[137] वाग्भट प्रथम इसका उल्लेख नहीं करते। वाग्भट द्वितीय हेमचन्द्र के अनुयायी हैं।[138] जयदेव इसे पुनरुक्तप्रतीकाश

अभिधान प्रदान करते हैं।[139] गागाभट्ट ने टीका में इसे शब्दालंकार घोषित किया है।[140] विद्यानाथ, विद्याधर तथा नरसिंह रुय्यक की भांति इसे अर्थालंकार मानते हैं और उन्हीं के समान लक्षण भी करते हैं।[141] विश्वनाथ तथा कर्णपूर के लक्षण मम्मट लक्षण के अनुवाद मात्र हैं। मम्मट की तरह ये भी इसे उभयालंकार स्वीकार करते हैं।[142] अप्पय, देवशंकर, अमृतानन्दयोगी, जगन्नाथ, सर्वेश्वर, आदि इसका उल्लेख नहीं करते। ब्रह्मतन्त्र स्वामी ने रुय्यक को आधार मानकर नामाख्यात द्विधा भेद से अपशब्दावभास, अव्ययाभास तथा तिङन्तवदाभास आदि का विवेचन किया है।[143] रुय्यक को वह अपना आधार अवश्य बनाते हैं, पर मम्मटोक्त रीति का भी प्रदर्शन करते हैं।[144]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पुनरुक्तवदाभास के स्वरूप पर आलंकारिकों में कोई वैमत्य नहीं है, विवाद केवल शब्द, अर्थ और उभयालंकारता को लेकर है। रुय्यक आदि का यह तर्क कि इसमें अर्थ की पौनरुक्त्य प्रतीति अर्थाश्रित होती है, अतएव इसे अर्थालंकार मानना चाहिये, यद्यपि उचित है, तथापि पूर्णतः ग्राह्य नहीं है। एक ही अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले विभिन्न आकार के शब्दों के कारण ही यहां एकार्थता की प्रतीति होती है। अतएव अर्थपौनरुक्त्य का चमत्कार शब्दचमत्कार के अधीन है। इसलिये इसे शब्दालंकार जैसा कि मम्मट आदि मानते हैं, माना जा सकता है। शब्दालंकार मानने पर इसके सभंगपद और अभंगपद दो भेद भी स्वीकरणीय हैं। शब्दार्थालंकार का नियामक तत्त्व है शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्व। जहां शब्द परिवर्तन हो जाने पर अलंकारता समाप्त हो जाती है, वहां शब्दालंकार होता है। तात्पर्य यह कि शब्दालंकार शब्दपरिवृत्यसह होते हैं और जहां शब्द परिवर्तित हो जाने पर भी अलंकारता की हानि नहीं होती, वहां अर्थालंकार होता है। आगे उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा, कि पुनरुक्तवदाभास में दोनों विधियां पाई जाती हैं, अतएव इसे उभयालंकार भी कहा जा सकता है।

**तनुवपुरन्योऽसौ करिकुंजर रुधिररक्तखरनखरः।**
**तेजोधाममहःपृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः।।** का.प्र., पृ. 538

'कृशशरीर (तनुवपुः) भी यह गजश्रेष्ठों (करिकुंजर) के रक्त से लिप्त (रुधिररक्त) तीक्ष्णनखों वाला, तेज का धाम, पराक्रम से उदारमन वालों का स्वामी सिंह (इन्द्रोहरिः) विजयशील है।'

यहां 'तनुवपुः', 'करिकुंजर', 'रुधिररक्त', 'तेजोधाम' तथा 'इन्द्रोहरिः' में आपाततः अर्थ की पौनरुक्त्यप्रतीति होती है, किन्तु अर्थबोध के बाद पौनरुक्त्य

नहीं रह जाता। अतएव पौनरुक्त्य का आभास होने के कारण यहां पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। उपर्युक्त पद्य में तनु, कुंजर, रक्त जैसे शब्दों को परिवर्तित कर देने पर पौनरुक्त्यप्रतीति का अभाव हो जाता है अतएव उन अंशों में शब्दाश्रिता के कारण शब्दअलंकार है और वपुः, करि, रुधिर, आदि शब्दों का परिवर्तन कर देने पर भी अलंकार बना रह जाता है, अतएव इन अंशों में अर्थाश्रय को लेकर अलंकार है। इस प्रकार शब्दार्थोभय आश्रित होने के कारण यह उभयालंकार है।[145] इसी प्रकार सभंग-अभंग शब्दाश्रित पुनरुक्तवदाभास के उदाहरण मूलग्रन्थों में प्राप्य हैं।

क्रीड़ा, गोष्ठी, विवाद, मनोविनोद, गुप्तमन्त्रणा तथा दूसरे को व्यामोह में डालने के लिये प्रयुक्त प्रहेलिका,[146] गूढ़ चित्रोत्तर एवं वर्ण, स्थान, स्वर, आकार, गति, बन्ध स्वरूप चित्रालंकार[147] विदग्धमात्र वेद्य तथा रसप्रतीति में व्यवधायक होते हैं। जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं[148] कि इनमें अद्‌भुत रस का परिपाक होता है, यदि मान लिया जाये तो भी ये पंडितजनों के लिये ही ग्राह्य हो सकते हैं, सहृदय प्रमाता तथा साधारणजन समुदाय के लिये नहीं। चित्र, गूढ जैसी काव्यग्रन्थियों में उलझा हुआ व्यक्ति रसानुभूति क्या कर पायेगा? इसे सहृदय ही समझ सकते हैं। इसलिये यद्यपि चित्र, गूढ, प्रहेलिका, आदि का विवेचन कामशास्त्र से लेकर दंडी-बाण आदि की रचनाओं, माघ-भारवि के काव्यों एवं काव्यशास्त्रों में बहुलतया पाया जाता है, तथापि प्रकृत में इनका विवेचन नहीं किया गया है। वैसे भी चित्रालंकार का क्रमिक विकास, दंडी, रुद्रट, भोज से होता हुआ, अजितसेन तक अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है। यों तो काव्य-शास्त्र में इसका कम-वेशी सभी ने विवेचन किया है, पर भोज के बाद, अजितसेन को छोड़कर अन्य आलंकारिक प्रायः संकेत मात्र कर देते हैं, या मुरजबन्ध आदि मूल छः सात भेदों का उल्लेख कर देते हैं। रुय्यक का 'वर्णानां खंगाद्याकृति हेतुत्वे चित्रम्',[149] तथा शोभाकर का 'पद्‌मादि लिपिवर्णचच्चित्रं चित्रम्'[150] मात्र कथन चित्रालंकार की उपेक्षा का द्योतक है। शोभाकर ने स्पष्ट शब्दों में इसकी अलंकारता का विरोध किया है—

> **'एतच्च काव्यात्मभूतस्य रसादेश्चर्वणप्रत्यूहकारितया न तथालंकारतां भजते।'**[151] अ.र., पृ. 5.

चित्रालंकार की विशेष जानकारी के लिये सुधीजनों को दंडी, रुद्रट, भोज और अजितसेन के ग्रन्थों का परिशीलन करना चाहिये। विश्वनाथ का भाषासम[152] अलंकार श्लेष चित्र से व्यतिरिक्त नहीं है। अतएव उसका भी विवेचन उचित नहीं समझा गया।[153]

## संदर्भ

1. यद्यपि श्लेष में भी शब्दार्थ की पुनरुक्ति पायी जाती है, पर रुय्यक आदि उसे अर्थालंकार में परिगणित करते हैं। इसलिये प्रकृत में उसका विवेचन नहीं किया गया है।
2. अनुप्र उपसर्गपूर्वक गति, दीप्ति तथा आदान अर्थ में पठित अस् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय (पा. 3/3/18) करने पर अनुप्रास शब्द निष्पन्न होता है।
3. अनुशब्दोऽनुगमार्थः, प्रशब्दः प्रकर्षार्थः, आसशब्दो न्यासार्थः। टि., सा.द. पृ. 446.
4. परस्परमेकरूपान्विता रसाद्यभिव्यक्त्यनुगुणत्वेन लब्धोत्कर्षा वर्णास्तत् समुदाया वा शोभातिशयहेतुत्वेन काव्ये क्षिप्यमाणा अनुप्रासशब्देनान्वर्थेनाभिधीयन्ते। ल.वृ., पृ. 4; रसाद्यनुगुणत्वेन प्रकृष्टोन्यास इत्यनुप्रासः। वि.पृ. 3, तु.का.प्र., पृ. 495; प्र., पृ. 277, सं.प्र., पृ. 202; बा.बो., पृ. 495, सा.द., पृ. 446; अ.म., पृ. 204; काव्यानु. पृ. 295.
5. सोचिन्नु भरातिनो वयं भराभरे। ऋ. 1/191/10. वही, 124, 314 तथा 4/40/5 में भी। वंस्व विश्वावार्याणि। ऋ. 7/17/5, रक्षाणो अग्नेतव रक्षणे भीरारक्षणः। वही, 4/3/14, प्रतार्यग्ने प्रतरं न आयुः। वही, 5/12/6, वैदिक साहित्य में अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक तथा पुनरुक्तवदाभास के लिये देखें, खोदा का ग्रन्थ, स्टा.रि.वे.।
6. शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्। ना.शा., 16/59.
7. शब्द शब्देन वर्णः पदं तदेकदेश इति सर्वं गृह्यते। तेनानुप्रासः लाटीयादेरप्यनेनैवोपसंग्रहः। वही, अ.भा.।
8. दे. ना.शा., 16/85-86.
9. सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते। भामह, 2/5.
ग्राम्यानुप्रासमन्यत्तु मन्यन्ते सुधियोऽपरे।। वही, 2/6.
नानार्थवन्तोऽनुप्रासाः न चाप्यसदृशाक्षराः।
युक्त्यानया मध्यमया जायन्ते चारवो गिरः।। वही, 2/7.
लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा।। वही, 2/8: वि.ध. 14/1 में भी अनुप्रास का उल्लेख है।
10. छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतौ। का.सा.सं. 1/3.
11. द्वयोर्द्वयोरेवात्र समुदाययोः सदृशत्वं, न तु त्रयाणां त्रयाणामिति। ……… असकृदित्येवं रूपोपनिबन्धे सति छेकानुप्रासता, न तु सकृदिति। ल.वृ., 3-4, तु.वि., पृ. 3.
12. छेकशब्देन कुलायाभिरतानां पक्षिणामभिधानम्। तेषां च ……… अनेनानुप्रासेन सदृशी मधुरा वागुच्चरति। अतोऽयमनुप्रासश्छेकैर्व्यपदिश्यते छेकानुप्रास इति। अथवा छेका विदग्धा तद्वल्लभत्वादस्य छेकानुप्रासता। ल.वृ., पृ. 4; तु.वि., पृ. 3.
13. स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।
शब्दानां वापदानां वा लाटानुप्रास इष्यते।। वही, 1/13. लाटदेशनिवासिजनवल्लभ त्वाल्लाटनुप्रासः। ल.वृ., पृ. 7; वि. पृ. 5.
14. शेषः सरूपोऽनुप्रासः। का.सू.वृ. 4/1/8. पदमेकार्थमनेकार्थं च स्थानानियतं तद्विधमक्षरं शेषः। वही, वृत्ति।

15. काव्यालंकार, 2/18.
16. वर्णानामनतिदूरान्तरमावृत्तिरनुप्रासः। शृ.प्र., पृ. 389, तु.स.कं. 2/70.
17. का.प्र. 9-79. स्वरवैसादृश्येऽपि व्यंजन सदृशत्वं वर्णसाम्यम्। रसाद्यनुगतः प्रकृष्टोन्यासोऽनुप्रासः। वही वृत्ति। अग्निपुराणकार का विवेचन भोजराज से प्रभावित है। दे., अ.पु., 341/1-11.
18. इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्यप्रकाराः। अ.स.सूत्र, 1.
19. तत्रार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः। शब्दार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः। वही, सूत्र-2 तथा 7
20. तदेवं पौनरुक्त्ये पंचालंकाराः। वही, सूत्र 9.
21. अनुप्रासोऽक्षरावृत्तिर्नातिदूरान्तरस्थिता। अ.म., 7/2.
22. व्यंजनस्यावृत्तिरनुप्रासः।काव्यानु. 5/1. रसाद्यनुगतो प्रकृष्टोऽदूरान्तरितो न्यासोऽनुप्रासः। .......... अर्थादसकृदावृत्तिर्लभ्यते। वही, वृत्ति।
23. तुल्यश्रुत्यक्षरावृत्तिरनुप्रासो स्फुरद्गुणः। वाग्भटा., 4/17.
24. अदूरान्तरितावृत्तिरनुप्रासः। काव्यानु., पृ. 49.
रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः। वही।
25. अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्। सा.द., 10/3; तु.अ.कौ., 7/196; वर्णसाम्यमनुप्रासः। अ.शे., 11 मरीचि।
26. दे., अ.चि. 3/3; वर्णावृत्तिरनुप्रासः। का.चं. 14; शब्दसाम्यमनुप्रासः सा.वि. 5/4; साम्यं व्यंजनमात्रस्य वर्णानुप्रास ईरितः। अ.मणि. भाग-4, पृ. 171; तु.का.दी. अष्टमशिखा।
27. शषाभ्यां रेफ संयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
परुषानामवृत्तिः स्यात् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता।। का.सा.सं., 1/5.
सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्त उपनागरिकां बुधाः।। वही, 1/8.
शेषैर्वर्णैर्यथायोगं ग्रथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः।। वही, 1/10.
28. सरूप व्यंजनन्यासं तिसृष्वेतासुवृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा।। वही, 1/12.
29. एवमयं पंचविधो लाटानुप्रासः। स्वतंत्रपरतन्त्राणां तस्य प्रत्येकं द्विभेदत्वात् स्वतंत्र परतन्त्रयोश्च समुदितयोरेकप्रकारत्वात्। ल.वृ., पृ. 7-9.
30. अनुल्वणो वर्णानुप्रासः श्रेयान्। पादानुप्रासः पादयमकवत्। का.सू.वृ. 4/1/9-10.
31. दे., काव्या. 2/18/32.
32. श्रुतिभिर्वृत्तिभिर्वर्णैर्पदैर्नामद्विरुक्तिभिः।
लाटानामुक्तिभिश्चायं षट् प्रकारः प्रकाश्यते।। स.कं. 2/71.
33. वही, रामसिंह की टीका।

34. प्रायेण श्रुत्यनुप्रासस्तेष्वनुप्रासप्रासनायकः।। वही, 2/72.
निवेशयति वाग्देवी प्रतिभानवतः कवेः।
पुण्यैरमुमनुप्रासं सुसमाधिनि चेतसि।। वही, 2/73.
यथाज्योत्स्ना चन्द्रमसं यथालावण्यमंगनाम्।
अनुप्रासस्तथा काव्यमलंकर्तुमयं क्षमः।। वही, 2/76.
35. दे., स.कं. 2/71-108 तथा पृ. 229-65.
36. सा षोढा—वर्णानुप्रासः, स्थानानुप्रासः, पदानुप्रासः, नामानुप्रासः, पादानुप्रासः, व्यवहितानुप्रास इति। शृं.प्र., पृ. 389.
37. वर्णसाम्यमनुप्रासः छेकवृत्तिगतो द्विधा।
सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः एकस्याप्यसकृत्परः।। का.प्र. 9/79 तथा दे.प्र.पृ. 289.
38. केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः।। वही, 9/80-81.
39. शाब्दस्तुलाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः। पादानां सः, पदस्यापि, वृत्तावन्यत्रतत्र वा। नाम्नः स वृत्यवृत्योश्च, तदेवं पंचधामतः। वही, 9/81-82; दे.प्र., पृ. 290, 91; सं.प्र., पृ. 208-11.
40. संख्यानियमेपूर्वं छेकानुप्रासः। अ.स. सूत्र 4। द्वयोर्व्यंजनसमुदाययोः परस्परमनेकधा सादृश्यं संख्यानियमः। वही, वृत्ति।
41. अन्यथा तु वृत्यनुप्रासः। वही, सूत्र 5 तथा वृत्ति।
42. काव्यात्मकथातावदास्ताम्। शब्दालंकारेष्वपियोबहिरंगोवृत्यनुप्रासात्मावर्णालंकार तद्धर्मत्वात्तच्छेषभूता एतारीतयः। सं., पृ. 30; सं.प्र., पृ. 207.
43. तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः। वही, सूत्र, 8. इत्थंच सति पद निबन्धनतया प्रातिपदिकमात्र निबन्धनतया च लाटानुप्रासो द्विविधः। वही, सं., पृ. 32.
44. द्वयोर्द्वयोः व्यंजनसमुदाययोः साम्यं छेकानुप्रासः। अन्यथा तु वृत्यनुप्रास एव। तुल्याभिधेयभिन्नतात्पर्यशब्दावृत्तिर्लाटानुप्रासः।अ.र., सू. 3,4,5. रुय्यक से शोभाकर का वैशिष्ट्य जानने के लिये इन सूत्रों की वृत्तियां देखी जा सकती हैं।
45. अत्र च यद्यपि वाच्यस्यापि पौनरुक्त्यं तथापि न तदलंकारतायां प्रयोजकम्। शब्दावृत्तेरेव यमकादौचारुत्वनिबन्धनत्वात्। ········· तेन शब्दस्यैव चारुत्वहेतुः। अ.र., पृ. 4.
46. एवं चार्थभेदेशब्दावृत्तिर्यमकमर्थस्याभेदेऽपि भेदाल्लाटानुप्रासः। वही, पृ. 5.
47. दे., अ.म. 7/2-18.
48. तत्रैकस्य सकृदावृत्तौ न किंचिद्वैचित्र्यमर्थादसकृदावृत्तिर्लभ्यते। अनेकस्य तु सकृदसकृच्च। अ.चू., पृ. 295. तात्पर्यमात्रभेदिनो नाम्नः पदस्य वा लाटानाम्। काव्यानु. 5/2 तथा वही, अ.चू.।
49. छेकवृत्तिलाटभेदेन त्रिधा। सकृत्वर्णावृत्तिश्छेकानुप्रासः। असकृद्वृत्यनुप्रासः। सकृदसकृद्वापदावृत्तिर्लाटानाम्। काव्यानु., पृ. 49-50 तथा दे., वही, व्याख्या।
50. दे., चन्द्रा. 5/2-4 तथा श्लोकस्यार्धेतदर्धेवावर्णावृत्तिर्यदिध्रुवा। तदा मता मतिमतां

स्फुटानुप्रासता सताम् । वही, 5/5. उपमेयोपमानादावर्थानुप्रास इष्यते । वही, 5/6. स्फुटानुप्रास छेक तथा अर्थानुप्रास अर्थालंकारो से गतार्थ है।

51. दे., एका. 7/3-4-6; प्र.रु., पृ. 247-50; नं.य., पृ. 156-57.

52. दे., सा.द., 10/3-7.

53. छेकः सकृत्तया। मा धुर्यव्यंजकत्वेन स एव ह्युपनागरः। एष (वृत्यनुप्रासः) च द्विविधो भवेत्। माधुर्योजोऽनुकूलत्वात्। कोमलो लाट इष्यते। अ.कौ. 198/205.

54. दे., अ.मणि. भाग-4, पृ. 171-78.

55. गद्यपद्यमिश्रादिर्गतिः। सा षोढा—द्रुता, मध्या, विलम्बिता, द्रुतमध्या, द्रुतविलम्बिता मध्यविलम्बिता। शृं. प्र., पृ. 372; तु.स.कं. 2/18-26.

56. विदर्भादीनां वाक्यरचनावर्त्मरीतिः। सा षोढा—वैदर्भी, पांचाली, गौडीया, आवन्तिका, लाटीया, मागधीया। शृं.प्र., पृ. 373; तु. सं.कं. 2/27-33.

57. एता बहिरंगतरस्य वर्णालंकारस्यांगभूता एव वैदर्भी प्रमुखारीतयः। सं.प्र., पृ. 207.

58. दे., शृं.प्र., वही तथा स.कं. 2/34-38.

59. अन्योक्तीनामनुकृतिश्छायासापीहषड्विधा।
लोकच्छेकार्भकोन्मत्तपोटामत्तोक्तिभेदतः।। स.कं. 2/39. शृं.प्र. में अन्तिम चार भेदों के स्थान पर प्रौढोक्ति, मुग्धोक्ति, स्खलितोक्ति तथा असमंजसोक्ति पायी जाती है। दे., वही, पृ. 377.

60. साभिप्रायवचनविनिवेशो मुद्रा। साषोढा। शृं.प्र., पृ. 376 तथा स.कं. 2/40-41.

61. विधिनिषेधादेरभिधानमुक्तिः। साषोढा—विधिः, निषेध, अधिकार, परिसंख्या, विकल्पः नियमइति। वही, पृ. 378 तथा 2/42-3.

62. शब्दस्यार्थस्य वा परस्परमयुज्यमानस्य योजनं युक्तिः। साषोढा। शृं.प्र., पृ. 377 तथा स.कं., 2/44-51.

63. उक्तेरेव प्रकारान्तराख्यानं भणितिः। साषोढा। वही, पृ. 379 तथा 2/52.

64. वाक्ये शब्दार्थयोः सभ्यग्रचना गुम्फना स्मृता। वही, 2/53, शृं.प्र. में इसका रचना नाम है। वही, पृ. 374.

65. शय्येत्याहुः पदार्थानां घटनायां परस्परम्। शृं.प्र., पृ. 375 में इसे घटना कहा गया है। वही, 2/54-55.

66. काक्वादिना वाक्योच्चारणं पठितिः। साषोढा—काकु, स्वरः, विच्छेदः कांतिः, अभिनयः, अपदेशः इति। वही, पृ. 380 तथा 2/56-57.

67. विधिनिषेधव्युत्पत्तिहेतुरध्येयं तु षोढा। वही, पृ. 383 तथा 2/138-39.

68. श्रुतिसुखमात्रजननं श्रव्यम्। वही, पृ. 381 तथा 2/140-41.

69. प्रेक्षानिमित्तं वाचिकाद्यभिनयरहितमांगिकैकनिर्वर्त्यं प्रस्थानडोम्बलिकादिवाक्यं प्रेक्ष्यम्। तत्षोढा-लास्यं, ताण्डवं, छलिकं, शम्पा, हल्लीसकं, रासकं च। वही, पृ. 381 तथा 2/142-43.

70. दशरूपकविशेषमेव अभिनेयम्। अभिनयस्तु षोढा। वही, पृ. 382 तथा 2/157.

71. काव्यादर्श 2-1.
72. यम्यते गुण्यते आवर्त्यते पदमक्षरं वेति यमः। बहुलं ग्रहणात् कर्मणि घञ् प्रत्ययः। यम एव यमकम्। का.धे., पृ. 98.
73. यमौ द्वौ समजातौ, तत्प्रतिकृतिर्यमकम्। ना.शा. 16/59 पर अ.भा., तु.सं., पृ. 204; काव्यानु., पृ. 298-99; का.सं., पृ. 227; बा.बो., पृ. 501.
74. दधदृचा सनिंयते दधन्मेधाभृतायते। दिवाभिषित्वेऽवसागमिष्ठा प्रत्यवर्तिं दाशुषेशंभविष्ठा।। ऋ. 5/76/2. कंकतो न कंकतो। वही, 1/191/1. शरासः कुशरासः। वही, 1/191/3 तथा 5/76/2. वृश्चिकस्यारसं विषमं रसंवृश्चिकं ते विषम्। वही, 1/191/16.
75. दे., स्टा.रि.वे.।
76. शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्।
विशेषदर्शनं चास्य गदतो मे निबोधत।। ना.शा., 16/59.
77. तेनानुप्रासलाटीयादेरनेनैवोपसंग्रहः। वही, अ.भा.।
78. तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते।। भामह, 2/17.
79. नानाधात्वर्थगम्भीरा यमकव्यपदेशिनी।
प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे।। वही, 2/19.
80. शब्दाः समानानुपूर्व्या (समानाभिन्नार्था) यमकं कीर्तितं पुनः।। वि.ध., 14/2.
81. अव्ययेतत्व्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः। यमकम्—काव्यादर्श, 3/1.
82. पदमनेकार्थमक्षरं चावृत्तं स्थाननियमे यमकम्। का.सू.वृ. 4/1/1.
83. भामहेनोक्तं प्रत्याख्यातुमाह—स्थाननियमे सतीति। का.धे., पृ. 98.
84. तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम्।
पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य।। काव्या., 3/1.
85. दे., व.जी. 2/6/7.
86. विभिन्नार्थैकरूपायाः यावृत्तिर्वर्णसंहतेः।
अव्यपेतव्यपेतात्मा यमकं तन्निगद्यते।। सं.कं., 2/58; तु. शृं.प्र., पृ. 388; अ.पु., 343/11, 12.
87. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिर्यमकम्। का.प्र. 9/93 तथा वृत्ति।
88. स्वरव्यंजनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम्। अ.स. सूत्र, 6.
89. तुल्यरूपसमुदायावृत्तिर्यमकम्। अ.र.सू., 2 तथा वृत्ति।
90. दे., अ.म., 7/19.
91. सत्यर्थेऽन्यार्थानां वर्णानां श्रुतिक्रमैक्ये यमकम्। काव्यानु. 5/3, तु. तुल्यश्रुतिक्रमाक्षरावृत्तिर्यमकम्।। काव्यानु., पृ. 51.
92. स्यात्पादपदवर्णानामावृत्तिः संयुतायुता।
यमकं भिन्नवाच्यानामादिमध्यान्तगोचरम्।। वाग्भटा., 4/22

93. दे., चन्द्रा., 5/8.
94. इदमेवस्वरसहितं व्यंजनसमुदायमाश्रितं यमकम्। एका. 7/4. तु. प्र.रु., पृ. 249; नं. य., पृ. 157.
95. सत्यर्थेपृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते।। सा.द., 10/8; तु. अ.कौ. 7/206; का.वि. 2/56; सा.वि. 5/6; अ.मणि. भाग-4, पृ. 178, सा.सा.; 9/5, का.चं., पृ. 17.
96. दे., प्र.रू., पृ. 249.
97. दे., ना.शा., 16/62-86.
98. आदिमध्यान्तयमकं पादाभ्यासं तथावली।
समस्तपादयमकमित्येतद् पंचधोच्यते।। काव्यालं 2/9.
संदृष्ट समुद्गकादेरत्रैवान्तर्गर्भिता।
आदौ मध्यान्तयोर्वा स्यादिति पंचैवतद्यथा।। वही, 2/10.
99. दे., वही, 2/16.
100. काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त? दुर्मेधसो हताः।। वही, 2/20.
101. दे., काव्यादर्श, 3/1-77.
102. दे. का.सू.वृ., 4/1/2, 3, 4, 5, 6, 7 तथा विवेचन।
103. न.सा., पृ. 21.
104. दे., काव्यालंकार, 3/2-58.
105. वही।
106. इति यमकमशेषं सम्यगालोचयद्भिः सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तुचौचित्यविद्भिः।
सुविहितपदभंगं सुप्रसिद्धाभिधानं तदनुविरचनीयं सर्गबन्धेषुभूम्ना।। वही, 3/59.
107. दे., सू.कं. 2/59-67 तथा शृं.प्र., पृ. 388, ध्यातव्य है कि शृं.प्र. में केवल छः भेदों का प्रदर्शन है, स्थानयमक, अस्थानयमक, व्यपेत, अव्यपेत, समुद्गक तथा पादयमक।
108. पाद, तद्भागतद्वृत्तितद्यात्यनेकताम्। का.प्र. 9/83 तथा दे., पृ. 502-6.
109. दे., प्र.पृ., 291-92 तथा सं.प्र., पृ. 213-15.
110. वही, का.सं., पृ. 228-38.
111. वही, अ.पु., 343/11-21.
112. अत्र क्वचिद्भिन्नार्थत्वं, क्वचिदनर्थकत्वं, क्वचिदेकस्यानर्थकत्वमपरस्य सार्थकत्वमिति संक्षेपतः प्रकारत्रयम्। अ.स., पृ. 31.
113. लोल्लट, उद्धृत, का.प्र.सं, पृ. 236 तथा अ.चू., पृ. 307.
114. इति प्रभूततमभेदंयमकम्। काव्यानु., अ.चू., पृ. 305; दे., अ.चू. तथा विवेक, पृ. 300-307.
115. वाग्भटालंकार, 4/22.
116. काव्यानु. पृ. 51-52.

117. अत्र क्वचिद्भिन्नार्थकत्वं क्वचिदभिन्नार्थकत्वं, क्वचिदेकस्यानर्थकत्वमन्यस्य सार्थकंत्वमिति संक्षेपतः प्रकारत्रयम्। एका., पृ. 188.
118. तस्यादिमध्यान्तगतत्त्वेन बहवो भेदाः। प्र.रू., पृ. 249; सा.द., पृ. 454; नं. य., पृ. 157.
119. अ.कौ., 7/203-11.
120. दे., अ.भणि. भाग-4, पृ. 178-227.
121. दे., दंडी, रुद्रट, भोज, अजितसेन प्रभृति का शब्दालंकार विवेचन।
122. पुनरुक्तस्येव पुनरुक्तवत्, आभासो ज्ञानमिति पुनरुक्तवदाभासः। बा.बो., पृ. 535. सा.द. टिप्पण, पृ. 445, पुनरुक्तवदाभासनं पुनरुक्तवदाभासः। अ.चू. 338.
123. सं., पृ. 26, नापुंसकः संस्कारो लौकिकालंकारवैधर्म्येण काव्यालंकाराणामलंकार्य पारतंत्र्यध्वननार्थः। अ.स., पृ. 26; तु. ल.वृ., पृ. 2; वि., पृ. 17-19.
124. यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव। ऋ. 6/75-17.
125. पुनरुक्तवदाभासमभिन्नवस्त्विवोद्भासिभिन्नपदम्। का.सा. सं. 1-3.
126. यत्र भिन्नरूपे पदे एकार्थवदाभासेते तत्पुनरूक्ताभासं काव्यमलंकार्य निर्दिष्टम्। ......... पुनरुक्तवदभासमाने च पदे तस्यालंकारः। ......... अलंकारस्य खल्वलंकार्यपरतन्त्रतया निरूपणे क्रियमाणे सुष्ठुस्वरूपं निरूपितं भवति। ल.वृ., पृ. 2.
127. '......... इत्युभयालम्बनोऽयमलंकारः। 'तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्तिनः' इत्यादिरभंगः। 'अरिवधदेहशरीरः' इत्यादिश्च सभंगशब्दालंकारः। वि., पृ. 3.
128. पुनरुक्तवदाभासः विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव, शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम्।। का.प्र., 9/86.
भिन्नरूप सार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनम्। वही, वृत्ति।
129. कैचिदस्यार्थपौनरुक्त्याश्रितत्त्वादर्थालंकारतामाहुः। वयं त्वर्थपौनरुक्त्याश्रितत्त्वेऽपि शब्दवैचित्र्याच्छब्दालंकारत्वं ब्रूमः। संकेत, पृ. 219.
130. दे., का.सं., पृ. 252.
131. आमुखावभासनं पुनरुक्तवदाभासम्। अ.स.सू. 3 तथा वृत्ति।
132. अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्त्वादर्थालंकारत्वं ज्ञेयम्। अ.स., पृ. 26, तदर्थालंकारत्वमस्य ज्यायः। वि., पृ. 18; तु. स.बं., पृ. 13; सं., पृ. 26.
133. अत उभयालंकारोऽयम्। स.प्र., पृ. 248.
134. अर्थालंकारत्वमस्य स्फुटमेव, सं., पृ. 26.
135. आमुखैकार्थपदं पुनरुक्तवदाभासम्। अ.र. सूत्र। आमुख तुल्यार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वेन शब्दाश्रयत्वाच्छब्दालंकारोऽयम्। न त्वर्थधर्मः पौनरुक्त्यमलंकार इत्यर्थालंकारता वाच्या। वही, वृत्ति।
136. '......... किं बहुना सर्वेषामप्यलंकाराणामुपमितार्थत्वादेः शब्दधर्मत्वाच्छब्दालंकारत्वं स्यात्। ......... अर्थस्यामुख एव पुनरुक्ततयावभासोऽस्य जीवितम्। ......... तस्मादर्थाश्रयत्वात्पौनरुक्त्यस्य तदलंकारत्वमेवयुक्तम्। वि., पृ. 18-19.

137. भिन्नाकृतेः शब्दस्यैकार्थतेव पुनरुक्ताभासः। काव्यानु. 5/9 तथा वृत्ति। यद्यपि पुनरुक्दाभासार्थान्तरन्यासादयः केचिदुभयान्वयव्यतिरेकविधायिनोऽपि दृश्यन्ते, तथापि तत्र शब्दस्यार्थस्य वा वैचित्र्यमुत्कटमित्युभयालंकारमनपेक्ष्यैव शब्दालंकारत्वेनार्थालंकारत्वेन चोक्ताः। अ.चू., पृ. 401. पुनरुक्तवदाभास के विषय में नरेन्द्रप्रभ मम्मट के पूर्ण अनुयायी हैं। दे., अ.म. 7/24 तथा वृत्ति।
138. भिन्नरूपाणां शब्दानामेकार्थतेव पुनरुक्तवदाभासः। काव्यानु., पृ. 52. चित्रश्लेषानुप्रास वक्रोक्तियुक्तियमकपुनरक्तवदाभासाः षट् शब्दालंकाराः। वही, पृ. 46.
139. पुनरुक्तप्रतीकाशं पुनरुक्तार्थ सन्निमम्। चन्द्रा. 5-7.
140. अयं चालंकारो वाक्यनिष्ठत्वाच्छाब्दः। यद्यप्यार्थबोधान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादर्थालंकारत्वमुचितम् तथाप्यापाततः शब्दालंकारत्वमुक्तम्। राकागम, पृ. 45.
141. पुनरुक्तवदाभासो भवति प्रमुखावभासनं द्वेधा। एका. 1/1 तथा वृत्ति। तु. प्र.रू., पृ. 249, अर्थालंकारत्वेऽप्यस्य शब्दपौनरुक्त्याश्रितत्त्वाच्छब्दालंकारप्रस्तावे लक्षणं कृतम्। वही, तु.नं.य., पृ. 157.
142. आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम्। पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः।। सा.द. 10/2 तथा इति शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालंकारत्वम्। पृ. 445-6; तु. अ.कौ., 7/215.
143. पुनरुक्तवदाभाति यत्रार्थो न तु वस्तुनः। पुनरुक्तवदाभासस्सनामाख्यात गोचरः।। अ.मणि. भाग 4, पृ. 227, अर्थालंकारत्वेऽप्यस्य शब्दालंकारप्रस्तावेलक्षणोक्तिः। वही।
144. दे., वही, पृ. 227-34.
145. अत्रैकास्मिन् पदे परिवर्तिते नालंकारः इति शब्दाश्रयः, अपरस्मिस्तु परिवर्तितेऽपि स न हीयते, इत्यर्थनिष्ठ, इत्युभयालंकारोऽयम्।। का.प्र., पृ. 539.
146. क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः।। काव्यादर्श, 3/97; तु. अ.पु. 342-22, तु. प्रकर्षेण हेलिकानर्मादिक्रीडारूपं यस्याः ना.शा. 18/118 पर अ.भा.।
147. वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान्प्रतीहयः
नियमतस्तद् बुधः षोढा चित्रमित्यभिधीयते।। स.कं. 2/109.
वर्णानां खंगाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्। अ.स. सूत्र-10.
चित्रालंकार का विवेचन कमबेशी प्रायः सभी ने किया है।
148. दे., सा.वि., पृ. 145, अ.चि. द्वितीय परिच्छेद।
149. अ. स. सूत्र-10.
150. अ.र., सूत्र-8.
151. स्थूलबुद्धिलालनीयत्वात् वाचकशब्दबहिर्भावाच्चनात्रकविभिरादरः कार्यः। सं., पृ. 34.
152. दे., सा.द., 10/10.
153. पाश्चात्त्य आलोचकों ने भी चित्रबन्ध को अनादर की दृष्टि से देखा है। देखिये कृष्णचैतन्य, संस्कृत पोइटिक्स, पृ. 101.

चतुर्थ अध्याय

# उपमामूलक अलंकार
# (अ) भेदाभेदप्रधान अलंकार

## उपमा

### व्यापकता

काव्यशास्त्र के सभी आचार्य अलंकारों में उपमा को महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा अर्थालंकारों में प्रायः सर्वप्रथम इसी का विवेचन करते हैं। नाट्यशास्त्र-प्रणेता भरत ने अपने अलंकारों में प्रथम स्थान देकर इसकी महत्ता को स्वीकार किया है।[1] वामन प्रतिवस्तुप्रभृति अलंकारों को उपमा का प्रपंच कहते हैं।[2] रुद्रट के अनुसार अलंकार विभाजन के चार आधारों में औपम्य भी एक महत्त्वपूर्ण विभाजक तत्त्व है।[3]

मम्मट भी अर्थालंकारों में उपमा का ही सर्वप्रथम विवेचन करते हैं, तथा उनके टीकाकार उपमा की व्यापकता एककंठ से स्वीकार करते हैं।[4] रुय्यक अनेकशः उपमा को समस्त अलंकारों का मूल प्रतिपादित करते हुए,[5] उपमामूलक अट्ठाईस अलंकारों का विवेचन भी करते हैं। उनके टीकाकार भी उनका अनुमोदन करते हैं।[6] भोज की सरस्वती कंठाभरण के टीकाकार जगद्धर 'उपमादि' चौबीस अर्थालंकारों को कविसर्वस्व मानते हैं।[7] अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में सभी अलंकारों को उपमा-प्रपंच माना है[8] तथा 'लोचन' में औपम्य को सर्वालंकार सामान्य स्वीकारा है।[9] शोभाकर के अनुसार उपमा ही शाब्दत्व तथ आर्थत्व-भेद से अनेक अलंकारों का प्रपंच है।[10] महिमभट्ट ने 'सर्वेष्वलंकारेषूपमा जीवितायते' कहकर उसे अलंकारों का प्राणभूत घोषित किया है। जयदेवकृत चन्द्रालोक की राकागम टीका में गागाभट्ट ने भी उपमा को अनेकालंकारख्यापिनी कहा है।[11] विद्याधर भी अर्थालंकारों में इसे ही प्रथम स्थान देते हैं[12] तथा विद्यानाथ अनेकालंकारों का बीज मानते हैं।[13] विश्वनाथ उपमा को सादृश्यमूलक समग्र अलंकारों का उपजीव्य मानते हैं।[14] राजशेखर इसे अलंकारशिरोरत्न, काव्यसर्वस्व तथा कविवंश की माता स्वीकारते हैं।[15] अप्पयदीक्षित उपमा की तुलना प्रकृतिनटी या मायानटी से करते हैं, जो चित्र (काव्य) की भूमिका के विविध रूपों में उपस्थित होकर काव्यरूपी रंगभूमि में नर्तन करती हुई सहृदय-हृदय का अनुरंजन करती है।[16] यही नहीं

उपमा-ज्ञान को वे ब्रह्मज्ञान के समान मानते हैं। जैसे ब्रह्मज्ञान हो जाने से चित्र (वैचित्र्यपूर्ण) जगत् का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही उपमा का ज्ञान हो जाने से कवि-निर्मित चित्र-विश्व (काव्य के तृतीय भेद अलंकार) का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि 'ब्रह्मणि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'। इस प्रकार दीक्षित की दृष्टि में उपमा माया तथा ब्रह्म का स्वरूप है।

जगन्नाथ भी उपमा को विपुलालंकारवर्तिनी मानते हैं।[17] विश्वेश्वरपंडित भी यही कहते हैं :

**'प्रकृतिभूतत्त्वेन सर्वालंकारेष्वभ्यर्हितत्त्वादुपमा तावन्निरूप्यत इति'**

—अ. कौस्तुभ, पृ. 4

नरेन्द्रप्रभसूरि अतिशयोक्ति तरंगित उपमा को समस्त अलंकारों का मूल कहते हैं।[18] परवर्ती अच्युतराय, देवशंकर, विद्यानाथ[19] तत्सत् आदि अन्य सभी आचार्य भी उक्त कथन का समर्थन करते हुए उपमा की व्यापकता, बीजभूतता, अलंकारों की अनुप्राणकता स्वीकार करते हैं।

आचार्यों ने अनेकशः स्पष्ट किया है कि कविप्रतिभाजन्य विच्छित्ति ही अलंकार है। विच्छित्ति सौन्दर्य का दूसरा अभिधान है। सौन्दर्य हमारे हृदय का वह आनन्दांश है, जो किसी वस्तु के साक्षात् दर्शन या उसके ध्यान से उद्बुद्ध होकर हमें तन्मय कर देता है।[20] मूर्तिकार अपनी कृति में रूप का ऐसा ठोस और यथार्थ चित्रण करता है कि उसे आगे पीछे सब ओर से पूर्णतया देखा जा सकता है। मूर्ति में शरीर के आंख, कान, आदि अवयव निश्चित आकार-प्रकार के होते हैं। उनमें दर्शक को इस बात का कम अवकाश मिलता है कि वह उस रूप को अपनी भावना के रूप में रंजित कर सके। कोई भी आदर्श मूर्ति सबके लिये आकर्षक ही हो, यह संभव नहीं है। किन्तु चित्रकार स्थानक,[21] झीने मुखावरण, तीव्र प्रकाश, मध्यम या अन्धकार, आदि की सहायता से ऐसे चित्र का निर्माण कर सकता है, जिसमें रूप, रंग तथा अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्म विवरण न उपस्थित कर दर्शक की कल्पना को अपनी रुचि के अनुसार अधिक से अधिक अवकाश दे सकता है।

कवि को पत्थर, छैनी, तूलिका, रंग, आदि की अपेक्षा नहीं होती। वह इनके स्थान पर शब्दार्थ का ही प्रयोग करता है। कवि-प्रयुक्त शब्दार्थ सहृदय के हृत्पटल पर ऐसे सौन्दर्य की रूपरेखाएं प्रस्तुत कर देते हैं, जिनमें वह अपनी रुचि या भावना के रंग से पूर्णता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मूर्तिकला तथा चित्रकला से अत्यधिक गुरुतर कार्य है काव्यकला। कवि चित्रकार या मूर्तिकार की तरह वर्ण्य-विषय का

केवल बाह्य या स्थूल वर्णन ही नहीं करता अपितु वह वर्ण्यविषय से उद्भूत अपनी सौन्दर्य भावना की अभिव्यक्ति भी करता है। इतिहास की भांति वस्तु का केवल यथार्थ चित्रण ही कवित्व के लिये प्रशंसा का द्योतक नहीं है।[22] अधिकतर लोग वर्ण्यवस्तु के विस्तृत विवरण के पक्षपाती होते हैं तथा उन्हे नखशिख वर्णन आदि प्रिय होते हैं। परन्तु अधिकांश कवि सुन्दर अंगों के प्रसिद्ध उपमान चन्द्र, कमल, आदि की सहायता से ही अपने सौन्दर्य-चित्र का निर्माण किया करते हैं। मुखादि उपमेयों में सौन्दर्य आदि धर्मों के आधिक्य को प्रस्तुत करने के लिये कवि चन्द्र, कमल, आदि ऐसे उपमानों की कल्पना करता है, जिनमें उन धर्मों की अधिकता रहती है तथा उनके कारण उनकी विशेष प्रसिद्धि भी रहती है। 'चन्द्र समान सुन्दर आनन' सुनकर मुख का जो मूर्त सौन्दर्य हमारी आंखों के सामने उपस्थित हो जाता है वह केवल सुन्दर आनन कहने से नहीं।[23] इस प्रकार उपमा की व्यापकता का एक हेतु यह भी है कि उपमा के माध्यम से उपस्थित वर्ण्य-विषय हृदयावर्जक, मनोहारी तथा सरस हो जाता है। वस्तुतः उपमा के द्वारा वर्ण्य-विषय का स्वरूप सर्वांश में स्पष्ट हो जाता है। 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' इस कथन से केवल यह नहीं व्यक्त होता कि मुख का आकार-प्रकार चन्द्रमा के आकार-प्रकार जैसा है। क्योंकि चन्द्रमा के आकार से तो मुख के आकार में कोई साम्य नहीं है। उक्त कथन से चन्द्रगत आह्लादकत्व, सरसत्व तथा माधुर्य धर्म मुख में अवभासित होने लगता है। ऐसे कथन को सुनकर सहृदय के सामने मुख का समग्र लावण्यमय, आह्लादक तथा सौन्दर्यपूर्ण चित्र उपस्थित हो जाता है और वह चन्द्रगत धर्मों का अनुभव प्रकृत मुख में करने लगता है। यही उपमा के प्राधान्य का प्रधान हेतु है :

**'सौकुमार्यातिशयाच्च प्रधानमुपमां प्रथमं लक्षयति'**

—प्रदीप, पृ. 308

कवि की अनुभूत धर्मवर्णना ही अलंकार है। कविगत यह सौन्दर्य भावना वस्तु सन्निवेशी हिमांशु-लावण्यादि से भिन्न होती है।[24] एक वस्तु से स्वरूपतः समान दूसरी वस्तु का बिम्ब उपस्थित कर देना ही औपम्य का काम है।[25] स्वरूपबोध या भावोत्तेजन को तीव्र करने के लिये सादृश्य या औपम्य का सहारा लिया जाता है। रूप या आकार के साम्य और साधर्म्य की परिकल्पना के अंतरंग में एक प्रभाव भी छिपा रहता है। वर्ण्य-वस्तु के अनुरूप ही अन्य वस्तुओं को सामने उपस्थित करना उपमा की यथार्थता है। वर्ण्य-वस्तु की सुन्दरता, सुकुमारता, मधुरता, उग्रता, कठोरता, भयानकता, धीरता, वीरता तथा नीचता आदि की भावनाओं को तीव्र

करना ही उसका कार्य है। मुख के लिये 'कमल' आदि सुन्दर उपमानों को उपस्थित कर मुख की मधुरिमा तथा कांति की सौन्दर्य भावनाओं को बढ़ाया जाता है। इससे विषय बोधगम्य, सरस, सरल तथा प्रभावोत्पादक बन जाता है। इस प्रकार उपमा की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इसमें बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् की एकता सामने प्रस्तुत हो जाती है। यह एकता धर्म और स्वरूप की साम्यावस्था पर आधृत होती है।

### सादृश्य प्रकार तथा उपमा प्रपंच

सादृश्य हमारे सामने निषेध, अपह्नव, आरोप, अतिशय, कार्य-कारणभाव, आदि अनेकों प्रकार से आता है। सादृश्य गम्य तथा वाच्य होता है। निगूढ सादृश्य ही गम्यमान औपम्य कहा जाता है। उपमा में जब मुख को 'चन्द्र-समान' बताया जाता है, तो वहां औपम्य निगूढ नहीं रहता, किन्तु दीपक, तुल्ययोगिता, समासोक्ति, आक्षेप, आदि अलंकारों में उपमेय और उपमान की साम्यावस्था प्रकारान्तर से प्रत्यायित होती है। समासोक्ति अलंकार में नायक-नायिका आदि का व्यवहार साम्य पाठक या सहृदय को कवि स्पष्टतया बताता नहीं है, वह विशेषण या कार्य में निगूढ रहता है। अतएव जहां कवि को स्पष्ट और साक्षात् साम्य विवक्षित होता है, वहां वह वाच्य औपम्य का सहारा लेता है, अन्यथा निगूढ रास्ते अपनाता है। वाच्यौपम्य अलंकारों में उपमा का प्राधान्य है। गुण, आकृति, देश-काल, आदि को लेकर दो वस्तुओं में स्थित सादृश्य की ओर उपमा और तन्मूलक अलंकारों से ही संकेत किया जाता है।

'मुख चन्द्रमा के समान है' ऐसे स्थान पर उपमा होती है। 'मुख, मुख के समान है' यह अवस्था 'अनन्वय' की है। 'मुख चन्द्र की भांति है, चन्द्र मुख की भांति है' यह उपमेयोपमा है। 'मुख को देखकर चन्द्र का स्मरण हो आता है' यहां स्मरण अलंकार है। इन स्थलों में मुख और चन्द्र में भेद और अभेद दोनों का ही प्राधान्य रहता है। अतएव इन्हें भेदाभेद प्रधान अलंकार माना जाता है। परन्तु रूपक में यह क्रिया बदल जाती है। यहां मुख का प्राधान्य तथा चन्द्र की गौणता हो उठती है। 'मुख ही चन्द्र है' यह रूपक का स्वरूप है। 'परिणाम' अलंकार में अभेद कार्य के रूप में परिणत होता दिखाई पड़ता है। 'मुख चन्द्र से ताप शान्त हो रहा है' परिणाम के इस स्वरूप में चन्द्र और मुख का अभेद होने से ताप-शमन रूप कार्य निष्पन्न हो रहा है। अभेद की इस स्थिति में सन्देह होना स्वाभाविक ही है, 'चन्द्र है या मुख' यह सन्देह कथन है। 'मुख चन्द्र है' ऐसा समझकर चकोर आनन्दित होते हैं अभेद

में इस प्रकार की भ्रान्ति भी संभव है। चकोर की इस वृत्ति को भ्रान्तिमान् कहा जाता है। 'मुख को चकोर चन्द्र समझते हैं और चंचरीक उसे कमल' इस प्रकार के उल्लेख अलंकार में मुख को अनेकों रूपों में देखा जाता है। 'यह चन्द्र ही है, मुख नहीं' ऐसा कथन अपह्नुति अलंकार है। इसमें चन्द्र और मुख दोनों का ही अभिधान किया जाता है। अपह्नव के द्वारा दोनों का उपादान किया जाता है तथा उपादान के द्वारा भेद का निर्देश और अभेद का प्रत्यायन किया जाता है। उत्प्रेक्षा में अभेद प्रधान सादृश्य का प्रत्यायन कराया जाता है। विषय का उपादान यहां अभीष्ट नहीं होता 'मानो चन्द्र है' कवि इतना ही कह कर विरमित हो जाता है। कहीं-कहीं विषय का उपादान होने पर भी अध्यवसाय के कारण उसकी उत्कृष्टता जाती रहती है। अध्यवसाय का यह स्वरूप अतिशयोक्ति में सिद्धावस्था में परिणत होता दिखाई देता है और 'चन्द्र को देखो' मात्र इतना ही कहकर कवि विश्रान्त हो जाता है, मुख का नाम नहीं लेता।

परोक्ष को प्रत्यक्ष, व्यष्टि को समष्टि, व्यवहित को अव्यवहित तथा सूक्ष्म को संवेद्य रूप में प्रस्तुत करना ही सादृश्य विधान का प्रमुख प्रयोजन है। ऐसे स्थलों में स्मरण, भ्रान्ति, उत्प्रेक्षा, संभावना, अतिशय, आदि सहायक होते हैं। बिना अतिरंजना के सूक्ष्म का स्पर्श नहीं होता। अतिशय कथन में वक्ता का अतिशय अनुराग भी निगूढ रहता है। वस्तु को परोक्ष से अपरोक्ष बनाने हेतु अपने राग और भाव-बन्धन को उन्मुक्त हृदय से कहने के लिये अतिशयोक्ति का सहारा लिया जाता है। उत्कर्ष या अपकर्ष के बिना वस्तु में स्वाद नहीं आता। एतदर्थ ही कवि काव्य में अलंकारों का विधान करते हैं।[26]

'इस वर्षा में मुख तथा चन्द्रबिम्ब कान्तिहीन हैं' यह तुल्ययोगिता का एक प्रकार है, 'शरत्काल में वह रम्य होते हैं' यह दूसरी तुल्ययोगिता है। 'यह भी रम्य है, वह भी रम्य है' ऐसे कथन दीपक अलंकार के होते हैं। 'मुख ही रम्य है, चन्द्र ही हृदय है' यह प्रतिवस्तूपमा की उक्ति है। 'भूतल में मुख है, नभोमण्डल में चन्द्र' यह दृष्टान्त कथन है। 'मुख में दोष बताना चन्द्र का मलिनीकरण है' यहां निदर्शना होती है। 'मुख से बढ़कर चन्द्र और चन्द्र से बढ़कर मुख है' यह व्यतिरेक कथन है। 'चन्द्र के साथ मुख शोभित हो रहा है' यह प्रकार सहोक्ति कथन का है। 'मुख के बिना चन्द्र अच्छा नहीं लगता' यह विनोक्ति कथन है। इन सभी अलंकारों में मुख और चन्द्र के भेद का उपादान हुआ करता है। अतिशयोक्ति तक मुख और चन्द्र में अभेद प्रतीति होती है, परन्तु इन स्थलों में स्थिति बदल जाती है। तथापि मुख और चन्द्र के सादृश्य का सहारा हर स्थिति में लिया जा रहा है। उपमा से लेकर

इन सभी अलंकारों में भेदाभेद, अभेद तथा भेद की स्थिति अन्ततः मुख और चन्द्र दोनों के सादृश्य को ही प्रतिपादित करती है।

'मुख कला से अभिराम है' यह समासोक्ति कथन है। 'कलाभिरामौ मुखचन्द्रौ' यहां श्लिष्ट कथन है। 'नमस्ते चन्द्र प्रसन्नोऽसि' यह उक्ति अप्रस्तुत प्रशंसा की है। 'मुख का रोष दोष के लिये नहीं है, कलंक रेखा चन्द्र की निन्दा के लिये नहीं होती' ऐसी उक्ति में अर्थान्तरन्यास होता है।' इन सभी उक्तियों में सादृश्य किसी न किसी प्रकार से अवस्थित रहता है। कुछ अलंकारों में भले ही सादृश्य न हो—जैसे विनोक्ति आदि में—परन्तु अधिकांश अलंकारों में उसकी अवस्थिति मान्य है। उपमा का यह प्रपंच विस्तार रुय्यक के 'अलंकार सर्वस्व' के टीकाकार विद्याचक्रवर्ती द्वारा कथित संजीवनी टीका के आधार पर किया गया है।[27] सादृश्यमूलक अलंकारों की इस सूची में विद्या चक्रवर्ती ने उल्लेख, परिकर, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति तथा आक्षेप अलंकारों को छोड़ दिया है। प्रतीत होता है कि उन्हें इनकी औपम्य-गर्भता अभीष्ट नहीं है। संजीवनी के ही आधार पर अप्पयदीक्षित भी 'चित्र-मीमांसा' में उपमामूलक अलंकारों की एक सूची देते हैं। उन्होंने इसमें प्रतीप तथा उल्लेख अलंकार को भी ले लिया है।[28] परन्तु परिकर, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप को यह भी सादृश्यमूलक अलंकारों की श्रेणी में रखते नहीं जान पड़ते। 'साहित्य-दर्पण' की 'लक्ष्मी' टीका में दीक्षित प्रोक्त समस्त अलंकारों की सूची दी गई है,[29] किन्तु उसमें श्लेष नहीं है। ऊपर के विवेचन से एक बात सिद्ध हो जाती है, वह है उपमा की व्यापकता। उपमा की व्यापकता, हृद्यता, सुकुमारता तथा विषय-बोधकता के कारण ही उसका प्रथम विवेचन भी श्लाघ्य है। दिवेकर के अनुसार उपमा उन्नत संस्कृति का निराला ही तत्त्व है, यह बुद्धि और ज्ञान का स्वरूप, अप्राकृतिकता का अभाव है तथा उपमा का उपबृंहाण तब तक संभव नहीं है, जब तक संस्कृति का विकास नहीं हो जाता। इस प्रकार भारतीय शास्त्र में उपमा उन्नत भारतीय संस्कृति का एक आधार भी है। डॉ. खोदा के अनुसार यह कला से उद्भूत, कला का ही एक अंग है तथा कृत्रिम और अलंकृत शैली का मूल तत्त्व है।[30]

### व्युत्पत्ति

उपमा शब्द में 'उप' उपसर्ग तथा 'मा'-धातु दो अंश हैं। उप जब किसी क्रिया या शब्द के पूर्व आता है, तो वह अधिक, हीन, आसन्न, सामीप्य, सादृश्य, प्रतिपन्न, वर्तमान अन्यगुण का आधान, व्याप्ति, पूजा, शक्ति, आराम, दान, दोष-कथन, आचार्यकरण, अव्यय और निदर्शन आदि अर्थों का अभिधायक होता है।[31] 'मा'

धातु का अर्थ है पूजा, परिमाण, शब्द, आदि।[32] शब्द की व्युत्पत्ति करण अर्थ में की जाती है, 'उप समीपे मीयते परिच्छिद्यते (उपमानेन कर्त्रा उपमेयं कर्म) अनयेत्युपमा।[33] वैसे तो यहां 'माङ्' धातु जुहोत्यादि की ही ली गयी है, जिसका अर्थ 'मान करण' या 'मापना' है। किन्तु यह धातु इसी अर्थ में भ्वादि, अदादि तथा दिवादि में भी पठित है। और इनसे भी 'उपमा' शब्द की निष्पत्ति संभव है। इस प्रकार उप पूर्वक मा धातु से करण अर्थ में 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्'[34] इस सूत्र की अनुवृत्ति करके 'आतश्चोपसर्गे'[35] सूत्र से अङ् प्रत्यय करके, स्त्रीलिंग होने के कारण टाप् होकर 'उपमा' शब्द बनता है। इस प्रकार उपमा का अर्थ होता है—जहां उपमान उपमेय के समीप लाया जाये या स्तुति निन्दा आदि की अभिव्यक्ति हो।[36] प्रायः सभी आलंकारिक उपमा की इस व्युत्पत्ति पर सहमत हैं।[37] 'मा' का एक अर्थ लक्ष्मी या शोभा भी होता है। इस आधार को लेकर अच्युतराय ने अपने 'साहित्यसार' की 'सरसामोद' टीका में 'उपमा' की एक रोचक व्याख्या प्रस्तुत की है, जिसके अनुसार उपमा वह है जिसके समीप लक्ष्मी या प्रभा हो। इस प्रकार हरिमूर्ति की अद्वैत विद्या के उदय के समय जो अभिव्यक्ति योगियों को हुआ करती है, उपमा में भी तत्सदृश स्वरूप की सुन्दर अभिव्यक्ति होती है।[38]

### ऋग्वेद में उपमा शब्द, उसका अर्थ तथा उदाहरण

ऋग्वेद में उपमादि अलंकारों के सुन्दर निदर्शन तो प्राप्य ही हैं, उपमा, उपमासो, उपमां, उपमं, उपमात्, उपमस्य, उपमाति, उपमित् जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। इन शब्दों की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि अधिकांश स्थलों पर इनका प्रयोग सादृश्य और उपमा के अर्थ में ही किया गया है। इस प्रकार के कुछ स्थल नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं :

(1) ईयुषीणामुपमा शश्वतीनाम्। —ऋ., 1/124/15, 1/113/15
(2) सहस्रषामग्निं वेषिं गृणीषे शत्रिमग्न उपमां केतुमर्यः। वही, 5/34/9
(3) सदोद्वा चक्राते उपमादिवि सम्राजा सर्पिरासुती। वही, 8/29/9
(4) दृंहेथे सानुमुपमादिव द्यौः। वही, 6/67/6
(5) युवाभ्यां मित्रावरुणोपमं धेयामृचा। वही, 5/64/4
(6) उपस्तुता उपमं नाध्मामानां। वही, 1/110/5
(7) पदं यद्विष्णोरूपमं निधायि। वही, 5/3/3
(8) पृश्नेः पुत्राः उपमासो रमिष्ठाः। वही, 5/58/5
(9) कविं कवीनामुपमश्रवस्तमः। वही, 2/23/1, 10/34/6

(10) अथा गावः उपमातिं कनायाः। ऋ. 10/61/21
(11) अहोर्यस्कम्भ उपमस्य नीळे। वही, 10/5/6
(12) राजाभिः कृष्टेरूपमस्य बव्रेः। वही, 4/42/1-2
(13) उपमित् न रोधः। वही, 4/5/1
(14) का वां मूदुपमातिः। वही, 4/43/3

सायण के अनुसार इनका अर्थ क्रमशः (1) उप समीपे निर्मिता उपमान भूता वा, (2) उपमां उपमानभूतम्, (3) उपमादिवि उपमानभूतौ, (4) उपमात् उपमीयते प्रक्षिप्यते इत्युपमात्, (5) उपमं उपसमीपे मीयमानम्, (6) उपमं सर्वेषूपमानभूतं प्रशस्तं सोमलक्षणमन्नम्, (7) उपमं उपमेयमिव, (8) उपमासः प्रत्येकं समानाः, (9) उपमीयतेऽनयेत्युमा, (10) उपमातिरूपमानभूतम्, (11) उपमस्य अन्तिक नामैतत्, (12) उपमस्य समीपभूतस्यायोः, (13) उपसमीपे मीयते क्षिप्यते इत्युपमित्, (14) उपमातिः उपसमीपे मातिर्मानं गुणानां परिच्छित्तिर्यस्यां सा (स्तुतिः)।

इस प्रकार प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उदाहरण में प्रयुक्त उपमा आदि शब्द का अर्थ उपमानभूत या सादृश्य ही है। चतुर्थ का अर्थ समीप प्रक्षेपण है, अन्ततः सादृश्य अर्थ उसका भी है, क्योंकि उपमा में भी उपमान को उपमेय के समीप आक्षेप से लाया जाता है। पंचम का अर्थ भी उपमानभूत या परिमाण है। षष्ठ का अर्थ सोमरूप अन्न है। सप्तम में भी 'उपमं' प्रयोग सादृश्याभिधायी है। अष्टम में समानता का बोधक है तथा नवम में काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा प्रोक्त उपमा की व्युत्पत्ति तथा अर्थ है। दशम का अर्थ उपमानभूत है, एकादश का सामीप्य। द्वादश आयु का आभिधायी है, त्रयोदश भी उपमानभूत अर्थ का बोधक है तथा चतुर्दश परिमाण अर्थ का ज्ञापन करता है।

इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक काल में भी उपमा का प्रयोग सादृश्य, समान, उपमान, आदि अर्थों में हुआ करता था। यद्यपि, अन्न स्थूणा आदि के अर्थ में भी 'उपमा' का प्रयोग ऋग्वेद में पाया जाता है, परन्तु बहुल प्रयोग उपमा (सादृश्य) अर्थ को ही अभिव्यक्त करता है। और बाद के आलोचना-ग्रन्थों (काव्याशास्त्रों) में भी उपमा का यही स्वरूप स्थिर किया गया। यह विवेचन हमें इस बात को स्वीकारने के लिये बाध्य करता है कि वैदिक कवि न केवल उपमा शब्द का प्रयोग ही करते थे अपितु वे उपमा का ज्ञान भी रखते थे। ऊपर (ऋ. 5/34/9) में आई हुई उपमा का अर्थ गेल्डनर सायण का ही अनुसरण करते हुए सादृश्य या तुलना करते हैं।[39]

**विभिन्न मत**

आर.एम. मेयर ने प्राचीन नार्स साहित्य में प्रतिपादित किया है कि प्राचीन जर्मन उपमायें अधिकतया पशुओं, वनस्पतियों और मानव सम्बन्धी घटनाओं से की गई हैं। इसी प्रकार या इससे भी अधिक प्राचीन भारतीय ऋषियों का सम्बन्ध प्रकृति तथा उसके विभिन्न पहलुओं से रहा है। ऋग्वेद की अनेक उपमायें मानवजीवन, उनके रहन-सहन, सामाजिक तथा आध्यात्मिक क्रियाकलापों की अभिव्यक्ति हैं। उनमें कुछ पौराणिक भी हैं। प्रकृति से गृहीत उपमानों में भौगोलिक तथा सांसारिक वस्तुओं में वनस्पतियां, पौधे, पशु, अश्व, धेनु, वृषभ, भेड़िया, जल, जलधि, सूर्य, पक्षी, वृक्ष, वायु, आकाश, आदि हैं। ऐसी उपमाएं ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर बिखरी पड़ी हैं।

सामान्यतया व्यवहार जगत् में आज भी जाने-अनजाने सादृश्य, अतिशय, विरोध, रूपक, आदि का प्रयोग भाषा में हो ही जाया करता है। बोल-चाल की नित्य की उक्तियों में हम सादृश्य, अतिशय, आदि का कितनी बार प्रयोग कर जाते हैं, इस ओर ध्यान भी नहीं देते। फिर तो वे रचनाएं जो देवों आदि की स्तुति में रची गईं उनमें इनका प्रयोग कैसे वारण किया जा सकता था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रो. दिवेकर के अनुसार उपमा उदात्त तथा महनीय संस्कृति की परिधि में ही विकास को प्राप्त होती है। दिवेकर की इस उक्ति का खंडन डॉ. खोदा अपने ग्रन्थ में अच्छी तरह से कर देते हैं।[40] काणे का अभिमत है कि समस्त प्राचीन साहित्य में अलंकारों का स्थान नगण्य सा है, किन्तु कोई भी भाषा उपमा तथा रूपक के अभाव में विकसित नहीं हो सकती।[41] वैदिक साहित्य से उन्होंने कुछ अलंकारों के उदाहरण खोजने का प्रयास भी किया है। आगे चलकर उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि वेद में उपलब्ध अलंकार बिना किसी आयास के आ पड़े हैं, उनमें ऋषियों की कोई भी देन नहीं है। डॉ. दे का कथन है कि 'काणे' ने वैदिक साहित्य में अलंकार प्रयोग पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है। डॉ. दे के इस मन्तव्य का सविस्तार खंडन काणे ने अपने ग्रन्थ में किया है[42] तथा काणे के मन्तव्य—वैदिक साहित्य में अलंकारों के अनायास प्रयोग होने और डॉ. दे के उनके अभाव कथन—दोनों ही भ्रान्त धारणाओं का खंडन डॉ. खोदा ने अपने ग्रन्थों की रचना करके कर दी है।[43] खोदा के अनुसार वैदिक अलंकार ऋषियों की प्रकृष्ट मेधा के परिचायक हैं, अलंकारों का प्रयोग विशेष को ध्यान में रखकर हुआ है। उनका आगमन बिना किसी प्रयास के हो गया है, यह कथन प्रशंसा का द्योतक नहीं है।

**वेद में उपमा निदर्शन**

ऋग्वेद में अत्युत्तम, अनुपम उपमाओं का प्रयोग किया गया है। वैदिक कवि की उत्तमोत्तम उपमाओं में से दो-एक को यहां प्रस्तुत कर देना असमीचीन न होगा। ऋग्वेद में हमें सबसे अधिक चमत्कारिणी और आकर्षक उपमाएं उषः सूक्त में प्राप्त होती हैं। कवि ने एक जगह उसे एक अनिन्द्य सुन्दरी की भांति देखा है, जिसके पीछे सूर्य एक कामुक पुरुष के समान दौड़ता है :

**'सूर्यो देवीं उषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।'** ऋ. 1.115.2

अन्यत्र कहा गया है कि अपने तेज से अंधकार को विनष्ट करती हुई द्यौ की पुत्री, शुभ्रवर्णा उषा अलंकृत युवती के सदृश अपने अंगों को प्रकाशित करती है।[44] सद्यः स्नाता की भांति वह सबके दर्शनार्थ पूर्व दिशा में उठती दिखाई देती है। एक जगह उसकी तुलना नर्तकी से की गयी है, जिसका वक्ष नग्न है और जो अपने शरीर पर आभूषण धारण किये हुए है।[45] एक अन्य स्थल पर उषा हंसती हुई सुन्दर नवयुवती की भांति अपने मनोहारी वक्ष को प्रकाशित करती है।[46]

उपमा वैदिक कवि का इतना प्रिय अलंकार है कि कहीं-कहीं तो वह उपमा की लड़ी-पर-लड़ी विन्यस्त करता दिखायी पड़ता है। एक ही ऋचा में चार-चार उपमाएं वैदिक कवि की प्रकृष्ट मेधा की परिचायिका हैं :

**'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।**
**जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।।**[47]

—ऋ. 1/124/7

वाणी की कितनी सुन्दर उपमा एक अन्य स्थल पर दी गयी है। 'अनेक लोग विद्याध्ययन करते हैं, पर उसका रहस्य खुलता नहीं। अनेक लोग महत्त्व की बातें सुनते हैं, पर उनका भाव समझ में नहीं आता' इसी कथन को लक्ष्य कर एक ऋचा[48] में उपमा की गयी है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो देखते हुए भी वाणी को नहीं देख पाते, सुनते हुए भी उसे सुन नहीं पाते। तीसरे वे लोग हैं, जिनके सामने वाणी अपना सारा सौन्दर्य इस प्रकार खोलकर रख देती है, जैसे पत्नी अपने पति के सामने अपने समग्र सौन्दर्य को पूर्णरूप से प्रदर्शित करती है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि उपर्युक्त सभी उपमाएं लौकिक उपमानों को लेकर ही प्रदान की गयी हैं।

डॉ. खोदा ने ऋग्वेद में से चालीस प्रकार से भी ऊपर उपमाओं को खोज निकाला है।[49] वी.एच. कपाडिया ने सोमसूक्त में अधिकाधिक उपमाओं को खोजा है, जिनमें सोम की उपमा प्रायः पशु, पक्षी, पौधे, नदियों, झरनों, पवन, बिजली

(तडित्), वीर, इन्द्र, प्रियतम, अश्व, गाय, नवजात शिशु तथा इसी प्रकार के अन्य उपमानों से दी गयी हैं।[50] इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में उपमा के लिये दर्शनीय स्थल ये भी हैं—1/65/4, 1/92/10, 3/29/2, 4/57/2, 5/73/3, 7/77/1, 8/35/8, 8/84/2 तथा अन्य भी।[51]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद के भाष्य में न केवल ऋचाओं में उपमा[52] का ही निर्देश किया है, प्रत्युत मालोपमा, लुप्तोपमा, वाचकलुप्ता, श्लेष, आदि का भी निर्देश किया है। मालोपमा का सुन्दर उदाहरण नीचे की ऋचा में निबद्ध है :

**'हंसाविव पतथो अध्वगाविव सोमं सुतं महिषेवावगच्छतः'**

ऋ., 8/35/8

इस प्रकार ऋग्वेद में प्रयुक्त 'उपमा' शब्द तथा उदाहरण से यह निश्चित हो जाता है कि वैदिक ऋषि भी उपमा का प्रचुर प्रयोग किया करता था। भले ही काव्य-शास्त्रीय प्रमाण नहीं है, किन्तु काव्य-शास्त्र के रूप में आने का मूल कारण क्या वेद को नहीं कहा जा सकता? विशेषकर उस समय जबकि इतने प्रचुर प्रमाण इस तथ्य की पुष्टि करते हों।

### ब्राह्मणों में अलंकार; उपमा

अपेक्षाकृत वेदों के ब्राह्मणों में उपमा का स्वरूप अत्यधिक स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। 'शतपथ ब्राह्मण' में कई स्थलों पर सारूप्य, सादृश्य तथा उपमा प्रभृति अनेक उपमा-बोधक शब्दों का प्रयोग किया गया है। यहां सदृश और सरूप दो शब्द आये हैं :

**'य एव प्रायणीयस्यर्त्विजो भवन्ति त एवोदयनीयस्यर्त्विजो भवन्ति तद्यदेतत्समानं यज्ञे क्रियते तेन बाहू सदृशौ तेन सरूपौ।'**

—श.प., 3/2/3/21

इसमें सदृश, सरूप के अतिरिक्त समान शब्द का भी प्रयोग हुआ है। तीनों ही सादृश्य के पर्याय हैं। इसके ऊपर प्रयुक्त सायण के भाष्य से तथ्य अधिक स्पष्ट हो जाता है:

**'इदानीन्तमानि बाह्वोः सरूपत्वं प्रायणीयोदयनीययोरैक्यं रूपनिबन्धनमित्याहः—तद्यदेतदिति—सादृश्यं एकदेशेनापि भवति इति विशेषात्ते सरूपाविति।'** —वही।

शतपथ में उपमा शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है जो सादृश्य अर्थ में ही प्रयुक्त

है। एक-स्थल पर पुरुष का रूपक बांधा गया है, वहीं उपमा शब्द भी आया है :

**'यथा वृक्षोवनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा। तस्य पर्णानि लोमानि, त्वगस्योत्पाटिका बहिः। त्वच एवास्य रुधिरम्प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः। तस्मात्तदातुन्नात्प्रैतिरसो वृक्षादि वाहतात्।।'** —वही, 14/6/9-30-31

**'मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्थावतस्थिरम्।**
**अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता।।'** —वही, 14/6/9-32

यहीं पर सायण का भाष्य भी द्रष्टव्य है :

**'मज्जा मज्जैव वनस्पतेः पुरुषस्य च मज्जोपमा कृता मज्जाया उपमा मज्जोपमा।'**

यहां पर उपमा तो है ही, रूपक का मनोहारी चित्रण भी किया गया है। पुरुष को वृक्ष कहा गया है। उसके रोम ही पत्र हैं, त्वचा ही छाल है, रक्त ही अन्दर बहने वाला द्रव पदार्थ है। मांस ही शकर (सायण शकर का शकल अर्थ करते हैं) है, किनाट (आभ्यन्तर में मांस (काष्ठ) से लगा हुआ चर्म) ही वल्कल है। अस्थि ही अन्दर की लकड़ियां हैं तथा मज्जा की उपमा मज्जा से दी गई है। यहां रूपक कितना मनोहारी बन गया है। एक जगह पिंगाक्षी[53] शब्द भी आया है, जिसका अर्थ सायण ने किया है 'पिंगे पिंगले अक्षिणी यस्याः सा'। यहां पूर्णोपमालंकार है।

### आरण्यकों में उपमा

ब्राह्मणों की अपेक्षा आरण्यकों में उपमा तथा अन्य अलंकारों के निदर्शन और भी स्पष्ट देखे जा सकते हैं। मैत्रायणीय आरण्यक में 'औपम्य'[54] तथा 'उपमा'[55] शब्द का प्रयोग किया गया है। उपमा के उदाहरण तो यहां अनेक मिलेंगे। मालोपमा का एक सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है :

**'अथान्यत्राप्युक्तं महानदीषूर्मय इवानिवर्तकमस्य यत्पुराकृतं, समुद्रबेलेव दुनिवार्यमस्य मृत्योरागमनं, सदसत्फलमयैः पाशैः पंगुरिव बद्धं बन्धनस्थलस्येवास्वातन्त्र्यं, यम विषयस्थस्येव बहुभयावस्थं, मदिरोन्मत्त इव मोहमदिरोन्मत्तं, पाप्मना गृहीत इव भ्राम्यमाणं, महोरगदष्ट इव विषयदष्टं, महान्धकारमिव रागांधमिन्द्रजालमिव मायाभयं, स्वप्न इव मिथ्यादर्शनं, कदलीगर्भ इवासारं, नष्ट इव क्षणवेषं चित्रभित्तिरिव मिथ्यामनोरममिति।।'** —मैत्रा.आ., 4/2

यहां न केवल उपमा तथा उत्प्रेक्षा का मंजुल विन्यास ही है, अपितु इस अंश की ललित पदावली दंडी तथा बाण की पदावली के समान हृदयावर्जक भी है।

### उपनिषदों में उपमा

उपनिषदों में उपमा का भव्य रूप देखा जा सकता है। वस्तुतः उपमा और रूपक की सहायता से दार्शनिक तत्त्वों को इतना सरस, सरल तथा बोधगम्य बना दिया गया है कि सामान्य व्यक्ति भी उन तत्त्वों से भलीभांति परिचित हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थान पर प्राणबद्ध मन की उपमा सूत्रबद्ध पक्षी से दी गयी है :

> **'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्त्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति।'**[56]
>
> —छान्दो. उ., 6/8/21

जिस प्रकार सूत्र से आबद्ध पक्षी प्रतिदिशाओं में दौड़कर अन्यत्र आश्रय न पा सकने के कारण बन्धन को ही आश्रय बनाता है, उसी प्रकार भद्र! प्राणबद्ध मन प्रतिदिशाओं (सम्पूर्ण कामादि में) दौड़कर अन्यत्र स्थान न प्राप्त कर प्राण का ही उपाश्रयण करता है। कितने सुन्दर ढंग से एक बड़ी बात कह दी गयी है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में एक स्थल पर आत्मतत्त्व के द्वारा ब्रह्मतत्त्व को देखने की उपमा दीप से दी गयी है तथा वहीं पर उपमा शब्द का प्रयोग भी किया गया है।[57] कठोपनिषद् में अयुक्त मन वाले अविज्ञानी पुरुष के इन्द्रियों की अवशता की तुलना उस सारथी से की गयी है, जिसके वश में उसके अश्व नहीं रहते तथा विज्ञानवान् पुरुष की उपमा उस अच्छे सारथी से दी गई है, जिसके घोड़े उसके वश में रहते हैं।[58] कठ. तथा तैत्तिरीय के अन्य स्थल भी अवलोकनीय हैं।[59] मालोपमा का सुन्दर निदर्शन नीचे के श्लोक में है :

> **'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च।**
> **यथा पृथिव्यामोषधयः भवन्ति।।**
> **तथा सतः पुरुषात्केशलोमानि।**
> **तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्।।** —मुडको., 1/1/7

यहां अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले विश्व की उपमा मकड़ी के जाले, पृथ्वी-जन्य औषधियों तथा पुरुषजन्य केश लोम से दी गयी है।

ऋग्वेद से लेकर उपनिषत्पर्यन्त विवेचित उपमा प्रयोग, उसके अर्थ तथा उदाहरणों से यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिककाल में भी 'उपमा' का प्रयोग—भाषा में ही नहीं, विषय को सरस, सरल तथा सहज बनाने के लिये साहित्य में भी किया जाता था। यद्यपि इनके आधार पर यह कहना कठिन है कि उस काल में उपमा को काव्य-शास्त्रीय स्थान मिल चुका था, तथापि 'औपम्य' जैसे शब्द-प्रयोग यह भी सिद्ध करते हैं कि 'उपमा' की शास्त्रीय धारण बनने लगी थी, क्योंकि इन शब्दों को पश्चाद्वर्ती आलोचना ग्रन्थों में वैसे ही, उन्हीं अर्थों में ले लिया गया है। अधिक नहीं तो इतना हो कहा ही जा सकता है, कि उपमा की काव्य-शास्त्रीय धारणा का मूल इन वैदिक उक्तियों तथा रचनाओं में सन्निहित है।[60]

**निघण्टु**

वैदिक काल में ही उपमा की शास्त्रीय धारणा बन चुकी थी, इसका प्रबल प्रमाण है निघण्टु। निघण्टु में उपमावाचक बारह निपातों का उल्लेख किया गया है, जिनमें कुछ का विवेचन निरुक्तकार (लगभग 700 ई.पू.) यास्क भी करते हैं। निघण्टु प्रोक्त वे बारह निपात इस प्रकार हैं :

> **'इदमिव। इदं यथा। अग्निर्नये। चतुरश्चिद्ददमानात्। ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः। जार आमगमू मेषोभूतोऽभियन्नयः। तद्रूपः। तद्वर्णः। तद्वत्। तथेत्युपमाः।'** —निघ., 3/13

निघण्टु प्रोक्त इन बारह उपमा-निपातों[61] का उल्लेख प्रायः आधुनिक विद्वान् कर देते हैं, किन्तु इनका विवेचन किसी ने भी नहीं किया है। थोड़े में यहां इनका विवेचन किया जायेगा।

(1) इद*मिव* : वेद में इव शब्द उपमा के अर्थ में अनेकधा प्रयुक्त हुआ है। इव से होनेवाली उपमा का उदाहरण पहले दिया जा चुका है।[62]

अन्य स्थल[63] भी द्रष्टव्य है :

> **'हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिः'** —ऋ. 10/67/3

यह ऋचा बृहस्पति की स्तुति में प्रयुक्त है। इन्द्र की गायों को पणियों के यहां से छुड़ाने के लिये बृहस्पति मरुतों के साथ गया था, उसी का प्रकृत में वर्णन है। (प्रस्तर के बने हुए बन्धन स्थान को शिथिल करते हुए, चिल्लाती हुई गायों को छुड़ाने के लिये, बृहस्पति) हंस की तरह बोलने वाले मित्र रूप मरुतों के साथ जाता है।

यहां हंस उपमान है और मरुद्गण उपमेय, इव उपमावाचक, साधारण धर्म मधुर लुप्त है। अतएव यह धर्मलुप्ता का सुन्दर उदाहरण है। इस प्रकार ऋग्वेद में इव-जन्य उपमा धर्मलुप्ता भी हो सकती है। इवार्थ में लौकिकी उपमा का सुन्दर उदाहरण देखिये :

**'कोवांशयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ।'**

—ऋ., 10/40/2

यह सूक्त अश्विनौ सम्बन्धी है। इसका अर्थ है 'जैसे शयनकाल में विधवा देवर को तथा पत्नी अपने पति को अपने ओर आकृष्ट करती है; उसी प्रकार हे अविश्नौ। तुम दोनों को कौन यजमान सम्मिलन स्थान में अपनी ओर आकृष्ट करता है।

इसमें उत्तरार्द्ध में दो उपमाएं हैं, विधवा और देवर का, स्त्री और पुरुष का। पूरे मंत्रार्थ को मिलाकर एक उपमा बनती है। यजमान उपमेय है, विधवा तथा पत्नी उपमान, आकर्षण साधारण धर्म 'विधवेव देवरं' में इववाचक है, तथा 'मर्यं नयोषा' में 'न' वाचक है। इस प्रकार यहां पूर्णोपमा है।

(2) इदं *यथा* : ऋग्वेद में अनेकत्र 'यथा' शब्द उपमा वाचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

**'यथा जघंथ धृषता पुराचिद्देवां जहि शत्रुमस्माकमिन्द्र।'**

—ऋ. 2/30/4

मन्त्र में इन्द्र की स्तुति की गयी है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है 'हे इन्द्र! जिस प्रकार तुमने पहले देवशत्रु राक्षसों को मारा था, उसी प्रकार मेरे शत्रुओं का संहार करो।' यद्यपि यहां उपमा उतनी मनोहारिणी नहीं है, तथापि सादृश्य के कारण उपमा है। शत्रु उपमेय है, राक्षस उपमान, मारण साधारण धर्म और यथा उपमा वाचक। अतएव यह पूर्णोपमा का उदाहरण है। अन्य स्थल भी देखे जा सकते हैं।[64]

(3) ***अग्निर्नये*** **भ्राजसा रुक्मवक्षसो वातासो न स्वयुजा सद्य ऊतयः।**
**प्रज्ञातारो न ज्येष्ठाः सुनीतयः सुशर्माणो न सोमा ऋतंयते।।**

ऋ.- 10/78/2

यजमान के यज्ञ में जाने वाले मरुतों की उपमा तेजस्वी अग्नि से दी गयी है। जिस प्रकार अग्नि तेज से सुशोभित होता है, उसी प्रकार रुक्म[65] से अलंकृत वक्षःस्थल वाले, तेज से सुशोभित, स्वयं युक्त हो जाने वाले, शीघ्रगामी, प्रकृष्ट ज्ञानियों की तरह पूज्य मरुत् सुखपूर्वक यजमान के यज्ञ में जाते हैं।[66]

विवेचन का तात्पर्य 'अग्निर्नये' आदि प्रथमपाद से है, जिसमें पूर्णोपमा है। वैशिष्ट्य इस मन्त्र का यह है कि पूरे मन्त्र में चार उपमा आयी हैं तथा उपमावाचक 'न' शब्द का भी चार बार उपादान है। इस प्रकार के उदाहरण वेदों में बहुतायत मिलते हैं। एक स्थल पर इन्द्र की तुलना गूढार्थ के ज्ञाता मेधावी कवि से दी गयी है : 'कविर्ननिण्यं विद्याति साधन्' —ऋ. 4/16/3. इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वेद में 'न' पूर्णोपमा का वाचक है।

(4) *चतुरश्चिद्ददमानात्* : 'चित्' भी उपमा-बोधक है। उदाहरण है :

**'चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादानिधातोः।**
**न दुरुक्ताय स्पृहयेत्।।** —ऋ. 1/41/9

यहां दुवर्चन से विरत रहने को कहा गया है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'चार अक्षों को धारण करने वाले (जुआरी) से दांव न फेंकने तक जिस प्रकार भय रहता है, उसी प्रकार दुर्वचन से भयभीत रहना चाहिये।'

यहां भी पूर्णोपमा है। दुर्वचन उपमेय है, जुआरी उपमान, भय साधारण धर्म और 'चित्' उपमा वाचक। एक और उदाहरण है :

**'कुमारश्चित् पितरं वन्दमानम्'** —ऋ. 2/33/12

मन्त्र का अर्थ यों है—'जिस प्रकार कुमार वन्दनीय पिता के पास जाता है, उसी प्रकार रुद्र के पास जाने वाला यजमान नमस्कार करता है।' यहां भी पूर्णोपमा है। यहां सायण भी 'चिदित्युपमार्थे' कहकर 'चित्' को उपमार्थक सिद्ध करते हैं।

(5) *ब्राह्मणा व्रतचारिण* : मन्त्र के देवता मण्डूक हैं। वर्षा की कामना करने वाले वसिष्ठ ने तप के द्वारा पर्जन्य को प्रसन्न किया। उनके इस कृत्य का मण्डूकों ने अनुमोदन[67] किया। ऐसे प्रसन्न मण्डूकों की तुलना संवत्सर पर्यन्त तप करने वाले ब्रह्मचारी से दी गयी है :

**'संवत्सरं शशयानाः ब्राह्मणा व्रतचारिणः।**
**वाचं पर्जन्य जिन्वितां प्रमण्डूका अवादिषुः।।** ऋ. 7/103/1

'संवत्सर पर्यन्त सत्रात्मक व्रत करने वाले ब्रह्मचारी ब्राह्मणों की तरह संवत्सर पर्यन्त वर्षा आने तक बिल में निवास रूप तप करने वाले मण्डूकों ने पर्जन्य को प्रसन्न करने वाली वाणी का उच्चारण (अनुमोदन) किया।'

यहां मण्डूक उपमेय है तथा ब्राह्मण उपमान। उपमा वाचक, तथा साधारण

धर्म क्लेशादि या तप आदि लुप्त हैं। अतएव यह धर्मवाचकलुप्ता का उदाहरण है। सायण ने भी कहा है—'लुप्तोपममेतत्'।

(6) *वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः* — पूरा मन्त्र इस प्रकार है :

**अक्ष्यो न चक्रयोः शूर बृहन्प्रते मह्ना रिरिचे रोदस्योः।**
**वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वया व्यूतयो रुरुहुरिन्द्र पूर्वीः।।** ऋ. 6/24/3

इन्द्र की यहां स्तुति की गयी है। 'हे महान् शूर इन्द्र तुम्हारी महिमा चक्र में अक्ष की भांति [जिस प्रकार अक्ष (धूरा) चक्र को अतिक्रान्त कर बाहर तक रहता है] द्यावापृथिवी को अतिक्रान्त कर गयी है। तुम्हारी विविध प्रकार की रक्षाएं उसी भांति फैली हुई हैं, जैसे वृक्ष से शाखाएं फैलती हैं।'

यहां पूर्वार्द्ध में भी 'न' उपमा वाचक है तथा पूर्णोपमा है। उत्तरार्द्ध में 'नु' उपमा वाचक है, रक्षायें उपमेय हैं, वृक्ष की डालियां उपमान, विरोहण साधारण धर्म। इस प्रकार यहां भी पूर्णोपमा है। कह सकते हैं कि 'नु' प्रयुक्त उपमा, पूर्णोपमा होती है।

(7) *जार आभगम्*: यहां अग्नि की स्तुति की गई है :

**'उदीरय पितरा जार आ भगम्'** —ऋ. 10/11/8

यहां अग्नि की उपमा सूर्य से दी गयी है। मन्त्र का अर्थ यह है—'हे अग्नि जिस प्रकार सूर्य अपनी भजनीय ज्योति को द्यावापृथिवी के लिये प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तुम भी माता-पिता रूप द्यावापृथिवी के लिये अपनी ज्योति का उद्गम करो।' जार सूर्य को कहा गया है, क्योंकि वह रात्रि को क्षीण करने वाला या जराने (जलाने) वाला है, 'रात्रेर्जरयिता'। यहां पूरी ऋचा को लेकर पूर्णोपमा है। 'आ' उपमा वाचक है। सायण ने भी कहा है—'आ-कार उपमार्थे।'

(8) **मेषो भूतोऽभियन्नयः** — ऋ. 8/2/40

यहां काण्वऋषि द्वारा इन्द्र की स्तुति की गयी है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है : '(हे बज्री इस प्रकार से स्तुति करने वाले काण्व मेध्यातिथि के) समीप तुम मेष के समान चलते हुए आ गये हो।'

यहां भूत उपमार्थीय है। वस्तुतः 'भूत' शब्द यहां रूपक को ही अधिक पुष्ट करता है, किन्तु 'भूत' का अर्थ समान भी—स्वरूपार्थ होकर—हो जायेगा। इस प्रकार 'भूत' शब्द भी उपमा वाचक होने से यहां भी पूर्णोपमा है। निरुक्त में इसे भूतोपमा[68] कहा गया है।

(9) *तद्रूप* : 'रूप' भी उपमा के लिये प्रयुक्त होता है। एक उदाहरण देखिये :

**'अभियन्तु नरोऽग्निरूपा'** —ऋ. 10/84/1

यह मंत्र 'मन्यु' के लिये प्रयुक्त है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है : '(तीक्ष्ण दाहादि कर्मवाले) अग्नि के समान लोग जायें।' यहां नर उपमेय है, अग्नि उपमान, 'रूप' उपमा वाचक, तीक्ष्ण दाहादि साधारण धर्म। धर्म यहां लुप्त है। अतएव यह लुप्तोपमा का उदाहरण है। वस्तुतः 'रूप' को लेकर जहां-जहां उपमा होगी वहां 'रूपक' ही मानना उपयुक्त होगा। वैदिक-साहित्य में 'रूप' 'भूत' आदि को उपमार्थ में प्रयुक्त करने की पद्धति सिद्ध करती है कि तब तक रूपक को उपमा से अलग नहीं किया जा सका था। रूपार्थ में उपमा ऋ. 2/13/3 में भी है।

(10) *तद्वर्ण* : ऋग्वेद में 'वर्ण' शब्द भी उपमा-बोधक है। एक उदाहरण यह है :

**'अपान्नपात्सेदुहिरण्य वर्णः** —ऋ. 2/35/10

यह (अपान्नपात्) हिरण्यवर्ण (हिरण्य के समान स्वरूपवाला) है। यदि 'वर्ण' को उपमा-वाचक माना जाये तो यहां अपान्नपात् उपमान, हिरण्य उपमेय, वर्ण उपमावाचक होकर उपमा होगी। धर्म सुन्दर आदि लुप्त हैं।

एक अन्य निदर्शन :

**'तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्तीर्हिरण्यवर्णाः।**
**परियन्ति यह्वीः।।'** वही, 2/35/9

यहां भी धर्मलुप्ता उपमा है। निरुक्त में इन्हें रूपोपमा कहा गया है।

(11) *तद्वत्* : वत् न केवल वेद में ही अपितु परवर्ती आलोचनाशास्त्रों में भी उपमा वाचक शब्द माना गया है। उदाहरण निम्न है:

**'प्रियमेधवदविज्जातवेदो विरूपवत्।**
**आंगिरस्त्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधीहवम्।।'** वही, 1/45/3

यहां अग्नि की स्तुति की गयी है : 'हे बहुकर्मा जातवेदा प्रस्कण्व के आह्वान को उसी भांति सुनो, जैसे प्रियमेघ, अत्रि और विरूप नामक अंगिराओं के आह्वान को सुनते हो।' यह मालोपमा का सुन्दर उदाहरण है, क्योंकि यहां एक ही प्रस्कण्व के स्तुति की उपमा, प्रियमेधादि तीन उपमानों से दी गयी है। यहां वत् उपमा वाचक है, श्रवण सामान्य धर्म। इस प्रकार पूर्णोपमा है।

(12) *तथा* : तथा को भी वेद में उपमा वाचक माना गया है। इसका उदाहरण वरुण की इस स्तुति में है :

**'य आस्ते यश्चरित यश्च पश्यति नो जनः।**
**तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं तथा।।** वही, 7/55/6

'जो मनुष्य स्थित है, जो चलता है, जो हम लोगों को देखता है, उनकी इन्द्रियों को हम विनष्ट करते हैं, जैसे यह हर्म्य निश्चल है (उसी प्रकार सभी निश्चल हो जायें)।'

यहां जन उपमेय है, हर्म्य उपमान, निश्चलत्व साधारण धर्म और 'तथा' उपमा वाचक। परन्तु यहां उपमेय लुप्त है। अतएव इस उदाहरण को लुप्तोपमा मानना चाहिये। वस्तुतः जहां भी यथा आयेगा, वहां तथा अवश्य रहेगा यह सामान्यं नियम है। अन्यथा अविमृष्टविधेयाविमर्श दोष हो जाता है। 'निघण्टु' में तथा का उपमार्थ में परिगणन इस बात को सूचित करता है कि तथा उपमार्थीय भी हो सकता है क्योंकि कहीं-कहीं तथा के प्रयोग होने पर भी उपमा नहीं होती। जैसे यहां है :

**तथा तदस्तु सोमपाः सखे बज्रिन्तथा कृणु।**
**यथात उश्मसीष्टये।।** —ऋ. 1/30/12

'हे सोम पीने वाले ब्रजी मित्र मेरी अभिलाषा के लिये तुम्हारा अनुग्रह उस प्रकार से हो, जिस प्रकार मैं उसकी कामना करता हूँ।'

स्पष्ट है कि ऐसे कथन उपमा विधायक नहीं कहे जा सकते। किन्तु प्रथम उदाहरण के समान कथन में 'तथा' उपमार्थीय है। अतः निघण्टु का 'तथा' को उपमार्थीय कहना उपयुक्त ही है।

उपर्युक्त बारह उपमा-वाचकों के अतिरिक्त निरुक्तकार का यह भी कथन है कि 'था' भी उपमा[69] वाचक है। वस्तुतः प्रकार वचन में 'थाल्' प्रत्यय होता है, इसका समर्थन 'पाणिनि' ने भी किया है।[70] निरुक्तकार ने संक्षेपतः यास्कोक्त बारह निपातों में नु, न, चित्, आ, वत्, आदि का विवेचन करने का प्रयास किया है।

**निरुक्त में उपमा**

निरुक्त में यास्क ने गार्ग्य सम्मत उपमालक्षण भी दिया है। उनके अनुसार उपमा वहां होती है, जहां एक वस्तु दूसरी से भिन्न होते हुए भी उसके समान हो।[71] इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य ने उपमा के स्वरूप को और भी स्पष्ट किया है। 'जब स्वरूपतः भिन्न होते हुए कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के सदृश्य हो, तब उपमा होती

है। उदाहरण के लिये जैसे 'अग्नि के समान खद्योत है।' दुर्गाचार्य ने यह भी कहा है कि किसी वस्तु के दूसरी से भिन्न होने पर भी तद्गत भूयोधर्मवत्ता ही सदृशता है।[72] यास्क ने गार्ग्य के मत को और भी आगे बढ़ाते हुए कहा है कि उपमा में अधिक गुण वाले या अत्यन्त प्रख्यात उपमान के साथ कम गुण वाले या अप्रसिद्ध उपमेय का सादृश्य प्रस्तुत किया[73] जाता है। उत्कृष्ट गुण का उदाहरण दुर्गाचार्य ने 'सिंहो माणवकः' तथा प्रख्यात गुण उपमान का उदाहरण 'चन्द्र इव कान्तो माणवकः' दिया है।[74] उपमा का यह उपर्युक्त सामान्य लक्षण अविकल रूप से काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में ग्रहण कर लिया गया है। मम्मटादि के लक्षण इससे भिन्न[75] नहीं हैं। निघण्टु तथा निरुक्त के इस विवेचन से यह सपष्ट हो जाता है कि ई.पू. 700 के पहले से ही उपमा की शास्त्रीय रूपरेखा बन चुकी थी।

उत्कृष्ट गुण वाले या प्रख्यात उपमान से अनुत्कृष्ट गुण वाले या अप्रख्यात उपमेय से दी जानेवाली उपमा का उदाहरण ऊपर दिया गया है। यास्क ने वेद से और भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने स्वल्पगुणवाले उपमान से अधिक गुण उपमेय का भी उदाहरण प्रस्तुत किया है। यद्यपि इस प्रकार की उपमा परवर्ती काव्यशास्त्रों में 'हीनोपमा'[76] कही गयी है, परन्तु निरुक्तकार इस प्रकार की उपमा को उपमा का सुन्दर निदर्शन मानते हैं :

**'तनुत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभी रभ्यधीताम्।**
**इयन्ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथं शुचयदभिष्वंगः।।'**

—ऋ. 10/4/6

इस मन्त्र में आध्यात्मिकता और भौतिकता दोनों का समुचित विन्यास किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से यहां मनुष्य के लिये इन्द्रिय-संयम का उपदेश किया गया है कि दश रशनाओं अर्थात् दश इन्द्रियों से अपना निग्रह करना चाहिये। जिस किसी भी प्रकार से नहीं अपितु दृढ़ता के साथ। यहां जंगल में रहनेवाले तस्कर (लुटेरे) को उपमान बनाया गया है। जैसे वन में रहनेवाले लुटेरे, अपने प्राणों की भी बाजी लगाकर अत्यन्त क्रूरता के साथ, दूसरे के धन-अपहरण रूप कार्य का संपादन करते हैं, वैसे ही प्रेयोमार्ग के अभिलाषी पथिक को अत्यन्त दृढ़ता के साथ अपनी दशों इन्द्रियों का निग्रह तथा इन्द्रियसंयम द्वारा अपने जीवन रथ का सम्यक् प्रवर्तन करना चाहिये।

यद्यपि तस्करों को उपमान बनाने से यह दुर्गाचार्य आदि के मत से 'हीनोपमा' का उदाहरण है, किन्तु इन्द्रिय-निग्रह के लिये जिस दृढ़ता की अपेक्षा होती है, उसे

देखते हुए यह उपमान अत्यन्त उपयुक्त जान पड़ता है और यही कारण था कि निरुक्तकार ने इसे दोष स्वरूप न मानकर उपमा का उत्तम उदाहरण माना है। और उत्कृष्ट गुण उपमान कहा है। स्वल्पगुण उपमान का उदाहरण उन्होंने 'कोवां शयुत्रा विधवेव देवरं' को माना है।

जैसा कि पहले ही कह आये हैं, 'निरुक्तकार' ने निघण्टु प्रोक्त निपातों का विवेचन तो किया ही है, उन्होंने उपमा-भेदों का भी निरूपण प्रस्तुत किया है। यास्क ने पांच उपमा-भेदों का विवेचन किया है, वे निम्न हैं :

(1) *कर्मोपमा* : जहां 'यथा' शब्द उपमा वाचक होता है, वहां 'कर्मोपमा' होती है।[77] यास्क की व्याख्या में दुर्गाचार्य ने कहा है कि जहां कर्म से क्रिया की उपमा में यथा शब्द प्रयुक्त होता है वहां 'कर्मोपमा' होती है।[78] उदाहरण इस प्रकार है :

**'यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति'** —ऋ. 5/78/8

मन्त्र गर्भ के अनुमन्त्रण में प्रयुक्त है' जिस प्रकार वायु, वन और समुद्र कम्पित होता है (उसी प्रकार हे गर्भ! माता को कष्ट न देते हुए उदर से उल्व के साथ शीघ्र निकल आओ)।

यहां यथा शब्द प्रयुक्त है तथा वनादि और गर्भ रूप कर्म की उपमा क्रिया रूप साधारण धर्म के कारण हुई है, अतएव 'कर्मोपमा' है। इसी प्रकार ऋ., 10/90/11 तथा 1/50/3 में भी कर्मोपमा है।

(2) *भूतोपमा* : वहां होती है जहां 'भूत' शब्द-प्रयुक्त उपमा होती है अर्थात् उपमेय स्वयं[79] उपमान बन जाता है। इसका उदाहरण निघण्टु प्रकरण में दिया जा चुका है,[80] यास्क ने स्वयं 'मेष इति भूतोपमा' कहा है।

(3) *रूपोपमा* : वहां होती है, जहां उपमेय उपमान से स्वरूपतः साम्य रखता है।[81] निघण्टु प्रकरण प्रोक्त 'अग्निर्नये'[82] इत्यादि उदाहरण रूपोपमा के हैं। वहां मरुतों को तेज में अग्नि के समानं बताया गया है। तेज के कारण दोनों में स्वरूपतः साम्य होने से रूपोपमा है। 'रूपोपमा' रूप शब्द के प्रयोग में भी होती है। निरुक्तकार ने इसका उदाहरण निघण्टु प्रकारण में कहे गये, हिरण्यरूपः स हिरण्य संदृगपान्नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।[83] आदि को प्रस्तुत किया है। यहां अपान्नपात् (अग्नि) को स्वरूपतः हिरण्य जलवाली नदियों के समान कहा गया है, अतः रूपोपमा है। इसी प्रकार 'वर्ण' शब्द प्रयुक्त उपमा भी रूपोपमा[84] ही होती है, जैसे इसी उदाहरण में 'हिरण्यवर्णः' से होनेवाली उपमा है।

(4) *सिद्धोपमा* : जहां उपमान स्वतः सिद्ध तथा विशेष गुण या कर्म के द्वारा

अन्य वस्तुओं से बढ़कर होता है, वहां सिद्धोपमा होती है।[85] यह 'वत्' प्रत्यय-निष्पाद्य है।[86] इसका भी उदाहरण निघण्टु प्रकरण में दिया जा चुका है।[87] वहां प्रियमेघ, अत्रि, आदि प्रसिद्ध उपमान प्रयुक्त किये गये हैं अतएव सिद्धोपमा है। तथा वहां इवार्थ में 'वत्' भी प्रयुक्त है।

(5) *लुप्तोपमा* : अर्थोपमा को कहा जाता है।[88] अर्थोपमा इसे इसलिये कहते हैं क्योंकि वहां इवाादि लुप्त रहता है। दुर्गाचार्य ने स्पष्ट कहा है कि 'सिंहो पुरुषः' आदि में सिंह का गुण शौर्यादि उपमा का कारण है। उसका अभिधायक इवादि का कथन न होने के कारण (लुप्त होने के कारण) अर्थतः ग्रहण किया जाता है।[89] अतएव (लुप्तोपमा) 'अर्थोपमा' कही जाती है। 'सिंहः पुरुषः' आदि में पूजार्थक तथा 'श्वा पुरुषः' आदि में कुत्सार्थक उपमा है। यास्क की लुप्तोपमा (अर्थोपमा) ही बाद का 'रूपक' अलंकार है।[90]

इस प्रकार यथा, भूत, रूप, वर्ण, वत्, आदि निपात और लोप में होने वाली उपमा क्रमशः कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा तथा अर्थोपमा (लुप्तोपमा) कही जाती है। इन निपातों पर आधृत इन भेदों के कारण यह भी संभव है कि उपमा के ये भेद गार्ग्यमुनि से ही उद्भूत हों। ऐसी दशा में यह मानना ही पड़ेगा कि उपमा की शास्त्रीय धारणा, उत्तर वैदिककाल में विकसित हो चुकी थी।

**बृहद्देवता**

शौनक प्रणीत (ई.पू. 500) 'बृहद्देवता' में भी इव, न, चित्, तथा नु[91] को उपमा-बोधक निपातों में माना गया है। एक स्थल पर वहीं 'औपम्य' शब्द का प्रयोग[92] भी किया गया है।

**अष्टाध्यायी में उपमा**

सुप्रसिद्ध वैयाकरण महर्षि पाणिनि (ई.पू. 500) तक उपमा की न केवल शास्त्रीय व्यवस्था बन चुकी थी, अपितु उस पर विधिवत् गवेषणाएं भी प्रारंभ हो गयी थीं। अष्टाध्यायी में अनेकशः उपमान, उपमिति, सामान्य, उपमा, आदि शब्दों के अतिरिक्त औपम्य, उपमार्थ तथा सादृश्य शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग मिलता है। इसके अलावा कृत्, तद्धित्, समासान्त प्रत्यय, समास-विधान तथा स्वर प्रक्रिया में सादृश्य के कारण जो प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, उसका भी संकेत महर्षि पाणिनि ने लगभग पचास सूत्रों से अधिक में ही किया है। सूत्रसंख्या 2/1/55[93] तथा 2/1/56[94] में उपमान, सामान्य तथा उपमित शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्रथम

सूत्र का भाव यह है कि उपमान तथा सामान्यवचन या साधारण धर्म के वाचक शब्दों के प्रयोग में समास (तत्पुरुष, उपमित-समास) होता है। जैसे 'घन इव श्यामः घनश्यामः' में घन उपमान है, श्याम साधारण धर्म और उसका वाचक है इव शब्द। दूसरे सूत्र का अर्थ है कि साधारण धर्म के अप्रयोग होने पर भी पुरुष आदि उपमेय का व्याघ्रादि के साथ समास होता है। जैसे 'पुरुषः व्याघ्र इव इति पुरुषव्याघ्रः' में व्याघ्र उपमान है, पुरुष उपमेय, इव उपमा वाचक, किन्तु दोनों का सामान्य धर्म (शौर्यादि) अप्रयुक्त है, तथापि यहां समास होता है। इनके अतिरिक्त 5/4/97,[95] 5/4/137,[96] 3/1/10[97] तथा 3/2/19[98] सूत्रों में भी उपमान शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 2/3/72[99] सूत्र में भी उपमान शब्द आया है। सदृश, समान, सादृश्य, तुल्य, साधारण धर्म, सामान्य वचन, आदि जैसे उपमा में प्रयुक्त होने वाले तत्त्वों का पाणिनि ने अनेकधा प्रयोग किया है।

सर्वप्रथम व्याकरण के आधार पर उपमा-भेदों की प्रकल्पना उद्भट ने की है, जिसका आधार पाणिनि की अष्टाध्यायी ही थी। उपमा का श्रौतीआर्थी द्विधा विभाजन तथा पूर्णा, लुप्ता, कृत् तद्धित् और समास के आधार पर किये गये विभाजनों का मूल अष्टाध्यायी में वर्तमान है।

'तत्र तस्येव' (पा. 5/1/115) सूत्र से यह संकेत मिलता है कि जब षष्ठी के अर्थ में इव के लिये 'वत्' का प्रयोग होता है तब 'श्रौती' उपमा होती है। जैसे 'चैत्रवन्मैत्रस्य गावः' चैत्र की तरह मैत्र की गायें हैं। इसी प्रकार तृतीया के साथ तुल्यार्थ में 'वत्' होने पर भी उपमा आर्थी होती है।[100] इसका भाव यह है कि जहां किसी व्यक्ति या पदार्थ की क्रिया के समान क्रिया का बोध कराना अभीष्ट होता है, वहां इव के अर्थ में 'वत्' प्रत्यय होता है और उपमा आर्थी होती है। जैसे ब्राह्मण के तुल्य अध्ययन करता है, 'ब्राह्मणेन तुल्यमधीते ब्राह्मणवत्' में।

पाणिनि ने क्यङ्, क्यच् प्रत्ययों का भी प्रयोग किया है, जिनकी उपयोगिता 'लुप्तोपमा' के विभाजन में सिद्ध होती है। 'क्यच्' का प्रयोग कर्म और आधार अर्थ में किया जाता है। उपमान तथा कर्म सुबन्त से आचार अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय होता है।[101] जैसे 'पुत्रभिवाचरति पुत्रीयति छात्रम्' (छात्र के प्रति पुत्र के समान आचरण करता है)। मम्मट का इस प्रकार का उदाहरण है : 'पौरं जनं सुतीयसि'।

'क्यङ्' का प्रयोग कर्ता और आधार में होता है। उपमान सुवन्त[102] कर्ता से आचारार्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय होता है। जैसे 'कृष्णमिवाचरति कृष्णायते' (कृष्ण की तरह आचरण करता है)। मम्मट ने इसका उदाहरण 'रमणीयते श्रीः' (रमणी इवाचरति) दिया है। पाणिनि के इन विवेचनों से यह सिद्ध हो जाता है कि

ई.पू. पांच सौ तक उपमा का इतना विकास हो चुका था कि उसके भेदोपभेद भी प्रकल्पित किये जाने लगे थे।

**कात्यायन**

महर्षि कात्यायन (ई.पू. 350) ने अपने वार्तिक में तथा शान्तनव ने अपने फिट् सूत्रों (2/16, 4/18) में स्वर विधान पर पड़ने वाले सादृश्य-विधान के प्रभाव का विवेचन प्रस्तुत किया है।[103] कात्यायन के वार्तिक भी उपमादि अलंकारों की सिद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करते हैं। उनके वार्तिक प्रायः पाणिनि की अपूर्णता को बड़े ही सुन्दर ढंग से पूर्ण करते हैं। पाणिनि के सूत्र 2/4/71[104] पर वार्तिक में कात्यायन ने कहा है कि इव के प्रयोग में नित्य समास होता है, और विभक्ति का लोप नहीं होता।[105] जैसे 'कुम्भाविवस्तनौ (इसके स्तन कुम्भ के समान हैं)।' ऐसे स्थलों पर समासगा श्रौती पूर्णोपमा मानी गयी है। पाणिनि सूत्र (3/1/10) में कर्म से ही आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय करते हैं, परन्तु कात्यायन क्यच् का प्रयोग अधिकरण अर्थ में भी करते हैं।[106] जिस पर बाद की लुप्तोपमा का एक भेद (वादिलुप्ता) आश्रित है। साधारण धर्म और वादि के अप्रयोग में 'क्विप्' गत लुप्तोपमा का निर्देश करने का श्रेय भी कात्यायन को ही है। पाणिनि केवल कर्ता से आचार अर्थ में क्यङ् प्रत्यय करते हैं[107] जबकि कात्यायन सभी प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में 'क्विप्' भी करते हैं।[108] मम्मट ने इसका उदाहरण—'सविता विधवति विधुरपि सवितरति', आदि दिया है। इस प्रकार कात्यायन के वार्तिक पाणिनि-सूत्रों के पूरक तो हैं ही, उपमा के विकास में भी वे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

**महाभाष्य**

महाभाष्यकार पतंजलि (ई.पू. 150) ने अपने ग्रन्थ में उपमा पर सविस्तार प्रकाश डाला है। पाणिनि सूत्र 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (2/1/55) पर उन्होंने प्रश्न उठाया है कि जो उपमान होता है, क्या वही उपमेय भी हो सकता है? अथवा उपमान अन्य है, उपमेय अन्य? पुनः बहुत तर्क-वितर्क के बाद उन्होंने स्वयं ही समाधान प्रस्तुत किया है कि 'जहां कुछ अंश में सामान्य तथा कुछ अंश में विशेष होता है, वहां उपमानोपमेय भाव होता है।'[109] महाभाष्यकार की यह उक्ति अपने आप में उपमा स्वरूप का बोधक भी है, जिसका अनुसरण रुय्यक आदि ने भी किया है।[110]

उपमान में 'मान' शब्द की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने कहा है कि 'अनिर्ज्ञात अर्थ का ज्ञान करूंगा' ऐसी स्थिति में जहां अनिर्ज्ञात वस्तु के ज्ञान के लिये जो उपादान ग्रहण किया जाता है, उसे मान कहते हैं। और उपमान वह है, जो मान के समीप या समान होता है। वह किसी वस्तु का विशेष से नहीं, प्रत्युत सामान्य रूप से निर्देश करता है।[111] इसका उदाहरण है 'गौरिव गवयः'। 'गो' ज्ञात है तथा गवय अज्ञात। आलंकारिकों के अनुसार 'महाभाष्य' का यह उदाहरण चमत्कारशून्य होने के कारण उपमा का उदाहरण नहीं बन सकता,[112] तथापि शास्त्रीय और ऐतिहासिक दृष्टि से पतंजलि का यह उपमा-निरूपण महत्त्वपूर्ण है।[113]

महाभाष्य प्रोक्त 'मान' और उपमान को और भी स्पष्ट करते हुए प्रदीपकार कैयट ने कहा है कि मान के समीप होने के कारण उसे (उपमान को) उपमान कहा जाता है। यद्यपि यहां मुख्य सामीप्य नहीं होता तथापि परिच्छेदवश सामीप्य परिकल्पित किया जाता है, क्योंकि गो और गवय में कोई वास्तविक सामीप्य नहीं है।[114] भाष्यकार तथा प्रदीपकार दोनों के मतों को और भी अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है उद्योतकार नागेश ने। उन्होंने कहा है कि—'मान (प्रस्थादि) अनिर्ज्ञात अर्थ का पूर्णतया ज्ञापक होता है। किन्तु उपमान की स्थिति इससे भिन्न होती है। उपमान से अनिर्ज्ञात अर्थ की पूर्णतया प्रतीति नहीं होती, क्योंकि गाय अपने कुछ ही धर्मों से गवय की प्रतीति कराती है न कि सर्वांश में। वहीं नागेश ने यह भी स्पष्ट किया है कि भेदाभेद प्रतीति में ही उपमा होती है। 'चन्द्रेण तुल्यं मुखम्' इत्यादि में आर्थी उपमा की प्रतीति होती है, क्योंकि वहां भेद तथा अभेद की समान प्रतीति हुआ करती है।[115] रुय्यक का उपमा लक्षण इससे भिन्न नहीं है।[116] उद्योतकार ने वहीं 'उपमा' तथा अनन्वय का भेद भी दिखाया है। उन्होंने कहा है कि जहां दो वस्तुओं में उपमानोपमेय भाव की प्रतीति होती है, वहां उपमा होती है, उसके अभाव में अनन्वय।[117] उनका यह भी कथन है कि भाष्य में समीप शब्दहीनता का उपलक्षण है क्योंकि उप शब्द हीनार्थता का बोधक है।[118]

पाणिनि-सूत्र 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (2/1/56) के भाष्य पर प्रदीपकार ने सादृश्य का लक्षण इस प्रकार किया है—सादृश्य सामान्य को कहा जाता है, तथा गुण और वृत्ति (क्रिया) की भिन्नता रहने पर भी उसकी अभिन्न रूप में विवक्षा को सामान्य कहते हैं।[119]

पाणिनि के सूत्र 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (5/1/115) पर प्रदीपकार ने उपमान तथा उपमा को और भी अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि उपमान प्रसिद्धगुण, क्रिया वाला ही होता है, जैसे 'इसका मुख चन्द्रमा

के समान है।' शयितव्य के तुल्य शायक (सुलानेवाला) है यहां उपमा संभव नहीं है, क्योंकि क्रियावान् का उपमान क्रिया नहीं होती, इसका कारण है क्रिया और क्रियावान् का अत्यन्त भेद। भिन्न जातीयक क्रियाओं का भी उपमानोपमेय भाव संभव नहीं है, क्योंकि वहां भी अत्यन्त भेद रहता है, जैसे शयितव्य (शयन) के समान आसितव्य (बैठना) है। इसी प्रकार एक जातीयक का भी उपमानोपमेय भाव नहीं हो सकता जैसे शयितव्य (शयन करने) के समान शयितव्य है अथवा 'गाय के समान गाय है।' जिस पर गोत्वधर्म रूप हेतु के कारण प्रथम 'गौ' है, उसी के कारण दूसरी भी 'गौ' है, फिर इनमें उपमानोपमेयभाव कैसा? उपमानोपमेय भाव त्रितय के सान्निध्य में होता है—जिससे उपमा दी जाती है, जिसकी उपमा दी जाती है तथा उन दोनों का जो साधारण धर्म है।[120] उपमा में तीनों की अपेक्षा आवश्यक है। उद्योतकार ने भाष्यकार के मत को उपस्थित करते हुए प्रदीपकार के उक्त मत का समर्थन किया है और कहा है कि 'असत्वभूत शयितव्यादि क्रियाओं की उपमानता ही असंभव है।[121]

जहां तक उपमा के तीनों तत्त्वों के रहने का प्रदीपकार का कथन है वह तो उचित है और प्रायः सभी आलंकारिकों को मान्य भी है। भाष्यकार के कथन के अनुसार तिङन्त के साथ उपमान संभव नहीं है, यह आधार मानकर प्रदीपकार और उद्योतकार की प्रथम दो उक्तियों को उचित ठहराया जा सकता है किन्तु तीसरी उक्ति कि—एक जातीयक का उपमानोपमेय भाव नहीं हो सकता—यह मानना संभव नहीं है, क्योंकि अनन्वय अलंकार में तो एक जातीयक का ही उपमानोपमेय भाव हुआ करता है। मम्मट का 'नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव' यह उदाहरण यहां यह स्पष्ट बताता है कि एक जातीयक का उपमानोपमेय भाव संभव है। भले ही प्रदीपकार का कथन व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से उपयुक्त हो, किन्तु काव्यशास्त्र की दृष्टि से तो अनुपयुक्त ही है।

### भर्तृहरि

(600 ई. लगभग) भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में सविस्तार उपमान, उपमेय, साधारणधर्म तथा उपमा पर विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि जहां उपमान, उपमेय के सादृश्य की अभिन्न रूप में व्यपेक्षा होती है, वहां उपमा संभव नहीं है।[122] अपितु जहां कुछ अंश में सामान्य तथा कुछ अंश में विशेष होता है, वहां उपमा होती है।[123] जैसे गायों में गोत्व सामान्य है तथा शबलादि गुण विशेष। सामान्य को ही अभेद और विशेष को ही भेद कहा जाता है। महाभाष्यकार द्वारा

कथित, भर्तृहरि द्वारा समर्थित उपमा का यही स्वरूप मम्मट आदि ने भी स्वीकार किया है।[124]

आकृति या सामान्य में अवस्थित धर्म को विशेष कहा जाता है।[125] जैसे गाय में गोत्व तो सामान्य है, किन्तु उसमें अवस्थित धर्म 'शुक्लत्व', 'नीलत्व', आदि विशेष हैं, क्योंकि वह सामान्य गोत्व से उसे अलग करता है। सामान्य दोनों (उपमान और उपमेय) का समान या साधारण धर्म है, जैसे 'शस्त्री श्यामा देवदत्ता' में श्यामता शस्त्री और देवदत्ता दोनों में समान हैं।[126] भर्तृहरि का यह भी कथन है कि विशेष उपमान में सिद्ध तथा उपमेय में असिद्ध रहा करता है।[127] और उसे ही भेद भी कहा जाता है। यहां उन्होंने कुछ अन्य मत का भी सहारा लिया है। उनका कथन है कि अन्य मत के अनुसार विशेष उपमान में साधारण धर्म की संपूर्णता तथा उपमेय में साधारण धर्म की अपूर्णता में—अवस्थित रहता है।[128]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है पतंजलि ने—उपमान क्या है? इसका विवेचन किया है कि मान अनिर्ज्ञात वस्तु का ज्ञान है और जो मान के समीप या सामीप्य का बोध कराता है वह उपमान है।[129] भर्तृहरि भी इसी प्रकार कहते हैं कि जिससे अनिर्ज्ञात वस्तु का पूर्णतः ज्ञान हो जाये वह मान कहा जाता है। उदाहरणार्थ 'प्रस्थ', 'आढक', आदि मान से मेय (वस्तु या पदार्थ) का ज्ञान किया जाता है।[130] हेलाराज ने इसे और भी स्पष्ट किया है कि 'मान' वह है जिससे एक वस्तु का वर्णन या निश्चय किया जाता है। अर्थात् मान एक ऐसा साधन है, जिससे एक अनिश्चित वस्तु का पूर्णतः निश्चय किया जाता है। जैसे—प्रस्थ, खारी, आढक, आदि मान हैं।

अपने मान से निश्चित जात्यादि गुणाश्रय रूप में प्रसिद्ध जो वस्तु जात्यादि धर्मों को किसी अन्य वस्तु में निश्चित कराता है, तथा दो भिन्न वस्तुओं में जो कुछ अंशों में दूसरी वस्तु से सम्बन्ध रखता है, उसे उपमान कहते हैं।[131] जैसे 'शस्त्री श्यामा देवदत्ता' में शस्त्री का प्रसिद्ध श्यामत्व धर्म, देवदत्ता में अनिश्चित श्यामत्व धर्म का निश्चय कराता है, इसलिये शस्त्री यहां उपमान कहा जाता है, किन्तु यह देवदत्ता के केवल एक धर्मांश को ही निश्चित कराता है, क्योंकि देवदत्ता के श्यामता का ही शस्त्री के द्वारा निश्चय होता है, उसके अन्य धर्मों का नहीं।[132] भर्तृहरि ने भाष्यकार के इस कथन को भी अपनाया है—'तत्समीपे यत्रात्यन्ताय मिमीते तदुपमानम्' अर्थात् उपमान उसे कहते हैं जो किसी वस्तु का कुछ अंशों में ही निश्चय कराता है न कि पूर्ण रूप से तथा जो अपने धर्मों से उपमेय के समीप होता है वही उपमान है।[133] ध्यातव्य है कि भर्तृहरि यहां 'तत्' का दो अर्थ लेते हैं—एक 'उपमेय'

तथा दूसरा 'मान'। अतएव भाष्यकार के उक्त कथन का वे दूसरा व्याख्यान भी प्रस्तुत करते हैं, जो मान के समीप है या उसके सादृश्य के द्वारा प्रतीत होता है, वह उपमान है। यहां मान (उपमान) और उपमेय का सादृश्य परिच्छेद (सामीप्य) के कारण परिकल्पित किया जाता है।[134] आगे उनका कहना है कि उपमान प्रसिद्ध होने के कारण सदैव (उपमेय से) श्रेष्ठ या उत्कर्षयुक्त होता है, किन्तु समानता या उत्कृष्टता होने पर भी उपमेय हो सकता है, अर्थात् उपमेय भी समान या उत्कृष्ट हो सकता है।[135] इस पर हेलाराज का कथन है कि उपमान की श्रेष्ठता हो या न हो, वह वास्तविक नहीं होती। जैसे एक स्त्री, चांद से अपकृष्ट होती है, किन्तु जब उसका प्रेमी उसे चांद के समान या उत्कृष्ट कहता है, तो वहां उपमान उत्कृष्ट नहीं रह जाता।

भर्तृहरि पुनः कहते हैं कि जिस प्रकार कार्य सदैव कारणापेक्ष होता है, उसी प्रकार उपमान सदैव उपमेय की अपेक्षा रखता है। जिस प्रकार गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, क्रिया-काल, आदि व्यवहार अपेक्षा-निबन्धन है, वैसे ही औपम्य (उपमा) भी—(दो वस्तुओं—उपमान और उपमेय की) अपेक्षा-निबन्धन है।[136] भर्तृहरि की 406 और 407 की कारिका की व्याख्या में हेलाराज ने निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि उपमान और उपमेय समयानुसार अपने स्थान को परिवर्तित कर सकते हैं। उदाहरण के लिये—एक जांगल के लिये गवय प्रसिद्ध है। यदि उससे कहा जाये कि गाय (गौ) कैसी होती है, तो वह यही कहेगा, कि 'गौ' 'गवय' के समान होती है। उसके लिये गवय ही उपमान हो जाता है, और 'गौ' उपमेय। परन्तु एक नागरक के लिये यह प्रक्रिया ही विपरीत है, उसके लिये तो गौ ही प्रसिद्ध पदार्थ है।[137] इसलिये जब एक पदार्थ (उपमेय) उपमान बनता है, तो वह परिस्थितिवश प्रसिद्ध भी हो जाता है और वही सर्वथा प्रसिद्ध भी नहीं रहता। इस प्रकार उपमान भी सर्वथा प्रसिद्ध नहीं होता। समयानुसार वह प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों हो जाता है। परन्तु एक काल में ही कोई एक वस्तु प्रसिद्ध अप्रसिद्ध दोनों नहीं हो सकती[138] और न एक ही वस्तु उपमान-उपमेय बन सकती है। यह अवश्य है कि परिस्थिति विशेष में एक जगह एक ही वस्तु उपमान हो सकती है तो दूसरी जगह वही उपमेय भी। किन्तु उपमान सर्वथा प्रसिद्ध ही होता है, यह वनचर और नागरक के उदाहरण से स्पष्ट है, क्योंकि उनके किये जो प्रसिद्ध है, उसी का वे उपमान के रूप में प्रयोग करते हैं।

साधारण धर्म के विषय में उनका कहना है कि उपमान और उपमेय का जो समान धर्म है वही साधारण धर्म है।[139] यद्यपि उपमान और उपमेय दोनों का साधारण धर्म दो भिन्न वस्तुओं में रहने के कारण भिन्न होता है, किन्तु वह भेद

वाणी से कहा नहीं जा सकता। जाति की दृष्टि से वह धर्म अभिन्न है, किन्तु व्यक्ति की दृष्टि से भिन्न है। जैसे 'शस्त्री श्यामा देवदत्ता मे' श्यामत्व जाति की दृष्टि से दोनों में समान है, किन्तु व्यक्ति की दृष्टि से शस्त्री की श्यामता 'देवदत्ता' की श्यामता से अभिन्न नहीं हो सकती, दोनों में अवश्य ही भेद हो जाता है। व्यापक साधारण धर्म की भेद-अभेद की स्थिति में ही उपमा संभव है और यदि उपमान उपमेय के साधारण धर्म में केवल अत्यन्ताभेद हो, भेद न हो, या अत्यन्त भेद हो, अभेद न हो, तो उपमा संभव नहीं है। यदि जातिमात्र की व्यपेक्षा हो, जैसे—'शस्त्री श्यामा देवदत्ता' में यदि शस्त्री की श्यामता को जातिमात्र मान लिया जाये और उसे शस्त्री से अभिन्न समझा जाये, तो शस्त्री से देवदत्ता की तुलना नहीं हो सकती। क्योंकि शस्त्री का जो श्यामत्व है, ठीक वैसा ही श्यामत्व 'देवदत्ता' में असंभव है।[140]

प्रत्येक धर्म, जो कुछ वस्तुओं या पदार्थों में समान रूप से पाया जाता है, वह कुछ परिस्थिति या कारण विशेष के सम्बन्ध से भिन्न भी होता है तथा जाति की दृष्टि से समान भी होता है। यहां प्रश्न हो सकता है कि 'देवदत्ता' अपनी श्यामता के लिये मात्र 'शस्त्री' (छुरी) से ही क्यों तुलित किया गया, अन्य वस्तु की श्यामता से नहीं? यहां भर्तृहरि का कथन है कि उपमेय और उपमान के धर्म में पाया जाने वाला भेद उपमेय और धर्म की जाति भेद से भिन्न है। ठीक है कि 'शस्त्री' और देवदत्ता की श्यामता एक जैसी नहीं हो सकती और दोनों की श्यामता में भेद है भी, क्योंकि सामान्य श्यामत्व से देवदत्ता की श्यामता भिन्न है। परन्तु इन दोनों (उपमान उपमेय शस्त्री और देवदत्ता)[141] के धर्म भेद को शब्दों से कहना असंभव है अर्थात् यह भेद शब्द से अकथ्य है। इस प्रकार सामान्य दो प्रकार का हो जाता है, प्रथम है—महासामान्य, जिसमें व्यक्ति आदि भी आ जाते हैं और दूसरे में उपमान उपमेय आते हैं। शस्त्री और देवदत्ता का श्यामत्व दूसरी कोटि में ही आने योग्य है। दूसरे सामान्य का भी और भेद हो जाता है, जिसमें व्यक्ति विशेष उपमान के उत्कर्ष के लिये श्यामत्व आदि प्रयुक्त किये जाते हैं। उदाहरणार्थ जाति, उत्पल, आदि में सुगन्धित्व सामान्य है, किन्तु उसमें भी प्रत्येक पुरुष विशेष में एक सीमित समानता है, जो कि उसके सौरभ को लेकर है। उसी को लेकर कहा जाता है कि एक का सौरभ दूसरे के समान है।[142]

भर्तृहरि के अनुसार धर्मों में भेद चार कारणों से आता है—(1) उनके आश्रय के भेद से, (2) स्वतः या स्वभावतया, (3) अनिर्दिष्ट विशेष या कारण से तथा (4) अन्य गुणों के सम्मिश्रण से। उदाहरणार्थ, नीलकमल और तमालपत्र की श्यामता का भेद आश्रय-भेद से है। एक नीलकमल का दूसरे से भेद स्वभाव-भेद

के कारण है। बीतते समय के अनुसार मद्य में पाया जाने वाला भेद अकथ्य कारणवश है, तथा तेल में सेन्ट आदि मिला देने पर जो भेद आ जाता है, वह संकर या संमिश्रण के कारण होता है।[143] जब शस्त्री और देवदत्ता की तरह दो वस्तुओं में उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध होता है, तो उनका सामान्य धर्म श्यामत्व होता है, किन्तु जब शस्त्री और देवदत्ता के श्यामत्व का उपमानोपमेय भाव सम्बन्ध होता है, तो उस समय उनका सामान्य धर्म कान्ति, दीप्ति, आदि कुछ और ही होता है।[144] भर्तृहरि ने इस कथन को ब्रह्मकाण्ड में भी माना है।[145]

प्रश्न उठता है कि जो धर्म उपमेय में अवस्थित रहता है, वही उपमान में भी अवस्थित हो, यह कैसे संभव है? भर्तृहरि के अनुसार यह अनुमान से ज्ञात होता है। उपमेय में श्रुत धर्म का उपमान में अनुमान किया जाता है,[146] तथा उपमान में अवस्थित और कथित धर्म का उपमेय में अनुमान कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ 'ब्राह्मणवत् क्षत्रियाः अधीयते' इस कथन में 'क्षत्रियाः' और 'अधीयते' का बहुवचन यह निर्देश करता है कि अध्ययन रूप कार्य (क्रिया) धर्म उपमेय 'क्षत्रियाः' में अवस्थित है,[147] किन्तु वत् प्रत्यय की सहायता से उसका अनुमान ब्राह्मण में भी कर लिया जाता है। इसी प्रकार उपमेय में अवस्थित धर्म की उपमान में भी अनुमिति कर ली जाती है।

उपमान और उपमेय में अवस्थित साधारण धर्म को बतलाने वाला शब्द (वाचक इवादि) यह स्पष्टतया नहीं बताता है कि धर्म दोनों में समान (अभिन्न) या, भिन्न होगा। एक में अवस्थित वह श्रुति-वेद्य होता है तथा दूसरे में प्रतीयमान या गम्य।[148] तात्पर्य यह कि उपमान या उपमेय से सम्बन्धित शब्द स्पष्ट रूप में संकेत नहीं करता कि एक का धर्म दूसरे के समान है, या उससे अभिन्न है और न यही बताता है कि एक का धर्म दूसरे से भिन्न है। अन्यथा उपमान और उपमेय में कोई सम्बन्ध ही न हो सके। जैसे 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' इस उदाहरण में सुन्दर साधारण धर्म श्रुत्या मुख में और व्यंजनया चन्द्र में प्रतीत होता है। प्रश्न हो सकता है कि एक ही शब्द जो उपमान या उपमेय से विशेषण के रूप में सम्बद्ध रहता है, सामान्य धर्म का वाचक किस प्रकार हो सकता है, जबकि धर्म भिन्न होते हैं और दो भिन्न वस्तुओं में अवस्थित भी रहते हैं।[149] इस पर कुछ लोगों का विचार है कि वाचक शब्द उपमान उपमेय में अवस्थित सादृश्यमात्र की प्रतीति कराता है।[150] तथा कुछ अन्यों के अनुसार धर्म भिन्न होने पर भी उपमान उपमेय में अभिन्न रूप से ही विवक्षित रहता है।[151] अन्य लोगों का मत यह भी है कि यद्यपि शब्द (वाचक) उपमान या उपमेय से ही सम्बद्ध रहता है, तथापि यदि वह संकर न हो

तो दोनों के धर्मों की समानता को ठीक प्रकार से अभिव्यक्त कर देता है।[152]

आगे उन्होंने स्पष्ट कहा है कि धर्म (श्यामत्व आदि) उपमेय में अभिहित रहता है और उपमान में उसकी सामर्थ्यवश कल्पना या प्रतीति कर दी जाती है।[153] गुणादि दोनों (उपमेय उपमान) में भिन्न होने पर भी अभिन्न रूप से वर्तमान रहते हैं।[154] उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि 'कृत्वसुच्' प्रत्यय वाली 'शयितव्य' आदि क्रियाओं में, गुण गुणी, क्रिया क्रियावान्, द्रव्य द्रव्यवान्, आदि में भी उपमानोपमेय भाव असंभव है।[155] उपमानोपमेय के समान धर्म के एक होने पर उन्हें तुल्य कहा जाता है।[156] इसके बाद उन्होंने सादृश्यार्थ में 'वत्' के विधान का विवेचन किया है।[157] पुनः आगे चलकर भर्तृहरि ने उपमान, उपमेय और साधारण धर्म के सम्बन्ध पर सविस्तार प्रकाश डाला है।[158] कभी-कभी अनेक उपमानों से एक ही उपमेय का अभेद विवक्षित होता है, तो कभी अनेक उपमेय और एक उपमान का। जैसे 'गरुड हाथियों के समान है' यहां एक उपमेय (गरुड) की अनेक उपमानों (हाथियों) से उपमा दी गयी है। और 'मेघ शैल के समान हैं' यहां अनेक मेघों की एक शैल से उपमा दी गयी है।[159]

सादृश्य अर्थ में 'छः'[160] प्रत्यय के विधान किये जाने पर तथा 'कन्' प्रत्यय के प्रयोग होने पर भी 'काकतालीयं'[161] चंचत्कः बृहत्कः आदि में उपमा होती है, इसे भी भर्तृहरि ने प्रतिपादित किया है। आगे चलकर अप्पयदीक्षित ने इसी आधार पर उपमा के अतिरिक्त भेदों की कल्पना भी की है। इस प्रकार व्याकरण शास्त्र की समीक्षा होने पर भी वाक्यपदीय ग्रन्थ से न केवल उपमा की शास्त्रीय परिपुष्टि होती है, अपितु उसके विकास का यह एक प्रभूत आधार भी है। यही नहीं, उन्होंने 'तुम अपने ही सदृश हो' इस प्रकार जो लोक में कहा जाता है, वहां उपमानान्तर का व्यवच्छेद होता है,[162] ऐसा कहकर अनन्वय की भूमिका भी प्रदर्शित की है। भर्तृहरि के उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा इनके सम्बन्ध विवेचन पर कपिलदेव द्विवेदी ने अपने निबन्ध में प्रकाश डाला है।[163]

पाणिनि के सूत्र 2/1/55 पर वामन जयादित्य ने काशिका, वृत्ति में, हरदत्त ने पदमंजरी में और जिनेन्द्रबुद्धि ने 'न्यास' में भी विचार किया है। काशिकाकार ने कहा है कि जिससे तुलना की जाती है, उसे उपमान कहा जाता है।[164] तथा उप पूर्वक माङ् धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करके 'उपमान' शब्द निष्पन्न होता है। इस पर हरदत्त ने 'पदमंजरी' में कहा है कि उप पूर्वक माङ् धातु सादृश्य हेतुक परिच्छेद अर्थ में रूढ़ है, अतएव जिस वस्तु से दूसरी वस्तु का सादृश्य के कारण परिच्छेद होता है, उसे उपमान कहा जाता है।[165] 'न्यास' में जिनेन्द्र बुद्धि भी इसको मानते हैं।[166]

'सामान्य' की व्याख्या करते हुए काशिकाकार ने कहा है कि उपमान और उपमेय का समान धर्म ही सामान्य है। उदाहरणार्थ 'शस्त्रीश्यामा देवदत्ता, कुमुदश्येनी, हंसगद्गदा तथा न्यग्रोधपरिमण्डला' को उन्होंने प्रस्तुत किया है।[167] इसे स्पष्ट किया है पदमंजरीकार ने। उनका कथन है कि समान शब्द साधारण का पर्याय है। अतएव साधारण धर्म ही सामान्य है और वह उपमान उपमेय में ही रहता है।[168] आगे उन्होंने कहा है कि 'शस्त्रीश्यामा देवदत्ता' में श्याम गुण से विशिष्ट तथा प्रसिद्ध होने के कारण शस्त्री उपमान है, देवदत्ता उपमेय है, उन दोनों का साधारणधर्म श्यामत्व है। न्यासकार के अनुसार अनेक वस्तुओं में साधारण रूप से रहने वाला धर्म सामान्य कहा जाता है। उपमान के श्रुत होने से तथा उसके उपमेयोपेक्ष होने से दोनों के साधारण धर्म को ही यहां सामान्य कहा जाता है :

> **'सामान्यमनेकसाधारणं भवति, इहचोपमानस्य श्रुतत्त्वात्तस्य चोपमेयापेक्षत्वात् उपमानोपमेययोरेव साधारणोधर्म सामान्यं विज्ञायते। .......... कदा च ते सामान्यवचनाः भवन्ति, यदा सामान्यमभिधाय सामान्यविशिष्टे तद्वति द्रव्ये वर्तन्ते। तच्च सामान्यबहुपमानस्य सम्बन्धि-शब्दत्वादुपमेयमेव विज्ञायते।'**
> —वही, न्यास।

यद्यपि न्यासकार आदि का समय बहुत प्राचीन नहीं है, तथापि उनके मतों का विश्लेषण—यहां उपमा के 'व्याकरण-शास्त्र' में विकसित रूप को दिखाने के लिये किया गया है।

डॉ. एम.डी. परडेकर ने मनुस्मृति में आये हुए उपमालंकारों पर विस्तृत गवेषणा प्रस्तुत की है।[169]

### शिलालेखों में उपमा

शिलालेखों तथा अभिलेखों की भाषाओं का अध्ययन करने पर भी उपमा की प्राचीनता का पता लगता है। रुद्रदामन् (ई.स. 150) के गिरिनार शिलालेख में काव्य सम्बन्धी अनेक तत्त्व पाये जाते हैं। इस अभिलेख में क्षत्रप रुद्रदामा के वैशिष्ट्य का बखान करते समय उसे स्फुट, लघु, मधुर, चित्र, कान्त, शब्द, संकेत, उदार, अलंकृत, गद्य-पद्य का (ज्ञाता) तथा स्वर, ताल, रंग, व्याकरण, संगीत, न्याय, अर्थशास्त्र, आदि विद्याओं का पारंगत कहा गया है।[170] इस लेख से काव्य के गद्य-पद्य रूप द्विधा विभाजन का पता तो चलता ही है, स्फुटत्वादि काव्यगुण, चित्र तथा अलंकृत काव्य का भी पता चलता है। यही नहीं उक्त लेख में उपमा[171] तथा

यमक के उदाहरण तो प्राण्य ही हैं, भाषा भी लेख की स्फुटत्व आदि गुण गुम्फित तथा अलंकृत है। गिरिनार की ही भांति खारवेल के 'हाथी गुम्फा' शिलालेख तथा आन्ध्र नृपति श्री पुलुभावि के नासिक शिलालेख के प्राकृत गद्य में भी उपमा आदि अलंकारों के अच्छे निदर्शन प्राप्य हैं। नासिक शिलालेख में 'पुलुमावि' को हिमवान् और मन्दरगिरि के सदृश बलशाली, भास्कर विबोधित विमल कमल समान मुखवाला तथा परिपूर्ण चन्द्रमण्डल की भांति प्रियदर्शन कहा गया है।[172]

चौथी शताब्दी ई. सन् के हरिषेण के शिलालेख में समुद्रगुप्त की प्रशस्ति की गयी है। वहां उसे कुबेर, वरुण, इन्द्र तथा यम के समान बताया गया है तथा काव्य-क्रिया प्रतिष्ठित 'कविराज'[173] उपाधि से भी अलंकृत किया गया है। महाराज चन्द्र के महरौली लौहस्तंभ में उनके मुखश्री की उपमा चन्द्रमा से दी गयी है।[174] वत्सभट्टि विरचित कुमारगुप्त कालीन (वि.सं. 529) दशपुर के पट्टवायश्रेणि-शिलालेख में भी उपमा के अनेक सुन्दर उदाहरण प्राप्य हैं। इसमें तो 'उपमान' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इस लेख की मंजुल अलंकृत भाषा कालिदास की सुमनोहर पदावली से मिलती-जुलती है। दो-एक उदाहरण प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा। निम्न श्लोक में उदीयमान सूर्य की उपमा मत्तांगना के ताम्रवर्ण कपोल से दी गयी है :

**'यः प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्रविस्तीर्णतुंगशिखरस्खलितांशुजालः।**
**क्षीबांगनाजनकपोलतलाभिताम्रः पायात्स वः सुकिरणाभरणो विवस्वान्।।3।।**

'सुकिरणाभरण' में यहां रूपक भी है। दशपुर की अट्टालिकाओं का कितना भव्य चित्रण निम्न श्लोकों में किया गया है :

**'चलत्पताकान्यबलासनाथान्यात्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।**
**तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुलोपमानानि गृहाणि यत्र।।10।।**

'ऊपर पताकायें फहर रही हैं, अन्दर युवति-वृन्द विराजमान हैं तथा वे प्रासाद अत्युन्नत तथा अत्यन्त धवल हैं। इस प्रकार पताकाओं आदि से सुशोभित भव्य-भवन ऐसे प्रतीत हो रहे हैं, जैसे लहराती तडिल्लता से सुशोभित रंग बिरंगे मेघ खंड हों। यहीं 'उपमान' शब्द का सादृश्य के लिये प्रयोग किया गया है।

यशोधर्मकालीन दशपुर शिलालेख में भी उपमादि अलंकारों का समुचित विनिवेश किया गया है। दो श्लोकों में वसन्त-प्रभाव का सुन्दर वर्णन किया गया है। भाव इस प्रकार है 'वसन्त ऋतु में मधुर मृदुकंठी कोयल के मधुर आलाप कामदेव के तीक्ष्ण बाणों की तरह प्रवासियों के मन को छेद सा डालते हैं। वन-वन में गूंजती

भ्रमरों की मधुर गुंजार कामदेव से प्रकम्पित डोरी वाले धनुष टंकार की भांति गूंजती रहती है। प्रियतम से रूठी मानिनियों के नये पल्लव की भांति मुग्ध मानस को बहलता हुआ पवन उन्हें मान भंग करने के लिये विवश-सा कर डालता है।[175] इस प्रकार शिलालेखों में भी उपमा के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध होते हैं। ब्यूहलर ने अपने प्रख्यात निबन्धों में अभिलेखों की शैली पर प्रकाश डाला है।[176] लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ई. सन् चौथी शती तक उपमा का काफी विस्तार हो चुका था।

**दार्शनिक ग्रन्थों में उपमा**

बादरायण ने स्पष्ट रूप से 'उपमा' तथा रूपक शब्दों का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है।[177] इसका निर्देश अप्पयदीक्षित ने भी 'चित्र-मीमांसा' ग्रन्थ में किया है।[178] न्यायसूत्र 'सामीप्यमुपमानम्' (1/1/3) पर भाष्यकार वात्स्यायन भी उपमान का लगभग वही अर्थ करते हैं जो व्याकरण महाभाष्यकार पतंजलि ने किया है। मीमांसा-सूत्र के भाष्यकार शबरस्वामी ने आचार्य उपवर्ष के मत का उल्लेख करते हुए कहा है 'कि उपमान के द्वारा हमें किसी असन्निकृष्ट (असमीप) अर्थ की प्रतीति होती है, जैसे गवय को देखकर हमें गाय का स्मरण हो आता है।[179]

न्यायशास्त्र में उपमान एक प्रमाण माना गया है। यद्यपि 'कणाद' और 'कपिल' उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि वे वात्स्यायन-सूत्र (1/1/3) में 'सामीप्यमुपमानम्' के अनुसार उसे प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भूत करते हैं, परन्तु न्यायशास्त्र में इसकी स्थिति सर्वथा त्याज्य नहीं है। आगे चलकर भोज ने तो 'उपमान' को भी एक स्वतंत्र अलंकार मान लिया और अप्पयदीक्षित ने भी कुवलयानंद में इसको स्वीकारा है। ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में प्रकृति की उपमा एक प्रसिद्ध नटी से दी है, जिस प्रकार नटी रंगस्थ दर्शकों को अपना नृत्य दिखाकर अपने व्यापार से निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति भी अपने को एक बार पुरुष के समक्ष प्रकाशित कर पुनः प्रवृत्त नहीं होती।[180] वेदान्त दर्शन में तो उपमा के उदाहरण भरे पड़े हैं। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि उपमा के विकास में दर्शन-सिद्धान्तों का भी महत्त्वपूर्ण योग रहा है। डॉ. एस.के. दे के अनुसार उपर्युक्त तथ्य अलंकारों के विषय में सीधे कुछ भी नहीं कहते।[181] यद्यपि डॉ. साहब का यह कथन सत्य से परे नहीं है, तथापि कम से कम यह तो मानना ही पड़ेगा कि उपमादि अलंकारों में इनका अत्यन्त महत्त्व है। जैसा कि पहले ही कह चुके हैं, भोज प्रभृति आलंकारिकों ने 'उपमान' आदि दर्शनशास्त्रों के नीरस प्रमाणों को चमत्कार का बाना पहना कर अलंकार मान रखा है।

**लौकिक संस्कृत काव्यों में उपमा**

यद्यपि उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश से यह निश्चित हो जाता है कि ई. सन् के तृतीय या चतुर्थ शती तक उपमा का शास्त्रीय स्वरूप बद्धमूल हो चुका था, क्योंकि यास्क, पाणिनि, पतंजलि के कथन तथा लेखों आदि की सामग्री उपमा के शास्त्रीय ज्ञान पर प्रभूत प्रकाश डालती हैं और नाट्यशास्त्र-प्रणेता भरतमुनि का समय भी आ जाता है, तथापि काव्यग्रन्थों से भी उपमा के विकसित स्वरूप की परिपुष्टि होती है। अतएव संक्षेप में उनका भी निर्देश उपयुक्त होगा।

महर्षि वाल्मीकि प्रणीत 'रामायण' लौकिक संस्कृत का आदिकाव्य माना जाता है। इसमें रस, ध्वनि, गुण, आदि काव्य के अन्य तत्त्वों के अतिरिक्त अलंकार विशेषकर उपमा का अनुपद प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं तो मनोहारी उपमाओं की माला सी पिरो दी गयी है। केवल दो निदर्शन ही यहां दिये जा रहे हैं। एक स्थल पर कुपिता भूलुंठिता कैकेयी को कटी हुई लता, भू पर पड़ी हुई देवता, निर्धूता किन्नरी, च्युता अप्सरा, परिभ्रष्ट माया, संयत हरिणी तथा वन में रहनेवाली व्याध-विद्ध हथिनी के समान कहा गया है।[182] सुन्दर कांड में विरह विधुरा सीता का वर्णन अत्यन्त मर्मस्पर्शी तथा हृदयद्रावक है :

**उपवासकृशादीना निःश्वसन्ती पुनः पुनः।**
**ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम्।। 15/19।।**
**मन्दप्रख्यापमानेन रूपेण रुचिरप्रभाम्।**
**पिनद्धा धूमजालेन शिखामिव विभावसोः।। 15/20।।**
**पीतेनैकेन संवीता श्लिष्टेनैकेन वाससा।**
**सपंकामनलंकारां विपद्मामिव पद्मिनीम्।। 15/21।।**
**पीडितां दुःखसंतप्तां परिक्षीणां तपस्विनीम्।**
**ग्रहेणांगारकेणेव पीडितामिव रोहिणीम्।। 15/22।।** आदि।

वस्तुतः वाल्मीकि प्रयुक्त सुन्दर उपमानों को देखते हुए 'उपमा वाल्मीकेः' ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। रामायण में 'उपमा' शब्द का सादृश्य के लिये असंख्यबार प्रयोग किया गया है।[183]

महाभारत में भी उपमा की कमी नहीं है। कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। एक जगह स्वर्णालंकृत रथ में अवस्थित रणस्थल में युद्ध करते हुए दुर्योधन को हाथियों के झुंड में अवस्थित सिंह की भांति शोभायमान बताया गया है।[184] पुरुषों में प्रधान वीर चित्रवर्मा को राजाओं के मध्य में पद्म के समान कांतिवाला, स्वल्पधूम

वह्नि के समान तथा मेघान्तर में अवस्थित चमकते हुए सूर्य के समान कहा गया है।[185] दुःशासन अपने बलिष्ठ बाहुओं की उपमा हाथी के सूंड़ से देता है।[186] स्वयंवर में माल्यार्पण करती हुई द्रौपदी को जानकी, शची, स्वाहा, लक्ष्मी, उषा, रति, पार्वती, तथा दमयन्ती-तुल्य माना गया है और अर्जुन को राम, इन्द्र, अग्नि, विष्णु, सूर्य, कामदेव, शिव तथा नल-तुल्य कहा गया है।[187] यहां मालोपमा बड़ी सुन्दर बन पड़ी है। इसी प्रकार 1/18/23 में भीम और अर्जुन की तुलना कुमार, कार्तिकेय से की गई है। अन्य स्थल भी देखे जा सकते हैं।[188]

अश्वघोष के दोनों काव्यों (सौन्दरनन्द और बुद्धचरित) में उपमा के अतिरिक्त उत्प्रेक्षा, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, यथासंख्या, आदि अलंकार पाये जाते हैं।[189] दोनों ही काव्य अलंकृत शैली में निबन्धित हैं।

डॉ. ब्यूहलर का कथन है कि कालिदास की पूर्ण विकसित शैली अलंकार शास्त्र के विकास की ओर पूर्णतः संकेत करती है।[190] कालिदास ने अनेकशः उपमा,[191] उपमान,[192] उपमेय[193] प्रभृति शब्दों का सादृश्य अर्थ में प्रयोग किया है। कालिदास के विषय में 'उपमा कालिदासस्य' यह उक्ति चिरकाल से चली आ रही है। कालिदास के लिये प्रवर्तित यह उक्ति न केवल उपमा को ध्यान में रखकर कही गयी है, प्रत्युत उपमामूलक समासोक्ति अर्थान्तरन्यास प्रभृति अलंकारों के लिये भी लागू होती है, क्योंकि कालिदास की बेजोड़ उपमाओं के अतिरिक्त उनके ग्रन्थों में उपमामूलक अन्य अलंकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कविवर के ग्रन्थों में आये हुए सरस तथा सरल अलंकार अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य हैं। उनका काव्यों या नाटकों में आगमन बिना किसी प्रयास के ही हो गया है। सुबन्धु और बाण तक कविजन प्रधानतया लक्षणग्रन्थों के ही आधार पर रचना करने में प्रवृत्त हो चुके थे। यद्यपि दंडी का समय बाण के बाद आता है, किन्तु बाण के समय में ही अलंकारों का चतुर्दिक् विकास प्रारंभ हो गया था। सुबन्धु की वासवदत्ता में उपमादि अलंकारों का तो प्रचुर प्रयोग है ही, श्लेष, उत्प्रेक्षा, रूपक, आक्षेप, आदि का भी समुचित प्रयोग किया गया है। बाण की 'कादम्बरी' तथा 'हर्षचरित' में उपमा, दीपक, जाति (स्वभावोक्ति) श्लेष, अचरच्युतक, बिन्दुमती, गूढ-प्रहेलिका, आदि की ओर भी संकेत किया गया है। दंडी ने तो स्वयं काव्यशास्त्र ग्रन्थ की रचना भी की और 35 अलंकारों का विवेचन भी किया है। 'भारवि' तथा 'माघ' जैसे काव्य के प्रचंड विद्वानों से संस्कृत काव्य के माध्यम काव्यशास्त्र भी आलोकित हो उठता है। वस्तुतः 'भारवि' और 'माघ' की कृतियां काव्यशास्त्र को आधार मानकर ही निर्मित की गयी हैं। इस प्रकार रामायण से लेकर 'भारवि-माघ' तक काव्यों में भी उपमा का विपुल

प्रसार हो चुका था।

नाट्यशास्त्र प्रणेता भरत का समय ई. सन् छठी शती से कम नहीं माना जा सकता।[194] पांडुरंग वामन काणे प्रभृति विद्वानों के अनुसार नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ तृतीय या चतुर्थ शताब्दी में तैयार हो चुका था।[195] नाट्यशास्त्र का पोडष अध्याय काव्यलक्षण, अलंकार, गुण, दोष का विवेचन करता है। उसमें उपमादि चार अलंकारों का विवेचन है। यदि नाट्यशास्त्र ग्रन्थ का निर्माणकाल जैसा कि काणे ने स्वीकार किया है, तीसरी शती माना जाये तो उपमा की शास्त्रीय व्याख्या कम से कम ईसवी शती के आसपास प्रारंभ हो चुकी थी, यह मानना ही पड़ेगा, क्योंकि किसी सिद्धान्त को ग्रन्थ रूप पाने में कम से कम सौ, दो सौ वर्षों का समय लगना अनिवार्य है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिककाल में उपमा का मूल वैदिक ग्रन्थों में ही पड़ चुका था और उसकी काव्यशास्त्रीय गवेषणा ई. सन् के आसपास प्रारंभ हो गयी थी। यों तो निरुक्तकार यास्क से पूर्व गार्ग्य ने ही उपमा का लक्षण निर्मित कर दिया था, किन्तु ईसा के आसपास उपमा का काफी विकास हो चुका था।[196]

## उपमा-लक्षण काव्यशास्त्र में

विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उपमा के लक्षण को सामने रखकर उनका विवेचन उपयुक्त होगा।

*भरत* : यत्किंचित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया।। —ना.शा., 16/41

*भामह* : विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा।। —भामहालंकार, 2/30

*दंडी* : यथाकथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमानाम सा तस्याः प्रपंचोऽयं प्रदर्श्यते।। —काव्यादर्श, 2/14

*उद्भट* : यच्चेतोहारि सादृश्यमुपमानोपमेययोः।
मिथो विभिन्नकालादि शब्दयोरुपमातु तत्।। का.सा.सं., 2/32

*वामन* : उपमानोपमेययोः गुणलेशतः साम्यमुपमा। का.सू.वृ., 4/2/1

*रुद्रट* : उभयोः समानमेकं गुणाद्धि सिद्धं भवेद्यथैकत्र।
अर्थेऽन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा त्रेधा।। का.लं., रुद्रट, 8/4

*कुन्तल* : विवक्षितपरिस्पन्दमनोहारित्वसिद्धये।
वस्तुनः केनचित्साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा।। —व.जी., पृ. 197

*भोजराज :* प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता।। स.कं., 4/5
प्रसिद्ध्यनुरोधेनार्थयोमिर्थः प्रतीयमानाभिधीयमानभूयोऽ
वयवसामान्ययोग उपमा। —शृं.प्र., द्वितीय भाग, पृ. 409

*मम्मट :* साधर्म्यमुपमा भेदे — का.प्र., 10/1

*व्यास :* उपमा नाम सा यस्यामुपमानोपमेययोः।
सत्ता चान्तरसामान्ययोगित्वेऽपि विवक्षितम्।। अ.पुराण, 343/6

*रुय्यक :* उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा। अ.स., सूत्र-11

*शोभाकर :* उपमानोपमेययोः सादृश्यमुपमा।
यदुत्कर्षवतोऽन्येनतत्स्वरूपप्रतीतिकृत्।। —अ.रत्नाकर, 7

*नरेन्द्रप्रभसूरि :* भेदाभेदमनोहारि साधर्म्यं वर्ण्यवस्तुनः।
सर्वालंकृत्युपादानकारणं सोपमा स्मृता।। —अ.महो., 8/7-8

*हेमचन्द्र :* हृद्यं साधर्म्यमुपमा — काव्यानु. 6/1

*वाग्भट(1) :* उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा।
प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता।। वाग्भटालंकार, 4/5

*अजितसेन :* वर्ण्यस्य साम्यमन्येन स्वतःसिद्धेन धर्मतः।
भिन्नेन सूर्यभीष्टेन वाच्यं यत्रोपमैकदा।। —अ.चि., 4/18

*वाग्भट(2) :* चमत्कारि साम्यमुपमा। —काव्यानु., पृ. 33

*जयदेव :* उपमा यत्र सादृश्याल्लक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः। चन्द्रा., 5/11

*विद्याधर :* विलसति सति साधर्म्ये स्यादुपमानोपमेययोरुपमा।—एकावली, 8/2

*विद्यानाथ :* स्वतः सिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मतः।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदैकदोपमा।।—प्रता. रुदयशो., पृ. 254

*विश्वनाथ :* साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमाद्वयोः। —सा.द., 10/17

*अमृतानन्दयोगी :* यस्य येनास्ति सादृश्यं यस्मात्कस्मात्प्रकारतः।
उपमा नाम तस्योक्तिरिववद्वादिभिर्यथा।। —अ.सं., 5/20

*केशवमिश्र :* भेद सति साधर्म्य उपमा। —अ.शे., मरीचि 11

*अप्पयदीक्षित :* व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः।
क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालंकृतिस्तु सा।। —चि.मी., पृ. 68

कुवलयानन्द में जयदेवकृत चन्द्रालोक का ही लक्षण है।

*कर्णपूर :* यथाकथंचित्साधर्म्यमुपमा — अ.कौ., 8/1

*देवशंकर :* धर्मोपमानसादृश्योपमेयवाचकैः शब्दैः।
परिस्फुरति सादृश्यं स्पष्टं पूर्णोपमाहि सा।। अ.मंजूषा कारिका सं. 1

*चन्द्रशेखरकवि :* प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते।। —काव्यचन्द्रिका

*रामचन्द्रन्यायवागीश :* इवादिशब्दसादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमालंकृतिः सा हि — काव्यचंद्रिका।

*भावदेवसूरि :* साम्यमुपमा — का.सा.सं., 6/7

*नरसिंहकवि :* साधर्म्यं लोकसिद्धेन भिन्नेन कविसम्मतम्।
यदेकवाक्यवाच्यं स्यात्प्रकृतस्य मतोपमा।।नंजराजयशोभूषण, पृ. 160

*जगन्नाथ :* सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः।। —र.गं., पृ. 157

*विश्वेश्वर :* तत्रैकवाक्यवाच्यं सादृश्यं भिन्नयोरूपमा।। अ.कौ., पृ. 4, तु., अ.मु. 1
चमत्कारप्रयोजकं सादृश्यवर्णनमुपमा।। —अ.प्र., 1

*अच्युतराय :* यद्वाक्याज्जायते चारु सादृश्यं वर्ण्यमंजुनोः।
तत्त्वमत्रोपमात्वं स्यात् ब्रह्मेव शुचिवन्मनः।। —सा.सा., 8/22

*सर्वेश्वराचार्य :* साधर्म्यमुपमा प्रौढ़गुणवद्गुणवस्तुनोः।
द्विविधा सापि कथिता सर्वसाहित्यकोविदैः।। —सा.सा., 2/10

*पुंजराज :* गुणोत्कृष्टं प्रसिद्धं यदुपमानं तदुच्यते।
तन्न्यूनमुपमेयं स्यादेतयोस्तुल्यतोपमा।।
—शिशुप्रबोधालंकार/पुंजराज-यशोभूषण, 8/21

*छज्जूरामशास्त्री :* उपमा चारु सादृश्यमुपमानोपमेययोः। —सा.बि. 5/7

*वेणीदत्त :* भिन्नत्वे सति साधर्म्यमुपमानोपमेययोः।
सत्यमारोपितं वा स्यादुपमा सा प्रकीर्तिता।। —अ.मंजरी, 40

ऊपर के लक्षणों से यह स्पष्ट है कि कुछ आलंकारिक सादृश्य में उपमा मानते हैं, तो कुछ साधर्म्य में और कुछ साम्य में। भरत, दंडी, उद्भट, शोभाकर, जयदेव, अप्पयदीक्षित (कुवलयानन्द में), वाग्भट-1, अमृतानन्द, देवशंकर, रामचन्द्र, जगन्नाथ, विश्वेश्वर, अच्युतराय, छज्जूराम शास्त्री, आदि लक्षण में सादृश्य का प्रयोग करते हैं तो भामह, वामन, कुन्तक, अजितसेन, वाग्भट-2, विद्यानाथ, विश्वनाथ, चन्द्रशेखर, भावदेवसूरि, आदि साम्य का प्रयोग करते हैं, तो मम्मट, रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, हेमचन्द्र, विद्याधर, केशवमिश्र, कर्णपूर, सर्वेश्वर तथा वेणीदत्त साधर्म्य का और रुद्रट समानगुणत्व, भोजराज, अग्निपुराणकार सामान्य शब्द का प्रयोग करते हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि किन्हीं लक्षणों में उपमान

और उपमेय का प्रयोग किया गया है, तो किन्हीं में नहीं। किन्हीं लक्षणों में हृद्यत्व, सुन्दरत्व या चारुत्व जैसे शब्दों का निबन्धन किया गया है तो किन्हीं में भेदाभेद का और किन्हीं में मात्र भेद का। हृद्यत्व तथा वाक्यार्थोपस्कारक शब्दों का लक्षण में विन्यास आवश्यक नहीं है, क्योंकि सौन्दर्य सभी अलंकारों का सामान्य गुण है।[197]

**सादृश्य और साधर्म्य**

लक्षणों में प्रधानतः सादृश्य और साधर्म्य का उपयोग किया गया है, अतः उनका विवेचन आवश्यक है। साधर्म्य सम्बन्ध विशेष को कहते हैं।[198] सम्बन्ध प्रतियोगी और अनुयोगी दो प्रकार का होता है। साधर्म्य का साधारण धर्म प्रतियोगी होता है और उपमान उपमेय अनुयोगी। इस प्रकार साधारण धर्म के प्रतियोगी तथा उपमान उपमेय दोनों के अनुयोगी सम्बन्ध को साधर्म्य कहा जाता है। जिस वस्तु का किसी से सम्बन्ध हो उसे अनुयोगी कहते हैं—'यस्य सम्बन्धः स अनुयोगी' उदाहरणार्थ 'चन्द्रमिव सुन्दरं मुखम्' में आह्लादकत्व आदि साधर्म्य का सम्बन्ध मुख और चन्द्र दोनों से है अतएव वह दोनों अनुयोगी धर्म है। जिस धर्म का अभाव हो उसे प्रतियोगी कहते हैं, 'यस्याभावः स प्रतियोगी' जैसे—पूर्वोक्त उदाहरण में ही मुख और चन्द्र में 'आह्लादकत्व' रूप साधर्म्य है, उसका 'सुन्दरत्व' आदि साधारण धर्म प्रतियोगी है, क्योंकि उसका वहां अभाव है। जिस प्रकार 'राज्ञः पुरुषः' में राजा प्रतियोगी तथा पुरुष अनुयोगी है, उसी प्रकार साधर्म्य का साधारण धर्म प्रतियोगी तथा उपमान उपमेय अनुयोगी होता है। परन्तु सादृश्य-उपमान के प्रतियोगी और उपमेय के अनुयोगी सम्बन्ध को कहा जाता है। 'चन्द्रमिव सुन्दरं मुखम्' इस उदाहरण में उपमान चन्द्र का 'सुन्दरत्व' रूप सादृश्य से सम्बन्ध नहीं है, अतएव यहां उपमान सादृश्य का प्रतियोगी है। और उपमेय मुख का 'सुन्दरत्व' से सम्बन्ध होने के कारण वह सादृश्य का अनुयोगी है। इस प्रकार सादृश्य और साधर्म्य दोनों में स्पष्ट भेद है।[199]

नव्य तार्किक सिद्धान्त-हानि के भय से सादृश्य को द्रव्यादि सात पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानते।[200] उनके अनुसार सादृश्य और साधर्म्य एक ही है। भिन्न वस्तुओं में धर्म या धर्मों की साधारणता के आधार पर सादृश्य का उपादान किया जाता है—'सादृश्यं च तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्वम्।'[201] जैसे—'मुख चन्द्रमा के समान है' यहां मुख और चन्द्र दोनों भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु उन दोनों में सुन्दरता, आह्लादकता, आदि साधारण धर्म एक समान हैं। अतएव दोनों में सादृश्य है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सादृश्य में दो वस्तुएं होती हैं—भेद और

धर्मों की साधारणता। धर्मों की साधरणता को अभेद भी कह सकते हैं। इस प्रकार सादृश्य में भेद और अभेद दोनों की स्थिति रहती है। जिस प्रकार अभेद की स्थिति धर्मों के रूप में होती है, वैसे ही भेद का भी अवस्थान धर्म के रूप में ही संभव है। इन्हीं अभेद और भेद को साधारण तथा असाधारण धर्म भी कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि सादृश्य में कुछ धर्म साधारण होते हैं और कुछ असाधारण। धर्मों की साधारणता को ही सामान्य और असाधारणता को विशेष कहा जाता है। इस प्रकार सादृश्य में सामान्य और विशेष दोनों ही तत्त्व रहते हैं, और इसलिये—यत्र किंचित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः' महाभाष्यकार पतंजलि और रुय्यक[202] के कथन का यही तात्पर्य भी है। सामान्य ही साधर्म्य है और विशेष ही वैधर्म्य। अतः साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों ही सादृश्य के विषय हैं। उदाहरणार्थ 'गौरिव गवयः' में गौ तथा गवय में कुछ धर्मों के कारण साधर्म्य है तथा कुछ धर्मों के कारण वैधर्म्य। अतएव इसे सादृश्य का उदाहरण कहा जा सकता है। उक्त विवेचन के बाद सादृध्य और साधर्म्य के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों को एक मानने का नव्यतार्किकों का मत समीचीन नहीं है। साधर्म्य में केवल अवयव सामान्य पर ध्यान रखा जाता है, परन्तु सादृश्य में अवयव विशेष पर भी। प्रथम में केवल साधारणता की प्रतीति होती है, द्वितीय में असाधारणता की भी। अतः दोनों में भेद स्पष्ट है।

आचार्य वामन झलकीकर ने 'काव्यप्रकाश' की टीका में साधर्म्य की परिभाषा इस प्रकार की है 'समानः एकः तुल्यो वा धर्मो गुणक्रियादिरूपयोः ययोः (अर्थादुपमानोपमेययोः) तौ सधर्माणौ, तयोर्भावः साधर्म्यम्।'[203] पुनः आगे उन्होंने कहा है—'उपमानोपमेययोः समानेन धर्मेण सह सम्बन्धः इत्यर्थः।'[204] यहां 'सहयुक्तेऽप्रधाने (पा. 2/3/19) इति पाणिनिसूत्रेण तृतीयेयम्' ऐसा कहकर वे 'समानेन धर्मेण सह' का अर्थ 'समानधर्म के साथ' लेते हैं। सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानने वाले इससे सहमत नहीं हैं। 'उपमानोपमेययोः समानेन धर्मेण सम्बन्धः' तो इन्हें स्वीकार है, मम्मट भी मानते हैं।[205] परन्तु 'समानेन धर्मेण' का अर्थ ये विद्वान् 'समानधर्म के साथ' न लेकर 'समानधर्म के कारण' लेते हैं।[206] वस्तुतः दो वस्तुओं में समान या साधारण धर्म का होना साधर्म्य है।

सादृश्य तथा साधर्म्य के द्वारा उपस्थित चित्रों में भी भेद है। सादृश्य का क्षेत्र साधर्म्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। साधर्म्य में हमें दो या अधिक वस्तुओं के साधारण धर्म का दर्शन होता है, सादृश्य में साधारण धर्म के अतिरिक्त और भी धर्म मिले रहते हैं। इस दृष्टि से सादृश्य में दो वस्तुओं का एक सामूहिक और विस्तृत

चित्र दिखाई पड़ता है। समान देखी जानेवाली दो वस्तुओं में हम सर्वप्रथम उनमें कोई साधारण (समान) धर्म देखते हैं। यह साधर्म्य का चित्र है। उसके बाद हमारे सामने उन धर्मों का सामूहिक चित्र उपस्थित होता है। इस दशा में धर्मों का पृथक् ज्ञान नहीं होता, यह वस्तुओं के अन्य गुणों से घुलामिला हुआ रहता है। इन घुलेमिले चित्रों में सादृश्य-प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ 'गौरिव गवयः' में पहले गौ और गवय के साधारण अवयव दिखाई पड़ते हैं इसके बाद दोनों का एक सामूहिक चित्र हमारे सामने आता है, जहां साधारण धर्म की पृथक् प्रतीति नहीं होती।

धर्म धर्मी में रहने वाला आन्तरिक गुण है और दृश्य बाह्य है। धर्म के लिये धर्मी का आधार आवश्यक है, दृश्य के लिये आधार की अपेक्षा नहीं है। एक अन्तरिन्द्रिय का विषय है तो दूसरा बाह्येन्द्रिय का। इसलिये जब हम यह कहते हैं कि 'इसका मुख चन्द्रमा के समान है' तो वहां साधर्म्य की अपेक्षा से ही ऐसा कहते हैं, सादृश्य की अपेक्षा कम ही रहती है, क्योंकि दृश्यमान चन्द्रमा के स्वरूप से तो मुख की कोई भी तुलना संभव नहीं है। मुख और चन्द्र की तुलना तो उभयगत आह्लादकता के कारण है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि उपमा यहां साधर्म्य के कारण है, परन्तु वैधर्म्य भी यहां है, इसे नहीं भूलना चाहिये, वह है मुख और चन्द्र की स्वरूप भिन्नता। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सादृश्य या दृश्य बाह्येन्द्रिय का ही विषय है। सदृश वस्तुओं का स्वरूप या सादृश्याधायक धर्म जिस इन्द्रिय का विषय होता है, उन वस्तुओं का सादृश्य भी उसी इन्द्रिय का विषय होता है। जब वाणी को कोयल की कूक के समान कहा जाता है, तो सादृश्य कर्ण का विषय होता है, परन्तु सादृश्य की अवस्था में वाणी का जो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, उसमें साधारण धर्म माधुर्य भी रहता है।

यहां यह सन्देह हो सकता है कि 'गौरिव गवयः' जैसे सादृश्य-स्थल में साधारण धर्म के अभाव के कारण भले ही कुछ अंश में सादृश्य और साधर्म्य का भेद प्रतीत हो, किन्तु 'मुख कमल के समान सुन्दर है' ऐसे स्थलों में मुख तथा कमल के सौन्दर्य-सम्बद्ध चित्र सादृश्य के द्वारा हमारे सामने आते हैं। सादृश्य यहां सौन्दर्य के रूप में है और साधर्म्य भी सौन्दर्य के ही रूप में होगा। फिर तो सादृश्य और साधर्म्य में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता? बात ऐसी नहीं है। यहां हमारे सामने मुख और कमल का जो सौन्दर्य चित्र आता है, उसमें अन्तर है। दोनों का सौन्दर्य सर्वथा समान न होकर सजातीय है। सौन्दर्य सामान्य की दृष्टि से तो यहां साधारणता हो सकती है, किन्तु प्रकार दृष्टि से भेद है। इस प्रकार यहां सादृश्य और साधर्म्य के चित्रों में भेद अवश्य है। प्रश्न यह भी हो सकता है कि कल्पना की स्थिति में यह

भेद-प्रतीति नहीं हो सकती। कल्पनालोक में मुख और कमल या चन्द्रगत सौन्दर्य सर्वथा एक समान प्रतीत होता है, अतः उस दशा में साधर्म्य तथा सादृश्य के चित्रों में भेद-ज्ञान भले ही परिलक्षित न हो, किन्तु उनके सैद्धान्तिक भेद में कोई अन्तर नहीं पड़ता। साधर्म्य सादृश्य का कारण अवश्य है परन्तु साधर्म्यज्ञान सादृश्यज्ञान से भिन्न है। सादृश्यज्ञान साधर्म्यज्ञान के पश्चात् होता है और सादृश्यज्ञान में साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्यज्ञान भी निहित रहता है।

रूपक आदि अलंकारों में सादृश्य वाच्य न होकर गम्य होता है। यदि साधर्म्य और सादृश्य को भिन्न पदार्थ नहीं माना जायेगा तो साधारण धर्म के उपादान में अलंकारों की सादृश्य व्यंग्यता में अवरोध उत्पन्न हो जायेगा, क्योंकि रूपक, दीपक, आदि अलंकारों में अनेक बार साधारण धर्म का निर्देश तो रहता है, फिर भी सादृश्य व्यंग्य माना जाता है। सादृश्य और साधर्म्य को एक मानने से यहां भी विघ्न उपस्थित हो जायेगा[207] क्योंकि साधारण धर्म का निर्देश होने पर साधर्म्य वाच्य होता है और सादृश्य व्यंग्य। यदि साधर्म्य और सादृश्य एक होते तो सादृश्य को भी वाच्य होना चाहिये था। कहा जा सकता है कि साधर्म्य सादृश्य से भिन्न है और सादृश्य का कारण है, तो अलंकारों को सादृश्यमूलक न कहकर साधर्म्यमूलक ही कहना चाहिये? वस्तुतः काव्य में वस्तुओं का सामूहिक और संश्लिष्ट चित्रण किया जाता है, एकाध धर्म का नहीं। इस प्रकार के चित्र के निकट सादृश्य ही है। अतः अलंकारों को सादृश्यमूलक कहा जाता है।

डॉ. वी.एम. कुलकर्णी के अनुसार प्राचीन आलंकारिक सादृश्य तथा साधर्म्य को एक मानते थे।[208] यह उक्ति युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साधर्म्य सादृश्य का कारण है और साधर्म्य तथा वैधर्म्य के मिश्रण से बने हुए सादृश्य में उसके एक प्रमुख तत्त्व के रूप में साधर्म्य भी रहता ही है। इसलिये सादृश्य और साधर्म्य को भिन्न मानते हुए भी यह संभव है कि कुछ आलंकारिक उपमा में साधर्म्य का प्रयोग उचित माने और कुछ सादृश्य का। साधर्म्य में उपमा मानने वाले मम्मट आदि अनेक आचार्यों ने अपने लक्षण में 'भेद' या इसी के समान अर्थ वाले अन्य शब्दों का भी सन्निवेश किया है।[209] मम्मट के 'साधर्म्यमुपमाभेदे' उपमा के इस लक्षण में 'भेद' शब्द का ग्रहण न केवल अनन्वय के व्यवच्छेद के लिये किया गया है, अपितु 'भेद' ग्रहण यह भी सिद्ध करता है, कि उपमा में साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य (भेद) प्रतीति भी आवश्यक है। कुछ लोग मम्मट की निम्न उक्तियों को सादृश्य तथा साधर्म्य की एकता का प्रतीक मानते हैं :

**'असादृश्यसंभवावप्युपमायामनुचितार्थायामेव पर्यवस्यतः।**

यथा

**'ग्रन्थामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम्' अत्र काव्यस्य शशिना, अर्थानां च रश्मिभिः साधर्म्यं कुत्रापि न प्रतीतमित्यनुचितार्थत्वम्।'**

—का.प्र., पृ. 783

दोनों के ऐक्य समर्थकों का कहना है कि उपर्युक्त श्लोक उपमा के असादृश्य दोष का उदाहरण है। मम्मट का अभिप्राय यह है कि यहां वस्तुओं (काव्यशशि और अर्थरश्मि) में सादृश्य नहीं है। श्लोक की व्याख्या में मम्मट का कथन है कि 'यहां काव्य का शशि से अर्थ का रश्मि से कोई तात्पर्य नहीं है।' अतः मम्मट सादृश्य और साधर्म्य को एक मानते हैं। ऐक्यवादी का यह तर्क सारहीन प्रतीत होता है। मम्मट को असादृश्य दिखाना यहां अभीष्ट अवश्य है, परन्तु असादृश्य तभी होगा जब साधर्म्य का अभाव हो। सादृश्य का अभाव दिखाने के लिये उसके कारणभूत साधर्म्य का अभाव दिखाना आवश्यक है। मम्मट ने यही किया है। उनका अभिप्राय सादृश्य और साधर्म्य को एक मानने का नहीं है।[210]

मम्मट आदि आचार्य उपमा का श्रौती तथा आर्थी विभाजन इवादि और तुल्यादि के आधार पर करते हैं।[211] इवादि के प्रयोग में उपमा श्रौती तथा तुल्यादि के प्रयोग में आर्थी होती है। यह कथन भी प्रकारान्तर से सादृश्य और साधर्म्य का भेद प्रकट करता है, क्योंकि इवादि की शक्ति साधर्म्य में है, तुल्यादि की सादृश्य में। इवादि के प्रयोग में साधर्म्य शाब्द होता है और सादृश्य आर्थ। तुल्यादि के प्रयोग में सादृश्य शाब्द होता है और साधर्म्य आर्थ।[212] नागेश ने 'लघुमंजूषा' में कहा भी है :

**'इवादियोगे साधारणधर्मसम्बन्धरूपोपमा वाच्या सादृश्याप्रतीतिस्त्वार्थी। सदृशादिप्रयोगेसादृश्यप्रतीतिः शाब्दी उपमा त्वार्थी।'**[213]

ऐक्यवादी के अनुसार साधर्म्य और सादृश्य को एक मानने के लिये और भी आधार सुलभ हैं। उनके अनुसार इवादि का अर्थ सादृश्य होता है तथा तुल्यादि का सदृश।[214] इवादि का अर्थ साधर्म्य ही न होकर सादृश्य भी होता है :

(1) यथेवशब्दौ सादृश्यमाहतुर्व्यतिरेकिणोः। —भामह, 2/31

(2) यथाऽसादृश्ये। —पा. 2/1/7

(3) साक्षात्सादृश्यप्रतिपादक इवादिशब्दानां प्रयोगे श्रौती। धर्मिव्यवधानेन सादृश्यप्रतिपादकानां सदृशसंकाशनीकाशप्रतीकाशाशिब्दानां प्रयोगे

आर्थी।—प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ. 257-58, तु. नंजराजशोभूषण, पृ. 161

ऐक्यवादी इन उपर्युक्त कथ्यों को उपस्थित करता है।

उक्त मत उपयुक्त नहीं है। सादृश्य ज्ञान होने पर ही वस्तुओं को सदृश समझा जाता है। इस प्रकार जहां वस्तुओं को सदृश समझा जाता है, निश्चय ही वहां सादृश्य रहता है। यदि सदृश शब्द के प्रयोग से वस्तुओं को सदृश नहीं माना जायेगा तो इव के ही प्रयोग से क्यों सादृश्य ज्ञान स्वीकारा जाये? वस्तुतः सादृश्य ज्ञान का कारण साधर्म्य है। ऐक्यवादी इस तथ्य को परिलक्षित नहीं कर पाता है। अतएव सादृश्य ज्ञान और सदृश वस्तुओं के ज्ञान में भेद करता है। सादृश्य भिन्न तत्त्व है, और साधर्म्य भिन्न इसका समर्थन बालबोधिनी के टिप्पणी में रघुनाथ शर्मा ने भी किया है।

**'अस्मन्मते सादृश्यं भिन्नं साधर्म्यं च भिन्नं, साधर्म्यमेव चोपमा, यथादि शब्दप्रयोगस्थले साधर्म्यं शब्दशक्त्या प्रतीयते, तुल्यशब्दप्रयोगस्थले तु तुल्यादिशब्दानां सादृश्यवति शक्तेः सादृश्यस्य साधारणधर्मसम्बन्धं विनानुपपत्त्या साधारणधर्मसम्बन्धरूपं साधर्म्यमर्थादाक्षिप्यते। इति श्रौत्यार्थी चेति विभाग उपपद्यते।'** —टिप्पणी, बा.बो., पृ. 543

**लक्षण-विश्लेषण**

उपमा का लक्षण करते समय जिन आचार्यों ने अपने लक्षण में सादृश्य का ग्रहण नहीं किया है, उन्होंने भी 'भेद' 'वैधर्म्य' या इनके समानार्थी अन्य शब्दों का सहारा लिया है। अतः जैसा कि पहले ही कह चुके हैं 'उपमा, साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों की समान प्रतीति में होती है' उपमा का यह लक्षण साधर्म्य तथा सादृश्यप्रयुक्त दोनों प्रकार की परिभाषाओं में घटित होता है, क्योंकि सादृश्य में साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों ही रहते हैं। और इस प्रकार आचार्यों के दोनों ही प्रकार के लक्षण उपयुक्त हैं।

उक्त दृष्टि से भरत और भामह का लक्षण उपयुक्त है। दंडी ने 'जिस किसी भी प्रकार से सादृश्य की प्रतीयमानता' में उपमा स्वीकार की है। प्रतीयते[215] का 'रत्न श्री' टीका में 'गम्यते' अर्थ किया गया है, यदि वास्तव में दंडी का यही अभिप्राय है, तो निश्चय ही उनका लक्षण दुष्ट है, क्योंकि उपमा में सादृश्य वाच्य होता है न कि व्यंग्य।

उद्भट के टीकाकार इन्दुराज ने स्पष्ट कहा है कि उपमान और उपमेय का सादृश्य द्वारा साधर्म्य सम्बन्ध ही उपमा है :

**'उपमानोपमेययोर्यत्साधर्म्यं समानोधर्मः तेन धर्मेण सम्बन्धो यः सा उपमानोपमेययोः सादृश्यद्वारेण सामीप्यपरिच्छेद हेतुत्वादुपमा।'**

—लघुवृत्ति, पृ. 16

वामन की परिभाषा में साम्य के अतिरिक्त 'गुणलेश' का ग्रहण वैधर्म्य का सूचक है। गोपेन्द्रतिप्पभूपाल ने 'कामधेनु' में लेश[216] का अर्थ एकदेश किया है, क्योंकि सम्पूर्ण रूप से सादृश्य का मिलना असंभव है। इसी प्रकार भोज के लक्षण में 'अवयव सामान्य' का ग्रहण—सादृश्य में या साधर्म्य वैधर्म्य दोनों में ही उपमा संभव है, इस बात का परिचायक है। इसी प्रकार अन्य आचार्यों के भी लक्षण परिलक्षितव्य हैं।

कुछ आचार्य ऐसे भी हैं, जो केवल साधर्म्य या साम्य मात्र में उपमा स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिये हेमचन्द्र, वाग्भट (द्वितीय), विद्याधर, कर्णपूर, चन्द्रशेखर, भावदेवसूरि, सर्वेश्वर, आदि का लक्षण लिया जा सकता है। वस्तुतः इन आचार्यों ने साधर्म्य को त्रिधा विभक्त किया है। प्रथम है भेदप्रधान, जैसे व्यतिरेक आदि में। द्वितीय है अभेद प्रधान, जिसमें रूपक आदि आते हैं और तृतीय है, भेदाभेद प्रधान,[217] जिसके अन्तर्गत उपमा आदि अलंकार आते हैं। इस प्रकार मात्र साधर्म्य या साम्य में उपमा मानने वाले आचार्यों के लक्षण का भी व्याघात नहीं होता।

मम्मट आदि कुछ आलंकारिकों ने अपने लक्षण में 'उपमान-उपमेय' शब्दों का ग्रहण नहीं किया है, और बहुतों ने किया है। वस्तुतः ऐसे लक्षण उपयुक्त ही हैं, क्योंकि साधर्म्य समान धर्मों के सम्बन्ध को कहा जाता है। जैसा कि पहले ही कह चुके हैं वह साधारण धर्म का प्रतियोगी और उपमान उपमेय का अनुयोगी होता है। इस प्रकार साधर्म्य ग्रहण से ही उपमान-उपमेय का ग्रहण हो जाता है, उनका पृथक् से लक्षण में उपादन आवश्यक नहीं है। इस प्रश्न का 'समुद्रबन्ध' तथा 'विमर्शिनी' में भी समाधान किया गया है।[218] साधर्म्य सदा ही दो वस्तुओं (उपमान और उपमेय) में होता है। अतएव मम्मट प्रभृति ने लक्षण में उनका उपादन व्यर्थ समझा है। रुय्यक ने अपने लक्षण में इनका ग्रहण इसलिये किया है, क्योंकि उपमान और उपमेय को प्रतीत रूप में ही प्रहण किया जाता है। मुख से कमल की उपमा दी जाती है, क्योंकि कमल प्रतीत उपमान है अप्रतीत (अप्रसिद्ध) उपमान कुमुद से उसकी उपमा नहीं दी जाती। क्योंकि अप्रतीत स्थल में सहृदय को उपमा प्रतीति नहीं होती।

प्राचीनों के अनुसार लिंगभेद आदि उपमान के प्रतीतत्त्व में बाधक होते हैं। कटुक्वणन्तो मलदायकाः खलाः तुदन्त्यलं बन्धनशृंखला इव' बाण के इस कथन में खल उपमेय है, बन्धनशृंखला उपमान, कटुक्वणन साधारण धर्म और इव उपमा

वाचक। यहां उपमेय के साथ साधारण धर्म में लिंग विपर्यय की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, किन्तु उपमान के साथ लिंगभेद आवश्यक है। स्त्रीलिंग बन्धनशृंखला के अनुसार 'क्वणन्तः' के स्थान पर क्वणन्त्यः होना चाहिये। ऐसा न होने से दोषापत्ति होगी, क्योंकि लिंगभेद रूप दोष आपतित होता है और वह उपमान की प्रतीति में बाधक होगा। इसी आधार पर जयरथ ने बाण की उक्त उपमा[219] को दुष्ट स्वीकार किया है। रुय्यक ने भी अप्रसिद्ध तथा दुष्ट उपमानों के निराकरण हेतु ही लक्षण में उपमान उपमेय पदों को ग्रहण किया है।[220] वामन आदि आचार्य भी उपमान की प्रसिद्धि या प्रतीत रूप में ही स्थिति स्वीकार करते हैं।[221]

शोभाकर के अनुसार लक्षण में उपमान-उपमेय पद का ग्रहण 'कल्पितोपमा' के निरास के लिये किया गया है,[222] क्योंकि वहां उपमान तात्त्विक नहीं होता। इसीलिये भोज ने भी प्रसिद्ध शब्द का ग्रहण किया है, जिसका स्पष्टीकरण 'रत्नदर्पण' टीका में किया गया है।[223] प्रदीपकार के अनुसार मम्मट के लाण में उपमान और उपमेय का अग्रहण लक्षण की न्यूनता है। क्योंकि उपमान-उपमेय रूप अनुयोगी के बिना साधर्म्य ही नहीं हो सकता। प्रदीपकार का यह कथन अधिक उपयुक्त नहीं है। वहां उपमान और उपमेय की प्राप्ति आक्षेपलभ्य है। लक्षण में उपमान और उपमेय का आक्षेप साधर्म्य के निराकांक्षत्व-प्रतीति का फलक है, न कि व्यावर्तक, क्योंकि कार्यकारणभाव में साधर्म्य का अभाव ही रहता है। 'कारण गुण के अनुसार ही कार्य होता है' ऐसा मानकर भी कार्य और कारण का साधर्म्य होना असंभव है क्योंकि वहां कवि-कल्पित प्रतिभा का अभाव रहता है। यदि कहीं कार्यकारण का साधर्म्य चमत्कारी होता है, जैसे—पितेव पुत्रः सगुणः स आसीत् तथा पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव' (रघु. 5/34) आदि में कार्यकारण का साधर्म्य उपमान-उपमेय के साधर्म्य के रूप में परिकल्पित हो जाता है और उपमा के लिये कोई भी अवरोध नहीं रह जाता।[224] प्रश्न उठ सकता है कि लक्षण में 'भेद' शब्द का भी उपादान व्यर्थ है, क्योंकि उसका भी उपादान आक्षेप से हो सकता है? अभेद में सादृश्यात्मक साधर्म्य न हो ऐसी बात नहीं है। साधर्म्य पद के आरोपित, अनारोपित, साधारण समान-धर्म सम्बन्ध मात्र परक होने से उपमा और अनन्वय की भिन्नता प्रतीत होती है, क्योंकि अनन्वय में आरोपित साधर्म्य का ही निबन्धन होता है। यह प्रदीपकार का अभिमत है। इसीलिये 'त्वयि कोपो ममाभाति सुधांशाविव पावकः' में यद्यपि सुधांशु में पावक की स्थिति संभव नहीं है,[225] फिर भी कविकल्पना से वहां पावक की सत्ता मानकर हृदयहारिणी उपमा सिद्ध हो जाती है क्योंकि भावनोपनीत कल्पना की विच्छित्ति कान्ता की भांति अविरुद्ध है। इस

प्रकार जिन आचार्यों ने लक्षण में उपमान उपमेय का ग्रहण किया है, उनका तात्पर्य उनकी प्रसिद्धि से है, जिन्होंने नहीं ग्रहण किया, उनका अभिप्राय आक्षेपग्रहण से है।

हेमचन्द्र ने लक्षण में 'हृदय' तथा 'साधर्म्य' शब्द का ग्रहण किया है। उनका कथन है कि उपमान उपमेय भाव में ही साधर्म्य होता है, न कि कार्यकारण भाव में तथा उपमा में साधर्म्य सहृदयहृदयाह्लादकारी होना चाहिये। इस प्रकार सत्व, ज्ञेयत्व, प्रमेयत्वादि के साधर्म्य में चमत्कार न होने से उपमा संभव नहीं है। उनका कथन है कि असाधारणता के प्रतिपादनार्थ जहां एकवस्तु का भी भेद कल्पित किया जाता है, वहां भी उपमा संभव है। यही कारण है कि हेमचन्द्र अनन्वय को उपमा से पृथक् अलंकार मानने के विरुद्ध हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार कल्पितोपमा या उत्पाद्योपमा में कविगण अतिशय विरहित उत्कर्षक प्राचीन या काल्पनिक उपमान अथवा धर्मान्तर को विवक्षित वस्तु के अतिशय संपादकता के लिये ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार अनन्वय में भी वर्ण्यमान वस्तु की सुकुमारता के माहात्म्य से काल्पनिक उपमान का होना संभव है।[226]

रुय्यक ने अपने लक्षण में साधर्म्य के अतिरिक्त 'अभेद' शब्द का भी उपादान किया है, जो व्यर्थ सा प्रतीत होता है। साधर्म्य का ग्रहण न करके 'भेदाभेद' मात्र का ग्रहण भी उचित ही था। साधर्म्य और अभेद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ द्वारा लक्षण में 'साम्यं वाच्यं' का सन्निवेश भी व्यर्थ है, क्योंकि उपमा में साम्य न केवल वाच्य रहता है, व्यंग्य भी होता है।[227] अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ प्रभृति ने उमपा को व्यंग्य भी माना है। आचार्य वामन झलकीकर ने काव्यप्रकाश की टीका में 'वाक्य' ग्रहण को भी व्यर्थ सिद्ध कर दिया है।[228] विद्यानाथ का लक्षण अपने में अपूर्व है। वाग्भट (1) भी अभिधीयमान तथा प्रतीयमान भेद से उपमा को दो प्रकार का स्वीकार करते हैं।[229] इस प्रकार भी विश्वनाथ का साम्य को वाच्य कहने का मत खंडित हो जाता है। कुन्तक भी उपमा में उपमान उपमेय का ग्रहण आक्षेप से करना स्वीकारते हैं।[230] केशवमिश्र का उपमा-लक्षण मम्मट का ही अनुकरण है। अमृतानन्द योगी पर दंडी का प्रभाव है। कर्णपूर पर भी मम्मट का ही प्रभाव है। देवशंकर दीक्षित के अनुयायी हैं। चन्द्रशेखर को भामह, हेमचन्द्र, वाग्भट (2) की कोटि में रखा जा सकता है, भावदेवसूरि भी इसी कोटि में आते हैं। विश्वेश्वर, सर्वेश्वर, पुंजराज, वेणीदत्त, आदि के लक्षण मम्मट रुय्यक के लक्षण के समीप हैं तो अच्युतराय, छज्जूराम, आदि जगन्नाथ के समीप।

अप्पयदीक्षित ने 'चित्र-मीमांसा' में प्राचीनों के लक्षण को रखते हुए,[231] क्रमशः उनका खण्डन किया है। उनका कथन है कि प्राचीन आचार्यों के लक्षण में 'द्वयोः'

शब्द का ग्रहण व्यर्थ सा है, क्योंकि 'अनन्वय' में एक ही वस्तु उपमान और उपमेय होती है, यदि इसके निराकरण के लिये 'द्वयोः' का उपादान किया गया है तो जहां उपमान की उपमेय रूप में प्रकल्पना कर ली जाती है, इस प्रकार के प्रतीप अलंकार में तथा पर्याय से दोनों की उपमेयत्व कल्पनात्मिका 'उपमेयोपमा' में भी अव्याप्ति होगी। इन दोनों (प्रतीप तथा उपमेयोपमा) में सादृश्य का वर्णन होने से उपमारूप में ही दोनों ग्राह्य हैं, अतएव अनन्वय का भी उसी भांति ग्रहण हो जायेगा। 'द्वयोः' पद व्यर्थ है, क्योंकि सादृश्य या साधर्म्य से ही उसका उपादान हो जाता है।[232] इसी प्रकार उन्होंने मम्मट की परिभाषा में आये हुए भेद शब्द का भी खंडन किया है, क्योंकि यदि अनन्वय के निराकरण के लिये लक्षण में उसका परिग्रह किया जाता है तो कल्पित साधर्म्य वाली कल्पितोपमा भी अमान्य हो जायेगी।[233] पूर्वोक्त प्राचीन लक्षण में उनके अनुसार हृद्यत्व भी व्यर्थ है, क्योंकि इस प्रकार दुष्टोपमा भी ग्राह्य हो जायेगी।[234] आगे चलकर उन्होंने विद्यानाथ के लक्षण का भी खंडन किया है। उनका कथन है कि 'प्रताप रुद्रीयकार' ने जो उत्प्रेक्षा-वारण के लिये लक्षण में 'स्वतः सिद्ध' पद का उपादान किया है, वह व्यर्थ है। उनके अनुसार उत्प्रेक्षा में कवि कल्पित वस्तु होने से उपमान सर्वथा ही लोक-असिद्ध नहीं रहता। इसमें इव विषय तथा विषयी के तादात्म्य तथा संभावना का वाचक होता है। अतएव साम्य की अवाच्यता होने से ही उत्प्रेक्षा का वारण हो जाता है। 'स्वतः सिद्धेन' पद व्यर्थ है। यहां उन्होंने विद्याचक्रवर्ती को भी अपने समर्थन में उद्धृत किया है।[235] इसी प्रकार दीक्षित ने विद्यानाथ के 'भिन्नेन', 'संम्मतेन', आदि 'प्रतिशब्द' का खंडन किया है।[236] भोज के लक्षण को भी दुष्ट बताते हुए उन्होंने भोज के लक्षण की 'ससज्जुरश्व' इत्यादि उपमा में, तथा 'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्द्धिनारंगकम्' इत्यादि 'कल्पितोपमा' में अव्याप्ति सिद्ध किया है।[237] क्योंकि यहां 'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुक' उपमान रूप में प्रसिद्ध नहीं है तथा 'उद्गर्भहूणरमणी' आदि में रमण द्वारा उपमर्दित हूण रमणी के भग्न और उन्नत स्तन की उपमानता भी प्रसिद्ध नहीं है। इसी प्रकार उनकी दृष्टि में रुय्यक का भी लक्षण निर्दुष्ट नहीं है।[238]

जगन्नाथ ने अपने लक्षण में 'सुन्दर सादृश्य' पद के ग्रहण की संगति दिखाने का भरसक प्रयास किया है।[239] उनका अभिप्राय है कि 'गगनं गगनाकारं' इत्यादि में अनन्वय अलंकार है। सादृश्य वर्णन वहां भी रहता है, परन्तु चमत्कारी नहीं होता, क्योंकि वहां सादृश्य का वर्णन इस बात की सिद्धि के लिये किया जाता है कि वर्ण्य आकाश आदि के सदृश कोई अन्य पदार्थ नहीं हैं। अतएव वर्णन किये जाने पर भी वह सादृश्य वक्ता का तात्पर्य विषयीभूत नहीं बन पाता। तात्पर्य का विषय न

होने के कारण वाक्यार्थ में उसका अन्वय भी नहीं होता। इसीलिये उसे अनन्वय भी कहा जाता है। तात्पर्य यह कि विवक्षित पदार्थ ही चमत्कारी होता है, अनन्वय में इसका अभाव रहता है, अतः वह चमत्कार-शून्य होता है। 'तवाननस्य तुलनां दधातु जलजं कथम्' इत्यादि व्यतिरेकस्थल में भी सादृश्य का निषेध चमत्कार जनक होता है, उसके निरूपण के लिये निषेध के प्रतियोगी सादृश्य का निरूपण नान्तरीयक होने के कारण वस्तुतः चमत्कारशून्य ही होता है। इसी प्रकार अभेदप्रधान रूपक, अपह्नुति, भ्रान्तिमान् तथा उल्लेखादि में और भेदप्रधान दृष्टान्त प्रतिवस्तूपमा दीपक एवं तुल्ययोगिता आदि चमत्कारी अलंकारों में यद्यपि उन-उन अलंकारों की सिद्धि के लिये सादृश्य रहता है, तथापि वह चमत्कारी नहीं होता। भेद घटित या अभेद घटित किसी भी प्रकार के सादृश्य के वर्णित रहने पर 'वाक्यार्थोपस्कारक' उपमा का यह सामान्य लक्षण उन अलंकारों में भी प्रसक्त हो सकता था, किन्तु सादृश्य में 'सुन्दर' का उपयोग होने से उनकी व्यावृत्ति हो जाती है। इन अलंकारों में आरोप आदि ही विभिन्न प्रकार की विच्छित्ति के विधायक होते हैं। अतएव उनकी अलंकारता भी भिन्न ही होती है। इनमें मूलरूप में सादृश्य रहता हुआ भी अचमत्कारी होता है। तात्पर्य यह कि 'सुन्दर' शब्द का लक्षण उपमा से अपह्नुति आदि अलंकारों की व्यावृत्ति कराने के लिये किया गया है। जगन्नाथ प्रतीप और उपमेयोपमा में लक्षण की अव्याप्ति का निराकरण—उन्हें उपमा का ही अवान्तर भेद मानकर करते हैं। अर्थात् वहां जो चमत्कार होता है, वह उपमा के ही कारण होता है, अतः उनका ग्रहण उपमा से ही हो जाता है।[240]

'त्वयिकोपो ममाभाति सुधांशाविव पावकः' इत्यादि में मम्मट आदि आचार्यों ने 'असंभावितोपमा' माना है, जगन्नाथ इसके विरुद्ध हैं।[241] उनके अनुसार उक्त स्थल में उपमान पावक का चन्द्रवृत्तित्व असंभव नहीं माना जा सकता, 'चन्द्र में वह्नि है' इस सम्मिलित पदार्थ की अप्रसिद्धि होने से आग की उपस्थिति की संभावना चन्द्र में न होने पर भी कवि को खंडशः चन्द्र और अग्नि की उपस्थिति हो सकती है, क्योंकि वे दोनों ही पदार्थ पृथक्-पृथक् रूप में प्रसिद्ध हैं। पदार्थों की पृथक्-पृथक् रूप में उपस्थिति होने पर कवि अपनी इच्छानुसार चन्द्र में अग्नि की कल्पना कर सकता है। और जब कल्पना द्वारा चन्द्रवर्ती अग्नि सम्मिलित पदार्थ रूप में सिद्ध हो जाता है, तो सादृश्य की कल्पना में भी कोई बाधा नहीं रह जाती। प्रकल्पित सादृश्य मिथ्या होने से चमत्कार का जनक नहीं हो सकता, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि देखा जाता है कि भावनामय हृदय वाले विरही प्रियतम को पुरः स्थापित स्वर्णनिर्मित, मणिमय दशनकांतियुक्त कोमलांगी के साक्षात्दर्शन और आलिंगन

से परम आह्लाद की प्राप्ति होती है, भले ही वह कामिनी मिथ्या होती है।

पंडितराज जगन्नाथ दीक्षित के चित्र-मीमांसोक्त दोनों उपमा लक्षण को सदोष सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार दीक्षित की प्रथम उपमा वहां होती है 'जहां सादृश्य वर्णन अदोष, अव्यंग्य तथा उपमिति क्रिया का निष्पादक होता है, तथा द्वितीय के अनुसार उपमा वहां होती है,. 'जिससे अन्ततः उपमा का निषेध न सिद्ध होता हो ऐसे दोषविहीन अव्यंग्य सादृश्य वर्णन को उपमा कहा जाता है।' इस पर जगन्नाथ का कथन है कि सादृश्यवर्णन ही उपमा है। वर्णन शब्दात्मक या ज्ञानात्मक होता है। प्रथम बाह्य होता है द्वितीय मानस। बाह्य वर्णन शब्द के रूप में होता है और मानस ज्ञान रूप में। पहले तो वर्णन शब्द वाच्य नहीं हो सकता, यदि यह मान भी लिया जाये तो ज्ञानात्मक वर्णन तो सर्वथा ही शब्द-वाच्य नहीं हो सकता। इससे (सादृश्य) वर्णन को अर्थालंकार मानने में बाधा उठ खड़ी होती है। और शब्दात्मक या ज्ञानात्मक वर्णन किसी भी स्थिति में व्यंग्य नहीं हो सकता, इसलिये अव्यंग्य विशेष भी व्यर्थ है।[242] यदि वर्णन में आने वाले उक्त विशेषण से युक्त सादृश्य को उपमा मानें तो 'यथा गौस्तथा गवयः' तथा 'कालोपसर्जने तुल्यम्' में भी उपमा माननी पड़ेगी। परन्तु चमत्काराभाव के कारण इनमें आलंकारिक उपमा मानने के विरुद्ध है।[243] इसी प्रकार द्वितीय लक्षण का भी जगन्नाथ ने खंडन किया है, तथा लक्षण में 'सादृश्य' शब्द का उपादान भी व्यर्थ सिद्ध किया है।[244] उन्होंने 'विद्यानाथ' तथा प्राचीनों के लक्षण को भी सदोष बताया है। विद्यानाथ के लक्षण से 'तवाननस्य तुलनां दधातु जलजं कथम्' आदि व्यतिरेक में अतिव्याप्ति होती है, तथा प्राचीनों के लक्षण में उनके अनुसार 'हृद्यं साधर्म्यम्' मात्र इतना ग्रहण ही उपयुक्त था। उपमान-उपमेय आदि का ग्रहण व्यर्थ है, क्योंकि हृदयता मात्र से उनका भी ग्रहण हो जाता है।[245]

जगन्नाथ के अनुसार मम्मट के लक्षण में 'भेद' शब्द का उपादान व्यर्थ है। उनके तर्क का सारांश यह है कि अनन्वय में लक्षण की व्याप्ति न होने के लिये 'भेद' शब्द का ग्रहण किया गया है, क्योंकि अनन्वय में एक ही पदार्थ होता है, उपमा में दो। किन्तु जगन्नाथ का कहना है कि सादृश्य में 'पर्यवसित' विशेषण लगा देने से 'भेद' ग्रहण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि व्यतिरेक की तरह अनन्वय में भी वही विशेषण होता है।[246] इसीलिये उन्होंने सर्वस्वकार रुय्यक[247] तथा शोभाकर के लक्षण को भी दुष्ट सिद्ध किया है। शोभाकर की सदोषता बताते हुए उन्होंने कहा है कि 'प्रसिद्ध गुण वाले उपमान से अप्रसिद्धगुण उपमेय का सादृश्य ही उपमा है, शोभाकर के इस लक्षण में भी वही पूर्ववत् अनन्वय वाली आपत्ति आपतित

होती है। शिलष्टोपमा में उस प्रकार के धर्म की कल्पना तो कवि कर ही लेता है तथा शोभाकर जिस प्रकार के उपमान का निर्देश करते हैं, वैसा उपमान भी मिलना असंभव है।[248]

आचार्य विश्वेश्वर ने सविस्तार दीक्षित तथा जगन्नाथ द्वारा खंडित विद्यानाथ के उपमा लक्षण को उपयुक्त बताया है और अप्पयदीक्षित के द्वारा उपस्थित की गयी आपत्तियों का निराकरण भी किया है।[249] इसी प्रकार दीक्षित द्वारा आलोचित भोजराज के उपमा लक्षण को भी उन्होंने उपयुक्त ठहराया है।[250] विश्वेश्वर ने दीक्षितोक्त चित्रमीमांसा लक्षण को स्वयं तो नहीं किन्तु 'न्याय पंचानन' के मुख से दूषित बताया है। उसके अनुसार दीक्षित 'उपमिति-क्रिया निष्पत्तियुक्त सादृश्य वर्णन' को उपमा मानते हैं। उपमिति क्रिया साधर्म्य निष्पत्ति को कहा जाता है। वह अनन्वय में भी होता है। इस प्रकार यह लक्षण अनन्वय आदि में भी व्याप्त है।[251]

वस्तुतः जगन्नाथ द्वारा दीक्षित के लक्षण का खंडन उपयुक्त नहीं है। इसका विरोध विश्वेश्वर ने स्पष्ट शब्दों में किया है।[252] मम्मट आदि के लक्षण में 'भेद' ग्रहण व्यर्थ सिद्ध करना भी सराहनीय नहीं है। मम्मट के लक्षण में 'भेद' ग्रहण न केवल अनन्वय की व्यावृत्ति के लिये किया गया है, अपितु भेदग्रहण इस बात का परिचायक है कि उपमा में साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य भी एक तत्त्व के रूप में विद्यमान रहता है। इसी प्रकार रुय्यक के लक्षण में भी 'भेदाभेद' आदि का ग्रहण वस्तुतः इसी बात को सिद्ध करता है कि उपमा में साधर्म्य तो रहता ही है, भेद भी रहना चाहिये। 'सुन्दर', 'हृद्य', 'चमत्कारी' आदि शब्दों का लक्षण में सन्निवेश जैसा कि वाग्भट (2), हेमचन्द्र, जगन्नाथ प्रभृति आचार्य मानते हैं, भी व्यर्थ है, क्योंकि सौन्दर्य ही अलंकार है, अतः उसके बिना अलंकार की सत्ता ही व्यर्थ है। हृद्यत्व आदि अलंकार सामान्य तत्त्व हैं, उनका पृथक् सन्निवेश अनावश्यक है। इसी तरह 'वाक्यार्थोपस्कारक' आदि शब्दों का भी विनिवेश अनावश्यक है। चमत्कार जहां अलंकार के कारण होता है, वहां प्रधानता अलंकार की होती है और वही वाक्यार्थ के रूप में अभिव्यक्त होता है। वाक्यार्थ उससे कोई भिन्न वस्तु नहीं होती, जिसका वह उपस्कार करे। ऐसा तभी संभव होता, जब अलंकार शब्द और अर्थ से कोई भिन्न वस्तु होता, परन्तु ऐसा नहीं है। अलंकारों की अभिव्यक्ति शब्दार्थ रूप में ही होती है। यदि व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो तो अलंकार का व्यंग्यार्थ से भिन्न होकर उसका उपस्कारक होना संभव है, परन्तु वाच्यार्थ की प्राधान्य दशा में यह असंभव है। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न है। अतः व्यंग्यार्थ के प्राधान्य की स्थिति में वाच्यार्थ स्वरूप उपमा, रूपक, आदि उसके अंग होकर उसका उपस्कार करते हैं। परन्तु

वाच्यार्थ के प्राधान्य में अलंकार न उससे भिन्न होते हैं, न उसके उपस्कारक। अपितु उसी के स्वरूप होते हैं। इसलिये जगन्नाथ का 'वाक्यार्थोपस्कारक' विशेषण व्यर्थ है। विश्वेश्वर ने भी इसका खंडन किया है।[253] विश्वेश्वर के अनुसार तो यह भी आवश्यक नहीं है कि व्यंग्यार्थ की दशा में अलंकार वाक्यार्थ का उपस्कारक हो, वह तो प्रधानतया उपकार रस का करता है।[254]

कुछ लोग सादृश्य में ही उपमा[255] मानते हैं, साधर्म्य में नहीं, परन्तु यह मत समीचीन नहीं है। वस्तुतः उपमा की महत्ता सादृश्य के कारण नहीं है। यह पहले ही बता चुके हैं कि दृश्य बाह्य वस्तु है धर्मान्तर। चन्द्र या कमल के दृश्यमान बाह्य स्वरूप से मुख में कोई साम्य नहीं है। दोनों का सादृश्य 'आह्लादकत्व' आदि साधर्म्य को लेकर होता है। इसलिये यद्यपि उपमा में सादृश्य अवश्य रहता है, किन्तु प्राधान्य साधर्म्य का ही होता है।

**उपमा-तत्त्व**

उपमा में चार प्रमुख तत्त्व होते हैं—उपमेय, उपमान, उन दोनों का साधारण धर्म और उपमा वाचक शब्द। उपमेय और उपमान शब्दों की निष्पत्ति भी मानार्थक 'मा' धातु से ही होती है। सामान्यतः 'उपमातुं योग्यं उपमेयम्'[256] अर्थात् जो उपमा के योग्य हो या जिसकी उपमा दी जाये, उसे उपमेय कहते हैं, तथा 'उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम्' अर्थात् जिससे उपमा दी जाये उसे 'उपमान' कहा जाता है। 'उपमेय' में 'मा' धातु से कृत्य अर्थ में यत्[257] प्रत्यय किया जाता है। 'उपमान' शब्द उप उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु से भाव और करण[258] दोनों ही अर्थों में 'ल्युट्' प्रत्यय करके निष्पन्न किया जाता है। भाव अर्थ में ल्युट् करने पर उसका अर्थ होता है—समानता,[259] तुलना, सादृश्य या सादृश्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान और करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर उसका अर्थ होता है—सादृश्य ज्ञान का साधन और सादृश्य का प्रतियोगी-धर्म।

अधिकांश आलंकारिक यह मानते हैं कि उपमान सदैव उपमेय से अधिक उत्कृष्ट गुणशाली होना चाहिये तथा उपमेय को उसकी अपेक्षा निकृष्ट गुण तथा हीन होना चाहिये। 'चन्द्र' से मुख की उपमा इसलिये दी जाती है कि संभवतः वह अधिक उत्कृष्ट गुणशाली होता है अपेक्षाकृत 'मुख' के। वामन ने इसे स्पष्ट स्वीकार किया है :

**'उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत् तदुपमानम्।**
**यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम्।'** —का.सू.वृ., 4/2 की वृत्ति।

यहीं 'कामधेनु' टीका में उपमान 'चन्द्र' की उत्कृष्टता की विवेचना की गयी है।[260] प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार सादृश्य सम्बन्ध से जो प्राकरणिक होता है उसे उपमेय कहते हैं, किन्तु सादृश्य सम्बन्ध के होते हुए भी जो अप्राकरणिक होता है, उसे उपमान कहते हैं। सादृश्य प्रतिपादन द्वारा उपमान के समीप जो लाया जाता है उसे उपमेय कहा जाता है।[261] राजानकतिलक के अनुसार उपमान और उपमेय दोनों ही सिद्धस्वभाव होते हैं।[262] माणिक्यचन्द्र ने 'संकेत' में कहा है कि अपने सादृश्य प्राप्ति से जो उपमेय को समीप लाता है, उसे उपमान कहते हैं, तथा उस उपमान से जो गुण द्वारा समीप लाया जाता है, उसे उपमेय कहा जाता है। वहीं उन्होंने यह मत भी व्यक्त किया है कि जहां उपमान अप्रसिद्ध और उपमेय प्रसिद्ध होता है वहां 'विपर्यासोपमा' मानी जाती है।[263] काव्यादर्श की टीका में कहा गया है कि उपमेय गुण के तुल्य सर्वथा साम्य का मिलना दुर्लभ है,[264] इसीलिये दंडी ने अपने लक्षण में 'यथा कथचिंत्सादृश्यम्' पद का उपादान किया है। पहले कहा जा चुका है कि उपमान को प्रसिद्ध ही होना चाहिये, यह रुय्यक को भी स्वीकार है,[265] इसका समर्थन विद्याचक्रवर्ती तथा उनके अन्य टीकाकार भी करते हैं। विद्याचक्रवर्ती के अनुसार उपमान अप्राकरणिक, अधिक गुणवाला तथा गुणाधाता है और उपमेय प्राकरणिक, न्यून्यगुण तथा गुणाधेय है :

> **'उपमीयते साधर्म्यं नयतीत्युपमानम् अप्राकरणिकोऽर्थः तच्च नियमेन अधिकगुणमेव भवति गुणाधातृत्वात्। उपमीयते साधर्म्यं नीयते इत्युपमेयं प्राकरणिकोऽर्थः तच्च नियमेनाधेयगुणत्वान्न्युनगुणमेव भवति।'**
>
> —संजी., पृ. 35, तु.—सं.प्र., पृ. 252

विवेचनोपरान्त यही प्रतीत होता है कि उपमान सर्वथा प्रसिद्ध ही होता है, इस प्रकार का मत निराधार ही है। उपमा देते समय कवि या सहृदय का ध्येय उपमान को उत्कृष्ट गुणयुक्त देखना नहीं होता, अपितु वह अपने वर्ण्य विषय के अनुरूप उपमान प्राप्त करना चाहता है कि जिसके माध्यम से वह उपमेय गत समग्र सौन्दर्य राशि को अभिव्यक्त कर सके। विरही कालिदास का 'यक्ष' अपनी प्रियतमा के रूप सौन्दर्य तथा भाव सौन्दर्य के लिये सर्वप्रथम उपमान स्वरूप श्यामालताओं को लेता है और प्रियतमा की तन्वी देहलता तत्सदृश जान पड़ती है। इसी प्रकार वह उसका दृष्टिपात चकिता हरिणी के नेत्र में, मुखकांति, चन्द्र में केशपाश मयूरों के बर्हभार में तथा भ्रू विलास नदी की तरल तरंगों में प्राप्त करता है। और अन्ततः वह कह उठता है कि 'हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति' स्पष्ट है कि यहां कवि

या तथोक्त यक्ष उपमेय को न्यूनगुण नहीं देखना चाहता। सादृश्य विधान के ऐसे रमणीय उदाहरणों से स्पष्ट है कि उपमेय[266] सर्वथा हीनगुण ही नहीं होता। हाँ, यह बात अवश्य है कि हमारा ध्यान सदैव अच्छे-अच्छे उपमानों को पाने की ओर ही रहता है।

भोज के अनुसार अप्रसिद्ध उपमान होने पर 'विकृतोपमा' होती है। इसके उन्होंने पांच भेद भी बताये हैं, जिनका विवेचन आगे किया जायेगा।[267] उपमान को प्रसिद्ध गुण ही होना चाहिये इसे न केवल रुय्यक ही, अपितु शोभाकर, विश्वनाथ, विद्यानाथ, विद्याधर, कर्णपूर, विश्वेश्वर, जगन्नाथ, आदि प्रायः समग्र काव्यशास्त्रविद् मानते हैं।[268] इस प्रकार साधारण धर्मवत्ता से प्रसिद्ध पदार्थ उपमान होता है, तद्धर्मवत्ता से वर्णनीय पदार्थ उपमेय। कुछ अन्य मत से सादृश्य का प्रतियोगी उपमान और अनुयोगी उपमेय कहा जाता है।[269]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उपमान की उपमेय की अपेक्षा अधिक गुणवत्ता सिद्ध नहीं होती। यह तथ्य उपमा से व्यतिरिक्त अलंकारों द्वारा भी सिद्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ 'उपमेयोपमा' को लिया जा सकता है। वास्तव में यदि उपमान उत्कृष्ट गुण ही मान्य होता तो वहां उपमेय को उपमान बनाने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। इससे यही प्रतीत होता है कि उपमेय के भाव या रूप सम्पत्ति की सादृश्य के द्वारा स्पष्ट अभिव्यक्ति और साक्षात्कार के लिये उपमान प्रकल्पित किया जाता है। अतः उसको उपमेय से उत्कृष्ट बताना सर्वथा दोष-रहित नहीं कहा जा सकता। उपमा का एक भेद 'कल्पितोपमा' भी लोगों ने मान रखा है। परन्तु शोभाकर ने तो इसे स्वतंत्र अलंकार ही मान रखा है। काल्पनिक उपमान से काल्पनिक सादृश्य ही उसका लक्षण है। शोभाकर के मत में उपमेय काल्पनिक नहीं होता। विमर्शिनी के अनुसार काल्पनिकता दोनों (उपमान-उपमेय) की स्वीकार्य है। एक का भी काल्पनिक होना 'कल्पितोपमा' के लिये यथेष्ट है। उपमा का ही अंग एक अलंकार 'असंभावितोपमा' भी मानी गयी है। ऐसे स्थलों में उपमान असंभावित होता है। वस्तुतः उपमान के ये समग्र स्वरूप उपमेय का साक्षात्कार कराते हैं, उनमें मामूली भेद के नाते भिन्नता स्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं है।

### कल्पितोपमा आदि का निरास

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'काल्पनिक उपमान से उपमेय का काल्पनिक सादृश्य 'कल्पितोपमा' अलंकार है।[270] शोभाकर के अनुसार इसका उपमा में अन्तर्भाव असंभव है। उन्होंने इसका उदाहरण 'आवर्जिता

किंचिदिवस्तनाभ्याम्'[271] इत्यादि उदाहरण प्रस्तुत किया है। यहां बालसूर्य समान अरुणवस्त्रधारिणी चलती हुई पार्वती को संचारिणी लता के समान बताया गया है। शोभाकर के अनुसार यहां संचारिणी लता कल्पित 'उपमान' है। अतएव यहां 'कल्पितोपमा' अलंकार है। इसी प्रकार दंडी आदि ने असंभावित उपमान में 'असंभावितोपमा' आदि अलंकार माना है।

कल्पित और असंभावित उपमान में भी सादृश्य संभव है। वस्तुतः सादृश्य तो कल्पित होता ही है। अन्यथा शोभाकर के अनुसार तो 'श्यामास्वंगंचकितहरिणी प्रेक्षणे दृष्टिपातम्' इत्यादि मेघदूत के उदाहरण को भी उपमा से व्यतिरिक्त मानना पड़ेगा। और उपमा में उपमेय या उपमान किसी के भी काल्पनिक या असंभावित होने पर 'कल्पितोपमा' तथा 'असंभावितोपमा' को पृथक् अलंकार मान लेना संभव नहीं है। क्योंकि वैसी स्थिति में 'समुच्चयोपमा' तथा दंडी प्रदर्शित उपमा के अन्य भेदों को भी उपमा से पृथक् अलंकार मानना पड़ेगा, क्योंकि समुच्चय आदि विशेष तत्त्व तो वहां भी रहते ही हैं। उपमा और अनन्वय में फलभेद है। प्रथम में द्वितीय सदृश की विनिवृत्ति नहीं होती, द्वितीय में होती है। इस आधार पर जिस प्रकार इन दोनों को भिन्न अलंकार माना जाता है, उसी प्रकार[272] दूसरे उपमान का अभाव 'कल्पितोपमा' में भी पाया जाता है? यहां उपमेय की प्रतीति उपमान विशिष्ट गुण के माध्यम से होती है, और उपमा में ऐसी स्थिति नहीं है? वस्तुतः शोभाकर का फलभेद की कल्पना का इस प्रकार कोई औचित्य नहीं है। जयरथ भी इससे सहमत हैं। उपमा में उपमेय की प्रतीति उपमान-गुण विशिष्ट रूप में ही होती है। फलभेद मानना उचित नहीं है। जिस प्रकार 'दृढारोप रूपक' में विषय विषयी का अभेद दृढ़ बनाने के लिये उनमें से किसी एक धर्म को कम या अधिक बताया जाता है, परन्तु प्रतीति अभेद की ही रहती है, उसी प्रकार कल्पितोपमा में भी प्रतीति सादृश्य की ही होती है, क्योंकि चमत्कार उसी में है। साम्य-दाढ्र्य[273] के लिये साधर्म्य कविकल्पित होता है। साम्य दाढ्र्य को उपमा का एक विशेष तत्त्व होने के कारण उपमा का भेद मानने में कोई भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इस बात को पंडितराज जगन्नाथ ने व्यक्त किया है और उपमा के अवान्तर विशेषण विशिष्ट सभी प्रभेदों को सादृश्य चमत्कार के सामान्य आधार पर उपमा का ही भेद माना है।[274]

### उपमान-महत्त्व

उपमा में उपमान और उपमेय का भिन्न होना आवश्यक है। उद्भट द्वारा प्रतिपादित 'मिथो विभिन्न कालादि शब्दयोः' का तात्पर्य भी यही है। आलंकारिक

योजना के मुख्य दोनों—उपमान और उपमेय—में अप्रकृत, अप्रस्तुत अवर्ण्य या उपमान ही प्रमुख है। यह काव्य का प्राण, कला का मूल तथा कवि की कसौटी है। काव्य में इसी के द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। प्रेषणीयता लाने तथा भावों को विशद बनाने का यह भी एक माध्यम है। इसके लिये लोकशास्त्र का निरीक्षण-परीक्षण ही पर्याप्त नहीं मान लेना चाहिये, अपितु उसके मर्म-ग्रहण में निपुण होना भी आवश्यक है। कवि जितना ही सहृदय होगा, उसके उपमान का निबन्धन उतना ही अधिक मार्मिक, हृदयावर्जक और उद्देश्य-सिद्धि में समर्थ होगा। उपमान के आयोजन की यथार्थता तभी संभव है, जब उसका सादृश्य या तो स्वरूप बोधक हो या भावोत्तेजक। मनोहारी उपमानों का विधान भाव-व्यंजन के लिये किया जाता है, परन्तु उनकी नवीनता और निरालापन सहृदयों को अधिक आवर्जित करता है। भावव्यंजक योजना कवि के अभिव्यक्ति कौशल की कसौटी है।

काव्यानन्द का उपभोग तभी सम्भव है जब काव्य का कलेवर कलामय होने के साथ-साथ अनुभूति की विभूति से भी विभूषित हो। अनुभूति को सौन्दर्य प्रदान करना ही कविकर्म है। कवि सौन्दर्य का निरीक्षण-परीक्षण करता है, स्वयं प्रसन्न होता है तथा औरों को भी प्रसन्न करता है। इसलिये उसका उपमान सुन्दर होना चाहिये। दुरूह और असुन्दर उपमान न केवल काव्य को अबोधगम्य बनाते हैं, अपितु वे भावगाम्भीर्य को भी चौपट कर देते हैं। अलंकार-योजना भाव की गम्भीरता तथा स्वरूप की स्पष्टता में सहायिका होती है, परन्तु स्वरूप और भाव के सौन्दर्य को बढ़ाने वाली योजना कुछ कठिन भी होती है। उपमेयगत इन वातावरणों के लिये तत्तुल्य उपमान मिलना कठिन होता है। यदि स्वरूप पर दृष्टि रखकर कवि उपमान लाता है, तो उसका इतना महत्त्व नहीं है। हृदय की अवस्था को उपमानों द्वारा अभिव्यक्त करने में ही उसकी सार्थकता है। ऐसा न होने पर वह हमारे हृद्गत रागों को उद्दीपित नहीं करता। उपमा के विषय में पाश्चात्त्यों का विचार है कि उपमा की उतनी बारीकियों में पैठने की आवश्यकता नहीं, उसका संकेत मात्र ही पर्याप्त है। उपमानों और उपमेयों के घुलेमिले रहने में ही उनकी सार्थकता है। उपमान का संकेतमात्र कर देना और शेष पाठकों की कल्पना के ऊपर छोड़ देना शेक्सपियर की प्रणाली मानी जाती है।

## साधारणधर्म तथा उसके आधार पर उपमा-विभाजन

किसी पदार्थ में रहने वाले गुण को धर्म कहा जाता है। धर्म की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती, वह सदैव दूसरे के आश्रित रहने वाला तत्त्व है। धर्म को साधारण इसलिये

कहा जाता है क्योंकि वह उपमान और उपमेय दोनों में समानरूप से वर्तमान रहता है। धर्म और धर्मी द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति के रूप में चार प्रकार के होते हैं। कोई भी धर्म धर्मी हो सकता है[275] और धर्मी धर्म। आश्रय ही धर्मी है और आश्रयी ही धर्म—

**'धर्मिधर्मभावस्याश्रयाश्रयिभेदात्'** वि., पृ. 26

शोभाकर धर्म के अनेक भेद मानते हैं। धर्म को पराश्रित मानकर उन्होंने इसे पहले भाव और अभाव रूप से द्विधा विभक्त किया है। पुनः भाव को वैशेषिकों के अनुसार चार प्रकार का मानते हैं—जाति, गुण, क्रिया तथा विशेष के रूप में। उनके अनुसार जाति का साधारण धर्म होने पर भी, वह सादृश्य का निमित्त नहीं बन सकती। सादृश्य के लिये तरतम होना आवश्यक है। जाति या समवाय तरतम को समाप्त कर एकत्व (सामान्य) की प्रतिष्ठा करता है। समवाय और विशेष को नित्य परोक्ष होने के कारण सादृश्य का अंग नहीं माना जा सकता। यदि समवाय का प्रत्यक्ष माना भी जाये तो उसका 'एकत्व' सिद्ध होने के कारण सादृश्य का अंग होना संभव नहीं है। इस प्रकार वैशेषिक मत में भावरूप साधारण धर्म दो प्रकार का होता है, गुण और क्रियारूप। यहीं पर शोभाकर धर्ममात्र को भी सम्मिलित कर लेते हैं। इस प्रकार अभाव रूप धर्म को भी मिला दें तो गुण, क्रिया तथा धर्ममात्र भेद से भावरूप धर्म त्रिधा होता है और अभाव को लेकर यह चार प्रकार का हो जाता है। पुनः उन्होंने इनके (चारों के) शुद्ध, अध्यवसित तथा श्लेषाध्यवसित रूप में विभाजन किये हैं। पुनः इनके साधारण धर्म के उपादान में धर्म के सकृद् निर्देश, असकृत् निर्देश तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव से अनेक भेद होते हैं। अनुपादान में प्रकृत, अप्रकृत तथा उभयगत होने से इनके त्रिविध भेद ही होते हैं। आगे उन्होंने कहा है कि गुण, क्रिया, धर्म मात्र तथा अभावों के भी परस्पर उपमानोपमेयभाव होने से इसके अनन्त भेद[276] हो सकते हैं। अन्त में वह कह देते हैं कि अधिक क्या शाब्द तथा आर्थ भेद से अनेक अलंकार उपमा के ही प्रपंच हैं—

**'किमपरमस्या एव शाब्दार्थत्वादिभेदैरनेकालंकारप्रपंचो जायत इति'**

—अ.र., पृ. 7

शोभाकर का सामान्य को धर्म न मानना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जहां जातिरूप साधारणधर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव रूप में निर्देश किया जाता है, वहां वह सादृश्य का निमित्त बन जाता है। इसी प्रकार वैशेषिक प्रक्रिया पर आधारित भाव, अभाव रूप धर्म का विभाजन भी चमत्कारी नहीं है।[277] जयरथ के अनुसार

अहेतुक भी है। इसीलिये सर्वप्रथम साधारण धर्म के आधार पर उपमा का विभाजन करने वाले रुय्यक ने भावरूप साधारण धर्म के आधार पर ही अपने उदाहरणों में सादृश्य का निर्देश किया है। प्रायः सभी लोग गुण और क्रिया को साधारण धर्म स्वीकार करते हैं। द्रव्य धर्मी है, कोई भी धर्म धर्मी बन सकता है, अतएव द्रव्य को भी साधारण धर्म माना जा सकता है। विमर्शिणीकार जयरथ की उक्ति यहां उद्धृत कर देना उपयुक्त होगा :

> **'धर्मधर्मिभावस्य न वास्तवत्वम्। जात्याद्यात्मनो धर्मिणोऽपि कदाचिदन्याश्रितत्त्वे धर्मत्वात्। एवं च तदतिरिक्तं धर्ममात्रमपि साधारणं किंचित् न वाच्यम्, चतुष्ट्य्या एवं शब्दानां प्रवृत्तेरुक्तत्त्वात्।'** वि.पृ., 26

जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्यरूप धर्म और धर्मी के दो उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आगे बढ़ना उपयुक्त होगा।

> **'वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।**
> **च्छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृततारतारम्।।** र.वं., 13/2

इस श्लोक में 'विभक्त' क्रियारूप धर्म का, 'रामसेतु' तथा 'छायापथ' द्रव्यरूप धर्म का, 'फेन' और 'तारक' जातिरूप धर्म का तथा 'प्रसाद' गुणरूप धर्म का वाचक है। इसी प्रकारः

> **'घनोद्यानच्छायामिव मरूपथाद्दावदहना-**
> **त्तुषाराम्भोवापीमिव विषविपाकादिवसुधाम्।**
> **प्रबृद्धादुन्मादात्प्रकृतिमिव निस्तीर्यविरहा-**
> **ल्लभेयत्वद्भक्तिं निरूपमरसां शंकर कदा।।'** वि.पृ., 27

में छाया, वापी, सुधा तथा प्रकृति जात्यादि रूप उपमान हैं और मरुपथ, दावाग्नि, विषविपाक तथा उन्माद धर्मी उपमेय हैं। ये भी जात्यादि रूप ही हैं, क्योंकि 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः'।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सर्वप्रथम रुय्यक ने साधारणधर्म के आधार पर उपमा का एक नवीन विभाजन प्रस्तुत किया। उन्होंने साधारणधर्म का निर्देश अनुगामी, बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव रूप से त्रिधा किया है।[278] इसे विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जगन्नाथ, विश्वेश्वर, नृसिंहकवि, आदि भी स्वीकार करते हैं। अप्पय दीक्षित के अनुसार साधारणधर्म के इन तीन भेदों के अतिरिक्त उसका निर्देश, कहीं श्लेष से कहीं उपचार से, कहीं समासान्तर के

आश्रयण से तथा कहीं इन सबों के यथासंभव सम्मिश्रण से भी होता है।[279] जगन्नाथ ने इसके कई भेद किये हैं। उनके अनुसार साधारण धर्म अनुगामी, केवल बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न, उभय (बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न तथा अनुगामी), वस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बित बिम्बप्रतिबिम्बभाव, उपचरित तथा केवल शब्दात्मक भेद से मुख्यतः पांच प्रकार का होता है।[280] तृतीय भेद (उभयगत) भी तीन प्रकार का होता है—केवल विशेषण के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से करम्बित, केवल विशेष्य के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित तथा दोनों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव मिश्रित होने से। आगे उन्होंने यह भी कहा है कि इन धर्मों का भी व्यामिश्रण संभव है :

**'एवमेतेषां धर्माणां व्यामिश्रणं च संभवति'**। वही, पृ. 176

एकावलीकार ने केवल वस्तुप्रतिवस्तुभाव और बिम्बप्रतिबिम्बभावगत साधारणधर्म का विवेचन किया है।[281] विद्यानाथ भी सकृत्, असकृत् रूप से धर्म का द्विधा उपादान मानते हैं। पुनः वे सकृत् उपात्त धर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभावरूप तथा वस्तुप्रतिवस्तुभावरूप से द्विधा भेद करके धर्माश्रित कुल तीन भेद ही मानते हैं।[282] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, यह रुय्यक का अनुकरण मात्र है। विश्वनाथ ने साधारण धर्म के आधार पर उपमा का तीन भेद माना है—कहीं वह एक रूप होता है, कहीं भिन्न-भिन्न भी बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न तथा शब्दमात्र भिन्नत्व रूप से दो प्रकार का होता है।[283] इस प्रकार ये भी भेद रुय्यक के ही समान हैं। तृतीय भेद भी वस्तुप्रतिवस्तुभावस्वरूप है, मात्र शब्दावली का अन्तर है। विश्वेश्वर प्रभृति के मत का विवेचन आगे किया जायेगा।

### अनुगामी धर्म

संक्षेप रूप में 'साधारण धर्म' के आधार पर किये गये उपमा भेदों का उदाहरण प्रस्तुत करना अनुचित न होगा। उपमान और उपमेय में स्वरूपतः समान (एकरूप) रहने वाला धर्म अनुगामी कहा जाता है। एक ही साधारण धर्म का भिन्न-भिन्न वाक्यों में भिन्न-भिन्न रूप से निर्देश बिम्बप्रतिबिम्बभाव कहा जाता है। एक ही धर्म का वारद्वय उपादान वस्तुप्रतिवस्तुभाव कहा जाता है।[284] उपमा के इन भेदों का जैसा कि पहले ही कह चुके हैं, सर्वप्रथम प्रदर्शन रुय्यक ने ही किया।[285] विद्याचक्रवर्ती उपमा के समग्र भेदों को इन्हीं उपर्युक्त तीन भेदों में ही अन्तर्भूत कर लेते हैं।[286] जैसा कि कहा गया है, साधारणधर्म का सकृत् निर्देश ही अनुगामी कहा जाता है। साधारणधर्म का दो बार निर्देश होने पर उसमें शाब्दिक या आर्थिक भेद हो जाता

है। शाब्दिक भेद में साधारण धर्म के सम्बन्धी भिन्न होते हैं, अतएव वहां धर्म भी भिन्न होता है। जहां वास्तविक भेद होता है, वहां साधारण धर्मों में किसी प्रकार का ऐक्य नहीं होता, परन्तु सादृश्य विवक्षा होने के कारण उनमें ऐक्य प्रतीति हुआ करती है। इसी आधार पर जगन्नाथ ने बिम्बप्रतिबिम्बभाव को सादृश्यमूलक अभेदाध्यवसाय कहा है, क्योंकि धर्मों में भेद होते हुए भी वहां अभेदप्रतीति होती है।[287] निम्नश्लोक में धर्म का निर्देश अनुगामी रूप में हुआ है :

**'प्रभामहत्या शिखयेवदीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य भर्तुः।**
**संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च।।'**[288]

—कु.सं., 1/28

यहां 'पूतत्त्व' और 'विभूषितत्त्व' साधारण धर्म का उपमान और उपमेय दोनों में समान रूप से निर्देश किया गया है। यद्यपि धर्मी दूसरे धर्मी की दृष्टि से धर्म बन सकता है, परन्तु यहां तो धर्म का ही ऐक्य रूप में निर्देश हुआ है।[289] इसी प्रकार 'वागर्थाविव संपृक्तौ' इत्यादि में शिव और पार्वती का अपृथक् रूप साधारण धर्म दोनों में समान है। निम्नश्लोक में वस्तुप्रतिवस्तुभाव है :

**'यान्त्या मुहुर्बलितकन्धरमाननन्तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।**
**दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या गाढं निखात इवमे हृदये कटाक्षः।।**

यहां 'बलित' और 'आवृत्त' दोनों ही का अर्थ मुड़ी हुई है। अतएव एक ही धर्म का दो धर्म के रूप में पृथक्-पृथक् निर्देश किये जाने के कारण यहां वस्तुप्रतिवस्तुभाव है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव में साधारण धर्म का भेद उपमान-उपमेय के कारण होता है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव सदा ही दो धर्मों या दो धर्मियों में होता है, धर्म और धर्मी में नहीं। अप्पयदीक्षित के अनुसार वस्तुप्रतिवस्तु भाव शुद्ध रूप में न रहकर केवल बिम्बप्रतिबिम्ब भाव के विशेषण तथा विशेष्य रूप में आता है।[290] उनके अनुसार उक्त उदाहरण में 'बलितत्त्व' तथा 'आवृत्तत्व' धर्मों में तो वस्तुप्रतिवस्तु भाव है, परन्तु उनके धर्मी 'आनन' तथा 'शतपत्र' में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। अतएव यहां वस्तुप्रतिवस्तुभाव बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेषण रूप में प्रयुक्त है।[291] जगन्नाथ आदि के अनुसार वस्तुप्रतिवस्तुभाव शुद्ध भी हो सकता है। 'विमलं वदनं तस्या निष्कलंकमृगांकति' जगन्नाथ प्रोक्त इस उदाहरण में वदन का मृगांक से सादृश्य बताया गया है। वदन में विमलता है तथा मृगांक में निष्कलंकता। वैमल्य तथा निष्कलंकत्व के अर्थों में भेद नहीं है, मात्र शब्द परिवर्तन ही है। अतएव यहां

वस्तुप्रतिवस्तुभाव शुद्ध रूप में हैं।[292] बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेष्य रूप में प्रयुक्त वस्तुप्रतिवस्तुभाव का निम्न उदाहरण है :

**'सा तेन जगृहे साध्वी हठात्साध्वसकम्पिता।**
**वानरेणातिलोलेन वाताधूतेव वल्लरी।।'** चि.मी., पृ. 82

यहां साध्वी का वल्लरी से सादृश्य है। साध्वस तथा वात में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। तथा कम्पितत्त्व और धूतत्त्व धर्मों में वस्तुप्रतिवस्तुभाव[293] है, क्योंकि दोनों का अर्थ एक ही है मात्र भिन्न-भिन्न शब्दों से कहे गये हैं। यह वस्तुप्रतिवस्तुभाव बिम्बप्रतिबिम्बभाव का विशेष्य है। बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण निम्न है:

**'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्तांगरागो हरिचन्दनेन।**
**आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः।।**[294]

यहां पाण्ड्य को अद्रिराज तुल्य कहा गया है। पाण्ड्य में हार और अंगराग धर्म है तथा अद्रिराज में निर्झर और बालातप। इन दोनों के असकृदुपात्त तथा भिन्न स्वरूप होने से इनमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।[295] यहां यह सन्देह हो सकता है कि हार और निर्झर तथा अंगराग और बालातप में यदि सर्वथा भेद है तो इनके आधार पर सादृश्य कल्पना संभव नहीं है। इस शंका का निरास जयरथ ने किया है। उनके अनुसार यद्यपि धर्मों में वस्तुतः भेद तो रहता है, परन्तु प्रतीति में उनका एकत्व में अवसान हो जाने के कारण भेद होने पर भी अभेद रूप एकत्व प्रतिभासित होता है। अन्यथा उपमा का उत्थान ही संभव नहीं हो सकता, क्योंकि उपमा साधर्म्य में होती है। दो वस्तुओं को एक समान पाना कठिन है। जिस प्रकार लोक में देखा जाता है कि दर्पण में संक्रान्त अपने प्रतिबिम्ब को लोग स्वरूप से भिन्न होने पर भी अभिन्न मानते हैं। वैसे ही यद्यपि हार और निर्झर आदि में भेद तो है, किन्तु दोनों में प्रातीतिक एकता बनी रहती है। दर्पण में संक्रान्त अपने प्रतिबिम्ब को देखकर नायिका हार आदि आभूषणों का विन्यास करती है। कल्पना भूमि में कवि के लिये पाण्ड्य और अद्रिराज भी एक से प्रतीत होते हैं।[296]

आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार भिन्न धर्मों का सारूप्य के कारण एकत्व अध्यवसान बिम्बप्रतिबिम्बभाव कहा जाता है। कुछ लोगों के अनुसार बिम्बप्रतिबिम्बभाव अर्थगम्य भी होता है।[297]

**'क्वचिदर्थगम्योऽपि बिम्बप्रतिबिम्बभाव इति नव्याः'** —अ.कौ., पृ. 35

जहां सादृश्य प्रतीयमान साधारण धर्म के द्वारा संभव हो वहां बिम्बप्रतिबिम्बभाव

से निर्दिष्ट साधारण धर्म को भी, उस सादृश्य का एक हेतु मानना चाहिये, केवल मात्र प्रतीयमान साधारण धर्म को नहीं। 'पश्य निश्चलनिष्पन्दा'[298] इत्यादि में बलाका तथा शंखशुक्ति का सादृश्य प्रतीयमान साधारणधर्म श्वैत्य के द्वारा भी संभव है, परन्तु यहां श्वैत्य को सादृश्य का एकमात्र हेतु नहीं माना जा सकता। बिसिनीपत्र तथा मरकत भाजन के बिम्बप्रतिबिम्बभाव को भी उसका एक हेतु मानना पड़ेगा। यदि श्वैत्य को ही सादृश्य का हेतु माना जाये तो साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव रूप से निर्देश ही व्यर्थ हो जायेगा।[299] इस प्रकार बिम्बप्रतिबिम्बभावरूप से निर्दिष्ट साधारणधर्म दो प्रकार का होता है—सादृश्य निर्वाहक तथा तदुत्कर्षक।[300] 'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः' इत्यादि उदाहरण में सादृश्य निर्वाहक है, क्योंकि पाण्ड्य तथा अद्रिराज का सादृश्य किसी प्रकार संभव नहीं है। 'पश्यनिश्चल' इत्यादि में धर्म सादृश्य का उत्कर्षक है, क्योंकि बलाका तथा शंखशुक्ति में श्वैत्य के द्वारा सादृश्य संभव है। बिसिनीपत्र तथा मरकत भाजन का बिम्बप्रतिबिम्ब उसका उत्कर्षक है।

'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः' इत्यादि उदाहरण में आलंकारिकों में मतभेद हैं। अलंकारसारकार का कथन है कि यहां पाण्ड्य तथा अद्रिराज के समान अंगराग उपमेय तथा बालातप उपमान है और उनका साधारणधर्म धावल्य गम्य है।[301] यहां कवि को पाण्ड्य तथा अद्रिराज का औपम्य विवक्षित है और अपेक्षित है अंगराग तथा बालातप की समानधर्मिता। परन्तु उनका उपमानोपमेयभाव अप्रासंगिक है। अतएव यह श्लोक धर्मी की दृष्टि से बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उचित उदाहरण हो सकता है। बिम्बप्रतिबिम्बभाव दो धर्मों में ही नहीं अपितु दो धर्मियों में भी होता है। इसका निर्देश शोभाकर तथा रुय्यक के तीनों टीकाकार भी करते हैं।[302] ऊपर कहा जा चुका है, कि दो धर्मियों का आपस में बिम्बप्रतिबिम्बभाव संभव है। वाक्यार्थोपमा में भी दो धर्मियों का साम्य निर्दिष्ट रहता है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि वाक्यार्थोपमा तथा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न उपमा में कोई भेद नहीं है? इसका समाधान जयरथ ने किया है। वाक्यार्थोपमा में धर्मी परस्पर सम्बद्ध रहते हैं और उन परस्पर सम्बद्ध धर्मियों का जब उसी प्रकार के धर्मियों से साम्य बताया जाता है, तो वाक्यार्थोपमा होती है।[303] बिम्बप्रतिबिम्बभाव ऐसे धर्मों का होता है, जो धर्मी में वैशिष्ट्य का आधान करते हैं।[304] वाक्यार्थोपमा धर्मियों के परस्पर साम्य में होती है तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव केवल धर्म में ही होता है विमर्शिणीकार का यह कथन उचित नहीं है। स्वयं उन्होंने दृष्टान्तप्रकरण में इसे स्वीकार किया है :

**'अतश्च धर्माणां धर्मिणां च बिम्बप्रतिबिम्बभावेऽयमलंकारः'**—वि.पृ., 76

अप्पयदीक्षित अनुगामी साधारण धर्म के अतिरिक्त बिम्बप्रतिबिम्बभाव आदि से निर्दिष्ट साधारण धर्मों को केवल वाच्य मानते हैं। अतएव उनकी दृष्टि से बिम्बप्रतिबिम्बभाव से युक्त साधारण धर्म अर्थगम्य नहीं हो सकता। इसलिये लुप्तोपमा में ये भेद उनकी दृष्टि में संभव नहीं हैं।[305] परन्तु बिम्बप्रतिबिम्बभाव के लिये यह आवश्यक नहीं कि उसका शब्द द्वारा ही निर्देश हो। वह अर्थगम्य भी हो सकता है। जैसे—

**'मलय इव जगति पाण्डुर्वल्मीकइवाधिधरणि धृतराष्ट्रः'**—र.गं., पृ. 181

में पाण्डु का मलय से और धृतराष्ट का वल्मीक से साम्य प्रदर्शित किया गया है। पाण्डु पाण्डवों का जनयिता है और मलय चन्दन का, धृतराष्ट्र भयदायक दुर्योधनादि कौरवों का जनक तथा मलय सर्पों का। इस प्रकार पाण्डवों तथा चन्दन और दुर्योधनादि तथा सर्पों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। यह अर्थगम्य है और इसी आधार पर पाण्डु का मलय से तथा धृतराष्ट्र का वल्मीकि से सादृश्य सम्बन्ध हो सकता है। जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित के उक्त मत का खंडन करते हुए यही कहा है।[306] अप्रस्तुतप्रशंसा आदि में व्यवहार सादृश्य के कारण प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में से किसी एक के द्वारा अन्य का आक्षेप किया जाता है, व्यवहार सादृश्य प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत अवयवों के बिम्बप्रतिबिम्बभाव रूप में रहता है। इस प्रकार का बिम्बप्रतिबिम्बभाव अर्थगम्य ही होता है। परन्तु बिम्ब या प्रतिबिम्ब में दोनों ही वाच्य रहते हैं, या दोनों ही गम्य। ऐसा नहीं होता कि एक वाच्य हो, एक व्यंग्य।[307]

जैसा कि पहले कह चुके हैं, अप्पयदीक्षित श्लेष, उपचार तथा समास को भी साधारण धर्म के भेद का आधार मानते हैं। विश्वेश्वर आदि भी इसे मानते हैं। श्लेष को प्रत्येक दशा में सादृश्य का आधार नहीं माना जा सकता। श्लेष सादृश्य का आधार तब होता है, जब उसमें सादृश्य का आधान हो। एक शब्द का अनेक अर्थ होना श्लेष है। यदि इन विभिन्न अर्थों में भी सादृश्य हो, तब तो वहां साधारण धर्म की श्लिष्टता मानी जा सकती है, अन्यथा नहीं। 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' में कलकलयुक्त तथा सकलकलायुक्त में कोई भी अर्थगत सादृश्य नहीं है। अतः इनके आधार पर 'पुर' और 'सुधांशु बिम्ब' में सादृश्य मानना उपयुक्त नहीं है। परन्तु बावजूद इसके मम्मट आदि आचार्य शब्द साम्य में भी उपमा स्वीकार करते हैं।[308] वस्तुतः मम्मट तथा उनके समर्थकों की यह उक्ति सर्वथा उपयुक्त नहीं है। शब्दों का प्रयोजन केवल अर्थबोध कराना है। अतएव केवल शब्द-साम्य

पर उपमा मानना तर्कहीन है। नागेश का अभिमत है कि शब्द भी अर्थ का धर्म है।[309] परन्तु यदि शब्द को अर्थ का धर्म मान लिया जाये और उसे सादृश्य का आधार स्वीकार कर लिया जाये तो एक ही शब्द से वाच्य होने के कारण अनेक पदार्थ सदृश कहे जायेंगे। शब्द अर्थ में सहायक अवश्य है, परन्तु इसका वाचकत्व ही सहायक है, उसका स्वरूप नहीं। शब्द का स्वरूप ध्वनि विशेष है। यदि शब्दसाम्य को ही उपमा का आधार माना जायेगा तब तो 'सकलकलं' आदि में उपमा हो जायेगी। तथा अन्वयव्यतिरेक भाव से उपमा की अर्थालंकारता भी संदिग्ध हो जायेगी। शब्दसाम्य सादृश्य का कारण नहीं हो सकता। इसीलिये विद्यानाथ ने अपने उपमालक्षण में 'धर्मतः' शब्द का उपादान किया है। धर्मतः शब्द की आवश्यकता का उन्होंने इस प्रकार प्रतिपादन किया है :

**'धर्मतः इत्यनेन श्लेषालंकार वैलक्षण्यम्। श्लेषे शब्दसाम्यमात्रमभ्युपगतम्, न तु गुणक्रियासाम्यम्।'** —प्रता.रु.य., पृ. 255

ध्यान देने योग्य है कि विद्यानाथ के इस मत का खंडन अप्पयदीक्षित ने किया है।[310] दीक्षित श्लेष के द्वारा अभेदाध्यवसाय मानकर उसी से धर्म की साधारणता भी मानते हैं। उनके अनुसार उक्त उदाहरण में कलकल शब्द साहित्य और कला साकल्य ये दो शब्द अवश्य हैं, परन्तु श्लेष के कारण उन दोनों की पृथकता न रहकर 'सकलकलम्' का एकरूप (अभेदाध्यवसाय के कारण) रह गया है। और एकता के ही आधार पर 'पुर' तथा 'सुधांशु बिम्ब' में सादृश्य प्रतीत होता है। दीक्षित का भी मत समीचीन नहीं जान पड़ता। जब श्लेष के आधार पर सादृश्य नहीं हो सकता तो अभेदाध्यवसाय से कैसे संभव हो सकता है। यद्यपि इन दोनों ही स्थितियों में अभिन्नरूपता की प्रतीति होती है, किन्तु अर्थ की पृथक् ही प्रतीति होती है। सादृश्य-प्रतीति में अर्थ प्रतीति ही विचार की वस्तु है। भामह और वामन की परिभाषा में 'गुणलेश' शब्द का सन्निवेश इस बात का सूचक है कि केवल शब्दसाम्यमात्र में ही उपमा संभव नहीं है, धर्मसाम्य भी होना चाहिये।

उपचरित साधारण धर्म का उदाहरण:

**'उद्भवन्तमुदितार्चिषं ततो भानुमन्तमिव हेमभूभृतः।**
**पंकजैरिव कुमारमीक्षणैः विस्मयेन विकचैः पपुर्जनाः।।'** चि.मी., पृ. 84

यहां नेत्रों का पंकज से सादृश्य दिखाया गया है। विकास यद्यपि कमल का धर्म है, पर उसका प्रयोग नेत्र-विकास में भी किया जाता है। नेत्र में यह विकास धर्म

लक्षणा के द्वारा लाया जाता है। गौणी लक्षणा सादृश्य पर आधारित होती है, अतः उस पर आधारित उपमा-भेद सादृश्य का प्रत्यायक होता है। गौणी को ही उपचार भी कहते हैं।

समासभेद की प्रत्येक दशा में सादृश्य का आधार मानना संभव नहीं है। अर्थ-सम्बन्धी सादृश्य होने पर ही उसमें समासभेद माना जा सकता है। उदाहरण :

**'तया विवृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षुः कुमुदः कुमार्याः।**
**प्रसन्नचेताः सलिलः शिवोऽभूत् संसृज्यमानः शरदेवलोकः।।'**

—चि.मी., पृ. 84

यहां देवी के साथ विवृद्धाननचन्द्रकान्ति का उपमितसमास है,[311] तथा शरद् के साथ 'मयूरव्यंसकादि'[312] समास। उपमित समास में पूर्वपद प्रधान होता है। अतः 'आननं चन्द्र इव' से यहां मुख की प्रधानता सिद्ध होती है। आनन का सम्बन्ध देवी से है और चन्द्र का शरद् से। आनन तथा चन्द्र में प्रतीयमान साधारण धर्म सौन्दर्य के कारण सादृश्य है। अतएव देवी तथा शरद् में सादृश्य संभव है।

अप्पयदीक्षित ने इन भेदों के मिश्रण में भी उपमा स्वीकार की है[313] तथा एक, दो या तीन के भी मिश्रण का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जगन्नाथ ने इनका संकेतमात्र कर दिया है। किन्तु विश्वेश्वर ने सविस्तार उदाहरण तथा विवेचन[314] प्रस्तुत किया है। विश्वेश्वर ने तो दीक्षित से भी अधिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। अप्पयदीक्षित का यह भी कथन है कि बिम्बप्रतिबिम्बभाव के उदाहरणों में कतिपय विशेषतायें भी पायी जाती हैं। कहीं साधर्म्य के प्रतीयमान होने के कारण प्रतीयमान दो साधर्म्यों का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होता है, जैसे 'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः' इत्यादि में। कहीं साधर्म्य के अप्रसिद्ध होने के कारण जिस किसी भी प्रकार से उपात्त साधारण धर्मों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है, जैसे 'तया विवृद्धाननचन्द्रकान्त्या' में है।[315]

जैसा कि कहा जा चुका है, जगन्नाथ धर्म का केवल शब्दात्मक भेद भी मानते हैं। वस्तुतः केवल शब्द साम्य के आधार पर या विशेषण, उपचार, समास, आदि के शाब्दिक आधार पर जहां भी साम्य हो औपम्य की कल्पना कर लेना उपयुक्त नहीं है। शब्दसाम्य का संपूर्ण सौन्दर्य शब्दालंकारों की कोटि में ही रखना चाहिये। उपचार, समास, आदि में शब्द सहायक हो सकता है, किन्तु जब तक अर्थ द्वारा उत्पन्न शब्द सादृश्य प्रतीति का विषय न बन जाये तब तक उसे उपमा का बोधक नहीं कहना चाहिये। इसलिये श्लेष, उपचार, समास, आदि भेदों के आधार पर जहां भी आपाततः शब्दसाम्य हो उपमा आदि अलंकार मानना अनुचित है। उपमा-लक्षण

की वृत्ति में सर्वस्वकार ने 'अर्थालंकार प्रकरणमिदम्' तथा श्लेषालंकार में 'न गुणक्रियासामान्यावच्छेब्दसाम्यमुपमा प्रयोजकम्'[316] आदि लिखकर उपमा की अर्थवत्ता स्वीकार किया है। अतएव स्पष्ट है कि शब्दसाम्य में उपमा संभव नहीं है, भले ही उपमा की आभासिक प्रतीति हो।

### उपमा वाचक

उपमेय तथा उपमान में रहने वाले सादृश्य निर्देशक तत्त्व को वाचक कहा जाता है। वे अनेक हो सकते हैं—इव, यथा, तुल्य, वत्, वा, समान, निभ, संनिभ, नीकाश, संकाश, प्रकाश, प्रतिपक्ष, प्रतिरूपक, प्रतिद्वन्द्वी, प्रत्यनीक, विरोधी, सदृक्, सदृश, संवादी, सजातीय, अनुवादी, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छेद, सरूप, सम, संमित, लक्षण, सदृक्ष, समक्ष, उपमित, उपमा, कल्प, देश्य, देशीय, प्रख्य, प्रतिनिधि, स्वर्ण, तुलित, अन्यून तथा इन शब्दों के अभिधायक स्पर्धते, जयति, विडम्बयति, आदि क्रियापद भी उपमा वाचक हो सकते हैं।[317]

इव, यथा, आदि तथा तुल्य, सदृश, आदि शब्दों में आचार्यों ने भेद मान रखा है। जैसा कि कहा जा चुका है, इवादि के प्रयोग में साधर्म्य वाच्य होता है, तथा सादृश्य अर्थगम्य। इसी प्रकार तुल्यादि के प्रयोग में सादृश्य वाच्य होता है और साधर्म्य अर्थगम्य। वस्तुतः इन उपमा द्योतक शब्दों को उपमान का विशेषण माना जाता है और इन्हीं के आधार पर उपमा का श्रौती तथा आर्थी विभाग किया जाता है।[318]

> **'यथेवेवादयो हि शब्दाः यतः पराः श्रूयन्ते तस्यैव शब्दस्यार्थ उपमानतया नियमेन प्रतीयत इति उपमानस्यैव भेदका एते, उपमेयाभिसम्बन्धस्त्वार्थ इति यद्यपि प्रतिभासस्तथापि साधर्म्यस्यैकत्वात् शब्देनैव साधर्म्यं प्रतिपादयन्ति।'** संप्र. प्रका., पृ. 253

'यद्धि यदर्थे धर्मविशेषं प्रतिपादयति तत्तद्विशेषणम्' तथा 'एकविशेषणं नापरत्र स्वार्थं 'प्रत्याययति' इत्यादि नियम के अनुसार 'मुखं कमलमिव सुन्दरम्' जैसे स्थलों में 'इव' शब्द कमल के बाद प्रयुक्त होने से उसी का विशेषण है। इसलिये उसका सम्बन्ध उपमान से ही हो सकता है, उपमेय से नहीं? इस प्रश्न का समाधान मम्मट ने प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार 'राज्ञोराज्यम्' आदि में षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध राजा से ही है और उसी का बोध भी कराती है, तथापि वह राजा और राज्य में स्वस्वामिभाव सम्बन्ध को भी व्यक्त करती है। उसी प्रकार शब्दशक्ति के माहात्म्य से इवादि यद्यपि

उपमान के विशेषण होने से उन्हीं से सम्बद्ध होते हैं, तथापि उपमान और उपमेय के सम्बन्ध को स्वभावतः सुनते ही बता देते हैं।[319] विद्याचक्रवर्ती ने एक श्लोक उद्धृत किया है :

**'भेदकत्वेऽपि नियते षष्ठीवदिवादयः।**
**द्विष्ठं श्रुत्यैव सम्बन्धं गमयन्ति स्वभावतः।।** —सं.प्र., पृ. 253

द्योतक शब्दों के उपमानादि से साक्षात् सम्बन्ध होने पर उपमा शाब्दी या श्रौती कही जाती है।

इव के अर्थ में जहां वत् (तत्रतस्येव, पा. 5/1/116) प्रत्यय होता है, वहां भी उपमा श्रौती ही मानी जाती है। उपमा वाचक तुल्यादि शब्दों के प्रयोग में जहां शब्दों का नियमतः किसी एक के विशेष रूप में उपादान नहीं होता वहां उपमा आर्थी होती है। 'तेनेदं तुल्यम्' 'तत्तुल्यमस्य' 'इदं च तच्च तुल्यम्' इस प्रकार के प्रयोगों में 'तुल्य' का प्रयोग क्रम से उपमेय, उपमान तथा उपमानोपमेय दोनों के विशेषण रूप में आया है। इस प्रकार तुल्य सदृश, सन्निभ, आदि उपमावाचक शब्द नियमतः किसी के विशेषण नहीं होते। इसीलिये इनके द्वारा होने वाली औपम्य प्रतीति शाब्द न होकर आर्थ मानी जाती है।[320]

### उपमा-भेद

उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा उपमा वाचक—इन चारों उपमा तत्त्वों के उपात्त रहने पर उपमा पूर्णा होती है। इनमें से किसी एक, दो या तीन के अभाव में उपमा लुप्ता कही जाती है।[321]

### ऋग्वेद में उपमा-भेद

निघण्टु प्रोक्त बारह उपमा वाचक निपातों के निरूपण में उपमा-भेदों को भी बताया जा चुका है। जैसा कि वहां निरूपण किया गया है, उससे यही सिद्ध होता है कि इवादि के योग में ऋग्वेद में भी उपमा पूर्णा तथा धर्मलुप्ता दो प्रकार की होती है। यथा—न, चित्, नु, आ, भूत तथा वत् के प्रयोग में भी उपमा पूर्णा होती है। 'ब्राह्मणा व्रतचारिणः' आदि में धर्म तथा वाचक दोनों ही लुप्त हैं। रूप तथा वर्ण प्रयुक्त उपमा में धर्म लुप्त है और 'तथा' के प्रयोग में उपमेय लुप्त। इससे यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद में भी एकलुप्ता, द्विलुप्ता तथा त्रिलुप्ता उपमा-भेद प्राप्य हैं। पूर्णा तो है ही। निरुक्तप्रोक्त पांच प्रकार के उपमा-भेदों में कर्मोपमा तथा

सिद्धोपमा को ही उपमा माना जाना चाहिये। भूतोपमा, रूपोपमा तथा लुप्तोपमा को 'रूपक' कहना अधिक उपयुक्त होगा। इव के लिये वेद में वत् का प्रयोग किया जाता है, इसे भी पहले कहा जा चुका है।[322] इवादि लुप्ता का उदाहरण निम्न ऋचा हो सकती है :

**'तोदः शत्रूणां सरथमवस्युतोदो वातस्य हर्योरीशानः।'** ऋ., 16/11

यहां इन्द्र की स्तुति की गई है : 'हे इन्द्र, शत्रुहिंसक तुम वायु समान वेग वाले अश्वों से युक्त समान रथ में कुत्स के साथ (युद्ध में) जाते हो।' यहां इव तथा धर्म वेग दोनों ही लुप्त हैं। आचारार्थ में कर्ता से क्यच् प्रत्यय होने पर लुप्तोपमा का एक भेद मम्मट आदि ने स्वीकार किया है, वेद में इसके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं :

**'इन्द्रः सोमस्य पीतये वृषायते'** —ऋ. 1/55/2

'इन्द्र सोम पीने के लिये वृष के समान व्यवहार (आचरण) करता है।' यहां 'वृष इवाचरति' इस प्रकार 'इव' तो लुप्त ही है, साधारण धर्म 'हर्षादि' भी लुप्त है। इसी प्रकार अन्य स्थल भी देखे जा सकते हैं।[323]

परवर्ती काव्य साहित्य में तो उपमा के अनेक भेदों के उदाहरण पाये जाते हैं।

भरत ने उपमा के पांच भेदों का विवेचन किया है : प्रशंसोपमा, निन्दोपमा, कल्पितोपमा, सदृशी तथा 'किंचित्सदृशी'।[324] प्रतीत होता है कि भरत के समय में ही उपमा के और भी भेद प्रचलित थे, क्योंकि उपमा के अन्य भेदों को उन्होंने काव्य तथा लोक से जान लेने का संकेत किया है।[325]

भामह ने तीन प्रकार की उपमा का उल्लेख किया है : इवादि के योग में, इवादि के अभाव में समासगा, तथा इव के स्थान पर वत् का प्रयोग होने पर।[326] भामह ने यह भी कहा है कि इन्हीं तीनों भेदों को अन्य लोग प्रशंसोपमा, निन्दोपमा तथा आचिख्यासोपमा मानते हैं।[327] दंडी ने लगभग तीस प्रकार की उपमा का विवेचन किया है। वे इस प्रकार हैं: धर्मोपमा, वस्तूपमा, विपर्यासोपमा, अन्योन्योपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, समुच्चयोपमा, अतिशयोपमा, उत्प्रेक्षितोपमा, अद्भुतोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निर्णयोपमा, श्लेषोपमा, निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, आचिख्यासोपमा, विरोधोपमा, प्रतिषेधोपमा, चाटूपमा, तत्त्वाख्यानोपमा, असाधारणोपमा, अभूतोपमा, असंभावितोपमा, बहूपमा, विक्रियोपमा, मालोपमा (द्विधा), प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगोपमा तथा हेतूपमा।[328] दंडी के इन तमाम उपमा भेदों का परवर्ती आचार्यों के भेदों से कोई साम्य नहीं है। यह अवश्य है कि उपमा

के इन भेदों में कतिपय भेद बाद में कहे गये अलंकारों के वीज अवश्य हैं। दंडी का विपर्यासोपमा, अन्योन्योपमा, मोहोपमा, संशयोपमा तथा प्रतिवस्तूपमा उपमा-भेद बाद का क्रमशः प्रतीप, उपमेयोपमा, भ्रान्तिमान्, सन्देह और प्रतिवस्तूपमा अलंकार है। उनकी निर्णयोपमा ही बाद के आलंकारिकों का निश्चय नामक अलंकार है। दंडी के इन समस्त भेदों को अजितसेन तथा अग्निपुराण को छोड़कर और किसी ने भी नहीं माना है।

उपमा विभाजन में सर्वप्रथम उद्भट ने व्याकरण का सहारा लिया है।[329] और उन्हीं का प्रायः अनुसरण परवर्ती सभी आलंकारिकों ने किया है। उद्भट के उपमा-भेदों पर उनके टीकाकरों में विवाद है। प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार उद्भट सत्रह भेद मानते हैं, राजानकतिलक के अनुसर इक्कीस। इन्दुराज के मत में पूर्णोपमा पांच प्रकार की है, और लुप्तोपमा बारह प्रकार की। पूर्णा पांच प्रकार की होती है—वाक्यगत, समासगत और तद्धितगत होने से पहले तीन भेद होते हैं। तद्धितगा और वाक्यगा श्रौती, आर्थी भेद से चार प्रकार की होती है। समासगा, केवल आर्थी—'समासोपगम्या त्वार्थत्वेन एक प्रकारैवोक्ता'—ल.वृ., पृ. 19 होती है। इस प्रकार इन्दुराज के अनुसार पूर्णा केवल पांच प्रकार की है।[330] लुप्तोपमा के पहले पांच भेद होते हैं—वाक्यगा, समासगा, सुब्धातु, कृदन्त तथा तद्धितगा भेद से।[331] वाक्यगा लुप्ता का केवल एक भेद होता है। समासगा का एक लोप, द्विलोप तथा त्रिलोप भेद से पहले तीन प्रकार होता है, पुनः एकलुप्ता, द्विधा होती है साधारण धर्म और इवादि के लुप्त होने से। इस प्रकार समासगा लुप्ता चार प्रकार की होती है :

> **'तदेवमत्र चतुः प्रकारा लुप्ता समासोपमा प्रतिपादिता। एकलोपे द्वे, द्वितयलोपे एका, त्रितयलोपे चैकेति।'** —वही, पृ. 23

सुब्धातु लुप्ता के पहले तीन भेद होते हैं, क्यच्, क्यङ् तथा क्विप् गत होने से। पुनः क्यच् गता कर्म तथा अधिकरण में होने से दो प्रकार की होती है। इस प्रकार सुब्धातुलुप्ता भी चार प्रकार की होती है। क्यङ्गता केवल कर्त्रर्थ में होती है तथा क्विबगता भी कर्त्रर्थ में ही होती है। कृत् लुप्ता कृर्त तथा कर्मगतत्त्व होने से द्विधा होती है, तथा तद्धित लुप्ता एक प्रकार की होती है। इस प्रकार वाक्यगा के एकभेद, समासगा तथा सुब्धातु लुप्ता के चार-चार भेद, कृत् लुप्ता के दो भेद और तद्धितलुप्ता के केवल एक भेद कुल मिलाकर लुप्तोपमा बारह प्रकार की होती है। और कुल सत्रह भेद (पूर्णा लुप्ता को मिलाकर) उपमा के हो जाते हैं।[332]

तिलक के अनुसार पूर्णोपमा में समासगा भी श्रौती होती है, इस प्रकार पूर्णा

षट् प्रकार की होती है। लुप्ता के प्रथम पांच भेद—वाक्य, समास, सुब्धातु, कृत्, तथा तद्धित—इन्दुराज के ही समान हैं किन्तु उपभेदों में मतभेद है। तिलक के अनुसार वाक्यगा लुप्ता श्रौती-आर्थी भेद से दो प्रकार की होती है। समासगा पांच प्रकार की होती है : एकलुप्ता, द्विलुप्ता तथा त्रिलुप्ता भेद इन्दुराज के ही समान है, किन्तु एकलुप्ता में मतभेद है। तिलक के अनुसार एकलुप्ता पहले दो प्रकार की होती है धर्म और इवादि लुप्ता। पुनः धर्मलुप्ता श्रौती आर्थी भेद से दो प्रकार की होती है। इस प्रकार एकलुप्ता के तीन भेद मिलाकर समासगा लुप्ता पांच प्रकार की होती है। सुब्धातु लुप्ता भी पांच प्रकार की होती है। क्यच्, क्यङ् तथा क्विप् गत भेद तो पूर्ववत् है। क्यच् गता कर्म और अधिकरण दोनों में होती है। यह भी तिलक को मान्य है, किन्तु कर्मक्यच् गता के तिलक एकलुप्ता, द्विलुप्ता से दो भेद करते हैं। इस प्रकार क्यच् गता के तीन भेद मिलाकर सुब्धातु लुप्ता पांच प्रकार की होती है। कृत् तथा तद्धितगा का विवेचन इन्दुराज के ही समान है। इस प्रकार वाक्यगालुप्ता के दो, समासगा तथा सुब्धातुलुप्ता के पांच-पांच, कृत् लुप्ता के दो और तद्धितगा के एक भेद को मिलाकर लुप्तोपमा पन्द्रह प्रकार की हो जाती है। पूर्णा, लुप्ता कुल मिलाकर तिलक के अनुसार उद्भट इक्कीस उपमा-भेद मानते हैं।[333]

वामन ने सर्वप्रथम उपमा के कल्पिता[334] तथा लौकिकी दो भेद किये हैं। पदार्थ वृत्ति और वाक्यार्थ वृत्ति से कल्पिता[335] का दो भेद उन्होंने स्वीकार किया है। यद्यपि उन्होंने पूर्णा, लुप्ता का उल्लेख किया है, किन्तु भेद प्रतिपादन नहीं किया है।[336] लुप्तोपमा[337] का प्रयोग वे स्तुति, निन्दा तथा तत्त्वाख्यान में मानते हैं। लौकिकी उपमा को वामन संभवतः उपमा-दोष[338] स्वीकार करते हैं।

रुद्रट ने भी वाक्य, समास तथा तद्धितगत रूप से पहले उपमा का तीन भेद माना है। पुनः वाक्यगा के छः भेद, समासगा के तीन भेद और तद्धितगा का एक भेद मानकर[339] उपमा के कुल दश भेदों का विवेचन उन्होंने किया है। वाक्योपमा का प्रथम भेद पूर्णोपमा है, द्वितीय धर्मलुप्ता, तृतीय उभयोपमा (उपमेयोपमा), चतुर्थ अनन्वयोपमा, पंचम कल्पिता तथा षष्ठ भेद उत्पाद्योपमा है। समासोपमा का प्रथम भेद इवादि लुप्ता, द्वितीय भेद पूर्णा तथा तृतीय धर्मेवादिलुप्ता का है। प्रत्ययोपमा (तद्धितगा) को अन्तर्भूतइवार्था भी उन्होंने कहा है, इसे भी क्यजादिगत लुप्ता ही मानना चाहिये। उभयोपमा तथा अनन्वयोपमा बाद के क्रमशः उपमेयोपमा और अनन्वय अलंकार हैं। इन भेदों के अतिरिक्त रुद्रट ने मालोपमा, रसनोपमा, समस्तवस्तुविषया तथा एकदेशविवर्तिनी उपमा का भी विवेचन किया है।[340] पूर्णा लुप्ता विभाग में तो रुद्रट, उद्भट का भी अनुकरण नहीं कर पाये हैं, किन्तु नवीन

मालोपमा आदि भेदों की उद्भावना का श्रेय रुद्रट को अवश्य ही है।

कुन्तक का उपमा-भेद सुस्पष्ट नहीं है। कुछ भेद इस प्रकार हैं: अमुख्यक्रियापदपदार्थोपमा, इवादिप्रतिपाद्यपदार्थोपमा, आख्यातपदप्रतिपाद्यपदार्थोपमा, तथा ये ही तीन भेद वाक्यार्थोपमा के होकर कुल छः भेद होते हैं।[341] कुन्तक का यह भी कथन है कि इवादि के अतिरिक्त तथा आदि शब्दों से भी कभी-कभी उपमा होती है :

**'इवादिव्यतिरिक्तेनापि तथादि शब्दोत्तरेणोपमा प्रतीतिर्भवतीति'**

—व.जी., पृ. 199-200

उन्होंने बाद में 'यान्त्या मुहुर्बलित' (मा.मा. 1/28) 'मांजिष्ठीकृतपट्टसूत्र' सदृशः (बालरामायण 3/10) 'रामेण मुग्धमनसावृषमध्वजस्य' (बालरामायण 3/80), 'महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिः' (कु.सं. 1/27) आदि उदाहरण का भी संकेत किया है, किन्तु वे स्पष्ट नहीं हैं।

भोज ने वाच्योपमा के चौबीस भेद माने हैं। पदोपमा, वाक्योपमा तथा प्रपंचोपमा रूप से मुख्यतः तीन भेद होते हैं। प्रत्येक के आठ-आठ भेद होकर कुल मिलाकर चौबीस भेद होते हैं।[342] पदोपमा पहले द्विधा होती है, समासगा तथा प्रत्ययगा। दोनों के ही चार-चार भेद होते हैं। समासोपमा अन्तर्भूतइवार्था, अन्तर्भूतसामान्या, अन्तर्भूतोभयार्था तथा सर्वसमासा भेद से चार होती है और प्रत्ययोपमा भी उपमेयार्थप्रत्यय, उपमानार्थप्रत्यय, सामान्यार्थप्रत्यय तथा इवार्थप्रत्यय भेद से चार प्रकार की होती है।[343] वाक्योपमा भी पदार्थगत तथा वाक्यार्थगत भेद से पहले दो प्रकार की होती है। पदार्थोपमा के चार भेद होते हैं—पूर्णा, लुप्ता, लुप्तपूर्णा तथा पूर्णलुप्ता। वाक्यार्थोपमा के भी चार भेद किये गये हैं: एकेवशब्दात्मिका, अनेकेव शब्दात्मिका, इवादिशून्या तथा वैधर्म्यवती। इस प्रकार वाक्योपमा भी आठ प्रकार की हुई।[344] जहां वाक्य और अर्थ में सादृश्य प्रतीति वाक्य तथा अर्थ के विस्तार से होती है, वहां प्रपंचोपमा होती है।[345] वह भी पहले दो प्रकार की होती हैः प्रकृत तथा विकृत रूप से। प्रकृतोपमा चार प्रकार की होती है : समस्तोपमा, एकदेशोपमा, मालोपमा तथा रसनोपमा भेद से। विकृतोपमा भी चतुर्धा होती है : विपर्यासोपमा, उभयोपमा, उत्पाद्योपमा तथा अनन्वयोपमा रूप से।[346] भोज के अनुसार उपमा के ये चौबीस भेद अभिधेय होते हैं। इसके अतिरिक्त उपमाऽगम्य भी होती है। इस प्रकार भोज के अनुसार उपमा के कुल पचीस भेद हो जाते हैं।

भोज के उपमा-विभाजन में नाममात्र का भेद है। विवेचनोपरान्त वे उद्भट के भेदों से अतिरिक्त नहीं हैं। 'अन्तर्भूतइवार्था' वाचकलुप्ता से व्यतिरिक्त नहीं है। जैसे—'मुखमिन्दुसुन्दरं ते बिसकिसलयकोमले भुजालतिके' आदि भोज के उदाहरण में इवादि लुप्त है। अन्तर्भूतसामान्या धर्मलुप्ता है। उदाहरण के लिये 'चन्द्रसदृशं मुखमस्या अमृतसदृक्षश्च मुखरसस्तस्याः' इत्यादि में सुन्दर, मधुर साधारण धर्मलुप्त है। अन्तर्भूतोभयार्थाधर्मवाचकलुप्ता ही है। 'कमलकरा रम्भोरुः कुवलयनयना मृगांकवदनासा' इत्यादि में 'कमलाविव ताम्रौ करौ' इत्यादि विग्रह से यहां इव तथा ताम्र धर्म दोनों ही लुप्त हैं। इसी प्रकार कुवलयनयना तथा मृगांकवदना में भी धर्मेवादि लुप्त है। सर्वसमासा भी वाचक लुप्ता ही है। उन्हीं के उदाहरण 'शरदिन्दुसुन्दरमुखी कुवलयदलदीर्घलोचना सामे' इत्यादि में उपमा वाचक 'इव' पद लुप्त है।[347] इसी प्रकार उपमेयार्थ प्रत्यय 'हंसोध्वांक्षविरावी स्यादुष्ट्रक्रोशी च कोकिलः' इत्यादि में भी इवार्थ में 'कतुर्युपमाने' (पा. 3/2/79) से णिनि प्रत्यय हुआ है। ध्वांङ्क्षविरावी और उष्ट्रक्रोशी का 'ध्वाङ्क्ष इव विरौति' तथा 'उष्ट्र इव क्रोशति' यह अर्थ होता है। अतएव यह भी वाचकलुप्ता ही है।[348] इसी प्रकार उपमानार्थ प्रत्यय भी धर्मवाचक लुप्त से व्यतिरिक्त नहीं है। 'पूर्णेन्दुकल्पवदना, मृणालीदेश्य दोर्लता' इत्यादि में भी वत् के अर्थ में क्रमशः 'कल्पप्' तथा 'देश्य' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। सुन्दर आदि धर्म भी लुप्त है।[349] सामान्यार्थ प्रत्यय वाला उदाहरण भी वादिलुप्ता का ही है।[350] 'सूर्यीयति सुधारश्मिः मन्मथोऽतिमृतायते' इत्यादि उदाहरण में आचार अर्थ में कर्ता से 'क्यच्' और क्यङ् प्रत्यय हुआ है।[351] इवार्थ प्रत्यय वाला भेद भी नवीन नहीं है। इवार्थ के लिये 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' से 'वत्' का प्रयोग किया गया है। उदाहरण है भोज का—'एकएव हि भूतात्मा ......... दृश्यते जलचन्द्रवत्' पदार्थोपमा का पूर्णाभेद कोई नवीन नहीं है। सामान्यधर्म तथा द्योतक इवादि के लोप में लुप्ता होती है। धर्म के लोप में भोज ने लुप्तपूर्णा माना है तथा द्योतक के लोप में पूर्णलुप्ता। वाक्यार्थोपमा का अनेकेवशब्दा भेद साधारण धर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव में होता है। रुय्यक आदि प्रदत्त 'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः' इत्यादि को भोज ने इसका उदाहरण माना है। अनेकेवशब्दा को साधारणधर्म का उपचार भेद माना जा सकता है। वाक्योपमा के प्रकृतभेद का निरूपण—जिसमें एकदेशोपमा, मालोपमा, रसनोपमा, आदि आती हैं, रुद्रट ने ही कर दिया था। विपर्यासोपमा बाद का प्रतीप अलंकार है। उभयोपमा, उपमेयोपमा से व्यतिरिक्त नहीं है। उत्पाद्योपमा कल्पितोपमा ही है, जिसका खंडन पहले किया जा चुका है। अनन्वयोपमा अनन्वय अलंकार से व्यतिरिक्त नहीं है। इस प्रकार भोज ने उपमा

के भेदोपभेद में कोई नवीनता की उद्भावना नहीं की। परन्तु उनकी संग्रही प्रवृत्ति को अवश्य ही महत्त्व प्रदान करना पड़ेगा।

उपर्युक्त दृष्टि से विचार किया जाये तो उपमा के विस्तार में मम्मट का योग न्यून ही ठहरता है। मम्मट ने उद्भट तथा उनके टीकाकार तिलक द्वारा प्रतिपादित भेदों को स्थापित किया। आगे चलकर प्रायः सभी आलंकारिकों ने राजानक, तिलक और मम्मट द्वारा समर्थित भेदों को ही अधिक मान्यता प्रदान की है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित पूर्णोपमा के छः भेद राजानक तिलक के ही अनुसार है। लुप्तोपमा के मम्मट ने उन्नीस भेद किये हैं।[352] धर्मलुप्ता पूर्णोपमा के ही समान है, परन्तु तद्धितगा केवल आर्थी ही संभव है। अतएव मम्मट के अनुसार धर्मलुप्ता के पांच भेद होते हैं। उपमानलुप्ता वाक्यगा और समासगा भेद से दो प्रकार की होती है। यह केवल आर्थी होती है। वादिलुप्ता, केवल आर्थी छः प्रकार की होती है : समासगा, कर्मक्यज्गाता, आधारक्यज्गाता, कर्ता में क्यङ् होने पर, कर्म में णमुल् तथा कर्ता से णमुल् प्रत्यय होने से। धर्मवादि लुप्ता केवल आर्थी क्विब्गा तथा समासगा भेद से द्विधा होती है। धर्मोपमानलुप्ता भी केवल आर्थी वाक्यगा तथा समासगा भेद से दो प्रकार की होती है। वाद्युपमेय लुप्ता केवल आर्थी समासगा मात्र होती है। त्रिलुप्ता भी केवल आर्थी समासगा—एक ही प्रकार की होती है। इस प्रकार लुप्तोपमा के कुल मिलाकर उन्नीस भेद होते हैं। पूर्णोपमा के छः भेदों को मिलाकर मम्मट के अनुसार उपमा के पचीस भेद हो जाते हैं। इन भेदों के अतिरिक्त मम्मट ने भी मालोपमा (साधर्म्यवती तथा वैधर्म्यवती) का उदाहरण दिया है तथा उक्त प्रकार की रशनोपमा का भी दो उदाहरण प्रस्तुत किया है। किन्तु मम्मट के अनुसार उपमा के इन भेदों में कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है :

> **'एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा ......... इत्यादिका रशनोपमा च न लक्षिता, एवंविधवैचित्र्यसहस्र संभवात्उक्तभेदादनतिक्रमाच्च।'**
>
> —का.प्र., पृ. 580

अग्निपुराण में अठारह स्फुटया शुद्ध भेद प्रतिपादन के पश्चात् दंडी सम्मत इन भेदों का प्रतिपादन किया गया है—धर्मोपमा, वस्तूपमा, परस्परोपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, विपरीतोपमा, समुच्चयोपमा, व्यतिरेकोपमा, बहूपमा, मालोपमा, विक्रियोपमा, अद्भुतोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निश्चयोपमा, वाक्यार्थोपमा, साधारणोपमा, अतिशयोपमा तथा गगनोपमा। इनके अतिरिक्त प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी और किंचित्सदृशी का भी विवेचन किया गया है।[353] वस्तुतः

अग्निपुराण का काव्य-भाग अंश संग्रह-प्रयास है। इसलिये उसमें भरत से लेकर पूर्वाचार्यों के भेदों का समावेश उपलब्ध होता है। अग्निपुराण की भी परस्परोपमा, विपरीतोपमा, समुच्चयोपमा, व्यतिरेकोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निश्चयोपमा तथा वाक्यार्थोपमा क्रमशः उपमेयोपमा, प्रतीप, समुच्चय, व्यतिरेक, भ्रान्तिमान्, संदेह, निश्चय और निदर्शना अलंकार से व्यतिरिक्त नहीं है। शोभाकर भी इन भेदों का उल्लेख नहीं करते।

रुय्यक ने पूर्णा, लुप्ता का निर्देशमात्र किया है। भेदोपभेद का विवेचन[354] उन्होंने उचित नहीं समझा। संभवतः इनकी व्याकरणमूलकता ही उनके न विवेचन का कारण हो।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट सम्मत भेदों को तो स्वीकार किया ही है, उनके अतिरिक्त उन्होंने कुछ भेद दंडी तथा भोज के अनुसार भी किया है। उदाहरणस्वरूप अनेक द्योतका, सर्वद्योतका, द्योतकोज्झिता, धातुद्योत्या, विपर्यासवती, वैधर्म्यवती, नियमोपेता, अनियमोपेता, विक्रियोपमा, अतिशयोपमा, प्रतिषेधोपमा, अद्भुतोपमा, उत्प्रेक्षोपमा, श्लोषोपमा लौकिकी तथा कल्पितोपमा भी उन्हें मान्य है। नरेन्द्रप्रभ की प्रवृत्ति को भी इस प्रकार संग्रही ही कहना पड़ेगा।[355]

हेमचन्द्र ने मम्मटोक्त भेदों का संक्षिप्तीकरण किया है। पूर्णा को द्विधा विभाजित किया है : वाक्य और वृत्ति भेद से। वाक्योपमा का एक ही उदाहरण दिया है। वृत्ति को समास तथा तद्धित भेद से दो प्रकार का माना है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में पूर्णा के तीन ही भेद होते हैं। उन्होंने शाब्दी, आर्थी, आदि विभाजन का संकेत नहीं किया है। लुप्तोपमा में एक, दो या तीन तत्त्वों के भेद को वह भी मानते हैं। उसका भी विभाजन हेमचन्द्र वाक्य और वृत्ति के आधार पर करते हैं। वाक्यगा एकलुप्ता के उन्होंने पहले दो उदाहरण दिये हैं: उपमान और धर्मलोपोपमा। द्विलुप्ता का केवल एक उदाहरण प्रस्तुत किया है,[356] जिसमें धर्म और उपमानलुप्त हैं। वाक्यगा उपमा में उपमेय तथा वाचक का लोप नहीं हो सकता।[357] वृत्ति-समास, तद्धित तथा नामधातु भेद से तीन प्रकार की होती है—'सा च समासतद्धितनामधातुभेदेन त्रिविधा लुप्तायाम् ………।' वही, पृ. 342

एकलुप्ता के वृत्तिगत समास में उन्होंने उपमान, धर्म तथा वादिलुप्ता के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उसमें कर्म और कर्ता से णमुल् तथा कर्ता से 'णिनि' होने पर वादिलोप भी सम्मिलित है। तद्धितगा एकलुप्ता के उदाहरण में उन्होंने वत् के लिये कल्पप्, देश्य तथा देशीय्र प्रत्यय का प्रयोग किया है,[358] जहां धर्मलुप्त है। नामधातु वाला उदाहरण भी भोज से लिया गया है, जिसमें कर्म तथा आधार अर्थ

में क्यच् तथा कर्मार्थ में क्विप् और क्यङ् प्रत्यय किया गया है।[359] इसे हेमचन्द्र ने वादिलुप्ता माना है। इसी प्रकार द्विलुप्ता समासगा में धर्मोपमान तथा धर्मवादिलोप माना है। नामधातु द्विलोप में धर्मवादि तथा उपमेयवादि लोप माना है। त्रिलुप्ता में धर्मवादि तथा उपमान लोप को उन्होंने स्वीकार किया है।[360] इस प्रकार हेमचन्द्र के अनुसार उपमानलुप्ता के दो भेद, धर्मलुप्ता के दो भेद, वादिलुप्ता के ग्यारह भेद, धर्मोपमानलुप्ता के दो भेद तथा धर्मवादिलुप्ता के दो भेद, उपमेयवादिलुप्ता का एक भेद तथा धर्मोपमान वाचक लुप्ता का एक भेद को मिलाकर लुप्तोपमा के इक्कीस भेद हो जाते हैं। लुप्ता के अतिरिक्त भेद-इवार्थ में णिनि, कल्पप्, देश्य, देशीयर् तथा कर्ता अर्थ में इव के लिये क्विप् का प्रयोग होने पर—जो हेमचन्द्र ने बताया है, उसमें रुद्रट तथा भोजराज को ही अधिक महत्त्व देना होगा। भोज प्रदर्शित भेदों को हेमचन्द्र ने प्रकारान्तर से या शब्दान्तर से व्यक्त किया है। उपमेय लोप को उपमा में आलंकारिक उचित नहीं मानते। इन भेदों के अतिरिक्त उन्होंने मालोपमा (दो भेद), रशनोपमा (दो भेद), समस्तविषया, एकदेशविषया, उपमेयोपमा, अनन्वय, उत्पाद्योपमा तथा कल्पितोपमा को भी उपमा का भेद माना है। उपमेयोपमा आदि को वे पृथक् अलंकार नहीं मानते।[361]

**'आसां हि पृथक् लक्षणकरण एवं विधवैचित्र्यसहस्रसंभवादतिप्रसंगः स्यादिति।'**
—वही, पृ. 348

वाग्भट (1) ने अभिधीयमानसादृश्या तथा प्रतीयमानसादृश्या भेद से—उपमा को दो प्रकार का बताया है। उनका अन्योन्योपमा उपमेयोपमा ही है। 'क्रियाभेद' नामक उपमा-भेद अनन्वय अलंकार है। उपमेय प्रचुरोपमा 'समुच्चयालंकार' से व्यतिरिक्त नहीं है। उपमान प्रचुरोपमा मालोपमा ही है।[362] वाग्भट (2) के अनुसार उपमा के मुख्य चार[363] भेद हैं : प्रत्यय, अव्यय, तुल्यार्थ तथा समासगा।

दंडी द्वारा प्रतिपादित 'धर्मोपमा' आदि का संकेत उन्होंने भी किया है और उन्हें दंडी के ग्रन्थ में ही देखने का संकेत किया है।[364]

जयदेव ने चन्द्रालोक में उपमा का लक्षण उदाहरण मात्र दिया है। भेद का कोई संकेत नहीं है और नहीं पूर्णा, लुप्ता जैसा कोई विभाजन है। उनका उदाहरण पूर्णोपमा का माना जा सकता है। उपमा विवेचन के अनन्तर वे अनन्वय तथा उपमेयोपमा का विवेचन करते हैं। तत्पश्चात् प्रतीपोपमा, ललितोपमा, स्तवकोपमा,[365] तथा संपूर्णोपमा (पूर्णोपमा से व्यतिरिक्त) का विवेचन करते हैं। यदि इन चार भेदों को उपमा से पृथक् न माना जाये तो क्रम-दृष्टि से यह कहना पड़ेगा कि जयदेव

भी अनन्वय तथा उपमेयोपमा को उपमा भेद ही मानते हैं।

विद्याधर ने पूर्णोपमा मम्मट की ही तरह छः प्रकार की मानी है। धर्मलुप्ता के पांच भेद, उपमानलुप्ता के दो भेद तथा वादिलुप्ता के छः भेद भी मम्मट के ही समान हैं। द्विलुप्ता, त्रिलुप्ता का उन्होंने केवल एक-एक भेद[366] माना है। विद्याधर की दृष्टि में 'कल्पप्' आदि प्रत्यय इवादि बोध में समर्थ नहीं हैं :

**'कल्पबादेरिवार्थविधानाभावात्'** —एकावली, पृ. 201

एकावलीकार साधारणधर्म के आधार पर उपमा का दो भेद स्वीकार करते हैं : वस्तुप्रतिवस्तुभाव और बिम्बप्रतिबिम्बभाव भेद से।[367]

विद्यानाथ पूर्णा, लुप्ताभेद मम्मट के समान ही मानते हैं।[368] धर्म के आधार पर होने वाले उनके विभाजन का विवेचन पहले ही किया जा चुका है। समस्तवस्तु विषया, एकदेशविवर्तिनी और मालोपमा भी उन्हें स्वीकार है।[369] विश्वनाथ क्विप् गता इवादिलुप्ता तथा कर्मक्यज्गता उपमेय लुप्ता—दो भेद मम्मट से अधिक मानकर उपमा के सत्ताईस भेद करते हैं। इनके अतिरिक्त एकदेशविवर्तिनी मालोपमा, रशनोपमा को भी विश्वनाथ मानते हैं तथा आक्षेपोपमा और प्रतिनिर्देश्योपमा का भी संकेत करते हैं।[370] दर्पणकार का धर्म पर आश्रित उपमा भेद पहले ही बताया जा चुका है। अमृतानन्दयोगी उपमा-भेदों को अन्यत्र से जानने की सलाह देते हैं :

**बहवस्तत्प्रकाराः स्युस्तेषामन्यत्र विस्तरः।** —अ.सं., 5/21

केशवमिश्र ने दश उपमा भेद माना है :

**वाक्यार्थातिशयश्लेषनिन्दाभूतविपर्ययाः।**
**संशयो नियमः स्वं च विक्रियेत्युपमादश।।** —अ.शे., 2/3

अप्पयदीक्षित चित्रमीमांसा में व्याकरणसम्मत उपर्युक्त समग्र उपमा भेदों को—अलंकारशास्त्र के लिये अनुपयुक्त बताते हुए भी कहते हैं कि इनके अतिरिक्त व्याकरण के आधार पर लुप्ता के और भी भेद किये जा सकते हैं।[371] उनके अनुसार प्रकारार्थ में जहां द्वित्व होता है, वहां भी धर्मलुप्ता संभव है। उदाहरणार्थ 'पटुपटुर्देवदत्तः' में 'प्रकारे गुणवचनस्य (पा. 8/1/12) सूत्र से द्वित्व हो गया है, जिसका अर्थ होता है, पटुसदृश। शास्त्र आदि में अपटु रहने वाला भी जो व्यक्ति पटु के समान आचरण करता है, उसे 'पटुपटुः' कहते हैं। यहां वाक्य और समास दोनों ही नहीं हैं, किन्तु वाचक और धर्मलुप्ता है। उनका कहना है कि लुप्ता णिनि प्रत्यय के भी प्रयोग में हो सकती है।[372] दीक्षित की यह कोई नयी उद्भावना नहीं

है। इसका संकेत भोज और हेमचन्द्र ने कर दिया था। उनके अनुसार वाचकोपमान लुप्ता भी समास में हो सकती है तथा उपमानलुप्ता, वाचकोपमानलुप्ता और धर्मवाचकलुप्ता भी तद्धित में हो सकती है—

> **'वाक्यसमासयोरूपमानलुप्तापि दर्शिता। उपनतमेतदकस्मादासीद्वत काकतालीयम्' इति तद्धितेऽपि दृश्यते। वाचकोपमानलुप्ता स्वरूपत एव नोदाहृता। सापि काकतालीयमिति प्रकृतिभूते समासे दृश्यते। 'तंजगत्यमंजन्मर्त्याश्चंचाचन्द्रकलाधरम्' इति हि प्रागुदाहृतम्। तस्माल्लुप्ताविभागे दिङ्मात्रप्रदर्शनमेवेदं प्राचाम्, न तु सामस्त्येन विभागः।'**[373]

इस प्रकार दीक्षित के अनुसार प्राचीनों का लुप्ता विभाग अपूर्ण है। पहले से कहा जा चुका है कि 'चंचत्कः', 'बृहत्कः', आदि वाक्यपदीय प्रयोग को ही दीक्षित ने ग्रहण करने का प्रयास किया है। अतएव 'काकतालीयम्' आदि में नूतन उपमाभेद दिखाने वाले दीक्षित विशेषकर भाष्यकार और भर्तृहरि के ऋणी हैं। अन्त में अप्पयदीक्षित उपमा को संक्षेप में तीन प्रकार[374] का मानते हैं: कहीं वह स्ववैचित्र्यमात्र विश्रान्त होती है, कहीं उक्त अर्थ का उपपादक होती है और कहीं व्यंग्य-प्रधान होती है। आगे चलकर रूपक परिसर में अप्पयदीक्षित ने उपमा के और भी भेद माने हैं। उनके अनुसार रूपक की तरह उपमा भी आठ प्रकार की हो सकती है। मालापरम्परित रूपक वैधर्म्य में भी होता है : उपमा भी मालापरम्परिता वैधर्म्य[375] संभव है। इसी प्रकार उन्होंने एक उपमा से अन्य उपमा की गम्यता के आधार पर भी उपमा का चार भेद किया है : विशेषणोपमा से विशिष्टोपमा की गम्यता में, विशिष्टोपमा से विशेषणोपमा की गम्यता में, अवयोपमा से विशिष्टोपमा की गम्यता में तथा विशिष्टोपमा से अवयोपमा की गम्यता में। इस प्रकार से असंख्य उपमा-भेदों की कल्पना करने वाले दीक्षित रशनोपमा को भी स्वीकार कर लेते हैं :

**'एवमसंख्या उपमाविकल्पाः'** —वही, पृ. 185

अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में पूर्णा के अतिरिक्त आठ प्रकार की लुप्ता का भी संकेत किया है : वाचकलुप्ता, धर्मलुप्ता, धर्मवाचकलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता, उपमानलुप्ता, वाचकोपमानलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता तथा धर्मोपमानवाचकलुप्ता। इनके उदाहरण देने के बाद वह चित्र-मीमांसोक्त काकतालीय आदि का भी विवेचन करते हैं।[376]

कर्णपूर उपमा के सत्ताईस भेद विश्वनाथ के ही समान मानते हैं।[377] मालोपमा (द्विधा), रशनोपमा (द्विधा), अनन्वयोपमा, उपमेयोपमा (द्विधा) तथा असम्भाव्योपमा को भी वे उपमा का ही भेद स्वीकारते हैं। देवशंकर पुरोहित उपमा के उतने ही भेद मानते हैं, जितने भेद अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में प्रदर्शित किये हैं।[378] 'ललितोपमा' को वे पृथक् अलंकार मानते हैं। अभिनव कालिदास (नृसिंहकवि) भी उपमा के पचीस भेद ही मानते हैं।[379] साधारणधर्म के आधार पर उपमा का त्रिधा विभाजन भी उनको मान्य है। इनके अतिरिक्त समस्तवस्तुविषया तथा एकदेशविवर्तिनी[380] का भी उन्होंने विवेचन किया है।

जगन्नाथ मम्मट सम्मत पच्चीस[381] भेद तथा नव्याचार्यों के बत्तीस भेद का विवेचन करते हैं। पच्चीस भेदों के अतिरिक्त नव्यों के सात भेद इस प्रकार हैं, जिसका विवेचन दीक्षित तथा जगन्नाथ दोनों ही करते हैं : मम्मट आदि वाचकलुप्ता षट् प्रकार की ही मानते हैं, वह णिनि प्रत्यय में भी होती है, इसे पहले ही कहा जा चुका है। 'इवे प्रतिकृतौ' सूत्र से कन् प्रत्यय करने पर 'चंचापुरुषः' इत्यादि आठवां भेद भी वाचकलुप्ता का संभव है। आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय करने पर नवम भेद भी होता है। उपमान लुप्ता मम्मटादि वाक्य समास में ही मानते हैं वह तद्धित में भी होती है, जैसे 'काकतालीयम्' आदि में। इसी प्रकार वाचकोपमानलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता तथा वाचकधर्मलुप्ता के भी एक-एक और भेद होकर उपमा के कुल बत्तीस भेद होते हैं :

**'एवं च द्वात्रिंशद्भेदाः'** र.गं., पृ. 169

जगन्नाथ के अनुसार इन मुख्य पच्चीस तथा बत्तीस भेदों के भी प्रत्येक के पांच-पांच भेद होते हैं : वस्तुरूपप्रधानव्यंग्य, अलंकाररूपप्रधानव्यंग्य, रसादिरूपप्रधानव्यंग्य, वस्तुरूपप्रधानवाच्य तथा अलंकाररूपप्रधानवाच्य।[382] इस प्रकार जगन्नाथ की दृष्टि से प्राचीनों की उपमा के एक सौ पच्चीस और नव्याचार्यों की उपमा के एक सौ साठ भेद हो जाते हैं।

जगन्नाथ के अनुसार मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों ने कर्म तथा आधार में क्यच् और क्यङ् प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता का उदाहरण मान रखा है, वह असंगत-सा है, क्योंकि वहां धर्म का भी लोप संभव है।[383] उनका विचार है कि क्यजादि में आचार ही साधारण धर्म नहीं है, क्योंकि आचार मात्र धर्म में उपमा असंभव है। 'नारीयते सपत्नसेना' इत्यादि में कातरत्वादि धर्म से अभिन्न होने के कारण अध्यवसित आचार ही उपमा का निष्पादक होता है। जगन्नाथ का यह मत

उपयुक्त है। नागेश भी इसके समर्थक हैं।[384] जगन्नाथ ने 'द्विर्भाव में धर्मलुप्ता का' एक नवीन भेद प्रतिपादित करने वाले दीक्षित मत को भी दुष्ट बताया है,[385] जिसका खंडन नागेश ने भली-भांति कर दिया है।[386] इसी प्रकार जगन्नाथ ने दीक्षित के 'चंचाचन्द्रकलाधरम्' इत्यादि में वाचक धर्मलोप का भी खंडन किया है। दीक्षित के वाचकोपमेयलुप्ता के उदाहरण :

**'रूपयौवनलावण्यस्पृहणीय तराकृतिः।**
**पुरतो हरिणाक्षीणामेष पुष्पायुधीयति।।** —चि.मी., पृ. 96, र.गं., पृ. 171

को व्याकरण दुष्ट भी बताया है क्योंकि पुर शब्द पूर्व का[387] वाचक न होकर नगर का वाचक होता है। परन्तु नागेश ने अनेक उदाहरण रखते हुए 'पुरतः' शब्द को व्याकरण की दृष्टि से उपयुक्त माना है। अतएव जगन्नाथ का मत सराहनीय नहीं है।

जगन्नाथ भी अप्पयदीक्षित की भांति रूपक के समान उपमा[388] का निरवयव आदि भेद स्वीकार करते हैं, किन्तु दीक्षित के संक्षिप्त त्रिधा विभाजन स्ववैचित्र्य मात्रविश्रान्त, उक्तार्थप्रतिपादनपरक आदि को वे नहीं स्वीकारते।[389]

आचार्य विश्वेश्वर मम्मट के पूर्ण समर्थक हैं। अतएव उमपा-भेदों में वे मम्मट से अतिरिक्त भेदों को स्वीकार नहीं करते। इसीलिये उन्होंने धर्मलुप्ता में द्विर्भाव में धर्म लोप का एक अधिक भेद मानने वाले दीक्षित मत का तथा वहां वाचक लोप भी मानने वाले जगन्नाथ मत का निराकरण किया है।[390] परन्तु उपमानलोप तद्धित में वे भी मानते हैं :

**'वस्तुतस्तु उपमानलुप्ता तद्धिते पिऽसंभवति। यथा—चंचत्कः बृहत्कः'**
—अ.कौ., पृ. 116

विश्वेश्वर ने स्पष्ट शब्दों में वाक्य तथा तद्धित में द्योतकलुप्ता का खंडन किया है।[391] इस प्रकार जगन्नाथ आदि का द्योतक लुप्ता में नवीन भेद की उद्भावना का खंडन हो जाता है।

'काकतालीयम्' आदि में वाचकोपमानलुप्ता मानने वाले दीक्षित मत का भी विश्वेश्वर ने खंडन किया है।[392] अन्त में विश्वेश्वर ने उपमा के समस्त भेदों को मम्मटोक्त भेदों में ही अन्तर्भूत कर लिया है।[393] आगे चलकर उन्होंने उपचारवश मालोपमा (द्विधा), रशनोपमा (द्विधा) तथा रूपक के समान और आठ भेदों को अपने ग्रन्थ में दिखाया है।[394]

अच्युतराय पूर्णा, उपमा के पच्चीस भेद मम्मट के समान ही मानते हैं[395] तथा दीक्षित का उल्लेख करते हुए उन्होंने उपमा के मुख्य अठाईस भेद का उल्लेख किया है। इन्हें भी जगन्नाथ की रीति से वस्तु आदि प्रधान व्यंग्य रूप पांच-पांच प्रकार की मानकर एक सौ चालीस भेद करते हैं। पुनः सादृश्य भेद के आधार पर प्रत्येक के नव भेद करके उपमा की कुल संख्या बारह सौ साठ तक पहुंचा देते हैं।[396] छज्जूराम शास्त्री उपमा के समस्त भेदों को संक्षिप्तकर कुल छह भेद ही प्रस्तुत करते हैं। पूर्णा के दो भेद श्रौती और आर्थी तथा लुप्ता के चार भेद : उपमानलुप्ता, उपमेयलुप्ता, धर्मलुप्ता और वाचकलुप्ता—संकलय्य संक्षेपेण षड्विधोपमा।—सा.बि., पृ. 158। मालोपमा तथा अनुपमा[397] दो अन्य अलंकार भी उन्होंने बताये हैं। मालोपमा तो उपमा का ही भेद है, किन्तु सर्वथा उपमान निषेध रूप अनुपमालंकार 'असम' अलंकार ही है।

ऊपर सविस्तार वेद से लेकर नव्य आलंकारिकों की दृष्टि में उपमा का क्या स्वरूप रहा है, उसके भेदों का विस्तार कब कितना हुआ, या कब वे संक्षिप्त किये गये, इन सबका विवेचन किया गया है। इन उपमा-भेदों में से कुछ का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। प्रशंसोपमा, निन्दोपमा तथा तत्त्वाख्यानोपमा आदि भेद साधारण धर्म के उत्कर्ष, अपकर्ष तथा अभाव के आधार पर किये गये हैं। प्रशंसोपमा में साधारण धर्म उत्कृष्ट होता है और निन्दोपमा में निकृष्ट। 'तत्त्वाख्यानोपमा' में यह न उत्कृष्ट ही होता है और न निकृष्ट ही। अलंकार शेखर में केशवमिश्र द्वारा दी गयी निन्दोपमा की व्याख्या पूर्ववर्ती आलंकारिकों से भिन्न है :

**'यत्रोपमानस्य निन्दया प्रतिक्षेपः सा निन्दोपमा'** —अ.शे.।

'तत्त्वाख्यानोपमा' का उल्लेख यद्यपि भरत ने नहीं किया है किन्तु वामन[398] ने उसका विवेचन किया है।

मालोपमा, परस्परोपमा, आदि उपमाभेद—उपमान या साधारण धर्म में से किसी एक या दोनों को आधार मानकर किया गया है। अनेक उपमानों से सादृश्य मात्र प्रदर्शित कर साधारण धर्म का उत्कर्ष प्रस्तुत करना ही मालोपमा का कार्य है। कभी-कभी उपमानों की अनेकता के कारण साधारण धर्म भी अनेक हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में मालोपमा के दो भेद हो जाते हैं : साधारण धर्म की भिन्नता और अभिन्नता को लेकर। मालोपमा का उल्लेख प्रायः दंडी आदि सभी आलंकारिक करते हैं। परस्परोपमा में दो वस्तुओं का सादृश्य दिखाया जाता है, परन्तु दोनों का साधारण धर्म भिन्न होता है। डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा के अनुसार 'समुच्चयोपमा' का

उल्लेख केवल दंडी ही करते हैं।[399] उनकी यह भ्रान्ति है। 'समुच्चयोपमा' का विवेचन अग्निपुराणकार, अजितसेन तथा वाग्भट (2) भी करते हैं। दंडी की बहूपमा तथा हेतूपमा मालोपमा से अभिन्न है।

सावयवा, निरवयवा, आदि उपमा-भेद सादृश्य के संश्लिष्ट चित्रण और उनके अभाव के आधार पर किये गये हैं। सावयवा में अवयवियों का सादृश्य तो रहता ही है, अवयवों का भी रहता है। इस प्रकार सबके सादृश्य द्वारा एक संश्लिष्ट चित्रण उपस्थित किया जाता है। अवयव और अवयवी के सादृश्य में से किसी एक के व्यंग्य होने पर एकदेशविवर्तिनी सावयवा उपमा होती है।[400] निरवयवा में तथाकथित संश्लिष्ट चित्रण नहीं होता। माला निरवयवोपमा में उपमानों की अनेकता रहती है। परम्परितोपमा को उपमा का पृथक् भेद मानने की आवश्यकता नहीं है। विशष्टिोपमा को साधारण धर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव से व्यतिरिक्त नहीं माना जा सकता। 'सम्बन्धोपमा' में भी वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव रहता है। निरवयवोपमा में इसका अभाव है। दंडी की वाक्यार्थोपमा सावयवोपमा ही है।[401]

जगन्नाथ इवादि प्रतिपादित उपमा को वाच्यालंकार मानते हैं। अलंकार वाच्य होते ही हैं, किन्तु उन्होंने उपमा को लक्ष्य[402] भी कहा है, व्यंग्य भी। लक्ष्योपमा के उदाहरण उन्हीं के ग्रन्थ में देखना चाहिये, विस्तार भय से दिखाना अशक्य है। व्यंग्योपमा का उदाहरण निम्न है :

**'अद्वितीयं रुचात्मानं मत्वा किं चन्द्र दृप्यसि।**
**भूमण्डलमिदं मूढ केन वा विनिभालितम्।।** —र.गं., पृ. 179

किरणों से संतप्त करनेवाले चन्द्र के प्रति किसी प्रवासी की यह उक्ति है। (चन्द्र, अपने को अद्वितीय कान्तिवाला समझकर क्यों प्रसन्न हो रहे हो। अरे मूढ, इस भूमण्डल को ठीक प्रकार से किसने देखा है।) जगन्नाथ के अनुसार यहां वक्ता की चन्द्रगत असूया के कारण मूढ पद से व्यंग्य होता है कि 'कभी भी बाहर न निकलनेवाली मेरी प्रियतमा का मुख तुम्हारे ही समान है, जिसे तुमने भी नहीं देखा है।'

वाच्योपमा, लक्ष्योपमा तथा व्यंग्योपमा उपमाभेद सादृश्य की वाच्यता, लक्ष्यता तथा व्यंग्यता के आधार पर किये गये हैं। जगन्नाथ के अनुसार व्यंग्यता और अलंकारता में कोई विरोध नहीं है। प्रधान व्यंग्यता में दोनों—प्रधानता और व्यंग्यता का विरोध संभव है।[403] इससे बचने के लिये ही जगन्नाथ लक्षण में

उपस्कारक विशेषण देना चाहते हैं। तात्पर्य यह कि व्यंग्य होने पर भी अलंकार को वाक्यार्थ का उपस्कारक होना चाहिये। क्योंकि—

**'अलंकारा हि वाच्यसौन्दर्यसाराः प्रायशः स्वान्तगतं प्रतीयमानं पृष्ठतः कुर्वन्ति**। (वही, पृ. 137) तथा
**'न च सादृश्यस्य वाच्यातायामेवोपमाव्यपदेशः'** (वही, पृ. 151)

अतएव उपमादि व्यंग्य भी हो सकते हैं। नागेश का भी अभिमत है कि उपमा की अलंकारता वस्तु, अलंकार रूप व्यंग्य तथा वस्तु अलंकार रूप वाच्य के उपस्कार[404] में है। अलंकार का हेतु चारुत्व है। जहां अलंकार व्यंग्य होता है, उसे वाच्य का उपस्कारक होना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार का वाच्य ही अलंकार है। केवल व्यंग्य, चाहे वह प्रधान हो या अप्रधान, अलंकार का स्वरूप नहीं माना जा सकता। मम्मट आदि उसका स्पष्ट उल्लेख करते हैं।[405]

वस्तुतः व्यंग्यार्थ को अलंकार स्वरूप नहीं मानना चाहिये, अन्यथा व्यंग्यार्थ के अनेक भेदोपभेदों का अन्तर्भाव अलंकार में ही हो जायेगा और व्यंजना का क्षेत्र सीमित हो जायेगा। भामहादि प्राचीन आचार्य तथा विश्वनाथ[406] प्रभृति नव्य आचार्य अपने लक्षण में इसलिये 'वाच्य' शब्द का उपादान करते हैं। सादृश्य तो रूपक आदि में भी व्यंग्य होता है, परन्तु उन्हें उपमा नहीं कहा जा सकता। अप्पयदीक्षित प्रभृति आचार्य भी उपमा को अव्यंग्य ही मानने के पक्षपाती हैं। विशिष्टोपमा में विशेषण के सादृश्यगम्य होने के ही कारण वे वहां अलंकार नहीं मानते। इसी प्रकार—न पद्मं मुखमेवेदं' इत्यादि में सादृश्य वाच्य न होने के कारण दीक्षित के अनुसार उपमा संभव नहीं है।[407] परन्तु दीक्षितजी भी अलंकारभूत उपमा को अव्यंग्य मानते हैं[408] और आगे चलकर उपमा को व्यंग्यप्रधान भी कहते हैं। उनके भी कथन में परस्पर विरोध है। वस्तुतः उपमालंकार और उपमाध्वनि में भेद है। उपमालंकार वाच्य ही होता है। उपमाध्वनि में उसकी वाच्यता नहीं रहती किन्तु ब्राह्मणश्रमणन्यास से उसे भी अलंकार कहा जाता है।

इव, सदृश, तुल्य, तथा वाक्य, समास, प्रत्यय के आधार पर किया गया उपमाविभाजन अनुपयुक्त है। सादृश्य, वाक्य, समास, प्रत्यय, आदि में समान रूप से अभिव्यक्त होता है, किन्तु वाक्य समास आदि के द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण सादृश्य के स्वरूप में कोई विशेष अन्तर नहीं आता है। उपमा-विभाजन में सादृश्य का स्वरूप भेद ही विचारणीय विषय है वाक्य समास आदि नहीं। व्याकरण को विभाजन का आधार मानने के कारण आलंकारिकों में भी विवाद ही है। 'पौरं

सुतीयसि' आदि उदाहरण मम्मट के अनुसार वादिलुप्ता का है, यहां कर्म में क्यच् प्रत्यय हुआ है। 'सुतमिवाचरसि' यहां सुतीयसि में इव के अतिरिक्त साधारणधर्म आचरण भी विद्यमान है। पाणिनि के अनुसार क्यच् प्रत्यय आचार सामान्य में होता है, किन्तु आलंकारिकों के अनुसार आचार विशेष में भी संभव है।[409] उक्त उदाहरण में विश्वनाथ वाचकलुप्ता न मानकर धर्मलुप्ता स्वीकार करते हैं।[410] विश्वनाथ के अनुसार कल्पप् और वत् तथा क्यच् प्रत्ययों में कोई अन्तर नहीं है। यदि कल्पप्, वत्, आदि को औपम्य का वाचक माना जाता है तो क्यच् आदि को भी औपम्य का वाचक क्यों न माना जाये? उनका विरोध है कि वत् आदि प्रत्यय इवादि के लिये प्रयुक्त हैं और क्यङादि मात्र आचारार्थ में।[411] वस्तुतः दर्पणकार का यह मत समीचीन है। इस प्रकार व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी विवादों में पड़कर सहृदय उपमा आदि के सौन्दर्य की कौन सी अनुभूति कर पायेगा? वस्तुतः इस प्रकार के विभाग बुद्धि-कौशल प्रदर्शनमात्र हैं, इनमें सहृदय के हृदय-विकास की बहुत ही कम आशा रहती है। इसीलिये अप्पयदीक्षित तथा नागेश आदि ने इस प्रकार के विभाजन को अनुपयुक्त घोषित किया है।[412] उपमा के इन भेदोपभेदों से भामह ही घबराने लगे थे :

**'मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरो मुधा'**

—काव्यालंकार, 2/38

विस्तारभय से उपमा के किसी भेद का उदाहरण नहीं दिया जा सका। मूल ग्रन्थों में इन्हें देखा जा सकता है।

### उपमा-दोष

सुन्दर भी शरीर स्वल्पमात्र[413] कोढ़ से अस्पृश्य और हेय बन जाता है। इसी प्रकार काव्य में स्वल्पमात्र भी दोष, काव्यत्वका विघातक तथा सहृदयहृदयोद्वेजक हो जाता है। अतएव उपमा-दोष का विवेचन भी आवश्यक है, क्योंकि स्वरूप-बोध के बिना उसका निराकरण असंभव होगा। भामह ने मेधावी के नाम से सात उपमा दोषों का उल्लेख किया है और वे ही प्रायः सभी आचार्यों को मान्य भी हो गये। वे इस प्रकार हैं—हीनता, असंभव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, आधिक्य तथा असादृश्य।[414] दंडी के अनुसार यदि विद्वानों को अरूचिकर या उद्वेकजनक न हो तो लिंग, वचनभेद, हीनत्व और आधिक्य दोष उपमा को दुष्ट नहीं करते।[415] परन्तु कहीं-कहीं ये दोष सिद्ध भी हो जाते हैं। जैसे—'चन्द्रमा हंसी के समान धवल है,

आकाश सरोवर की भांति स्वच्छ है, सूर्य जुगनू के समान चमक रहा है तथा स्वामिभक्त वीर कुत्ते के समान है।[416] यहां क्रमशः लिंगभेद, वचनभेद, हीनत्व और आधिक्य दोष हैं, सहृदयोद्वेजक भी है। वामन को इन दोषों में विपर्यय को छोड़कर सभी स्वीकार्य हैं।[417] यहां दोषों का संक्षेप में विवेचन कर देना अनुचित न होगा क्योंकि प्रायः सभी आलंकारिक उपमा के इन्हीं भेदों को स्वीकार करते हैं।

**हीनत्व**

जाति, प्रमाण, या धर्म में जब उपमान उपमेय से न्यून होता है,[418] तो वहां हीनता दोष माना जाता है। तीनों के उदाहरण क्रमशः यहां ये हैं :

(1) 'चाण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम्'
(2) 'वह्निस्फुलिंग इव भानुरयं चकास्ति'
(3) 'स मुनिर्लाञ्छितो मौंज्या कृष्णाजिन पटं वहन्'
व्यराजत नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान्।।'

प्रथम उदाहरण में उपमान चाण्डाल की जातिगत न्यूनता है। साहसी व्यक्ति की उपमा चाण्डाल से प्रदान करने पर किसी भी सहृदय के हृदय में सौन्दर्यजनित आह्लाद अलभ्य है। अतएव ऐसी उपमा दुष्ट कही जाती है। द्वितीय उदाहरण में व्यापक सूर्य का सादृश्य अव्यापक वह्नि कणिका (चिनगारी) से बताया गया है। उपमान वह्निस्फुलिंग यहां प्रमाण में सूर्य से हीन है। अतएव यहां भी हीनत्व दोष है। तृतीय उदाहरण में उपमानभूत मौंजी का धर्म 'तडित्' उपात्त नहीं है। अतएव धर्मगत हीनत्व दोष है। इसी प्रकार उपमान का जाति, प्रमाण, धर्मगत आधिक्य आधिक्य[419] दोष कहा जाता है।

**आधिक्य**

(1) विशन्तु विष्टयः शीघ्रं रुद्रा इव महौजसः।
(2) पातालमिव ते नाभिः स्तनौ क्षितिधरोपमौ।
वेणीदंडः पुनरयं कालिन्दीपातसन्निभः।
(3) सरश्मिचंचलं चक्रं दधद्देवो व्यराजत।
सवाडवाग्निः सावर्तः स्रोतसामिव नायकः।। —पृ. 119

प्रथम उदाहरण में उपमान रुद्र का उपमेय विष्टि से जात्या आधिक्य है। द्वितीय उदाहरण में नाभि, स्तन और वेणीदंड उपमेय हैं, पाताल, पर्वत और कालिन्दीपात उपमान। पाताल आदि उपमान की नाभि आदि उपमेय से प्रमाणगत

अधिकता होने से आधिक्य दोष है। इसी प्रकार तृतीय उदाहरण में चक्र में सवाडवाग्नि धर्म का अभाव होने से धर्माधिक्य दोष है। वामन-भामहाभिमत 'विपर्यय' दोष को इन्हीं दो (हीनत्व-आधिक्य) दोषों में अन्तर्भूत कर लेते हैं।[420]

**लिंग भेद**

लिंग-भेद वहां होता है, जहां उपमान और उपमेय के लिंग भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे—

**'सैन्यानि नद्य इव जग्मुरनिर्गलानि'** — वही, पृ. 120

में उपमान नदी में स्त्रीलिंग तथा सैन्य में नपुंसक लिंग होने से लिंगभेद दोष है। वामन के अनुसार पुलिंग और नपुंसक लिंग[421] का भेद दोषावह नहीं होता। उदाहरणस्वरूप 'चन्द्रमिव मुखं पश्यति' में लौकिकी, समासाश्रिता तथा प्रपंचोपमा में भी लिंगभेद दोषावह नहीं होता।[422] 'वह उसकी छाया के समान है' 'मुजलता नीलोत्पल के समान है' यदि आश्रमवासी जन का शरीर अन्तःपुर में दुर्लभ है तो निश्चय ही उद्यानलतायें बन लताओं के द्वारा गुणों से पीछे कर दी गयी हैं।' उपर्युक्त तीनों उदाहरण में क्रमशः लौकिकी, समासाश्रया तथा प्रपंचोपमा है। ऐसे स्थलों में भी लिंगभेद दोषावह नहीं होता।

**वचनभेद-दोष**

उपमान और उपमेय के वचनों में भिन्नता के कारण होता है। जैसे—'उसके नेत्रों का उसी तरह पान करूंगा जैसे भ्रमर पुष्प का पान करते हैं।'[423] यहां उपमेय लोचन द्विवचन तथा उपमान पुष्प एकवचन है। अथवा 'मैं' एकवचन है, भ्रमर बहुवचन, अतएव वचन भेद दोष है।

**असादृश्य**

जहां गुण या धर्म की प्रसिद्धि नहीं होती, ऐसा सादृश्य, असादृश्य दोष कहा जाता है।[424]

**'ग्रन्थामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम्'**

में काव्य और शशि तथा अर्थ और रश्मि में सादृश्य प्रसिद्ध नहीं है। इनके धर्म की प्रतीति भी नहीं होती। काव्य और चन्द्रमा का सादृश्य न होने के कारण अर्थ

और रश्मि में भी सादृश्य संभव नहीं है। अतएव असादृश्य दोष है। कुछ लोगों की दृष्टि में उपमानाधिक्य असादृश्य दोष का अपोह कर देता है।[425] परन्तु वामन इसके विरुद्ध हैं, क्योंकि वैसा होने पर अपुष्टार्थ दोष आपतित होगा।[426]

## असंभव

उपमान की अनुपपत्ति असंभव दोष है।[427] विकासमान मुख के मध्य ईषद्धास्य की शोभा, थोड़े-थोड़े खिले हुए कमल के बीच मुग्ध चन्द्रिका की भांति लग रही है।[428] चन्द्रिका में कमल विकास असंभव होने के कारण, यह उपमा असंभव दोषग्रस्त है।

रुद्रट, भामह तथा वामन सम्मित दोषों को न स्वीकर कर चार ही दोष मानते हैं और इन्हीं में सब का अन्तर्भाव करते हैं। वे ये हैं—सामान्यभेद, वैषम्य, असंभव और अप्रसिद्धि।[429] रुद्रट का समर्थन करते हुए नमिसाधु ने कहा है कि वामन[430] ने कारक, काल तथा विभक्ति भेद दोष को नहीं ग्रहण किया है, किन्तु रुद्रट ने उसे भी ग्रहण कर लिया है। रुद्रटोक्त सामान्य शब्द दोष में वामन सम्मत लिंग, वचनभेद तथा कारक, काल, विभक्ति भेद भी अन्तर्भूत हैं। हीनत्व और आधिक्य दोष को वैषम्य में रखा गया है। विपर्यय अप्रसिद्धि (अप्रतीत) से भिन्न नहीं है। उपमा में असादृश्य दोष हो ही नहीं सकता, क्योंकि कौन ऐसा विद्वान् है, जो उपमा का ज्ञान रखते हुए भी असादृश्यात्मक उपमा का निबन्धन करेगा। आगे रुद्रट ने भी कहा है कि लिंग, वचन, कारक, काल, विभक्ति, दोष सामान्य शब्द भेद में ही आ जाते हैं।[431] अवैषम्य दोष वहां होता है, जहां एक उपमान या उपमेय—का ही विशेषण प्रयुक्त किया गया हो। यह दोष प्रायः उत्पाद्योपमा और कल्पितोपमा में हुआ करता है।[432] इन समस्त दोषों का राजानकतिलक ने भी उद्भट की टीका में निर्देश किया है।[433]

उपर्युक्त समग्र दोषों को मम्मट ने किंचित् नामान्तर से स्वीकार कर लिया है। उनके अनुसार जाति, प्रमाणगत न्यूनत्व,[434] आधिक्य दोष को अनुचितार्थत्व कहा गया है तथा धर्माधिक्य और न्यूनत्व तो क्रमशः 'हीनपदता' और अधिकपदता ही है। लिंगवचन भेद भग्नप्रक्रम दोष कहा जाता है।[435] परन्तु लिंग वचन भेद में भी जब नानात्व होने पर लिंग-वचन के सामान्याभिधायी पद में स्वरूपभेद न हो तो वह दोषावह[436] नहीं होता। काल, पुरुष, विध्यादि दोष भग्नप्रक्रम[437] ही हैं। असादृश्य तथा असंभव दोष अनुचितार्थत्व से भिन्न[438] नहीं हैं।

नरेन्द्रप्रभसूरि जात्यादि आधिक्य, लिंग, वचन, काल, पुरुष विध्यादि भेद,

असादृश्य तथा असंभाव्य दोष का विवेचन करते हैं, किन्तु सादृश्य में लिंगभेद की दोषाधायकता उन्हें अमान्य है।[439] वाग्भट (1) लिंग, वचन, भेद, हीनत्व तथा आधिक्य चार दोष ही स्वीकार करते हैं।[440] विद्यानाथ भी चार ही दोप का उल्लेख करते हैं—हीनत्व, आधिक्य, असादृश्य और अप्रसिद्धि।[441] हेमचन्द्र, विश्वनाथ प्रभृति मम्मटानुयायी हैं।[442]

अप्पयदीक्षित ने छः उपमा-दोषों का विवेचन किया है :

**'न्यूनत्वमधिकत्वं लिंगभेदो वचनभेदोऽसादृश्यमसंभव इत्यस्याः षड् दोषानाहुः।'** —चि.मी., पृ. 121

किन्तु काल, पुरुष, विध्यादि दोषों का संकेत भी वह करते हैं।[443] इन दोषों के अपवाद भी हो सकते हैं। कविसम्मत जाति, प्रमाणगत न्यूनत्वाधिक्य दोषाधायक नहीं होता, क्योंकि कविप्रसिद्धि में कोई भी अनौचित्य नहीं है। यदि एकैकधर्मक अनेक उपमार्थता से, साधारण धर्मवत्ता संपादनार्थ, धर्मी के विशेषस्वरूप लाभार्थ, अथवा अन्य विधान से उपमेय-उपमान गत अधिक धर्मोपादान की प्रस्तुत कार्यान्तरार्थता हो तो धर्मगत न्यूनत्वाधिक्य दोषावह नहीं माना जाता। इसी प्रकार प्रकृत तथा संघटना की सिद्धि के लिये भी उसका उपादान दुष्ट नहीं कहा जाता। बिम्बप्रतिबिम्बभाव स्थल में साधारणधर्म के एकमात्र प्रयोजक होने के कारण प्रस्तुत कार्यान्तिर के उपयोग से रहित उपमान-उपमेय विशेषणों के एक-एक विशेषण का निर्देश न होने पर ही न्यूनत्व या आधिक्य दोष संभव है। कार्यान्तर प्रयोजनीभूत विशेषणों के अनुगामित्व से विशेषण निर्देश होने पर जहां साधारणीकरण होता है, वहां आधिक्य दोषावह न होकर गुणावह हो जाता है। सामान्याभिधायी पद के स्वरूप भेद प्राप्त न होने से लिंगवचन भेद दोषाधायक नहीं होता। सामान्याभिधायी पद के स्वरूप भेद होने पर भी महाकवियों के प्रबन्धों में वचनभेद देखे जाते हैं। कविसमयप्रसिद्धि में असादृश्य दोष नहीं माना जाता, जैसे 'चन्द्रधवलाकीर्तिः' में। उपमेयगत असंभावितत्त्व की विवक्षा में उपमान का असंभवत्व दोषाधायक नहीं होता, जैसे—'चन्द्रबिम्बादिव विषम्' में है। श्लिष्ट साधारणधर्मा तथा कल्पितोपमा में अप्रसिद्धत्व दोष नहीं कहा जाता।[444]

जगन्नाथ के अनुसार उपमा की चमत्कारिता के अपकर्षक समस्त तत्त्व उपमादोष कहे जाते हैं। कवि सिद्धान्त से जो वस्तु जिस रूप में प्रसिद्ध नहीं है, उसका उस रूप में उल्लेख, उपमान-उपमेय का जाति, प्रमाण, लिंग, संख्या, से अननुरूप होना, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्मों में उपमान तथा उपमेय के धर्मों का

न्यूनाधिकत्व, साधारण धर्म के अनुगामी होने पर काल, पुरुष, विध्यादि धर्मों का अनुपादान आदि उपमा के दोष होते हैं।[445] विश्वेश्वर ने वामनाभिमत उपमा-दोषों का ही विवेचन किया है।[446] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, तथाकथित मेधावी, भामह, वामनादि सम्मत उपमा दोष ही प्रायः सभी आचार्य मानते हैं। अर्वाचीनों की दोपोद्भावना के प्रति कोई विशेष रूचि नहीं रही है।

इस प्रकार संक्षेप में उपमा दोषों का भी विवेचन किया गया। विचारपूर्वक देखा जाये तो यही कहना पड़ेगा कि उपमा-दोष में विकासवाद न्यूनमात्र ही रहा है। दोषों का यथासंभव परिहार भी हो जाता है, इसका भी दिग्दर्शन दंडी, वामन, अप्पयदीक्षित के विवेचन से हो जाता है, अतएव उसका पुनः विवेचन अनावश्यक है। उपमा एक ऐसा अलंकार है, जिसमें अन्य अलंकारों की अपेक्षा रस की अधिक पुष्टि होती है। अतएव उपमा में दोष न आने पाये, एतदर्थ कवि को सदैव ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि असादृश्य से उपमा का सारा सौन्दर्य जाता रहता है और उस प्रकार की उपमा के निबन्धन से कविश्री का भी हनन होता है :

**'असादृश्यहता उपमा तन्निष्टाश्च कवयः'** —का.सू.वृ., 4/2/17

विवेचन से प्रतीत होता है कि उपमा के पूर्वोक्त समस्त दोष दोषाधायक नहीं होते यदि उनमें सौन्दर्य हो, तथा सहृदयहृदय के अनुरंजन की क्षमता हो :

**'एवं हि गुणदोषव्यवस्थायां सहृदयानां हृदयमेव प्रमाणम्'**
—चि.मी., पृ. 129

प्रकृत में यथाशक्ति उपमा के मूल और विकास को दिखाने का प्रयास किया गया है। लक्ष्य को देखकर ही प्रायः लक्षण का निर्माण किया जाता है। वैदिक साहित्य में हमें उपमा के न केवल अनेक मनोहारी निदर्शन मिलते हैं, अपितु उपमा के कई भेद भी प्राप्य हैं। वैदिक साहित्य, शिलालेख, व्याकरण, आदि में उपमा के मूल तत्त्व पाये जाते हैं। वैसे तो उपमा की शास्त्रीय विवेचना गार्ग्य ने ही प्रस्तुत कर दी थी, किन्तु उसका काव्य-शास्त्र के रूप में प्रयोग भरत के नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध है। भामह तक आकर उसके व्याकरण-सम्मत वाक्य, समास, आदि भेद होने लगते हैं और उद्भट तथा उनके टीकाकारों तक व्याकरण सम्मत उपमा के अनेक भेद प्रचलित हो जाते हैं। धर्माश्रयी उपमाभेद यद्यपि दंडी तथा भोज की विवेचना में छिपा हुआ है, किन्तु वह स्पष्ट होता है रुय्यक के समय में। इस प्रकार क्रमशः जगन्नाथ तक उपमा का धर्म, व्याकरणशास्त्र, उपमान, उपमेय, आदि के आधार

पर चतुर्दिक् विकास हो जाता है। उपमा के क्रमशः बदलते स्वरूप और बढ़ते-घटते भेद ही उसके परिवर्तन की विभिन्न दिशायें हैं। इन परिवर्तनों तथा कमी और वेशी में कवि, काव्यशास्त्री तथा सहृदयगत भावनाओं का प्रमुख स्थान है। सौन्दर्यानुभूति की विभिन्न प्रणालियों ने इनमें अपना योग प्रदान किया है। अतएव उपमा के परिवर्तन और विकास में कवि, काव्यशास्त्री, सहृदय, शास्त्र और सौन्दर्य ही प्रधान तत्त्व हैं।

## अनन्वय

'अनु पश्चात् एति गच्छति इत्यन्वयः' जो किसी के बाद (पीछे) चलता रहे, उसे अन्वय कहते हैं। इसका अर्थ सम्बन्ध कुल, वंश आदि है।[447] अनु उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक इण् धातु से कर्त्रर्थ में अच् प्रत्यय होने पर अन्वय शब्द की निष्पत्ति होती है। उससे बहुब्रीहि समास करने पर—'न विद्यते अन्वयः सम्बन्धः (उपमानान्तरेण) यत्र सः अनन्वयः'—अनन्वय शब्द बनता है।[448] अनन्वय का अर्थ हुआ--असम्बन्ध। यही अनन्वय सौन्दर्य संवलित होकर अलंकार पदवी को प्राप्त करता है। अतएव अनन्वय इस अलंकार का नाम अन्वर्थक है,[449] क्योंकि अनन्वय अलंकार में एक ही वस्तु का उपमानोपमेय भाव होने से अन्य उपमान से असम्बन्ध दिखाना ही कवि को अभिप्रेत रहता है।

ऋग्वेद में अस्पष्ट रूप से अनन्वय के उदाहरण पाये जाते हैं। 'न वा आजीयो रुद्र त्वदस्ति'—में 'असम' अलंकार है। आगे चलकर प्रतिपादित किया जायेगा कि 'असम' अनन्वय से व्यतिरिक्त नहीं है। भरत के उपमा भेदों में 'सदृशी' उपमा से अनन्वय का संकेत मिलता है। 'सदृशी' की व्याख्या अभिनव गुप्त ने इस प्रकार की है :

**'यत्रोपमेयस्यैवोपमानता सेयं सदृशी'**—ना.शा. 16/5 पर अ.भा.।

अतएव कह सकते हैं कि आगे चलकर भरत की सदृशी उपमा से ही अनन्वय ही उत्पत्ति की गयी। भरत का उदाहरण भी इस बात की पुष्टि करता है :

**यत्वयाद्य कृतं कर्म परचित्तानुरोधिना।**
**सदृशं तत्तवैव स्यादिति मानुषकर्मषः (कर्मिणा)**।। ना.शा. 16/50

आगे चलकर विष्ण धर्मोत्तर पुराण[450] (ई. 500) में इसे स्वतंत्र अलंकार मान लिया गया। यदि इस पुराण को—जैसा कि महामहोपाध्याय काणे आदि मानते हैं—भामह से पूर्व माना जाये तो निश्चय ही यह कहना पड़ेगा कि सर्वप्रथम विष्णुपुराणकार

ने ही अनन्वय को एक स्वतंत्र अलंकार माना।[451] भामह के अनुसार असादृश्य विवक्षा के कारण एक वस्तु की उसी से उपमा अनन्वय अलंकार है।[452] दंडी की 'असाधारणोपमा' अनन्वय को व्यक्त करती है।[453] उद्भट ने भामह की परिभाषा को पूर्णतः ग्रहण कर लिया है। वस्तुतः अनन्वय के विषय में आलंकारिकों में दो पक्ष हैं—प्रथम पक्ष के वे आचार्य हैं, जो लक्षण में 'असादृश्य विवक्षा', 'उपमानान्तर व्यवच्छेद' या इसी अर्थ के बोधक अन्य पदों का समावेश आवश्यक समझते हैं तथा द्वितीय पक्ष के आचार्य इनका ग्रहण अनावश्यक मानते हैं। प्रथम कोटि में भामह, उद्भट, जगन्नाथ, आदि आते हैं, तो द्वितीय में वामन, मम्मट, रुय्यक प्रभृति आचार्य। वामन की परिभाषा निम्न है :

**'एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः'**[454]

रुद्रट ने इसे उपमा का ही एक भेद माना है।[455] कुन्तक भी इसे पृथक् अलंकार मानने को उद्यत नहीं है। भोज ने भी इसे उपमा का एक भेद अनन्वयोपमा ही माना है। मम्मट आदि का लक्षण निम्न है :

**'उपमानोपमेयत्वे, एकस्यैवैकवाक्यगे अनन्वयः।'** —का.प्र., 10/91
**'एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः'** —अ.स., 12
**'द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूतं यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वयः।'** —र.गं., पृ. 203

अनन्वय में एक ही वस्तु, उपमेय और उपमान, दोनों रूप में रहती है—इस सम्बन्ध में प्रायः सभी आलंकारिक एकमत हैं, किन्तु 'असादृश्य विवक्षा' या 'द्वितीय सदृशव्यवच्छेद' आदि पद को लक्षण में समाविष्ट करने में आचार्यों में मतभेद हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया है, भामह, उद्भट, आदि इनका समावेश उचित मानते हैं, किन्तु मम्मट, रुय्यक तथा उनके अनुयासी इनका ग्रहण नहीं करते।[456]

विवेचन के पश्चात् यही प्रतीत होता है कि उक्त विशेषणों का लक्षण में सन्निवेश आवश्यक नहीं है। क्योंकि उपमानोपमेयभाव सदा दो वस्तुओं में हुआ करता है और एक ही वस्तु को उपमान तथा उपमेय मान लेने पर द्वितीय सदृश का व्यवच्छेद अपने आप हो जाता है। इस मत के समर्थक आचार्यों का अभिप्राय भी यही है। कुछ विद्वान्[457] इन विशेषणों का लक्षण में प्रयोग अनिवार्य मानते हैं, किन्तु यह उनकी भ्रान्तिमात्र है। रुय्यक के 'एकस्य तु विरुद्धधर्मसंसर्गो द्वितीय-सब्रह्मचारिनिवृत्यर्थः' कथन का यही अभिप्राय है, कि लक्षण में एक शब्द का ग्रहण

इस बात का सूचक है कि अनन्वय में द्वितीय सदृश या सदृशान्तर का व्यवच्छेद किया जाता है। रुय्यक के इस मन्तव्य को काव्य-प्रकाश के टीकाकारों तथा अलंकार सर्वस्व[458] के टीकाकारों ने भी स्पष्ट कर दिया है।

जैसा कि उपमा प्रकरण में ही कहा जा चुका है कि उपमान सिद्ध और उपमेय साध्य होता है। एक ही वस्तु का सिद्ध और साध्य होना असंभव है, किन्तु अनन्वय में यही दिखाया जाता है। विमर्शिणीकार के अनुसार इसीलिये इसकी अन्वर्थकता भी है।[459] सादृश्य सदा दो भिन्न वस्तुओं में होता है अतएव वह द्विष्ठ धर्म है। अनन्वय में एक ही वस्तु उपमेय और उपमान दोनों ही होती है। इसलिये यह संदेह होना स्वाभाविक है कि इसे सादृश्यमूलक अलंकार कैसे माना जाये? जयरथ ने इस शंका[460] को उठाते हुए उसका समाधान भी किया है। अनन्वय में उपमेय और उपमान एक ही होता है, किन्तु उनके लिये सदा दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिये 'अर्जुनोऽर्जुनः इव' में दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है परन्तु आभास दो[461] वस्तुओं का होता है। वस्तुगत भेद यहां नहीं है, किन्तु शब्दगत भेद माना जा सकता है। अतएव अनन्वय में सादृश्य को शाब्दिक भी कहा जा सकता है। इसी बात को विद्याचक्रवर्ती ने प्रकारान्तर से अभिव्यक्त किया है।[462] इस प्रकार उपमेय और उपमान में शब्द-भेद न होने पर भी अर्थ-भेद से वस्तु-भेद की कल्पना की जा सकती है। इस स्थिति में दोनों में सादृश्य भी हो जाता है।

सादृश्य दो वस्तुओं की एकता का प्रतिपादक होता है। यह एकता यदि एक को उपमान-उपमेय मान लेने पर सिद्ध हो जाती है, तो उसे सहज कहा जा सकता है। दो शब्दों का उपात्त होना यह सिद्ध करता है कि शब्दभेद की उपाधि रहने पर भी वस्तुतः द्वितीय सदृश का होना संभव नहीं है। यही अनन्वय का प्राण है :

**'एवं चास्य द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्तिरेवालंकारत्वप्रतिष्टापकं प्रमाणम्।"**

—वि.प्र. 30

यदि द्वितीय सदृश वस्तु की विनिवृत्ति या सदृशान्तर के व्यवच्छेद की प्रतीति नहीं होती, तो अनन्वय अलंकार नहीं हो सकता।[463] जगन्नाथ आदि संभवतः यही स्पष्ट करने के लिये परिभाषा में 'द्वितीय सदृशव्यवच्छेद' आदि शब्दों का सन्निवेश करते हैं। भीमसेन दीक्षित ने भी काव्य-प्रकाश की 'सुधासागर' टीका में यही कहा है। उनके अनुसार सादृश्य भेद-घटित ही होता है अतएव एक ही वस्तु का उपमानोपमेय भाव यद्यपि संभव नहीं है, तथापि वहां आहार्य भेद पाया जाता है। उपमा और अनन्वय का यही भेद है कि उपमा में भेद अनाहार्य होता है अनन्वय में आहार्य।[464]

अतएव अनन्वय में एक के उपमेय-उपमान होने पर भी आहार्य भेद से भेद हो जाता है।

डॉ. ब्रह्मानन्द के अनुसार मम्मट की परिभाषा में 'एकवाक्यगे' शब्द का सन्निवेश अनुपयुक्त है।[465] परन्तु उनका यह कथन तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः उक्त शब्द का लक्षण में सन्निवेश 'रशनोपमा'[466] से अनन्वय को पृथक् बताने के लिये किया गया है, क्योंकि एक ही वस्तु का उपमानोपमेय भाव 'रशनोपमा' में भी होता है, किन्तु वहां एक वाक्यगामिता का अभाव पाया जाता है। प्रदीपकार के अनुसार 'एक वाक्यगे' का सन्निवेश 'विपर्यासोपमा' के वारण के लिये किया गया है।[467] ध्यातव्य है कि विपर्यासोपमा ही उपमेयोपमा है।

चक्रवर्ती भट्टाचार्य के अनुसार मम्मट के लक्षण में 'एव' शब्द उपमानोपमेय की भिन्नता का व्यवच्छेदक है, क्योंकि अनन्वय में उपमेय-उपमान का शब्द तथा अर्थ दोनों रूप में ऐक्य होना चाहिये।[468] अन्यथा 'इसके वदन के समान इसका वक्त्र है' यहां भी अनन्वय हो जायेगा। वस्तुतः यह मत अनुपयुक्त है, ऊपर कहा जा चुका है।

शोभाकर मित्र ने 'अलंकार रत्नाकर' में अनन्वय का त्रिधा लक्षण किया है—(1) उपमेय को उपमान मानकर साधर्म्य कल्पना, (2) उपमेय के एक देश को उपमान मानकर साधर्म्य कल्पना और (3) उपमेय को उसके प्रतिबिम्ब आदि के द्वारा भिन्न मानकर उपमान रूप में सादृश्य कल्पना।[469]

शोभाकर के अन्तिम दो भेदों में 'द्वितीयसदृशव्यवच्छेद' की प्रतीति गम्य होती है, किन्तु अनन्वय में यह प्रतीति वाच्य होनी चाहिये। वाच्य अनन्वय व्यंग्य (ध्वनि) से भिन्न है, अतएव जयरथ के अनुसार शोभाकर के अन्तिम दो भेद अनन्वय अलंकार के न होकर[470] ध्वनि स्वरूप हैं। शोभाकर का द्वितीय और तृतीय भेद का उदाहरण निम्न है :

**'एतावन्मात्रे भुवने सुन्दरमहिलासहस्रसंकीर्णे।**
**अनुहरति केवलं तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य।।'**

—प्राकृत छाया, अ.र., पृ. 10.

शोभाकर के अनुसार नायिका के एकदेश वामार्ध की तुलना उसी के दक्षिणार्ध से की गयी है, अतएव अनन्वय का द्वितीय लक्षण यहां घटित होता है।

**'गन्धेन सिन्धुरधुरन्धरवक्त्रमैत्रीमैरावणप्रभृतयोऽपि न शिक्षितास्ते।**
**तत्त्वं कथं त्रिनयनाचलरत्नभित्तिस्वीयप्रतिच्छविषु यूथपतित्त्वमेषि।।'**

—वही

तुम्हारे प्रतिबिम्बों से ही तुम्हारा सादृश्य है,[471] इस प्रकार की प्रतीति यहां गम्य है, अतएव अनन्वय अलंकार है।

जगन्नाथ ने जयरथ का अनुसरण करते हुए शोभाकर के तीनों भेदों का खंडन किया है। उनके अनुसार यदि प्रथम लक्षण को उचित मानकर उपमानान्तर-विरह प्रतीतिमात्र में अनन्वय स्वीकार करें तो 'स्तनाभोगे पतन्भाति' इत्यादि 'कल्पितोपमा' को भी अनन्वय कहना पड़ेगा तथा 'यद्यर्थातिशयोक्ति' की भी आपत्ति हो जायेगी। जिसका अन्वय नहीं है—वह अनन्वय कहा जाता है—नास्त्यन्वयोऽस्येति' योगार्थ ही अनन्वय शब्द की सार्थकता को सूचित करता है। एकदेश में सादृश्य मानने से तो योगार्थता का बोध होगा। इसी प्रकार तीसरा लक्षण भी अनुपयुक्त है।[472] अनन्वय, अनन्वय ध्वनि से व्यतिरिक्त है, अतएव तृतीय भेद को अलंकार नहीं माना जा सकता।[473] स्वयं शोभाकर अपने तीनों भेदों में उपमानान्तर-विरह गम्य मानते हैं।[474] इस प्रकार शोभाकर का लक्षण अनुपयुक्त है। वस्तुतः शोभाकर के द्वितीय उदाहरण में तो एक ही वस्तु का सादृश्य भी नहीं है, वामार्ध और दक्षिणार्ध दो भिन्न पदार्थ हैं। जगन्नाथ ने शोभाकर के उक्त श्लोकों में अनन्वय ध्वनि की आशंका रुय्यक कथित मानकर उसका खंडन किया है।[475] वस्तुतः यह अलंकार-सर्वस्वकार का मत न होकर, उनके टीकाकार जयरथ का है। जगन्नाथ भ्रान्ति वश रुय्यक का ही मत मानते हैं। विमर्शिणीकार ने शोभाकर का खंडन करते हुए 'एतावन्मात्रे' आदि श्लोक में अनन्वय ध्वनि माना है, किन्तु जगन्नाथ तो वह भी मानने को तत्पर नहीं हैं। उनका कथन है कि उपमान-निषेधफलक-अभिन्न-उपमानोपमेयभावप्रयुक्त सादृश्य ही अनन्वय का स्वरूप है। 'एतावन्मात्रे' इत्यादि उदाहरण में उपमानोपमेय (वामार्ध-दक्षिणार्ध) भिन्न-भिन्न है। कान्ता की निरुपमेयता व्यंग्य है, किन्तु अनन्वय घटक अभिन्न उपमानोपमेय रूप सादृश्य नहीं है। अतएव अनन्वय का गन्ध भी नहीं है—'तस्मान्नास्त्यनन्वयगन्धोऽपि'—वही, पृ. 208.

नरेन्द्रप्रभसूरि अनन्वय में अभेदेभेद रूपा अतिशयोक्ति को मूल मानते हैं।[476] अप्पयदीक्षित की परिभाषा न केवल लक्षण को अभिव्यक्त करती है, अपितु अनन्वय अलंकार के नाम की सार्थकता भी प्रकट करती है।[477] दीक्षित का कथन है कि धर्मैक्य होने के कारण अपने से ही अपनी उपमा[478] संभव नहीं है, अतएव इसका अनन्वय नाम उचित ही है :

**'धर्मैक्ये हि स्वस्य स्वेनोपमा नान्वेतीति अनन्वय इति अन्वर्थं नाम।'**

परन्तु डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा[479] का कथन है कि परिभाषा का उद्देश्य अलंकारजन्य चमत्कार प्रतीति स्वरूप का साक्षात्कार कराना है, उसके नाम की सार्थकता सिद्ध करना नहीं। शर्मा जी का यह कथन ठीक है कि परिभाषा का उद्देश्य चमत्कार प्रतीति का साक्षात्कार कराना है, किन्तु नाम की सार्थकता का परिभाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह कथन नितान्त अनुपयुक्त है। संस्कृत (भाषा) के शब्दों की सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि किसी वस्तु विशेष की सार्थकता उस शब्द के अर्थ में निहित रहती है। अतएव दीक्षित मत[480] की आलोचना अयुक्तिकर है। अप्पयदीक्षित भामह के मत का[481] समर्थन भी करते हैं।

हेमचन्द्र, वाग्भट (दोनों) तथा कर्णपूर आदि अनन्वय को उपमा से व्यतिरिक्त नहीं मानते। उनका कथन है कि जिस प्रकार 'कल्पितोपमा' या 'अतिशयोक्ति' आदि में काल्पनिक उपमान या धर्मान्तर का निबन्धन किया जाता है, उसी प्रकार वर्ण्यमान वस्तु की सुकुमारता के अतिशय के कारण अनन्वय में भी काल्पनिक उपमान होता है। यद्यपि यहां उपमानोपमेय भाव की द्विष्ठधर्मता वास्तव नहीं होती, तथापि समारोपित द्वित्व के होने से उपमानोपमेय भाव हो जाता है। दो वस्तुओं का साधर्म्य उपमा है, यहां भी वह स्थिति प्राप्त हो जाती है। अतएव अनन्वय उपमा से पृथक् नहीं है।[482]

वस्तुतः उपमा दो वस्तुओं के साधर्म्य-वर्णन में होती है। अनन्वय उपमा-मूलक अलंकार है। कवि या सहृदय जब प्रकृत को अतिशय मनोहारी देखता या अनुभव करता है, तो वह प्रकृत की अतिशयिता सिद्ध करने के लिये उसकी उपमा उसी से दे डालता है। ऐसी स्थिति में उसका अभीष्ट यही होता है कि प्रकृत के समान कोई दूसरी वस्तु नहीं है। अतएव सदृशान्तरविरह या व्यवच्छेद ही इसे उपमा से पृथक् करता है, तथा यही अनन्वय के मूल में भी अवस्थित है। अतएव प्रकृत की प्रकृत से ही उपमा अनन्वय अलंकार है किन्तु उसे एक वाक्यगत तथा वाच्य होना चाहिये! रूपक में मुखादि का चन्द्र से अभेद अभीष्ट रहता है, किन्तु यहां दूसरी वस्तु में अपने साधर्म्य का अभाव ही चमत्कार का कारण होता है, न कि अपनी अभेदता।[483]

**भेद :** काव्यप्रकाश के टीकाकार कमलाकरभट्ट ने अनन्वय का श्रौत-आर्थ भेद से द्विधा विभाजन किया है, किन्तु भीमसेन तथा वामनाचार्य के अनुसार इस प्रकार का भेद अनुपयुक्त है, क्योंकि अनन्वय में साम्यकृत चमत्कार का अभाव रहता है।[484]

अप्पयदीक्षित ही सर्वप्रथम अनन्वय के भेदों का निर्देश करते हैं। उनके

अनुसार अनन्वय के दो भेद होते हैं—प्रतीयमानधर्म तथा निर्दिष्टधर्म। प्रथम का उदाहरण 'गगनं गगनाकारम्' इत्यादि है तथा द्वितीय का मम्मट, रुय्यक, आदि द्वारा प्रदत्त 'न केवलं भाति नितान्तकान्तिः' इत्यादि है।[485] धरानन्द ने चित्रमीमांसा की 'सुधा' टीका में अनन्वय के भेदोपभेदों पर विचार किया है। पहले उन्होंने इसका द्विधा विभाजन किया है—पूर्ण तथा लुप्त। पूर्णानन्वय पूर्णोपमा की भांति छः प्रकार का होता है। लुप्तानन्वय में धर्मलुप्त भी उपमा की भांति पांच प्रकार का होता है, वाचकलुप्त, क्यङ्, समास, कर्तृणमुल्, कर्मणमुल्, इत्यादि में दिखाया है। धर्मवाचकलुप्त तथा वाचकधर्मोपमानलुप्त का भी उदाहरण प्रस्तुत किया है। उपमानलुप्त नहीं माना है क्योंकि उपमान-लोप असंभव और अहृद्य है।[486]

**'उपमानलुप्तादीनामसम्भवत्वा(वा)त्, अहृद्यत्वाच्च नोदाहरण सम्भवम्।'**[487]

वस्तुतः सुधा प्रोक्त ये समस्त भेद जगन्नाथ[488] द्वारा कहे गये हैं। चित्रमीमांसा का प्रकृत होने से उसी परिसर में इसे भी दिखाने का प्रयास किया गया है।

अनन्वय के भी भेद उपमा के समान हो सकते हैं, उपमा से इसका केवल एक वैशिष्ट्य है कि अनन्वय में धर्म अनुगामी मात्र होता है।[489] धर्म के बिम्बप्रतिबिम्बादि रूप में कथन होने पर तो उपमा ही होगी, क्योंकि धर्मान्तर से अवच्छिन्न धर्मान्तर के साम्य की उक्ति होने में उपमा ही संभव है, अनन्वय नहीं। अनुगामी धर्म भी कहीं उपात्त तथा कहीं अर्थगम्य होता है। अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर प्रभृति ने अनन्वय ध्वनि का भी उदाहरण दिया है :

**'अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।**
**कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः।।'** चि.मी., पृ. 153.

अप्पयदीक्षित ने इसे अनन्वय ध्वनि का उदाहरण माना है। यहां विदुर श्रीकृष्ण से कह रहे हैं कि 'तुम्हारे आगमन से उत्पन्न यह प्रीति बहुकाल के बाद पुनः तुम्हारे ही आगमन से हो अन्य से नहीं'। इस प्रकार की उक्ति भङ्गी से यह व्यंजित होता है कि तवागमन-जन्य प्रीति के समान वही (तवागमनजन्य प्रीति) है, न कि अन्य।[490] इस प्रकार यहां अनन्वय ध्वनि है। परन्तु जगन्नाथ के अनुसार तुम्हारे आगमन से उत्पन्न सम्प्रति की प्रीति कालान्तर के आगमन से उत्पन्न प्रीति के समान ही होगी यह तो सर्वजन-सिद्ध है, अतएव कृष्णागमनजन्य प्रीति तथा सामान्य प्रीति में सादृश्य का अबाध तथा अनन्वय का यौगिकार्थ घटित[491] न होने के कारण यह अनन्वय नहीं हो सकता।

**असम—निषेध** : सर्वप्रथम[492] उपमान के सर्वथा निषेध में असम नामक एक भिन्न अलंकार की शोभाकर ने उद्‌भावना की है। आगे चलकर जगन्नाथ[493] आदि ने भी इसका विवेचन किया है। डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा का कथन है कि प्राचीन आलंकारिक इस अलंकार का विवेचन नहीं करते, जगन्नाथ आदि परवर्ती आलंकारिक ही निरूपण करते हैं।[494] शर्माजी ने संभवतः 'अलंकार रत्नाकर' तथा 'काव्यप्रकाश' की 'सुधासागर' आदि टीकाओं को नहीं देखा, अन्यथा वे जो श्रेय शोभाकर को मिलना चाहिये वह जगन्नाथ को न प्रदान कर देते। असम का उदाहरण निम्न है :

**'देवाकर्णय नाकिनां पुरि नृणां लोके पुरे योगिना—**
**मासन्केचन सन्ति केचन तथा स्थास्यन्ति ये केचन।**
**तन्मध्ये न बभूव नास्ति भविता तादृङ् न नीतौ नतौ**
**कान्तौ काव्यरतौ मतौ रिपुहतौ कीर्तौ च यस्ते समः।।** अ.र., पृ. 11.

(सुनिये देव! स्वर्गलोक, भूलोक और पाताललोक में जो थे, जो हैं, या जो होंगे, उनमें नीति, नम्रता, कान्ति, काव्यरति, रिपुघात तथा कीर्ति में तुम्हारे समान न कोई हुआ, न है न होगा।)

यहां प्रकृत राजा के अनुरूप संसार में किसी के न होने के कारण असम अलंकार है।

शोभाकर के अनुसार इसे लुप्तोपमा में अन्तर्भूत नहीं कर सकते क्योंकि लुप्तोपमा वहां होती है, जहां संभव उपमान का अनुपादान हो, परन्तु असम में उपमान का सर्वथा असम्भवत्व वर्णित किया जाता है :

**'यत्रोपमानस्य न सम्भवोऽस्ति तत्रासमः स्यादुपमा न लुप्ता।**
**सम्भाव्यमानस्य सतः समानधर्मादिकस्य त्वनुदीरणे सा।।** वहीं।

परन्तु शोभाकर के असम के उदाहरण में:

**'ढुण्ढुण्णन्त मरीहसि कंटअकलिआइं केअइवणाहूं।**
**मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमन्तो ण पाविहिसि।।** अ.र., वही।

जगन्नाथ[495] उपमानलुप्ता ही मानते हैं। शोभाकर के अनुसार यहां असमालंकार ही है, क्योंकि उपमान के संभव होने की कोई संभावना नहीं है। जगन्नाथ कहते हैं कि यहां तो 'भ्रमर? घूमते हुए भी मालती कुसुम सदृश नहीं पाओगे', इस कथन से यही व्यक्त होता है कि उसके सदृश भले ही और कोई हो, तुम्हारे लिये तो दुष्प्राप्य

ही है, अतएव आत्यन्तिक उपमान निषेध का अभाव होने के कारण यहां लुप्तोपमा ही है, असम नहीं।

इससे स्पष्ट है कि जगन्नाथ के अनुसार असम में सदृशान्तर का आत्यन्तिक निषेध रहता है, उपमानलुप्ता या लुप्तोपमा में क्वाचित्क। अतएव यहां (असम में) उपमान का सर्वथा निषेध होने के कारण इसे उपमा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता।[496] वस्तुतः उपमा और असम भिन्न हो सकते हैं, किन्तु अनन्वय से असम को भिन्न नहीं माना जा सकता। कवि की जो चित्तवृत्ति उपमानान्तर निषेध की प्रतीति कराने में अनन्वय में प्रवृत्त होती है, वही उपमानान्तर के निषेध में असम में भी। अनन्वय में स्वसादृश्य वाच्य होता है, सदृशान्तर के आत्यन्तिक निषेध होने से असम में भी परम्परया स्वसादृश्य प्रतीति होती ही है। अनन्वय में प्रस्तुत वस्तु के धर्म (गुणादि) की अन्यत्र अनुपलब्धि होने से कवि उसे उसी में देखता है, असम में कवि को प्रस्तुत वस्तु के समान धर्म की अन्यत्र प्राप्ति ही नहीं होती। उपमानान्तर व्यवच्छेद दोनों में ही होता है, परन्तु स्वरूप में थोड़ा-सा अन्तर है। उद्योत ने इसे लुप्तोपमा के ही अंतर्गत रखा है।[497] वस्तुतः असम में उपमान गम्य होता है। इस बात को जगन्नाथ भी स्वीकार[498] करते हैं। इसलिये इसे अनन्वय से पृथक् न मानकर अनन्वय ध्वनि ही मान लेना चाहिये। इस पर कुछ लोगों को आपत्ति हो सकती है, कि यदि असम में अनन्वय ध्वनि इस आधार पर मान लिया जायेगा कि अनन्वय में सदृशान्तर व्यवच्छेद वाच्य न होकर व्यंग्य रूप में तो रहता ही है, तो इस प्रकार से तो रूपक, दीपक, आदि अलंकारों में उपमा के व्यंग्य होने के कारण उन्हें भी उपमा से पृथक् नहीं मानना चाहिये?[499] वस्तुतः जगन्नाथ आदि का यह तर्क उचित है किन्तु यदि उपमान निषेध की वाच्यता मात्र को मानकर असम को अनन्वय से भिन्न अलंकार मान लेंगे और इसे अनन्वय ध्वनि के अंतर्गत नहीं रखेंगे तब तो व्यंग्योपमा आदि को भी पृथक् अलंकार मानना पड़ेगा। और इस प्रकार अलंकारों का आनन्त्य ही हो जायेगा। रूपकादि अलंकारों के व्यंग्य होने पर उनकी वाच्यता जिस प्रकार सुरक्षित रहती है, उसी प्रकार असम का अनन्वय ध्वनि में अन्तर्भाव कर लेने से न उसकी वाच्यता को क्षति पहुंचती है[500] और न ही ध्वनि का उच्छेद होता है। इसलिये 'असम' को अनन्वय से पृथक् नहीं मानना चाहिये।

**'प्रांचस्तु नेदमलंकारान्तरमित्यप्याहुः—'** र.गं., पृ. 212[501]

**प्रतिमा** : शोभाकर ने उपमादि से व्यतिरिक्त एक नवीन अलंकार प्रतिमा का विवेचन किया है, जिसका विवेचन उनके पूर्ववर्ती या परवर्ती किसी भी आलंकारिक

ने नहीं किया है। प्रकृत के कार्य-कारण आदि धर्मों से युक्त प्रसिद्ध गुणान्तर या अर्थान्तर के सम्बन्धन-निबन्धन के कारण जहां अर्थलभ्य औपम्य प्रतीति होती है, वहां अर्थान्तर की प्रतिमा होने के कारण प्रतिमा अलंकार माना जाता है।[502] इवादि का अनुपादान होने से इसे उपमा नहीं कह सकते। दोनों धर्मियों में सामानाधिकरण्य न होने के कारण रूपक नहीं माना जा सकता। पदार्थों के धर्मों में सम्बन्ध न होने से निदर्शना भी नहीं कहा जा सकता।·धर्म का प्रकृताप्रकृत अनेक के साथ सम्बन्धाभाव होने से दीपक तुल्ययोगिता में इसे अन्तर्भूत नहीं कर सकते, क्योंकि यहां वस्तु से सम्बन्धित धर्म प्रकृत के सम्बन्धी रूप में ही प्रयुक्त होते हैं, तथा वस्त्वन्तर सम्बन्ध अर्थ-साधर्म्य से ही जाना जाता है। धर्म के विषय में कहीं-कहीं अध्यवसाय होने पर भी दोनों पदार्थों का उपादान रहने के कारण इसे अतिशयोक्ति के भी अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार यह अन्य अलंकारों से भिन्न ही अलंकार है, यह शोभाकर का अभिमत है। उनका उदाहरण निम्न है :

**'अङ्गे पुलकं अधरं सवेपितं जल्पितं ससीत्कारम्।**
**सर्वं शिशिरेण कृतं यत्कर्तव्यं प्रियतमेन।।'** (छाया) अ.र., पृ. 14

(कामिनियों के अंग में पुलक, अधर को सकम्प, सीत्कार युक्त प्रजल्प, आदि कार्य जो प्रियतम के करने योग्य थे, सभी (कार्य) शिशिर ऋतु ने कर दिये)।

रोमांचादि प्रिय (वल्लभ) के कार्य हैं, उनका संपादन शिशिर के द्वारा हो गया है, अतः उक्त धर्मों के कारण शिशिर की अर्थतः वल्लभतुल्यताप्रतीत होती है, अतएव यहां प्रतिमा अलंकार है।[503] शोभाकर यहां आर्थ औपम्य मानते ही हैं। अतएव इसे आर्थी उपमा या व्यंग्योपमा से व्यतिरिक्त नहीं माना जा सकता।

वस्तुतः उक्त उदाहरण में प्रियतम के बिना भी पुलकादि होने के कारण विभावनालंकार है और उससे व्यंग्य है उपमा। इसी प्रकार शोभाकर के 'नवपूर्णिमामृगाङ्कस्य' आदि· प्रतिमा के उदाहरण को मम्मट[504] आदि ने अर्थशक्त्युद्भव पदद्योत्य वस्तु से वस्तु ध्वनि का उदाहरण माना है। इसलिये प्रतिमा को 'ध्वनि' से व्यतिरिक्त नहीं मानना चाहिये।

## उपमेयोपमा

'उपमेयेनोपमा इत्युपमेयोपमा'[505]—जहां उपमेय से ही उपमा दी जाये, अर्थात् उपमेय को ही उपमान बनाकर तथा उपमान को उपमेय बनाकर जहां उपमा दी जाये, वहां उपमेयोपमा होती है। जैसे—'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला' में मति (उपमेय) को कमला (उपमान) के समान बताया गया है, पुनः मति उपमेय को ही उपमान तथा उपमान कमला को ही उपमेय मानकर उपमा दी गयी है। इस प्रकार उपमेयोपमा अर्थ के अनुरूप ही है।

भामह ने ही सर्वप्रथम उपमेयोपमा को पृथक् अलंकार के रूप में अवस्थापित किया है। भामह के ही लक्षण को शब्दों में हेरफेर से प्रायः वामन, मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, नरेन्द्रप्रभ, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, कर्णपूर, देवशंकर, विश्वेश्वर, आदि प्रयोग में लाते हैं। भामह की परिभाषा निम्न है :

**'उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत्।**
**उपमेयोपमां नाम ब्रुवते तां यथोदिताम्।।'** —काव्यालंकार, 3/37

अर्थात् जहां पर्याय से दोनों का उपमान-उपमेयभाव हो, वहां उपमेयोपमा होती है। मम्मटादि के भी लक्षण इसी प्रकार के हैं।[506] उद्भट, रुद्रट, जगन्नाथ, आदि के लक्षणों में इनसे कुछ भिन्नता है।[507]

उपमा में दो वस्तुओं का साधर्म्य होने के कारण उन्हें समान बताया जाता है। अनन्वय में प्रकृत के समान दूसरी वस्तु न होने के कारण उसका उसी से सादृश्य दिखाया जाता है, इस प्रकार द्वितीय सदृश का निराकरण किया जाता है। इससे और आगे बढ़ते हैं, तो प्रकृत को अप्रकृत के समान सिद्ध करने पर कवि की चित्तवृत्ति जब और अधिक अग्रसर होती है और प्रतीत होता है कि इन दो वस्तुओं के समान कोई तीसरी वस्तु नहीं है, तो वह उपमेय को ही उपमान बनाकर सादृश्य प्रदर्शित करता है। ऐसी दशा में उसकी मनोवृत्ति तृतीय सदृश व्यवच्छेद या उपमानान्तर के निषेध में ही निमग्न रहती है। इस प्रकार उपमेयोपमा के मूल में तृतीयसदृशव्यवच्छेद ही अवस्थित है, वही इसका जीवातु है।[508] इसमें दो वस्तुओं का परस्पर सादृश्य अभीष्ट होता है। उपमान और उपमेय का क्रमशः उपमेय और उपमान होना यह सिद्ध करता है कि एक का उपमान दूसरा ही हो सकता है, तीसरा कोई भी नहीं। जगन्नाथ ने अपनी परिभाषा में 'तृतीयसदृशव्यवच्छेद' की संगति दिखाते हुए उक्त मत को ही अभिव्यक्त किया है।[509] विमर्शिणी के अनुसार लक्षण में तृतीयसदृशव्यवच्छेद का सन्निवेश अनावश्यक है, क्योंकि उपमेयोपमा शब्द से

ही तृतीय सदृश का व्यवच्छेद हो जाता है।[510] परन्तु मम्मट आदि ने यद्यपि सूत्र या कारिका में उक्त विशेषण का निवेश नहीं किया है, तथापि वे वृत्ति में इसका निर्देश अवश्य करते हैं—'इतरोपमानव्यवच्छेदपरा उपमेयेनोपमा इति उपमेयोपमा'[511] —यदि यहां उपमेय को ही उपमान मान लिया जायेगा तो उपमेय की प्राकरणिकता का व्याघात उपस्थित होगा? इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए इन्दुराज ने स्पष्ट किया है कि यहां उपमानोपमेय भाव में तात्पर्य नहीं है। अतएव पक्षद्वय से व्यतिरिक्त अन्य पक्ष की हानि विवक्षित होने के कारण यहां परस्पर उपमानोपमेयभाव दुष्ट नहीं होता। तात्पर्य यह कि यह उपमानोपमेयभाव उपमानान्तर के अभाव में पर्यवसित होता है।[512] तिलक के अनुसार 'अन्योन्य' शब्द का लक्षण में उपादान यह सिद्ध करता है कि यह अलंकार दो वाक्यार्थों में ही संभव है :

**'अन्योन्यशब्दोपादानाच्चात्र वाक्यार्थद्वयवर्त्ययमलंकारः'**—विवृति, पृ. 47

**भेद** : रुद्रट ने यद्यपि इसे 'उभयोपमा' कहकर उपमा का ही एक भेद स्वीकार किया है, किन्तु लक्षण सर्वथा स्पष्ट है। नमिसाधु का कहना है कि यह सामान्य के प्रयोग तथा अप्रयोग भेद से दो प्रकार की होती है।[513] मम्मट ने कारिका की वृत्ति में यह स्वीकार किया है कि वाक्यद्वय में उपमानोपमेय की परिवृत्ति उपमेयोपमा है। यद्यपि वाक्यद्वय 'रसनोपमा' में भी होता है, किन्तु वहां तृतीयसदृशव्यवच्छेद अभीप्सित नहीं रहता। मम्मट के वाक्यद्वय पर विद्यानाथ तत्सत् ने 'प्रभा' टीका में यह स्पष्ट कहा है कि एक वाक्य में भी उपमेयोपमा संभव है। वाक्यद्वय यहां शाब्द और आर्थ होता है। इसलिये 'मुखरविन्दं च परस्परेण समम्' एक वाक्य में भी 'मुख अरविन्द के समान है, अरविन्द मुख के समान है,' इस प्रकार के अर्थतः[514] वाक्यभेद की उपलब्धि हो जाने से उपमेयोपमा संभव है।

शोभाकर भी श्रौत आर्थ भेद से उपमेयोपमा का द्विधा विभाजन स्वीकार करते हैं। आर्थी होने पर इसमें एक ही वाक्य होता है।[515] शोभाकर की श्रौती उपमेयोपमा का उदाहरण निम्न है :

**'सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः।**
**यामिनयन्ति दिनान्यपि सुखदुःखवशीकृते मनसि।।'** —अ.र., पृ. 12

उनके अनुसार उपमेय सविता का उपमान चन्द्र ही हो सकता है तथा चन्द्र का सविता। इसी प्रकार दिन का उपमान यामिनी और यामिनी का दिन ही हो सकता है, क्योंकि उपमानोपमेयभाव की विवक्षा में दिनकर का विरुद्ध चन्द्र और दिन का

विरुद्ध रात्रि ही होने से ये ही उपमान हैं। इस प्रकार इनका परस्पर उपमानोपमेयभाव होने से उपमानान्तर निषेध प्राप्त हो जाता है, अतएव उपमेयोपमा है। इनका उपमानोपमेयभाव शब्दतः उपात्त होने से शाब्दी उपमेयोपमा[516] है। परन्तु शोभाकर का यह उदाहरण अनुपयुक्त है। ऐसी बात नहीं है कि सविता-निशाकर और यामिनी-दिन का किसी अन्य से सादृश्य हो ही नहीं सकता। वस्तुतः उक्त कथन से यही अभिव्यक्त होता है कि सुख-दुःख में प्रकृति भी सहायिका बन जाती है। सुख में प्रचंड सूर्य भी सुधाकर के समान हो जाता है और दुःख में अमृतमय चांद भी प्रचंड सूर्य जैसा। इसी प्रकार सुख में भारी रात्रियां भी दिन के समान सुखमय हो जाती हैं और दुःखमय दिन रात्रि के समान भारी हो जाता है। यहां कवि विवक्षा का तात्पर्य उपमानान्तर निषेध से न होकर उक्त कथन का बोध कराने से है। इसीलिये जयरथ तथा जगन्नाथ ने शोभाकर का खण्डन किया है :

> **'न ह्यत्र विधुसवित्रादीनां उपमानान्तरतिरस्करणं विवक्षितं किन्तु सुखदुःखवशीकृतमनसामेवं विपरीतं भवतीतिः।'**[517]

उपमेयोपमा में तृतीय सदृशव्यवच्छेद होने पर जिन दो वस्तुओं का उपमानोपमेय भाव दिखाया जाता है, उनका साधारण धर्म एक होता है, किन्तु यहां धर्म भी एक नहीं है। 'सविता विधवति' में शीतकरत्वादि साधारण धर्म है तो 'विधुरपि सवितरति' में उष्णकिरणत्व। इसलिये भी यहां उपमेयोपमा मानना संभव नहीं है।[518] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लक्षण में तृतीयसदृशव्यवच्छेद आवश्यक है, अन्यथा इसकी अतिव्याप्ति 'परस्परोपमा' में भी हो जायेगी। इस दृष्टि से उद्भट, रुद्रट तथा जगन्नाथ के लक्षण अधिक उपयुक्त हैं।

परस्परोपमा में भी दो वस्तुओं का सादृश्य दिखाया जाता है, किन्तु वहां तृतीय सदृश व्यवच्छेद की विवक्षा नहीं होती :

> **'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः गजैश्च घनसन्निभैः।**
> **भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्।।'**
>
> — र.वं., 4/29 (उद्धृत अ.र., पृ. 12 (वि., पृ. 32)

जयरथ भी शोभाकर की भांति उपमेयोपमा के शाब्द, आर्थ, दो भेद करते हैं। उक्त श्लोक शोभाकर तथा जयरथ दोनों ने ही शाब्दी उपमेयोपमा के उदाहरण में रखा है। यहां व्योम का भुवस्तल से तथा भुवस्तल का व्योम से सादृश्य दिखाया गया है। दोनों के शब्दशः उपात्त होने से यह शाब्दी उपमेयोपमा का उदाहरण है। परन्तु

ऐसी बात नहीं है कि व्योम और भुवस्तल के समान कोई अन्य तीसरी वस्तु नहीं है। इसीलिये अप्पय तथा जगन्नाथ[519] यहां परस्परोपमा मानते हैं। इसी परिसर में जगन्नाथ ने जयरथ के शाब्द आर्थ द्विधा विभाजन को भी दुष्ट बताया है। उनका कथन है कि 'रजोभिः' इत्यादि उदाहरण में दोनों उपमाओं में एक धर्म नहीं है और तृतीय सदृश का व्यवच्छेद भी नहीं है। प्रथम उपमा का साधक है—धूलिरूप अनुगामी धर्म और द्वितीय का मेघ तथा गजरूप बिम्ब प्रतिबिम्ब भावापन्न[520] धर्म। तृतीय उपमान की निवृत्ति तब होती जब दोनों को सिद्ध करने वाला साधारण धर्म एक होता। इस प्रकार जगन्नाथ की दृष्टि से विमर्शिनी का उक्त मत अनुपयुक्त है। परन्तु विश्वेश्वर ने शोभाकर तथा विमर्शिनी के ही मत को उपयुक्त मानते हुए दीक्षित तथा जगन्नाथ का खंडन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार रज तथा मेघतुल्य गज प्रथम तथा द्वितीय उपमा के साधारण धर्म में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव[521] मान लेने में कोई बाधा नहीं है। उपयुक्त भी प्रतीत होता है।

अप्पयदीक्षित ने इसी उपर्युक्त अतिव्याप्ति दोष से बचने के लिये अपने लक्षण में 'एकधर्माश्रया' पद का समावेश किया है :

**'अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण वा।**
**एकधर्माश्रया या स्यात् सोपमेयोपमा मता।।'** —चि.मी., पृ. 140

'अन्योन्येन' पद के द्वारा 'रशनोपमा' का वारण किया गया है। 'व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण' के द्वारा उभय विश्रान्त सादृश्योपमा का निराकरण किया गया है तथा 'एक धर्माश्रया' के द्वारा परस्परोपमा की अतिव्याप्ति को दूर किया गया है। 'उभय विश्रान्त सादृश्योपमा' में अभिधा और व्यंजना दो वृत्तियों का सहारा लिया जाता है।

अप्पयदीक्षित ने 'युगपदुपमा' का अन्तर्भाव 'उपमेयोपमा' में ही करने का प्रयास किया है।[522] 'युगपदुपमा' में सादृश्य प्रतीति दोनों के समान प्रतियोगित्व में होती है, इस परस्पर प्रतियोगिता को ही दीक्षित जी युगपदुपमा का जीवातु मानते हैं, परन्तु उपमेयोपमा में यह बात नहीं होती। इसलिये 'युगपदुपमा' का अन्तर्भाव उपमेयोपमा में अशक्य है।[523] तथापि अनेक आलंकारिक इसे उपमेयोपमा ही मानते हैं। काव्यप्रकाश के 'प्रभा' टीकाकार विद्यानाथ तत्सत् का मत पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। वामनाचार्य[524] भी यह मानते हैं। अप्पयदीक्षित के अनुसार परस्पर प्रतियोगिता उपमेयोपमा और युगपदुपमा दोनों में ही होती है। प्रथम में यह स्पष्ट प्रतिपादित किया जाता है, द्वितीय में अर्थतः प्राप्त होता है।

दीक्षित का लक्षण उद्धृत कर जगन्नाथ उसका विवेचन पुरस्सर खण्डन भी

करते हैं।[525] परन्तु नागेश जगन्नाथ से सहमत नहीं हैं।[526] जगन्नाथ ने रुय्यक के लक्षण को भी दुष्ट बताने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि रुय्यक के लक्षण 'द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा' में द्वयोः पद का उपादान व्यर्थ है। यदि अनन्वय के वारण के लिये इसका ग्रहण किया गया है तो वह अयुक्त है, क्योंकि एक वस्तु के उपमान-उपमेय होने से 'गगनं गगनाकारं' इत्यादि में वाक्यभेद न होने के कारण पर्याय का अभाव ही रहता है, इसलिये उसमें लक्षण की प्रसक्ति ही नहीं होती और यदि स्फुटत्व या उपमान उपमेय की योग्यता-संपादक लिंग वचन भेद के निवारण या कविसमय प्रसिद्धि का स्फोरण करने के लिये 'द्वयोः' का उपादान किया है तो 'अहं लतायाः सदृशीत्यखर्व' इत्यादि उपमा के उदाहरण में इसकी अतिव्याप्ति हो जाती है। जगन्नाथ का आगे कहना है कि वृत्ति में सर्वस्वकार 'वाक्यभेद' का उल्लेख करते हैं। परन्तु :

**'तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।**
**प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितं भ्रमरं च पद्मम्।।**

—अ.र., पृ. 12

इस युगपदुपमा रूप उपमेयोपमा में एक ही वाक्य होता है। इसके अतिरिक्त 'सविता विधवति' इत्यादि परस्परोपमा के उदाहरण में भी रुय्यक का लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है।[527]

वस्तुतः जगन्नाथ का इस प्रकार का कुतर्क सराहनीय नहीं है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, शोभाकर, जयरथ, विद्यानाथ तत्सत् तथा स्वयं जगन्नाथ भी उपमेयोपमा में वाक्यभेद दो प्रकार का मानते हैं : शाब्द और आर्थ। 'तद्वल्गुना' इत्यादि में तुम्हारे (रघु के) नेत्र, कमल-समान हैं और कमल तुम्हारे नेत्र समान हैं, इस प्रकार अर्थतः वाक्यभेद समुलब्ध हो जाता है। नेत्र और कमल के परस्पर उपमानोपमेयत्व का विपर्यास होने से दो वाक्य भी बन जाते हैं। अतएव यह आर्थी उपमेयोपमा का उदाहरण है। शोभाकर तथा जयरथ आदि भी मानते हैं। इसलिये जगन्नाथ का यह कहना कि एक ही वाक्य उपमेयोपमा (युगपदुपमा) में होता है, अनुपयुक्त है। परस्परोपमा में अतिव्याप्ति दोष का भी वारण किया जा सकता है। 'सविता विधवति' इत्यादि में भिन्नकालत्व के आधार पर—सुखावस्था में सूर्य, चन्द्र के समान हो जाता है, दुःखावस्था में चन्द्र भी सूर्य के समान हो जाता है, अर्थात् सुख-दुःख में ये ही दो आपस में समान हो सकते हैं, कोई दूसरी वस्तु नहीं—उपमेयोपमा मानी जा सकती है। इसी आधार पर शोभाकर ने भी यहां

उपमेयोपमा मानी है।[528] जगन्नाथ के उक्त कुतर्क का खण्डन अभिनव कालिदास (नरसिंह कवि) ने भी किया है।[529] जगन्नाथ स्वयं 'अभिरामता' आदि में वाक्यभेद श्रौत के अतिरिक्त आर्थ भी मानते हैं।

उपमेयोपमा में होनेवाला उपमानान्तर का तिरस्कार सादृश्यमूलक होना चाहिये। अर्थात् जब दो वस्तुओं को आपस में समान बताया जाता है तो उनमें समान धर्म का होना आवश्यक है। दंडी की नियमोपमा[530] में परस्पर सादृश्य कथन का अभाव होने से, उसे इसके अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। जगन्नाथ भी इससे सहमत हैं।[531]

जैसा कि कह चुके हैं, सर्वप्रथम शोभाकर ने उपमेयोपमा का वाक्यभेद के आधार पर श्रौत-आर्थ दो भेद माना है। जिसका समर्थन जयरथ, दीक्षित तथा जगन्नाथ भी करते हैं। किन्तु शोभाकर से पूर्व ही मम्मट तथा रुय्यक ने वाक्यभेद की स्थापना कर दी थी। साधारण धर्म के आधार पर इसका दो भेद प्रथमतः रुय्यक ने प्रस्तुत किया—धर्म की साधारणता और वस्तुप्रतिवस्तुभाव में—'इयं तु धर्मस्य साधारण्ये वस्तुप्रतिवस्तुभावनिर्देशे च द्विधा'—अ.स., पृ. 40. इस पर रुय्यक के टीकाकारों में मतभेद है। जयरथ[532] इसके पहले दो भेद करते हैं, धर्म के निर्देश और अनिर्देश में। धर्म का जहां निर्देश होगा वहां वह अनुगामी, वस्तुप्रतिवस्तुभाव या बिम्बप्रतिबिम्बभाव से होगा। 'खमिवजलं जलमिवखम्' इत्यादि में धर्म का निर्देश नहीं हुआ है। 'कमलेव मतिः मतिरिव कमला' आदि मम्मट के उदाहरण में धर्म का अनुगामितया निर्देश किया गया है। यहां 'विभाति' यह क्रिया रूप साधारण धर्म सबके लिये सामान्य रूप में निर्दिष्ट है। 'तद्वल्गुना' इत्यादि में जयरथ धर्म के तीनों भेद मानते हैं—'इति भेदत्रयस्याप्येतदुदाहरणम्' वि., पृ. 32.

रुय्यक ने 'खमिवजलम्' इत्यादि को धर्म की साधारणता का उदाहरण माना है तथा 'सच्छायाम्भोजवदनाः' इत्यादि को वस्तुप्रतिवस्तुभाव का। किन्तु समुद्रबन्ध द्वितीय उदाहरण में बिम्बप्रतिबिम्बभाव[533] मानते हैं। और विद्याचक्रवर्ती कहते हैं कि यहां बिम्बप्रतिबिम्ब हो ही नहीं सकता :

> **'अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावो न संभवति भिन्नवाक्यत्वेन तान्निबन्धन-वैचित्र्य प्रतीतेः।'** —संजीवनी, पृ. 40.

विद्याधर ने रुय्यक की भांति दो ही भेद का निर्देश किया है।[534] विद्यानाथ तथा विश्वनाथ भेद का उल्लेख नहीं करते। अप्पयदीक्षित भी धर्म की साधारणता (प्रतीयमान साधारणधर्मा—वाच्य साधारणधर्मा) वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्ब-

भाव तीनों भेदों को स्वीकार करते हैं। दीक्षित युगपदुपमेयोपमा में भी इन भेदों की संभावना व्यक्त करते हैं।[535]

जगन्नाथ भी जयरथ के अनुसार इसके पहले दो भेद करते हैं : उक्त धर्मा और व्यक्त धर्मा। उक्तधर्मा—अनुगामी, वस्तुप्रतिवस्तुभाव, बिम्बप्रतिबिम्बभाव, उपचरित, केवल शब्दात्मक आदि अनेक प्रकार की होती है। उक्तधर्मा तथा व्यक्तधर्मा के समस्त भेद वाक्यभेद के स्पष्ट (श्रौत) होने पर होते हैं, इनके अतिरिक्त वाक्यभेद आर्थ भी हो सकते हैं।[536] इसी प्रकार पूर्णा, लुप्ता, आदि भेद भी उपमा की तरह इसमें भी हो सकते हैं :

**'एवं पूर्णालुप्तोदयोऽप्यस्या उपमाया इव प्रायशः सर्वेऽपि भेदाः संभवन्ति।'**
—र.गं., पृ. 198.

आचार्य विश्वेश्वर ने भी अनुगामी, बिम्बप्रतिबिम्बभाव, उपचार, समास, श्लेष के आधार पर इसका भेद किया है, किन्तु उनका कोई आग्रह विशेष नहीं है :

**'धर्मश्चानुगामी बिम्बप्रतिबिम्बभावोवेतिनाग्रहः'** अ.कौ., पृ. 176.

नरसिंह (अभिनव कालिदास) रुय्यक के अनुसारी हैं।[537] उपमेयोपमा के उदाहरण कुछ पहले ही दिये जा चुके हैं। विस्तारभय से अधिक उदाहरण प्रस्तुत करना अशक्य है।

दंडी उपमा से इसे पृथक् नहीं मानते। उनकी अन्योन्योपमा[538] उपमेयोपमा को अभिव्यक्त करती है। भोज की उभयोपमा ही उपमेयोपमा है। वाग्भट भी इसे 'अन्योन्योपमा' कहकर उपमा का भेद ही स्वीकार करते हैं। कुन्तक उपमेयोपमा को उपमा में ही अन्तर्भूत कर लेते हैं :

**'तदेवं प्रतिवस्तूपमायाः प्रतीयमानोपमायामन्तर्भावोपपत्तौ सत्यामिदानीमुपमेयोपमादेरन्तर्भावो विचार्यते।'** —व.जी., पृ. 201.

हेमचन्द्र अनन्वय की भांति इसे भी उपमा के ही अन्तर्गत रखते हैं। अमृतानन्दयोगी तथा छज्जूराम शास्त्री इसका पृथक् विवेचन नहीं करते। प्रतीत होता है कि जगन्नाथ भी इसे उपमा का ही भेद मानते हैं, क्योंकि उपमेयोपमा के प्रारंभ में ही वह कहते हैं—'अथास्या एव भेद उपमेयोपमा विचार्यते'—र.गं., पृ. 196.

भरत तक इसकी कोई चर्चा नहीं थी, किन्तु भामह के समय में यह एक अलंकार के रूप में प्रकट हो जाता है। इसकी उद्भावना के मूल में निहित है तृतीय सदृश का व्यावर्तन। अतएव भामह से लेकर विश्वेश्वर तक जो भी विवाद है, वह

उपमानान्तर-निषेध को आश्रय मानकर ही है, चाहे युगपदुपमा हो या परस्परोपमा या उपमेयोपमा। धर्म को लेकर उपमेयोपमा के क्रमशः बढ़ते भेद इसकी उपमामूलकता के कारण है। शाब्द-आर्थ भेद वाक्यभेद से हुए हैं। वस्तुतः उपमा तथा उपमेयोपमा में सादृश्य विधान की दृष्टि से एकवस्तु सर्वत्र समान रूप से विद्यमान रहती है, वह है एक धर्म या अनेक धर्मों की अन्यत्र प्राप्ति। यहां प्रस्तुत वस्तु की अन्यवस्तु के धर्म के आधार पर वैधर्म्य की भी प्रतीति होती है। असम और अनन्वय में यह प्रतीति नहीं होती। अन्यवस्तु में प्रस्तुत धर्म की प्राप्ति न होने से कवि को पुनः उसी वस्तु में वह धर्म दिखाई पड़ता है—यह स्वरूप अनन्वय का है। असम में प्रकृत वस्तु के अनुसार अन्य वस्तु में सादृश्य न मिलने के कारण कवि उसके अनुसार किसी अन्य वस्तु को मानता ही नहीं। उपमेयोपमा में कवि प्रकृत की उपमा अप्रकृत वस्तु से देता है। पुनः वह समान धर्म के कारण जब दोनों को समान मानकर तृतीय वस्तु को ढूँढ़ता है, तो वह उसे अन्यत्र प्राप्त ही नहीं होती, ऐसी स्थिति में वह उपमेय को ही उपमान बनाकर उपमान को उपमेय बना लेता है और उन दोनों को आपस में समान सिद्ध करता है। इस प्रकार परस्पर दोनों को समान बताते हुए उसका उद्देश्य होता है, कि इनके समान और कोई तीसरी वस्तु नहीं है। यही उपमेयोपमा का स्वरूप है। यह उपमेयोपमा किसी भी अर्थ की उत्कर्षाधायिका होने पर ही अलंकार होती है,[539] अन्यथा स्ववैचित्र्यमात्रपर्यवसित होती है। जगन्नाथ ने इसकी ध्वन्यमानता और लक्षणा में भी स्थिति मानकर उदाहरण प्रस्तुत किया है।

उपमा में कहे गये समग्र दोष उपमेयोपमा[540] में भी होते हैं। कुछ और भी दोष इसमें पाये जाते हैं। प्रथम है, एक उपमा से दूसरी उपमा की विलक्षणता। तात्पर्य यह कि जिस ढंग से पहली उपमा पायी जाती है, उसी ढंग की दूसरी उपमा के न होने पर दोष होता है। जैसे 'कमलमिव वदनमस्या वदनेन समं तथा कमलम्' यहां प्रथम वाक्य में श्रौती उपमा है तथा द्वितीय में आर्थी, इस प्रकार विलक्षणता है। 'कमलति वदनं तस्याः कमलं वदनायते जगति' में क्विप् तथा क्यङ् प्रत्यय कृत वैलक्षण्य है। इसी प्रकार 'वदनायते' के स्थान पर 'वक्त्रायते' कह देने से उपमान, उपमेय तथा वाचक वैलक्षण्य हो जाता है। इसी प्रकार की अन्य विलक्षणतायें भी यदि सहृदयोद्वेजक हों तो दोषापत्ति हो जाती है :

**'एवं प्रकारैरनेकैर्वैलक्षण्यं यदि सहृदयोद्वेजकं तदादोषः'**

—र.गं., पृ. 203.

## स्मरण

आध्यान अर्थ में पठित स्मृ धातु से भाव नपुंसक में ल्युट्[541] प्रत्यय करने पर स्मरण शब्द की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार जिसके द्वारा किसी वस्तु की स्मृति या चिन्ता की जाये उसे स्मरण[542] कहा जाता है—स्मृतिः स्मरणम्। दार्शनिक दृष्टि से स्मृति ज्ञान का एक भेद है। बुद्धि को ज्ञान[543] भी कहा जाता है—बुद्धिर्ज्ञानम्। वह दो प्रकार का होता है : स्मरण और अनुभव। पूर्वानुभूत संस्कार-जन्य ज्ञान को स्मरण ज्ञान कहते हैं, परन्तु अनुभव संस्कारजन्य नहीं होता। अप्रकृत तथा दर्शन का विषय होने से विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। उक्त तार्किक सिद्धान्त ही स्मरण अलंकार के मूल में अवस्थित है। अतएव स्मरण के पूर्व निम्न मानसिक क्रियायें होती हैं : प्रथम प्रक्रिया में पूर्वकाल में किसी वस्तु का अनुभव होता है, द्वितीय में उस अनुभव द्वारा संस्कार उत्पन्न होता है तथा तृतीय प्रक्रिया में सदृश वस्तु के अनुभव से पुनः उस संस्कार का उद्‌बोध होता है। मूलतः यही प्रक्रिया स्मरणालंकार के मूल में भी अवस्थित है। इस बात को भी यहीं स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि अधिकांश आलंकारिक सदृश वस्तु के अनुभव में ही स्मरण अलंकार मानते हैं, किन्तु राघवानन्द महापात्र तथा जगन्नाथ आदि विसदृश वस्तु के स्मरण में भी अलंकार मानते हैं। तथापि इसकी सादृश्य मूलकता में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। एक तथ्य और है कि काव्यशास्त्र में स्मृति का त्रिधा रूप पाया जाता है : अलंकार वस्तु तथा भाव रूप।[544] सादृश्यमूलक, वाच्य स्मृति अलंकार मानी गयी है, कहीं-कहीं यह असादृश्य में भी संभव है। व्यंग्य और अलंकार रहित स्मृति वस्तुरूप कही गयी है और व्यंग्य स्मृति को भाव कहा जाता है। सादृश्यात्मक स्मृति व्यंग्य तथा किसी का अङ्ग न होने पर स्मरणालंकार ध्वनि कही जाती है। भेद-प्रभेद आगे दिखाया जायेगा।

भामह, दंडी, उद्‌भट तथा वामन ने इस अलंकार का विवेचन नहीं किया है, किन्तु उद्‌भट का काव्यलिङ्ग स्मरण[545] जैसा ही है :

> **'श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।**
> **हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते।।'** —का.सा.सं., 6/14

सर्वप्रथम रुद्रट ने ही स्मरण का विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने इसे औपम्यमूल मानकर इसकी परिभाषा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार स्मरण अलंकार वहां होता है, जहां प्रतिपत्ता वस्तुविशेष को देखकर उसके सदृश कालान्तरानुभूत अन्य वस्तु का स्मरण करता है।[546] रुद्रट के कुछ अलंकार लक्षण इतने उपयुक्त हैं कि परवर्ती

आचार्य उन्हीं को शब्दों के कुछ परिवर्तन के साथ ग्रहण कर लेते हैं, यही बात स्मरण के विषय में भी कही जा सकती है। कुन्तक ने इसका उल्लेख नहीं किया है। भोज ने भी इसको अर्थालंकार की श्रेणी में माना है। उनकी दृष्टि से सदृश, अदृष्ट, चिन्ता, आदि (परप्रयत्न) का अनुभूत अर्थ ज्ञान ही स्मरण है तथा प्रत्यभिज्ञान, स्वप्न, आदि भी इससे बहिर्भूत नहीं हैं।[547]

मम्मट ने रुद्रट के ही लक्षण को कुछ अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है : सदृश वस्तु के दर्शन से अनुभूत अर्थ की स्मृति स्मरण अलंकार है।[548] वृत्ति में मम्मट न केवल स्मरणालंकार का स्वरूप ही स्पष्ट कर देते हैं, अपितु वे स्मरण की मूल प्रक्रिया का भी निर्देश कर देते हैं। उनका कथन है कि जो पदार्थ पहले किसी आकार में नियत था, कभी अनुभव का विषय हुआ, कालान्तर में पुनः स्मृति के उद्बोधक उसके समान अन्य वस्तु के दर्शन से जो उसी प्रकार (अनुभूत पदार्थ के समान वस्तु) का स्मरण किया जाता है, वह स्मरणालंकार है।[549]

रुय्यक भी मम्मट[550] के लक्षण का संक्षिप्त स्वरूप ही प्रस्तुत करते हैं, किन्तु वृत्ति में वह यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि व्याप्त्यादि के न होने के कारण इसे अनुमान[551] नहीं कह सकते तथा बिना सादृश्य के स्मृति को स्मरण अलंकार नहीं मान सकते। उनके टीकाकार रुय्यक का[552] ही अनुसरण करते हैं। शोभाकर भी पूर्वाचार्यों के ही समान मत रखते हैं। उनका कथन है कि पूर्वानुभूत वस्तु के सदृश अन्य वस्तु के दर्शन से संस्कार प्रबोध के कारण स्मरण में जो आर्थऔपम्य[553] होता है वही स्मृति अलंकार है। शोभाकर इसे स्मरण न कहकर स्मृति ही कहते हैं। रुय्यक तथा शोभाकर ने भावध्वनि से इसको पृथक् सिद्ध किया है, विवेचन यथावसर आगे किया जायेगा। नरेन्द्रप्रभ तथा हेमचन्द्र भी मम्मटानुसारी हैं।[554] वाग्भट (1) इसका उल्लेख नहीं करते। वाग्भट (2) भी पूर्वाचार्यों के ही समान मत रखते हैं।[555] जयदेव एक ही कारिका में स्मृति, भ्रान्ति और सन्देह[556] का उल्लेख कर देते हैं, इस प्रकार का लक्षण कोई महत्त्व नहीं रखता।

विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ,[557] मम्मट, रुय्यक का अनुसरण करते हैं। अमृतानन्द योगी तथा केशवमिश्र इसका उल्लेख नहीं करते। अप्पयदीक्षित कुवलयानन्द[558] में कारिका तो जयदेव को ही प्रस्तुत करते हैं, किन्तु स्वतंत्र रूप से विवेचन भी करते हैं। दीक्षितोक्त चित्रमीमांसा-लक्षण के अनुसार अव्यङ्ग्य, वस्त्वन्तराश्रित सादृश्यमूला स्मृति स्मरण अलंकार है :

**'स्मृतिः सादृश्यमूला या वस्त्वन्तरसमाश्रया।**
**स्मरणालंकृतिः सा स्यादव्यंग्यत्वविशेषिता।।'** —चि.मी., पृ. 156

एक बात ध्यान देने योग्य है कि दीक्षित सादृश्य में दो प्रकार की स्मृति मानते हैं : एक तो सदृश वस्तु के दर्शन से तत्सधर्मी अन्य वस्तु के स्मरण में तथा दूसरी सदृश वस्तु के दर्शन से उसके सदृश किसी अन्य सम्बन्धी के स्मरण में। प्रकारान्तर से द्वितीय स्मृति सादृश्याभाव[559] की ओर इंगित करती है। 'सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलम् ..........' इत्यादि में लक्ष्मण के द्वारा उक्त कुरङ्ग शब्द के श्रवण से श्रीरामचन्द्र जी को तत्सम्बन्धी नेत्र के स्मरण से उसके सदृश सीता के नेत्र का स्मरण होने से उससे सम्बन्धित सीता की स्मृति हो आती है। यहां कुरङ्ग से सीता स्मृति में कोई सादृश्य नहीं है। दीक्षित के अनुसार इस प्रकार की सीतास्मृति व्यंग्य होने से अलंकार्य है, अलंकार नहीं। किन्तु 'दिव्यानामपि कृत[560] विस्मयाम्' इत्यादि में जल से निकलती हुई कमल से युक्त हाथोंवाली लक्ष्मी के समान किसी रमणी को देखकर श्रीकृष्ण को समुद्रमन्थन की याद आ जाती है। यहां उक्त विशेषणविशिष्ट कामिनी के दर्शन से तत्सदृश लक्ष्मी सम्बन्धी समुद्रमन्थन का स्मरण होने के कारण स्मरणालंकार है। प्रकारान्तर से यह स्मृति सादृश्याभाव को ही व्यक्त करती है। 'अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः' इत्यादि में स्तूयमान भू सम्बन्धी भूभृत् (राजा) भुज की स्मृति सादृश्यमूला नहीं है। अतएव दीक्षित के मत में यहां स्मरणालंकार नहीं है, अपितु संचारीभाव स्मृति का राजविषयक रति अङ्ग होने के कारण प्रेयस् अलंकार है :

> **'स्तूयमान भूसम्बन्धिनो भूभृद्भुजस्य स्मृतिर्न सादृश्यमूलेति नात्र स्मरणालंकारः, किन्तु .......... प्रेयोऽलंकारः।** —चि.मी., पृ. 158

कविकर्णपूर[561] कुवलयानन्द का अनुसरण करते हैं, देवशंकर पुरोहित[562] मम्मटादि का। चिरंजीव भट्टाचार्य[563] चन्द्रालोक के अनुयायी हैं। जगन्नाथ का लक्षण पूर्वाचार्यों के लक्षण से भिन्न है। उनके अनुसार सादृश्य ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार प्रयोज्य स्मरण स्मरण अलंकार है :

> **'सदृशज्ञानोद्बुद्ध संस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालंकारः'** र.गं., पृ. 216.

जगन्नाथ का कथन है कि आलंकारिकों का यह सिद्धान्त है कि सादृश्यमूलकता में ही स्मरण अलंकार होगा, उसके अभाव में व्यंग्य स्मृति भाव होगी, दोनों के[564] अभाव में वस्तुमात्र। रुय्यक और शोभाकर के मतों को वे इस आधार पर असिद्ध कर देते हैं कि उन्होंने केवल सदृश वस्तु के दर्शन से सदृश वस्तु के स्मरण को स्मरण अलंकार माना है।[565] यहां जगन्नाथ का तात्पर्य यह है कि स्मरणालंकार सदृश वस्तु

के अनुभव से भी होता है, स्मरण से भी। यही कारण है कि उन्होंने अपने लक्षण में 'अनुभव' शब्द का सन्निवेश न करके 'ज्ञान' शब्द का सन्निवेश किया है। यह न्यायशास्त्र का अनुकरण है।

जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित के चित्रमीमांसा लक्षण की अनुपद[566] आलोचना की है। उनका कथन है कि 'सादृश्यमूला स्मृति स्मरण अलंकार है' मात्र इतने कथन से ही 'अपि तुरग समीपादुत्पतन्तं मयूरम् ..........' इस प्रथम उदाहरण की भांति द्वितीय उदाहरण में भी 'जलनिधि मन्थन स्मरण' का ग्रहण हो ही सकता है, फिर लक्षण में 'वस्त्वन्तर समाश्रया' पद का सन्निवेश व्यर्थ है। एक जगह सादृश्य दर्शन से उद्‌बुद्ध संस्कारजन्य होने से अन्यत्र सादृश्य दर्शन से उद्‌बुद्ध लक्ष्मीस्मरण संस्कार से उद्‌बुद्धजन्यता होने से सादृश्यमूलता दोनों ही अवस्थाओं में समान रहती है। सादृश्यमूला ऐसा कहने से सादृश्यविषया अर्थ नहीं ग्रहण होता[567] कि जिसके कारण जलनिधिमन्थन की स्मृति का ग्रहण न हो। जगन्नाथ के उक्त दोषाक्षेप को नागेश तथा घरानन्द ने व्यर्थ बताया है।[568]

पुनः जगन्नाथ कहते हैं कि 'सौमित्रे ननु सेव्यताम् ..........' में 'स्मृति व्यंग्य और अलंकार्यभूत है, अलंकार नहीं' इस व्यावृत्ति के लिये लक्षण में दीक्षित ने जो 'अव्यङ्ग्यत्व' विशेषण लगाया है, वह भी व्यर्थ है, क्योंकि यहां स्मृति अलंकार्य नहीं है। अपितु यहां रामनिष्ठ रति जानकी आलम्बन, निशासमय उद्दीपन से उद्दीपित, संताप, आदि से अनुभावित, उन्माद, आदि संचारी से परिपुष्ट—विप्रलंभ शृंगार ही प्रधानतया अलंकार्य है और स्मृति उसका उत्कर्षक होने से अलंकार है। अतएव व्यंग्यत्वविनिवृत्ति के लिये उक्त विशेषण अत्यन्त अनुचित है। दीक्षित जो यह कहते हैं कि 'अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः' इत्यादि में संचारी भाव स्मृति का राज विषयक रति भाव अंग होने से प्रेय अलंकार है : जगन्नाथ की दृष्टि से वह भी असंगत है। क्योंकि जब भाव भावादि का अंग होता है, तब प्रेय अलंकार होता है। यहां स्मृति भाव नहीं है, क्योंकि 'स्मृतः' इस वाचक पद से उसका अभिधान हो चुका है। वाच्य व्यभिचारी को भाव नहीं कहा जा सकता। वैसा मानने पर 'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इस सिद्धान्त से विरोध उत्पन्न हो जाता है। सर्वस्वकार का भी कथन है कि सादृश्य से व्यतिरिक्त निमित्त से उत्पन्न स्मृति प्रेय अलंकार का विषय है, वह भी विभावादि[569] से व्यंजित होना चाहिये स्वशब्दवाच्य नहीं। वस्तुतः जैसे व्यज्यमान स्थायीभाव जहां अपर का अङ्ग हो जाता है, वहां रसवद् अलंकार होता है उसी प्रकार भावादि जब व्यज्यमान संचारी के अंग होते हैं, तो प्रेय अलंकार होता है। इसलिये यहां स्मृति को लेकर प्रेय अलंकार नहीं हो सकता,

अपितु श्लोक के पूर्वार्द्ध में व्यङ्ग्य भूविषयक रति का उत्तरार्द्ध में व्यंग्य राजविषयक रति के अङ्ग होने से प्रेय अलंकार होगा। मम्मट ने भी कहा है—'अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषय रतिभावस्य।'[570] जगन्नाथ कहते हैं कि आश्चर्य तो यह है कि कुवलयानन्द में अप्पयदीक्षित स्वयं कहते हैं[571]—विभावानुभावाभ्यामभिर्व्यंजितो निर्वेदादिर्भावः स यत्रापरस्याङ्गं स प्रेयोऽलंकारः।' और यहां विस्मरण कर जाते हैं। इस प्रकार जगन्नाथ की दृष्टि से दीक्षित मत अनुपयुक्त है।[572] यहां भी सुधाकार जगन्नाथ के मत का प्रतिवाद करते हैं।[573]

वस्तुतः जगन्नाथ और दीक्षित दोनों आचार्यों के दृष्टिकोण में ही अन्तर है। एक बात और है कि जगन्नाथ 'चित्रमीमांसा' के खण्डन के लिये कटिबद्ध हैं, इसी प्रयोजन से तो उन्होंने 'चित्रमीमांसा खण्डन' ग्रन्थ का प्रणयन किया है। तथापि जगन्नाथ का मत अत्यधिक उपादेय है, विशेषकर प्रेय अलंकार के विषय में। किन्तु 'सौमित्रे ननु सेव्यताम्' इत्यादि में जहां तक स्मृति की अलंकारता का प्रश्न है, वह यहां नहीं है, अपितु व्यङ्ग्य है। किन्तु यहां भी दृष्टि भेद ही है और जगन्नाथ की स्मृति का क्षेत्र पूर्वाचार्यों के स्मरण से व्यापक भी है। अतएव जहां दोनों आचार्यों के लक्षण और दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए उनके मतों का विश्लेषण करना चाहिये।

आचार्य विश्वेश्वर 'अलंकार प्रदीप'[574] में स्मरण का लक्षण प्राचीन आचार्यों की ही भांति करते हैं, किन्तु 'अलंकारमुक्तावली' तथा 'अलंकारकौस्तुभ'[575] में जगन्नाथ के समान। अच्युतराय[576] का भी लक्षण जगन्नाथ के जैसा है। 'नञ्जराजयशोभूषण'[577] का लक्षण रुय्यक आदि के समान है। विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में यह व्यक्त किया है कि राघवानन्द महापात्र' सादृश्य के अतिरिक्त वैसादृश्य में भी स्मरण अलंकार मानते हैं :

**'राघवानन्दमहापात्रास्तु वैसादृश्यात्स्मृतिमपि स्मरणालंकारमिच्छन्ति।'**[578]

उपर्युक्त विवेचन से स्मरणालंकार के विषय में तीन प्रमुख धारायें स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो वे आचार्य हैं, जो सादृश्यात्मक पूर्वानुभूत स्मृति को स्मरण अलंकार मानते हैं, जैसे—रुद्रट, मम्मट तथा उनके अनुकर्ता। दूसरे वे हैं जो सादृश्य के अतिरिक्त चिन्ता, अदृष्ट, असादृश्य, आदि कारणों से भी उत्पन्न स्मृति को स्मरण अलंकार मानते हैं। इस कोटि में भोज तथा राघवानन्द महापात्र जैसे आलंकारिकों को रखा जा सकता है। तीसरे वे आलंकारिक हैं, जो सदृश वस्तु के अनुभव से उद्बुद्ध संस्कार जन्य स्मृति को तो अलंकार मानते ही हैं, स्मरण से भी मानते हैं। उनका तात्पर्य है

सादृश्य ज्ञान से उद्‌बुद्ध संस्कारजन्य स्मृति ही स्मरण अलंकार है। इस कोटि के प्रमुख आचार्य हैं जगन्नाथ तथा उनके पोषक आचार्य हैं विश्वेश्वर और अच्युतराय।

वस्तुतः सदृश वस्तु के दर्शन से तत्सदृश पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण ही स्मरण अलंकार है। जैसे—कोई चला जा रहा है। रास्ते में उसे एक खिला हुआ सुन्दर कमल का फूल दिखाई पड़ता है। उस फूल के सौकुमार्य तथा माधुर्य को देखकर उसे वैसे ही सुकुमार सुन्दर और माधुर्य भरे प्रियतमा के मुख का स्मरण हो आता है और इस प्रकार के स्मरण में वह इतना आनन्दविभोर हो उठता है कि उसका कथन शब्दों में अशक्य है। ठीक यही प्रक्रिया स्मरणालंकार में होती है। चिन्ता, अदृष्ट स्वप्न आदि से उत्पन्न स्मृति में न कोई सौन्दर्य है, न आनन्द। अनुभूयमान वस्तु के स्मरण और स्मर्यमाण के स्मरण में बहुत अन्तर है। अनुभूयमान में सादृश्य के कारण चमत्कार का आधिक्य रहता है। सादृश्यात्मक या अनुभूयमान स्मृति का एक उदाहरण देखिये :

**'अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिरकलापं बाणलक्षीचकार।**
**सपदिगतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः।।'**[579]

रघुवंश में दशरथ के मृगयावर्णन का वृत्तान्त है। अश्व के समीप से उड़ते हुए विचित्र कलापधारी मयूर को मारने के लिये दशरथ धनुष पर बाण चढ़ाते हैं, किन्तु उसी समय मयूर के विचित्र कलापों को देखकर उन्हें रतिकाल में विकीर्ण विचित्र मालाओं वाले छूटे प्रिया के केशपाश का स्मरण हो आता है, और उनका मन उसी में लग जाता है, मयूर को लक्ष्य बनाना वह भूल जाते हैं। यह है सादृश्यात्मक पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति कि जहां सहृदय को बिल्कुल आनन्द निमग्न हो जाना पड़ता है। अस्तव्यस्त प्रियतमा के केशपाश और मयूरपिच्छ में इतना अधिक साम्य है कि बाण प्रहार के समय उसके सामने प्रिया का केशपाश नाच उठता है। इसीलिये अधिकांश आचार्यों ने सादृश्य में ही स्मरण अलंकार माना है—'सादृश्यं विना तु स्मृतिर्नायमलंकारः'।[580]

अप्पयदीक्षित, देवशंकर तथा जगन्नाथ ऐसे आचार्य हैं, जो सादृश्यात्मक स्मृति को स्मरण अलंकार तो मानते ही हैं, उनका यह भी कहना है कि सदृशवस्तु के दर्शन से पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण सम्बन्धी अन्य वस्तु के स्मरण में भी यह अलंकार होता है। तात्पर्य यह कि सादृश्याभाव वाली स्मृति में भी चमत्कार है :

**'सादृश्यामूलानामपि स्मृत्यादीनां चमत्कारित्वेऽलंकारताया अनिवार्यत्वात्।'**[581]

इस विषय में दीक्षित के उदाहरण 'दिव्यानामपि कृतविस्मयाम्' का संकेत किया जा

चुका है। यद्यपि स्मरणालंकार में सादृश्य के कारण होनेवाली स्मृति अधिक चमत्कारिणी होती है, तथापि विसदृश स्मृति भी अलंकार से बहिर्भूत नहीं मानी जा सकती। यहां भी चमत्कार का अभाव नहीं है, भले ही सादृश्यात्मक स्मृति के समान न हो। वस्तुतः 'स्मरण' शब्द का अर्थ ही स्मृति है। स्मृति चाहे सादृश्यात्मक हो या असादृश्यात्मक, स्मरण ही कही जायेगी। किन्तु अलंकार का स्वरूप, सौन्दर्य या चमत्कार है, यदि चमत्कार है तो सादृश्येतर स्मृति को भी अलंकार कह सकते हैं पर सादृश्यात्मक स्मृति अधिक सौन्दर्याधायक है, अतएव उसको ही प्रधानतया स्मरणालंकार मानना चाहिये। इस प्रकार जहां सादृश्य में स्मरण अलंकार होता है, वहां उपमानोपमेय भाव भी आवश्यक है। उपमान-उपमेय स्मर्यमाण या अनुभूय मान दोनों ही हो सकते हैं। इसलिये अनुभूयमान से स्मर्यमान या स्मर्यमाण से अनुभूयमान वस्तु का सादृश्यविधान इसमें प्रस्तुत किया जाता है।[582]

प्राचीन आचार्य स्मरण को अनुमान, विशेष या काव्यलिङ्ग से गतार्थ करते रहे होंगे। अतएव रुय्यक को उनसे इसका भेद बताना पड़ा। अनुमान में एक वस्तु को देखकर दूसरी का ज्ञान होता है, पर उसमें सदृशान्तर वस्तु का स्मरण होना आवश्यक नहीं है। स्मरण में व्याप्ति आदि भी नहीं बनती। गौ को देखकर गवय का स्मरण (व्याप्ति) अविनाभाव की प्रक्रिया से बहिर्भूत[583] है। विशेषालंकार में सदृश वस्त्वन्तर का अनुभव अवश्य होता है, किन्तु चमत्कार कार्य के संपादन में होता है, न कि स्मरण में। रुय्यक प्रोक्त 'यैर्दृष्टोऽसि तदा' इत्यादि में यद्यपि सादृश्यमूलक स्मृति है, किन्तु यहां चमत्कार विशेष का है।[584] इसे ही उद्भट आदि काव्यलिङ्ग मानते हैं—'मतान्तरे काव्यलिङ्गमेतत्'[585] अ.स., पृ. 43.

**भेद** : स्मरणालंकार के भेद विवेचन पर लोगों ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। रुद्रट ने केवल एक उदाहरण प्रस्तुत किया है,[586] जिसे वर्तमानकालीन अनुभूत वस्तु का स्मरण कहा जा सकता है। भोज सदृश, चिन्ता आदि भेद से इसके अनेक भेद करते हैं। मम्मट ने द्विधा स्मरण माना है। इस जन्म में अनुभूत वस्तु का स्मरण तथा जन्मान्तरीण अनुभूत वस्तु का स्मरण। परन्तु रुय्यक ने इस प्रकार का कोई भी संकेत नहीं किया है। जयरथ ने इसको भी धर्म के आधार पर अनुगामी, वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव—त्रिधा[587] विभाजित किया है। शोभाकर ने शाब्द अशाब्द भेद से इसका दो भेद किया है। 'स्मरामि' आदि शब्दों के प्रयोग में स्मृति शाब्द होती है, अप्रयोग में अशाब्द। किन्तु बाद में 'लोगों' ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। रुय्यक की ही भांति नरेन्द्रप्रभ, हेमचन्द्र, वाग्भट (2), विद्याधर, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित, कर्णपूर, देवशंकर, नञ्जराज, आदि कोई भी भेद का

उल्लेख नहीं करते हैं। 'स्मरण' भी उपमामूलक अलंकार है। अतएव उपमा के समान यहां भी साधारण धर्म कहीं साक्षात् उपादेय, कहीं अनुपादेय तथा कहीं उपादेयानुपादेय होता है। जगन्नाथ ने इस पर सविस्तार विचार किया है और साधारण धर्म को अनुगामिता, बिम्बप्रतिबिम्बभाव, वस्तुप्रतिवस्तुभाव, उपचरित तथा केवल शब्दात्मक भेद से पांच प्रकार का मानकर स्मरण का भी[588] पांच भेद किया है। इन सबके उदाहरण वहीं देखना चाहिये।

उपमा में कहे गये समस्त दोष[589] स्मरण में भी लागू होते हैं। एक बात ध्यान देने योग्य है कि इस अलंकार में भी साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य की प्रतीति रहती है। अतएव इसे भेदाभेद प्रधान कहा जाता है।

**विनोद-खण्डन :** शोभाकर ने विनोद नामक एक पृथक् अलंकार माना है, जिसका विवेचन किसी और आलंकारिक ने नहीं किया है। अनुभूत या अननुभूत अभिलक्ष्यमाण अर्थ के असन्निहित रहने पर तत्सदृश, प्रतिच्छन्द, आदि वस्त्वन्तर के अनुभवात्मक अन्य आसङ्ग से कौतुक का अतिवाहन विनोद[590] अलंकार है। किन्तु इस प्रकार के कथन वस्तुमात्र हैं अलंकार नहीं। और यदि अलंकार ही मानना हो तो स्मरण ही मानना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि—

**तत्क्षणविह्वलपराङ्मुखी गौरीकपोलस्थले संस्मृते।**
**अवतार्य बहुशो दृश्यते मुकुटशशिखंडः।।** अ.र., पृ. 24

यहां गौरी के पराङ्मुख हो जाने पर कपोल का दर्शन न होने के कारण तत्सदृश मुकुट में रहने वाले शशिखंड का स्मरण हो जाने से उसी को उतार कर शिवजी मुख का आनन्द उसी से ले रहे हैं। अतएव यहां स्मरण ही मानना उपयुक्त होगा। शोभाकर के अनुसार कपोल का अदर्शन होने से तत्सदृश शशिखण्ड से कौतुक का अतिवाहन होने से विनोद अलंकार है। दोनों उक्तियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। द्वितीय उदाहरण 'नरनाथ तवकीर्तिः' इत्यादि में कीर्ति विस्तार के व्याज से राजा की स्तुति की गयी है, अतएव राज-विषयक रति होने के कारण भाव है। इसी प्रकार विनोद को वस्तु ध्वनि में अन्तर्भूत किया जा सकता है। कहीं-कहीं इसे स्मरण अलंकार के अन्तर्गत रखा जा सकता है। अतएव पृथक् विवेचन अनावश्यक है।

**व्यासङ्ग-विघातः** शोभाकर ने व्यासङ्ग नामक एक और अलंकार माना है। प्रक्रम्यमाण[591] या प्रक्रान्त अनुभव, स्मृति तथा क्रियान्तर का वस्त्वन्तर के आसङ्ग से विघात व्यासङ्ग नामक अलंकार कहा जाता है। परन्तु शोभाकर दण्डी आदि की तरह प्रत्येक कथन को अलंकार मान लेते हैं। वस्तुतः ऐसे स्थल, भाव,

भावोदय या भावशान्ति के ही कहे जा सकते हैं। एक उदाहरण देखिये :

**तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्किततं।**
**किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते।।**
**इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्संप्रमार्ष्टु मया।**
**सा शिलष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्या च तद्विस्मृतम्** ।। —वही, पृ. 25

शोभाकर के अनुसार यहां अनुभूयमान स्तनमुद्राङ्कित संस्कार आलिङ्गन सुख के अनुभव से तिरोहित हो गया है। अतएव व्यासङ्ग अलंकार है। वस्तुतः यहां आलिङ्गन जन्य सुख के कारण नायिका के कोप की शान्ति हो जाने से भावशान्ति ध्वनि है, अलंकार नहीं। शोभाकर ध्वनि को भी अलंकार कहते चले जा रहे हैं। मम्मट आदि भी यहां भावशान्ति स्वीकार करते हैं।[592]

इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण 'उत्सृज्य गीतम्' इत्यादि में नृपावलोकन उत्कंठा-वश हर्ष, उल्लास, आदि भावों के उदय से भावोदय, ध्वनि है, अलंकार नहीं। अतएव शोभाकर का व्यासङ्ग अलंकार ध्वनि का विषय है, अलंकार का नहीं।

## संदर्भ

1. ना.शा., 16/40.
2. प्रतिवस्तुप्रभृतिरूपमाप्रपंचः —का.सू.वृ., 4/3/1.
3. अर्थस्यालंकाराः वास्तवमौपम्यमतिशयश्लेषः —काव्यालं., 7/10.
4. काव्यादर्श संकेत, पृ. 253; सृ., पृ. 219, सं. प्रदाय प्रका. तथा सा. चूडामणि, पृ. 250; प्रदीप, पृ. 308 तथा वही, प्रभा।
5. उपमैव च प्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूता। —अ.स., पृ. 36.
6. विमर्शिनी, पृ. 26; संजीवनी, पृ. 35-36.
7. उपमादीनां कविसर्वस्वायमानत्वात्। —स.कं., जगद्धर की टीका, पृ. 399.
8. उपमा प्रपंचश्च सर्वोऽलंकारइति विद्वद्भिः प्रतिपन्नमेव।। —ना.शा. 16-40 पर (अ.भा.)।
9. औपम्यं सर्वसामान्यमिति। —लोचन, पृ. 503.
10. किमपरमस्या एव शाब्दत्वार्थत्वादिभेदैरनेकालंकारप्रपंचो जायत इति। —अ.र., पृ. 7
11. बहुशोऽलंकारव्यापित्वात्प्रथममुपमालंकारमाह। —राकागम, पृ. 50.
12. दे., एकावली, पृ. 195.
13. तत्र प्रथममनेकालंकारबीजभूतत्त्वादुपमा निरुप्यते। —प्रता. रुद्री., पृ. 254.
14. अर्थालंकारेषु प्राधान्यात् सादृश्यमूलेषु लक्षितव्येषु तेषामुपजीव्यत्वेन (त्वात्) प्रथममुपमामाह, सा.द., पृ. 472, (नि.सा. 1915)।

15. अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदम्।
उपमाकविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ।। —केशवमिश्र के अलंकार शेखर, पृ. 32 पर उद्‌धृत, किन्तु उपलब्ध काव्यमीमांसा में यह श्लोक संप्रति अप्राप्य है।
16. उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रंजयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ।।— चि.मी., पृ. 41, वाणीविहार, वाराणसी, सन् 1965.
तदिदं विश्वं चित्रं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरुप्यते निखिलभेदसहिता सा।। —वही, पृ. 43.
17. तत्रापि विपुलालंकारवर्तिन्युपमा तावद्विचार्यते। र.गं., पृ. 157 (काव्यमाला)।
18. अथातिशयोक्तिसौरभतरंगितामेव सकलालंकारबीजभूतामुपमां लक्षयति। —अ. महोदधि, पृ. 234.
19. संप्रत्यर्थालंकारेषु निरूपणीयेषु बहुलालंकारघटकतया सुप्रसिद्धतया च प्रथममुपमालंकारं लक्षयति ।।—अ.चं., पृ. 3 तथा देखिये, सरसामोद (अच्युतराय), पृ. 362.
20. वागीश्वर विद्यालंकारः कालिदास और उनकी काव्यकला, पृ. 173.
21. दे., नलचम्पू की चण्डपाल कृत टीका, प्रथम उच्छ्‌वास, पृ. 14-15, (काशी संस्कृत सी.नं. 98, सन् 1932; वही, उद्‌धृत पृ. 174)।
22. नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किंचित् प्रयोजनम् इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः। —ध्व., पृ. 368.
23. वही, विद्यालंकार, पृ. 178.
24. कविसमर्पितानां धर्माणां ह्यलंकारत्वात्। न हिमांशुलावण्यादीनामिव वस्तु सन्निवेशिनाम्। —अ.स., पृ. 209.
25. सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्वन्तरमभिदध्यात् वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम्।। —रुद्रट, काव्या., पृ. 8/1.
26. विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।
तदर्थमेव कवयोऽलंकारान्प्रयुञ्जते।। —व्य. दि., 2/14.
27. संजीवनी, पृ. 36.
28. दे., चि.मी., पृ. 42-43.
29. वही, सा.द. की लक्ष्मी-टीका, पृ. 562.
30. जे. खोदा—रि.सि.सं.लि., पृ. 13.
31. उपसामीप्यं सामर्थ्य व्याप्त्याचार्यकृतिमृतिदोषादानक्रियावीप्सारम्भाध्ययनपूजनेषु।। वाचस्पत्यम्, भाग-2, पृ. 1196 और भी दे., शब्दकल्पद्रुम, प्र.भा., पृ. 250.
32. मान् 'माने अदादिः। मान् पूजायाम् भ्वादिश्चुरादिश्च। माङ् माने शब्दे च जुहोत्यादिः। माङ् माने दिवादिः। दे., काशकृत्स्न धातुपाठ तथा पाणिनि।
33. बा.बो., पृ. 545.

34. पा. 3/3/19. तथा दे., संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, शब्दकल्पद्रुप, वही, पृ. 258.
35. पा. 3/3/106.
36. प्रायः समग्र आलंकारिकों के लक्षण उपमा की व्युत्पत्ति को ही आधार बनाते हैं।
37. उपमीयत इत्युपमा, अ.भा., पृ. 36 तथा 322, चन्द्रालोक की पौर्णमासी, पृ. 105-6.
38. उपसमीपे माः लक्ष्मी प्रभा वा यस्याः सा तथेति व्युत्पत्त्या हरिमूर्तेरद्वैतब्रह्मविद्योदय-कालिकयोगीन्द्रव्यक्तेरेपि तत्र तत्तत्प्रकरणानुसारेणोपमापदाभिधेयत्वप्रसंगात्।—सा.सा. 8/22 पर सरसामोद, पृ. 366.
39. (क) पीटर्सन्'स सेकेण्ड सेलेक्शन ऑफ हाइमन्स फ्राम द ऋग्वेद, पृ. 368.
    (ख) ऋ. 5/3/3 पर सायण उपमं का अर्थ करते हैं 'उपमं उपमेयमिव विष्णोर्मध्यमं पदं तस्मान्नान्तरिक्षं पश्यन्तीति ब्राह्मणम्'। 'उपमं' का प्रयोग यहां उपमेय अर्थ में हुआ है। सायण ब्राह्मण का निर्देश करते हैं, किन्तु उपलब्ध पूना संस्करण में इसका उल्लेख नहीं मिलता। संभवतः अप्राप्य ब्राह्मणों में हो।
40. जे. खोदा, रि.सि.सें.लि., पृ. 11 तथा स्टा.रि.वे., पृ. 1.
41. पी.वी.काणे, आउट लाइन्स ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ दि अलंकार लिट्रेचर, (इंडियन एण्टीक्वेरी 41, 1912), पृ. 124-204.
42. काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ. 406-10.
43. रि.सि.सं.लि., स्टा.रि.वे.।
44. एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृश्येनो अस्थात्।
    अपद्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्।। ऋ. 5/80/5.
45. अधिपेशांसि वपते नृतुरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव वर्जहम्।।—ऋ. 1/92/4 दे.—काणेः सं.का.इति.: भाग-2, पृ. 410.
46. कन्येव तन्वा ..........
    संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभातीः।। -ऋ. 1/124/10.
47. दे., सदाशिव एल. कत्रेः इंट्रोडक्शन, अल. मंजूषा।
48. उतत्त्वः पश्यन्नददर्श वाचमुतत्त्वः शृण्वन्नशृणोत्येनम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशतीसुवासाः।। ऋ. 1/71/4. दे., निरुक्त 1/19 तथा महाभाष्य पस्पशाह्निक भी।
49. खोदा, रि.सि.सं.लि.।
50. बी.एच. कपाडिया, रीडर संस्कृत, वल्लभभाई विद्यापीठ, वल्लभनगर, सोम इन पोइंटिक सेटिंग, विश्वेश्वरानन्द, इन्डोलो, जर्नल, 1964.
51. ऋग्वेद—10/71/21, 10/71/4, 1/55/4, 4/55/2, 6/67/1, 7/85/5 तथा अन्य।
52. स्वामी दयानन्द सरस्वती—यजुर्वेद भाष्य—उपमा—1/4, 4/6, 4/3, 4/10, 7/7, 8/4, 9/4, 10/6, 11/2, 12/1, 13/1, 14/5, 15/8, 96/48, 17/4, 18/29,

19/15, 20/26, आदि।

53. 'साया बभ्रुः पिंगाक्षी'। —श.प., 33/1/14, 15.

54. कार्यकारणकर्मनिर्मुक्तं निर्वचनमनौपम्यं निरुपाख्यम् किं तद् वाच्यम्।—मै.आ., 6/7.

55. द्वेवाव ब्रह्मणी अभिध्येये शब्दश्च अशब्दश्च। सप्तविद्या इयं तस्योपमा। यथा नद्यः।। —वही, 6/21.

56. वही, सदाशिव एल. कत्रे, देखिये—इन्ट्रोडक्शन, अ.मं., पृ. 11.

57. यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः।। —श्वेता., 2/15.

58. यस्त्वविज्ञानवान्भवति अयुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।। —कठो., 1/3/5.
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।। वही, 1/3/6.

59. (क) कठ. 2/1/8 यह मन्त्र ऋग्वेद 3/29/2 तथा सामवेद पूर्वार्चिकखंड 8/7 में भी है। (ख) तैत्तिरीय, 1/4 तथा 10 में भी उपमा देखिये।

60. काणे, सं.का.इ., पृ. 408.

61. इनमें अधिकांश उपमा बोधक निपात हैं, अतएव सबको निपात कहा गया है।

62. ऋग्वेद, 5/80/5, उद्धृत—प्रकृत अध्याय के पिछले पृष्ठों में (पृ. 223)।

63. घृणीव छायामरपा अशीया। ऋ.—2/33/6 और भी 4/18/5, 5/84/4, 4/16/10, 1/123/10, 10/10/6-4, आदि।

64. यथा प्रसूता सवितुः सखायम्।—ऋ. 1/113/1, 5/61/10, 5/87/7, 10/97/11 तथा 10/100/4.

65. सनई के छोटे फूलों की भांति 21 स्वर्ण-गुलिकाओं की माता को रुक्म कहा जाता है। दे., वही, सायण भाष्य।

66. आचार्य विश्वेश्वर ने इस उपमा में वचनदोष माना है। दे., अ.कौ., पृ. 151.

67. निरुक्त, 9/6 में भी।

68. मेष इति भूतोपमा। नि. 3/16, दुगाचार्य ने यहां कहा है 'मेषइत्येषा भूतशब्देनोपमा'। वही।

69. 'था' इति च। —निरु. 3/16. 'तं. प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा' ऋ. 5/44/1.

70. 'प्रकारवचने थाल्' —पा. 5/3/23.

71. उपमा यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः —निरु. 3/13.

72. यत्किञ्चदर्थजातमतद्भवतितत्सरूपं भवति। यथा अग्निरिव खद्योतः। तद्भिन्नत्वेसति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् सदृशत्त्वम्। वही दुर्गाचार्य।

73. तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयासं वाप्रख्यातं वोपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्। —निरु. वही।
उषमैतत्स्वरूपेण गुणेनगुण सामान्यात्। —वही।
उपमीयते इत्येवं गर्गाचार्यो मन्यते। —वही, दुर्गाचार्य। दे., डे.हि.सं.पो., पृ. 4.

74. वही, दुर्गाचार्य।
75. उपमानोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा। —का.सू.वृ., वामन, 4/2/1.
साधर्म्यमुपमा भेदे। का.प्र. 10/1. दे., वही, डे की हि. संस्कृत पोइटिक्स, पृ. 4.
76. अथापि क्वचित्कनीयसा ज्यायांसमपि सन्तमुपमिमीते। तदेतच्छन्दस्येव द्रष्टव्यम्।
हीनोपमा यथा—'तनूत्यजेवतस्करा वनर्गू' इत्यादि। वही, दुर्गाचार्य। जाति प्रमाण धर्म न्यूनतोपमानस्य हीनत्वम्'—वामन, का.सू.वृ. 4/2/9.
77. 'यथेति कर्मोपमा' निरु. 3/15.
78. दे., वही, दुर्गाचार्य।
79. दे., डॉ. दे, हि.संस्कृत पोइटिक्स, पु. 3, 'मेष इति भूतोपमा', निरु. 3/16.
80. मेषो भूतोऽमियन्नयः ऋ. 8/2/40.
81. वही, दे., पृ. 3.
82. अग्निरिति रूपोपमा — निरु., वही, 3/16.
83. ऋ. 2/35/10.
84. एवं वर्णशब्देनान्वयोऽपि रूपोपमैव। —दुर्गाचार्य, वही।
85. दे., वही, पृ. 4 तथा दुर्गाचार्य 'सिद्धा इवैषा उपमा लोके—प्रतिद्धेतिकृत्वा।
86. वदिति सिद्धोपमा। —निरु., वही, 3/16.
87. ऋ. 1/45/3.
88. अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते। —वही, निरुक्त, 3/18.
89. दे., वही, दुर्गाचार्य।
90. डॉ. दे., वही, पृ. 4.
91. इव, न, चिन्नु चत्वारः उपमार्थाः भवन्ति ते।
उपमार्थे नकारस्तु क्वचिदेव निपात्यते।। —बृहद्देवता, 2/91-92.
92. औपम्य करणात् ......... । वही, 2/89.
93. उपमानानि सामान्यवचनैः। पा. 2/1/55.
94. उपमितं व्याघ्रदिभिः सामान्याप्रयोगे। —वही, 2/1/56.
उपमेयं वयाघ्रादिभिः सह प्राग्वत् साधारण धर्मस्या प्रयोगे। वृत्ति। भट्टोजी दीक्षित।
95. उपमानादप्राणिषु (5/4/97)। अप्राणिविषयकोपमानवाचिनः शुनष्टच् स्यात्।
आकर्षःश्वेव आकर्षश्वः। —वृत्ति, भट्टोजी दीक्षित।
96. उपमानाच्च। 5/4/137। पद्मगन्धिः।
97. उपमानादाचारे। 3/1/10.
98. कर्तर्युपमाने। 3/2/19. णिनिः। उष्ट्र इव क्रोशति उष्ट्रकोशी।
99. तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्।। —2/3/72.
100. तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः। पा. 5/1/116.
101. उपमानादाचारे (3/1/10). उपमानात्कर्मणः सुबन्तादाचारार्थे क्यच् स्यात्।
पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति छात्रम्। वृत्ति—दीक्षित।

102. कर्तुः क्यङ् सलोपश्चः (3/1/11), उपमानात्कर्तुः सुबन्तादाचारार्थे क्यङ्वास्यात्। कृष्ण इवाचरति कृष्णायते।
103. दे., वही, पृ. 5.
104. सुपोधातुप्रातिपदिकयोः (2/4/71)।
105. इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च। वही, वार्तिक, 24/71 पर।
106. अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्। पा. 3/1/10 पर वार्तिक।
107. पा. 3/1/11.
108. सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः। वार्तिक (पा. 3/1/11) पर।
109. किं पुनरूपमानानि? किं यदेवोपमानं तदेवोपमेयम्? आहोस्विदन्यदेवोपमानमन्यदेवोपमेयम्? .......... एवं तर्हि यत्र किंचित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषस्तत्रोपमानोपमेये भवतः। —पा. 2/1/55 सूत्र पर भाष्य।
110. यदाहुः — यत्र किंचित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः। इति। —अ.स., पृ. 35-36.
111. मानं हि नामानिर्ज्ञातज्ञानार्थमुपादीयते—अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यन्नात्यन्ताय मिमीते तदुपमानम् गौरिव गवय इति। गौर्निर्ज्ञातः गवयोऽनिर्ज्ञातः। वही, महाभाष्य।
112. गोसदृशो गवय इति नोपमा। चि.मी., पृ. 6.
113. काणे, सं. काव्य. इति, पृ. 6.
114. तत्समीप इति मानस्य समीपे इत्यर्थः। परिच्छेदवशाच्च सामीप्यं परिकल्प्यते। न त्वत्र मुख्यं सामीप्यमस्ति। —वही, प्रदीप।
115. चन्द्रेण तुल्यमित्यादावप्यार्थोपमास्त्येव भेदाभेदप्रतीतिरिति बोध्यम्। वही, उद्योत।
116. अ.स., उपमानेपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा। अ.स. सूत्र-11.
117. उपमानोपमेयभाव प्रतीतौ उपमा, तदभावे अनन्वयः। वही, उद्योत।
118. हीनार्थकोपशब्देन कर्मधारयस्य सुलभत्वात्। भाष्ये समीपशब्देन हीनत्वमुपलक्ष्यते। वही, उद्योत।
119. सादृश्यं सामान्यमुच्यते गुणवृत्तिर्भिन्नोऽप्यभिन्नत्वेन विवक्षितः सामान्यम्। वही, प्रदीप।
120. उपमानं हि प्रसिद्धगुणक्रियाहेतुकं भवति। यथा अस्याश्चन्द्र इवमुखमिति। नापिशयितव्येन तुल्यः शायकः इतिक्रियावतः क्रियोपमानं संभवति, क्रिया तद्वतोरत्यन्त भेदात्। .......... येनोपमीयते, यच्चोपमीयते यश्चतयोः साधारणोऽर्थः, एत व्यपभवश्यापेस्यम्। पा. 5/1/115 भाष्य पर प्रदीप।
121. 'न वै तिङन्तेनोपमानमस्ति' इति सन्सूत्रस्थ भाष्ये तिङन्तग्रहणस्य क्रियोपलक्षणत्वात् असत्वभूतशयितव्यार्थानामुपमानत्वमेव च न। —वही, उद्योत।
122. तत्राभिन्नव्यपेक्षायां उपमार्थो न विद्यते।
यो हि गौरिति विज्ञाने हेतुः सोऽस्ति गवान्तरे।।
व्यावृत्तानां विशेषाणां व्यापारे तु विवक्षिते।
न कश्चिदुपकारोऽस्ति बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरं प्रति।। वा. पदीय, 3/14/396-97.

123. किंचिद् यत्रास्ति सामान्यं यदिभेदाश्च कश्चन।
गोत्वं गोष्वस्ति सामान्यं भेदाश्च शबलादयः।। —वही, 398.
124. साधर्म्यमुपमाभेदे। —का.प्र., 10/1.
125. वा.प., 3/14/401.
126. सामान्यं श्यामता चैव तद्धि साधारणं द्वयोः।। वही, 399.
127. तदेव सिद्धयसिद्धिधभ्यां भेद इत्युपदिश्यते।। वही, 399.
128. वही, श्लोक 400.
129. महाभाष्य, पाणिनि, 2/1/55 पर।
130. वही, श्लोक 361-62.
131. मितस्तु स्वेन मानेन प्रसिद्धो यो गुणाश्रयः।
आश्रयान्तरमानाय स्वधर्मेण प्रवर्तते।।
रूपान्तरेण संस्पर्शो रूपान्तरवतां सताम्।
भिन्नेन यस्य भेद्यानां उपमानं तदुच्यते।। —वा.प., 377-78.
132. वही, 383-84.
133. वही, 389.
134. वही, 390.
135. वही, 375.
136. वही, श्लोक सं. 408-9.
137. एवं यस्य गवयः प्रसिद्धस्तस्यासावुपमानं वनेचरस्य। गौरप्रसिद्ध उपमेयः। नागरकस्य तु विपर्ययः। —हेलाराज, 406-7 पर।
138. दे., महाभाष्य, पाणिनि, 2/1/55 पर।
139. द्वयोः समानो यो धर्म उपमानोपमेययोः।
समास उपमानानां शब्दैस्तदमिधायिभिः।। —वा.प., 363.
140. वही, 364-70.
141. अशब्दवाच्यो यो भेदः श्याममात्रे न वर्तते।
श्यामेषु केषुचिद्वृत्तिर्यस्य सोऽत्र व्यपक्षते।। —वा.प., 371.
142. वही, 372-73.
143. गुणानामाश्रयाद्भेदात् स्वतो वाप्यनुगम्यते।
अनिर्देश्याद्विशेषाद्वा संकराद् वा गुणान्तरैः।। —वा.प., 374.
144. वही, 379-80.
145. सामान्यमाश्रितं यद्यदुपमानोपमेययोः।
तस्य तस्योपमानेषु धर्मोऽन्यो व्यतिरिच्यते।। —ब्रह्मकांड, 63.
146. उपमेये स्थितो धर्मः श्रुतोऽन्यत्रानुमीयते।
श्रुतोऽथवोपमानस्थे उपमेयेऽनुमीयते।। —वही, 385.
147. अधीयते ब्राह्मणवत् क्षत्रिया इति दृश्यते।

उपमेयस्य भिन्नत्वाद् वचनं क्षत्रियाश्रयम् ।। —वही, 386.

148. नाभेदेन न भेदेन गुणो द्विष्ठोऽभिधीयते।
भिन्नयोर्धर्मयोरेकः श्रूयतेऽन्यः प्रतीयते ।। —वही, 388.

149. प्रकाराधारभेदेन विशेषे समवस्थितः।
शब्दान्तराभिसम्बन्धे सामान्यवचनः कथम् ।। —वा.प., 427.

150. सादृश्यमात्रं सामान्यं द्विष्ठं कैश्चित्प्रतीयते।

151. गुणो भेदेऽप्यभेदेन द्विवृत्तिर्वा विवक्षितः ।। —वही, 428.

152. रूपात्सामान्यवाचित्वं प्राग्व्यावृत्तेरुदाहृतम् ।। —वही, 429.

153. उपमेयात्मनि श्यामो वर्तमानोऽभिधीयते।
उपमानेष्वनिर्दिष्टः सामर्थ्यात्संप्रतीयते ।। —वही, 416.

154. गुणो भेदेऽप्यभेदेन द्विवृत्तिर्वा विवक्षितः ।। —वही, 428.

155. देखिये, वही, 440-506.

156. एकः समानो धर्मश्चेदुपमानोपमेययोः।
तुलया संमितं तुल्यमिति तत्रोपपद्यते ।। —वही, 516.

157. दे., वही, 524-549.

158. वही, 569-604.

159. वही, 605-8.

160. वही, 612-13.

161. चंचत्प्रकारचंचत्को बृहत्क इति चापरे।
मणिमण्डूक खद्योतान् सादृश्येन प्रचक्षते ।। —वही, 618.

162. सदृशस्त्वं तवैवेति लोके यदभिधीयते।
उपमानान्तरं तत्र प्रसक्तं विनिवर्तते ।। —वही, 579.

163. देखिये, विश्वेश्वरानन्द, इंडोलाजिकल जोर्नल, जिल्द-2, भाग 1, मार्च, 1965, पृ. 19-28 तथा जिल्द 2, भाग 1, मार्च 1964, पृ. 87-92, वि.वे.रि.इ. पोस्ट-साधुआश्रम, होशियारपुर।

164. उपमीयतेऽनयेत्युपमानम्। उपपूर्वान्माङ्करणे ल्युटि। —काशिका, 2/1/55 पर।

165. उपपूर्वकस्य माङ् सादृश्यहेतुके परिच्छेदेरुढः येनवस्त्वन्तरं सादृश्येन परिच्छिद्यते तदुपमानम्। वही, पदमंजरी।

166. सादृश्येन येन परिच्छिद्यते तदुपमानम्। —वही, न्यास।

167. स उपमानोपमेययोः साधारणः सामान्यम्। शस्त्रीश्यामादेवदत्ता, कुमुदश्येनी, हंसगद्गदा, न्यग्रोधपरिमण्डला। —काशिका।

168. समान शब्दः साधारणपर्यायः, साधारणो धर्मः सामान्यम् ......... तयोरेव साधारणधर्मो विज्ञायते। —पदमंजरी।
अत्र श्यामगुण विशिष्टत्वेनप्रसिद्धत्वादुपमानं शस्त्री, उपमेया देवदत्ता तयोः साधारणो धर्मः श्यामत्वं, तदभिधाय श्यामशब्दः पर्यवस्यतीति भवति सामान्यवचनः। वही।

169. दे., डॉ. एम.डी. परडेकर, सिमिलीज़ इन मनुस्मृति, मोतीलाल बनारसीदास, 1960.
170. '.......... शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञान प्रयोगावाप्त-विपुलकीर्तिना .......... स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तसमयोदारालंकृतगद्यपद्य .......... स्वरगतवर्ण सारसत्वादिभिः .......... उपेतकान्तमूर्तिना स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना .......... महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना ..........।' —गिरिनार शिलालेख।
171. 'सुवृष्टिना पर्जन्येनैकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायाम् .......... गिरिशिखरतरुतटा-ट्टालकोपेततल्पद्वारशरणोच्छ्रायविध्वंसिना युगनिधनसदृशपरमघोरवेगेन वायुना। वही।
172. राजरञो गोतमितपुतस हिमवतमदरपवतसमसारस .......... दिवसकर विबोधितकमल विमलसदिसवदनस .......... पटिपुणचदमडलससिरीकपियदसनस ..........।(नासिक शिलालेख सं. 2, बम्बई गजेटियर भाग 16, पृ. 550 और ई.आई., भाग 8, पृ. 6)।
173. '.......... समिद्धस्य विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य .......... काव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य ..........।' (फ्लीट, गुप्ता इन्सक्रिप्शन्स, सं. 1, पृ. 8)
174. '.......... चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता।' —महरौली लौहस्तंभ, श्लोक, 3.
175. यस्मिन्काले कलमृदुगिरां कोकिलानां प्रलापाः भिन्दन्तीवस्मरशरनिभाः प्रोषितानां मनांसि। भृंगालीनां ध्वनिरनुवनं भारमन्द्रश्चयस्मिन्नाधूतज्यं धनुरिव नदच्छ्रूयते पुष्पकेतोः।।25।।
प्रियतम कुपितानां रामयन्बद्धरागं किसलयमिव मुग्धं मानसं मानिनीनाम्।
उपनयति नभस्वान्मानभंगाय यस्मिन् कुसुमसमयमासे तत्र निर्मापितोऽयम्।।26।।
176. दे., व्यूहलर—'इंडियन इन्सक्रिप्शन्स एण्ड दि ओरिज़न ऑफ आर्टिफिसियल पोयट्री'।
177. अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् (3/2/18), आनुमानिकमप्येकेषां शरीररूपकविन्यस्त गृहीतेर्दर्शयति च (1/4/1) वादरायण सूत्र।
178. भगवता वादरायणेन 'आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त गृहीतेर्दर्शयति च' इति शारीरिकसूत्रे रूपकमंगीकृतम्। —चित्र-मीमांसा, परिणाम प्रकाश, पृ. 192
179. उपमानमपि सादृश्यं असन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शने गोस्मरणम्। —मीमांसा-सूत्र, 1/1/15 पर शबर भाष्य।
180. रंगस्य दर्शयित्वा विनिवर्तते नटी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः।। —सां.कारिका, श्लोक 59
181. डॉ. सुशील कुमार, दे, हि. संस्कृत पोयटिक्स, पृ. 11-12.
182. दे., रामायण — 2/10/24-26.
183. वही, 1/2/67, 3/60, 4/9/9, 6/3/23, 14/15, 15/50, 16/14, 18/16, 20/25, 28/12, 34/20, 37/27, 41/16, 45/10/26, 48/2, 50/18, 53/3, 67/5, 71/21, 74/19 तथा 3/1/4-9 में दो बार—34,35/2/48,54,

4/13, 9/57, 10/16, 12/31/110, 14/20/29, 15/36/40, 17/17 में दो बार 19, 19/1, 30/15, 34/39. रामायण की उपमाओं के लिये देखें सिमिलीज इन रामायण; शोध प्रबन्ध, 1963; जी.एच. भट्ट के निर्देशकत्व में।

184. महाभारत, 3/7/15.
185. वही, 3/7/16.
186. वही, 3/83/23.
187. वही, 1/88/22.
188. वही, 3/17/50-52; महाभारत की उपमा जानकारी के लिये, देखें प्रो. गजेन्द्रगदकर का 'सिमिलीज इन द महाभारत'।
189. डॉ. एस.के. डे, हि.सं.पो., पृ. 13, 14.
190. वही, पृ. 14.
191. सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकत्र सौन्दर्यविदृक्षयेव।। —कु. संभव, 1/49.
यदयं रथसंक्षोभादंसेनांसो रथोपमश्रोण्याः।
स्पृष्टः सरोमविक्रियमंकुरितं मनसिजेनेव।। —विक्रमो. 1/11.
192. उपमानमभूद्विलासिनां करणं यत्तव कान्तिमत्तया।
तदिदं गतमीदृशीं दशां न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः।। कु. संभव 4/5.
आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः।। —विक्रमो. 2/3.
193. वैवाहिकैः कौतुकसंविधानैर्गृहे गृहे व्यक्तपुरन्ध्रिवर्गः।
आसीत्पुरं सानुमतोऽनुरागादन्तः पुरं चैक कुलोपमेयम्।। —कु.सं., 7/2, 35/4, 38/17, 60/77, 61/13, 62/17, 63/2, 23/24, 67/50, 70/20, 80/14, 16, 20, 82/13, 83/2, 86/25, इसी प्रकार अन्यान्य स्थल भी देखे जा सकते हैं।
194. डॉ. एस.के. दे, हि.सं.पो., पृ. 17.
195. काणे, सं.का.श. आ इति., हिन्दी अनुवाद, पृ. 28.
196. उपमा के ऐतिहासिक ज्ञान के लिये देखें, प्रो. सोवानी का लेख, भन्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ. 387.
197. दे., डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी—अलंकार मीमांसा, पृ. 215.
198. साधर्म्यं हि सम्बन्धविशेषः, सम्बन्धश्चैकप्रतियोगिकोऽपरानुयोगिकः एव नियतः साधर्म्याख्यसम्बन्धस्य साधारणधर्मः प्रतियोगी, उपमानमुपमेयं चेति द्वावप्यनुयोगिनाविति गृहाण, उक्तं च विस्तारिकायां परमानन्दचक्रवर्तिभट्टाचार्यैः—सादृश्यस्य प्रतियोग्युपमानम् अनुयोग्युपमेयम्। अस्य च साधर्म्यस्य द्वावप्यनुयोगिनाविति। एवं च साधारणधर्मप्रतियोगिकः उपमानोपमेयानुयोगिकः सम्बन्धः साधर्म्यमित्युच्यते, यश्चोपमानप्रतियोगिकः उपमेयानुयोगिकः सम्बन्धः स सादृश्यमित्युच्यते इति साधर्म्य सादृश्ययोर्भेदः। —बा.बो., पृ. 541.

199. सादृश्यं चातिरिक्तः पदार्थः। प्रदीपोद्योत, पृ. 441. सादृश्यं चातिरिक्तः पदार्थः इति केचित् साधर्म्यमित्यन्ये। —का. प्रकाशादर्श टीका, प्रेमचन्द्रतर्क वागीशकृता।
200. नव्यतार्किकास्तु ……… स्वसिद्धान्तहानिं मन्यमानाः 'सादृश्यं न पदार्थान्तरं किन्तु साधर्म्यं सादृश्यंचैकमेवेति ……… वदन्ति। —बा.बो., पृ. 542.
201. दे., अलंकार कौस्तुभ, विश्वेश्वर, पृ. 53 तथा बा.बो., पृ. 542.
202. अ.स., पृ. 35-36.
203. बा.बो., पृ. 540.
204. वही, पृ. 541.
205. उपमानोपमेययोरेव साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा। का.प्र., पृ. 544.
206. दे., जर्नल ऑफ दि युनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे, सितम्बर 57, भाग 26 (न्यू सीरीज़) भाग 2, आर्ट्स नं. 32, पृ. 144.
207. 'अत्र सर्वत्र सादृश्यं व्यंग्यमिति सिद्धान्तः। एवं च सादृश्यं पदार्थान्तरमेवालंकारिकाभिमतम्। अन्यथा धर्मस्योपादाने तदात्मकत्वे च सादृश्यस्य व्यंग्यत्वानुपपत्तिरिति। —विश्वेश्वर, अलंकारकौस्तुभ, पृ. 296.
208. दे., जर्नल ऑफ दि युनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे, सितम्बर 26, न्यू सीरीज़, भाग 2, आर्ट नं. 32, 1957.
209. उद्भट के लक्षण में 'मिथोविभिन्नकालादि' का ग्रहण वैधर्म्य का सूचक है। का.प्र. 10/1 तथा अ.सर्वस्व सूत्र, 11 को भी देखिये।
210. एवं च काव्यशशिनोरर्थरश्म्योश्च साधर्म्यस्याभावेन साधर्म्यप्रयोज्यस्य सादृश्यस्य सुतरामभावः। —बा.बो., पृ. 783.
211. यथेववादि शब्दाः यत्पराः ……… तत्सद्भावे श्रौती। का.प्र., पृ. 549.
साधर्म्यस्यार्थत्वात्तुल्यादि शब्दोपादाने आर्थी। वही, पृ. 552.
212. यथेववादि शब्दानां सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धरूपे साधर्म्ये एव शक्ततया यथेवादिप्रयोगस्थले साधारणसम्बन्धरूपं साधर्म्य वाच्यं सादृश्यप्रतीतिस्त्वार्थी। तुल्यादिशब्दानां सादृश्यवतिशक्तेः तुल्यसदृशादिप्रयोगस्थले सादृश्यं वाच्यं साधारणसम्बन्धरूपं साधर्म्यं त्वार्थ इति सम्बन्धबोधे विशेषादुपपद्यते एवश्रौत्यार्थी चेति विभागः। बा.बो., पृ. 549.
213. देखिये, ल.मं., उद्धृत, बा.बो, पृ. 541.
214. 'इवादीनामपि अर्थात् सदृशपर्यवसानं श्रुत्या तु सादृश्यगमकत्वमेव इति तत्प्रयोगे श्रौती इत्यर्थः। तुल्यादिशब्दानां तु श्रुत्या सादृश्यपरत्वं अर्थात् तुल्यसादृश्यपर्यवसानमिति तेषां प्रयोगे त्वार्थी।' —एकावली पर मल्लिनाथ की तरला। सादृश्य-साधर्म्य का भेद; देखें डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा का ग्रन्थ सं.सा.अ.वि.।
215. 'प्रतीयते गम्यते शब्दादर्थतो वा यथासंभवम्' काव्यलक्षण, रत्नश्री, पृ. 72.
216. लेशतः एकदेशतः, क्वचिदपि सर्वाकारसादृश्यासंभवात्। —का.धे., पृ. 111.

217. ननु भेदाभेदप्राधान्यवचनमिह न समीचीनमिति, चेन्न। साधर्म्ये सतिप्रकारत्रयस्य संभवात्। तथाहि क्वचिद्भेदप्राधान्यं दृष्टं यथाव्यतिरेके। क्वचिद्भेदप्राधान्यं यथा रूपके। क्वचित् पुनरुभयप्राधान्यं यथास्यामेव। —एकावली, पृ. 196-97.
218. ननु सादृश्यं समानधर्मसम्बन्धः। स चोपमानोपमेययोरेव सम्भवति; न कार्यकारणयोरिति साधर्म्यमित्यनेनैव गतार्थत्वादुपमानोपमेययोरिति न निर्दिष्टम्। —समुद्रबन्ध, पृ. 22. ननूपमानोपमेययोरेव साधर्म्यं सम्भवति न कार्यकारणादिकयोरिति किं तदुपादानेन? —विमर्शिनी, पृ. 25.
219. 'कटु क्वणन्तो मलदायका, खलाः ......... शृंखला इव। अत्र क्वणनादेर्धर्मस्योपमाने न्यूनतां करोतीति लिंगभेदो दुष्टः।। —विम., पृ. 25.
220. उपमानोपमेययोरित्यप्रतीतोपमानोपमेय निषेधार्थम्। अ.स., पृ. 35; तु.—संजीवनी, वही, तथा विमर्शिनी, पृ. 25.
221. का.सू.वृ. 4/2/1 की वृत्ति।
222. दे. अलं. रत्ना., पृ. 6.
223. 'तर्हि मुखकमलमिवेतिवत् कुमुदमिवेत्यपि स्यादत आह—प्रसिद्धेरिति' ......... तथा न कुमुदमुखयोरुपमा, नलोकप्रसिद्धधेति। —रत्नदर्पण, पृ. 399.
224. प्रदीप, पृ. 308; तु.—बा.बो., पृ. 544.
225. देखिये, प्रदीपोद्योत, पृ. 438-39; सुधासागर, पृ. 521; बा.बो., पृ. 546.
226. दे., काव्यानुशासन, चूडामणि तथा विवेक, पृ. 339-40.
227. देखिये, बा.बो., पृ. 546.
228. उपमानादि चतुष्टयं च वाच्यमपि भवति प्रतीयमानमपि चेति सकलालंकारिकसमयः। ततश्च 'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यमित्युपमालक्षणे केवलवाच्यपदं दर्पणकृतो दुष्टम्।। —सा.वि., पृ. 158.
229. दे., वाग्भटालंकार, 4/50.
230. तदेवमयं धर्मद्वारको धर्मिणोरूपमानोपमेयलक्षणयोः फलतः साम्यसमुच्चयः पर्यवस्यति।। —व.जी., पृ. 197.
231. उपमानोपमेयत्वं योग्ययोरर्थयोः द्वयोः।
हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युक्तं काव्यवेदिभिः।। —चि.मी., पृ. 44.
232. दे., वही, पृ. 45.
233. वही, पृ. 47.
234. दे., वही, पृ. 47.
235. चि.मी., पृ. 48-50.
236. वही, 48-66.
237. वही, पृ. 67.
238. वही, पृ. 68.
239. र.गं., पृ. 157.

240. 'मुखमिव चन्द्र' इति प्रतीपे 'चन्द्रइवमुखं मुखमिव चन्द्रः' इत्युपमेयोपमायां च सादृश्यस्य चमत्कारित्वान्नातिप्रसंगः शंकनीयः, तयोः संग्राह्यत्वात् । र.गं., पृ. 157.
241. 'ननु त्वयिकोपो ममाभातिसुधांशाविवपावकः' इत्यादावुपमानस्यात्यन्तमसंभावितत्त्वात्सादृश्यमेव तावत्प्रतिपत्तुं न शक्यम्, चमत्कारस्तु पुना केन स्यादिति चेत्, कविना हि खंडशः पदार्थोपस्थितिमता स्वेच्छया संभावितत्त्वेनाकारेण चन्द्राधिकरणकमनलं प्रकल्प्य तेन सह साम्यस्यापि कल्पने बाधकाभावात् । —वही, पृ. 158, तु.—उद्योत, पृ. 438-39.
242. दे., वही, पृ. 161.
243. अथ यदि वर्णनविषयीभूतं तादृशसादृश्यमुपमेत्युच्युते तदा यथा 'गौस्तथा गवयः' इत्यत्रोपमालंकारापत्तेः । एवं 'कालोपसर्जने तुल्यम्' इत्यादावपि । अशिष्यत्वादिना प्रधानप्रत्ययार्थवचनसादृश्यस्यात्रापि प्रतिपादनात् । वही, पृ. 161, तु.—अ.कौ., पृ. 24.
244. 'अपि च लक्षणे सादृश्यविशेषणं निरर्थकम् ।' उपमितिक्रियानिष्पत्तिमद्वर्णनमुपमा' इत्येतावतैव स्वाभीष्टार्थलाभात् । वही, पृ. 162, तु.—अ.कौ., पृ. 25.
245. एवं ……… विद्यानाथोक्तं लक्षणमपास्तम् । एवम् ……… प्राचामपि लक्षणं प्रत्युक्तम् । वही ।
246. एवं काव्यप्रकाशोक्तमपि 'साधर्म्यमुपमाभेदे' इतिलक्षणं नातीवरमणीयम् । वही, पृ. 162-3.
247. 'अतएव भेदाभेदतुल्यत्वे साधर्म्यमुपमा, इत्यलंकारसर्वस्वोक्तमपि लक्षणं तथैव । वही, पृ. 163.
248. 'एवं प्रसिद्धगुणेनोपमानेनाप्रसिद्धगुणस्योपमेयस्य सादृश्यमुपमा' इत्यलंकाररत्नाकरोक्तमपि न भव्यम् । —वही, पृ. 163.
249. दे., अलं. कौस्तुभ, पृ. 12-21.
250. वही, पृ. 21-22.
251. 'न्यायपंचाननादयस्तु—उपमिति क्रियानाम साधर्म्यनिष्पत्तिः । सा चानन्वयेऽप्यस्त्येव ……… । अ.कौ., पृ. 23-24.
252. दे., अ.कौ., पृ. 25-26.
253. 'नहि वाक्यार्थ एवालंकार्यः' इति नियमेन प्रमाणमस्ति । सादृश्येन मुखस्यैवोत्कर्षात्तस्य विभावतया तदुत्कर्षेणैव रसोत्कर्षात् । —अ.कौ., पृ. 25-26, दे., सा.बि., पृ. 158.
254. मुख्यव्यंग्यस्यानलंकारतयैव धर्मिग्राहकमानेन प्रसिद्धेः, वाक्यार्थस्य च रसाद्यंगतया सर्वाभ्युपगतत्त्वात् ……… । —अ.कौ., पृ. 26-28, द्र.—वही, उनकी टीका भी ।
255. डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा, संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास, पृ. 148.
256. दे., साहित्यसार की सरसामोद टीका, पृ. 367-68.
257. अचो यत् । पा. 3/1/91.
258. कृत्यल्युटो बहुलम् । पा. 3/31/13. करणाधिकरणयोश्च पा. 3/3/117. ल्युट् च पा. 3/3/115, अमरकोशसुधा, पृ. 349, नि.सा. प्रेस, बम्बई, 1944.

259. दे., वाचस्पत्यम्, पृ. 208, आ.म.प्र. भाग 2, पृ. 706-8, अभिधानराजेन्द्र संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ. 208, Sanskrit Worterbuch Herausgeben St. Petersburg, 1968. हि.म.श. तथा ल.हि.श.सा., शब्दकल्पद्रुम, प्रथमकांड, पृ. 258.
260. यथा मुखं पद्मभिवेत्यत्र पद्मं मुखोपमानत्वेन प्रसिद्धं, न तथा कुमुदमिवेत्यपि भवति प्रसिद्धमिति। —का.धे., पृ. 111-12.
261. सादृश्यसम्बन्धित्वेन उपादीयते यत्प्राकरणिकं तदुपमेयम् ......... सत्यपि च सादृश्य सम्बन्धित्वेनोपादाने यस्य प्राकरणिकत्वं नास्ति तस्योपमानत्वम् ......... तद्धि उपमानेन सादृश्यप्रतिपादनद्वारेण समीपं क्षिप्यते तदुपमेयम्। ल.वृ., पृ. 17.
262. दे., तिलक की उद्भट पर विवृत्ति, पृ. 13, तु.—नमिसाधु, पृ. 99.
263. उपसमीपे मीयते क्षिप्यते स्वसादृश्यप्रापणादुपमेयं येन तदुपमानम्। तथा तेन यत्तु समीपे क्षिप्यते गुणद्वारेण तदुपमेयम्। हृद्यतया कविना यदुत्कृष्यते तदुपमानमन्यदुपमेयम्। न तु प्रसिद्धमप्रकृतं वोपमानमन्यदुपमेयम्। ......... प्रसिद्धिविपर्यासेनौपम्यस्य कविकल्पितत्त्वाद्विपर्यासोपमा। एवंविधकाव्येषु न सामान्योपमा इति भोजः। —का.प्र. संकेत, पृ. 219, आ.आ.सं.ग्र., पृ. 71.
264. गुणादिना सर्वथासाम्यस्य दुर्लभत्वात्। —काव्यादर्श 2/14 पर रत्नश्री।
265. अलं. सर्वस्व, पृ. 35, वही, संजीवनी तथा विमर्शिनी, पृ. 25, तु.—अ.चं., पृ. 3.
266. दे., डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, अलंकार मीमांसा, पृ. 217.
267. वही, स.कं., 4/22/23.
268. वही, अ.र., पृ. 6; सा.द., पृ. 653; अ.म., पृ. 234; अ.कौ., पृ. 10.
269. साधारणधर्मवत्वेन प्रसिद्धः पदार्थः उपमानम्, तद्धर्धवत्तया वर्णनीयः पदार्थः उपमेयम्। केचित्तु अधिकगुणवत्तया संभाव्यमानमुपमानम्, निकृष्टगुणवत्तया संभाव्यमानमुपमेयमित्याहुः। सादृश्यप्रतियोग्युपमानम् सादृश्यानुयोग्युपमेयमित्यन्ये।। —बा.बो., पृ. 545.
270. कल्पितेन कल्तिोपमा। अ.र. 8, तत्त्वतोऽसता प्रौढोक्तिनिर्मितेन काल्पनिकेनोपमानेनोपमेयस्यार्थात्काल्पनिकं सादृश्यं कल्तिोपमा। फलं चात्र प्रतिभटभूतवस्त्वन्तराभाव प्रतिपादनाम्। अतएव नास्या उपमायामन्तर्भावः।। —वही, वृत्ति, पृ. 9.
271. कु.सं., 3/54; उद्धृत अलं. र., पृ. 10.
272. दे., अ.र., पृ. 9-10.
273. इयं च सादृश्यदाढ्र्यार्थे कविप्रतिभाकल्पिते साधर्म्ये 'कल्पितोपमा' विमर्शिनी, पृ. 29.
274. परे तु अस्याः कल्पितोपमायाः उपमानान्तरभावफलकत्वेनालंकारान्तरतामाहुः। तन्न। सादृश्यस्य चमत्कारितयोपमानान्तर्भावस्यैवौचित्यात्। सन्निरुपितत्त्वस्य लक्ष्ये प्रवेशाभावात्। उपमानान्तरभावफलकत्वं ह्युपमाविशेषेसाधकम्, न तूपमाबहिर्भावे। —र.गं., पृ. 158.
275. देखिये, विमर्शिणी, पृ. 26.
276. दे., अ.र., पृ. 6-7.

277. एवं प्रकृतामेव महाभाष्यप्रक्रियामपहाय निर्निमित्तमेव प्रक्रियान्तरमाश्रित्य यदन्यैरुक्तं तदयुक्तमेवेत्यलंबहुना। एवंविधस्य चास्य भावाभावरूपतया द्वैविध्यम्। एतच्च न तथा वैचित्र्यावहमिति। वि. पृ. 27.
278. दे., अ.स. तथा वही, संजीवनी, पृ. 37, तु.—एकावली, पृ. 205-6. प्रतापरूद्रीय, पृ. 265-66; सा.द. 487-88 (नि.सा.प्रे., 1915), नंजराजयशोभूषण, पृ. 165-66; अ.भ., पृ. 239.
279. दे., चि.मी., पृ. 81.
280. वही, र.गं., पृ. 174.
281. विद्याधर, एकावली, पृ. 205.
282. प्रतापरूद्रयशोभूषण, पृ. 265-66.
283. एकरूपः क्वचित्क्वापि भिन्नः साधारणोगुणः।
भिन्ने बिम्बानुबिम्बत्वं शब्दमात्रेण वा भिदा।। सा.द., 10/23/4.
284. एकस्यैव धर्मस्य सम्बन्धिभेदेन द्विरूपादाने वस्तुप्रतिवस्तुभावः। वस्तुतः भिन्नयोर्धमयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाध्यवसितयोर्द्विरूपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः। चि.मी., पृ. 81; तु.—कुवलयानन्द, पृ. 6; एकावली, पृ. 205, अ.म.हो., पृ. 239-40; अ.कौ., विश्वेश्वर, पृ. 35.
285. यथासंभवं प्रकारत्रैविध्यमन्यैरप्रदर्शितं दर्शयति। —स.ब., पृ. 24.
286. यावती संभवति उपमा, पूर्णालुप्ताच सप्रभेदप्रपंचा सा सर्वैवास्मदुपदर्शिते वैचित्र्यरूपेण त्रिधा प्रथत इति। —सं., पृ. 38.
287. उपमेयगतानामुपमानगतानां चासाधारणानामपि धर्माणां सादृश्यमूलेनाभेदाध्यवसायेन साधारणत्वकल्पनादुपमासिद्धिः। ......... अयमेव बिम्बप्रतिबिम्बभावः इति प्राचीनैरभिधीयते। —र.गं., पृ. 159.
288. अ.स., पृ. 38; अ.म., पृ. 239.
289. वही, चि.मी., पृ. 82 तथा अलं. महो., पृ. 239.
290. स च शुद्धो न संभवति, किन्तु विशेषणतया विशेष्यतया सर्वत्र बिम्बप्रतिबिम्बभाव करम्बितः। चि.मी., पृ. 82; तु.—अ.कौ., पृ. 35.
291. दे., वही, पृ. 82.
292. इत्यत्र वैमल्यनिष्कलंकत्वयोर्वस्तुतः एकरूपयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावनिर्मुक्तं वस्तुप्रतिवस्तु-भावमापन्नयोरूपमा निष्पादकत्वं यद्यस्ति, तदा शुद्धं वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नोऽप्येषषष्ठो धर्मः। —र.गं., पृ. 157; तु.—सुधा, पृ. 82/83; अ.कौ., पृ. 36-37.
293. दे., चि.मी., पृ. 82 तथा वही, सुधा भी।
294. उद्धृत, अ.स., पृ. 39; अ.भ., पृ. 240.
295. अत्र हरिचन्दनबालातपौ हारनिर्झरौ च बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्दिष्टौ। चि.मी., पृ. 83.
296. ततश्च धर्मयोर्वस्तुतो भेदेऽपि, प्रतीतावेकतावसायाद्भेदेऽप्यभेद

इत्येतन्निमित्तमेकत्वमाश्रयणीयम्। ......... लोको हि दर्पणादौ प्रतिबिम्बस्य भेदेऽपि मदीयमेवात्र वदनं संक्रान्तमित्यभेदेनाभिमन्यते ......... । वि., पृ. 28.

297. श्रौतत्त्वार्थत्वाभ्यां बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य द्वैविध्यौचित्यात्। —र.गं., पृ. 181; तु.—सुधा, पृ. 83.

298. अ.कौ., पृ. 35.

299. 'न श्वैत्येनैव तत्सादृश्यनिर्वाहः इति वाच्यम्, तदाशंखशुक्तौ मरकतभाजनवृत्तित्व-विशेषणवैय्यर्थ्यापत्तेः तादृशघटकातिरिक्तोपमानविशेषणोपादानस्य वैय्यर्थ्यात्। —अ.कौ., पृ. 46.

300. तस्मात्कश्चिद्धर्मः सादृश्यनिर्वाहकः कश्चित्तु तदुत्कर्षकः इतिसिद्धम्। वही, पृ. 47.

301. शोभाकर ने अलंकारसार के मत को उपस्थित कर उसका खंडन किया है। देखिये, अ.र., पृ. 9.

302. वही, वस्तुप्रतिवस्तुभावोऽयं धर्मापेक्ष एव। बिम्बप्रतिबिम्बभावस्तु धर्म्यपेक्षः। सं. प्र. 39. बिम्बप्रतिबिम्बभावोमिथः सादृश्यम्, अयं तु धर्मधर्मिणोरुभयोरपि भवति। —सं.ब., पृ. 25.

303. सा चानेकेषां धर्मिणां परस्परावच्छिन्नानां तादृशैरेव धर्मिभिः साम्ये भवति। वि., पृ. 28.

304. बिम्बप्रतिबिम्बभावो पुनर्धर्मविशेषप्रतिपादनोन्मुखानां धर्माणां संभवति। वही, पृ. 28.

305. लुप्तायां तु नैवं भेदाः। तस्यां साधारणधर्मस्यानुगामित्वनियमात्। चि.मी., 80.

306. ......... इत्यत्रानुगामिधर्मस्याप्रत्ययाच्चन्दनानां पाण्डवानाम् सर्पाणां दुर्योधनादीनां च बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यैवोपपत्तेः। न च शब्देनोपात्तत्वं बिम्बप्रतिबिम्बभावे तन्त्रभित्याग्रहो विदुषामुचितः। श्रौतत्त्वार्थत्वाभ्यां बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य द्वैविध्यौचित्यात्। —र.गं., पृ. 181; तु.—अ.कौ., पृ. 35.

307. अ.कौ., पृ. 35.

308. 'यथा कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्कचतितराम् इत्यादौ गुणसाम्ये उभयसाम्ये वोपमा तथा 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव, इत्यादौ शब्दमात्रसाम्येऽपि सायुक्तैव। तथाह्युक्तं रुद्रटेन—'स्फुटमर्थालंकारौ ......... ।' का.प्र., पृ. 521.

309. वाचकता संबन्धेन तस्याप्यर्थधर्मत्वात् इति। —उद्योत, पृ. 422-23; दे., बा.बो., पृ. 521-22.

310. 'श्लेषव्यावृत्त्यर्थं' धर्मत इति विशेषणमप्ययुक्तम्। तत्र न शब्दसाम्यमात्रमिवेनोच्यते, किन्तु गुणसाम्यमपीति तदव्यावृत्तेः। ननु परे सकलकलत्वं कलकलशब्दसाहित्यं सुधांशुबिम्बे कलासाकल्यमिति, नैकोऽनुगतो गुणो लभ्यते, मैवम् श्लेषभित्तिकाभेदाध्यव-सायमूलया भेदाभेद इत्येवंरूपयातिशयोक्त्या धर्मसाधारण लाभात्।' —चि.मी., पृ. 55.

311. उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे। —पा. 2/1/56.

312. मयूरव्यंसकादयश्च। —पा. 2/1/71.

313. क्वचिदेषां यथासंभवं मिश्रणेन। चि.मी., पृ. 80; तु. र.गं., पृ. 176; सुधा, पृ. 80-81.

314. क्वचित्त्वेषां मिश्रणेन। —अ.कौ., पृ. 42-45.

315. दे., चि.मी., पृ. 91.

316. इस पर समुद्रबन्ध ने कहा है—
'अर्थालंकारप्रकरणमिदमित्यनेनोपमादेर्भोजेनोक्तमुभयालंकारत्वं, शब्दसाम्ये रुद्रटस्याभिमतं शब्दालंकारत्वमर्थश्लेषश्च काव्यप्रकाशकारोक्तं शब्दालंकारत्वं च निरस्तम्। —स.बं., पृ. 23.

317. दे., काव्यादर्श, 2/57/65.

318. वही, बा.बो., पृ. 549.

319. यथेव वा शब्दायत्परास्तस्यैवोपमानता प्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणा एते, तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठी सम्बन्धं प्रतिपादयन्ति, इति तद्भावे श्रौती उपमा। —का.प्र., 549; देखिये—प्रदीप, पृ. 309-10, तथा वही, प्रभा., सं.प्र., पृ. 253; बा.बो., पृ. 550; सा.चू., पृ. 253; संकेत, पृ. 220; काव्यादर्श, पृ. 255; एकावली, पृ. 197-98; रत्नापण., पृ. 257; सा.द., पृ. 476 (नि.सा.प्रे.)।

320. देखिये, का.प्र., पृ. 552 तथा परवर्ती प्रायः सभी ग्रन्थ।

321. उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानां उपादाने पूर्णा, एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता। —का.प्र., पृ. 547; स.बं., पृ. 22 तथा अन्य प्रायः सभी अलंकार ग्रन्थ।

322. ऋग्वेद, 4/2/5.

323. 'सनायते गोतम इन्द्रः' ऋ. 1/63/3 में भी पूर्ववत् धर्मेवादि लुप्त है। दे., ऋ. 1/58/4 भी।

324. दे., ना.शा. 16/46. भरत की प्रथम दो उपमायें व्याजस्तुति-सी प्रतीत होती हैं। तृतीय भेद उत्प्रेक्षा के सन्निकट है। चतुर्थ को पूर्णोपमा तथा पंचम भेद को मालोपमा कहा जा सकता है।

325. उपमाया बुधैरेते ज्ञेया भेदा समासतः।
ये शेषैर्लक्षणैर्नोक्तास्ते ग्राह्या लोककाव्यतः।। —ना.शा., 16/52.

326. दे., काव्यालंकार, 2/31/33.

327. वही, 2/37.

328. दे., काव्यादर्श, 2/15/50.

329. वही, काव्यालं. सा.सं., 1/32-38.

330. अतः पंचप्रकारैषा संपूर्णा। ल.वृ., पृ. 21.

331. तस्याश्च पंचविधत्वं वाक्यसमाससुब्धातुकृत्तद्धितावसेयत्वात्। —वही, पृ. 21.

332. तदेवमेषा सप्तदशविधा ग्रन्थकृता उपमाप्रतिपादिता —ल.वृ., पृ. 27.

333. एवं पूर्णा षड्भेदाः। ·········· पंचदशलुप्ताभेदाः।
पूर्णाभिः सह एकविंशतिः।। —विवृत्ति, पृ. 15.

334. दे., का.सू.वृ., 4/2/2.

335. वही, 4/2/3.

336. वही, 4/2/4.

337. वही, 4/2/4.
338. वही, 4/2/14.
339. वही, रुद्रट का काव्यालंकार 8/5/23.
340. वही, रुद्रटालंकार — 8/25/31.
341. वही, वक्रोक्तिजीवित — पृ. 199-200.
342. वही, स.कं. 4/6-7; शृं. प्र., पृ. 40/9-10, जिल्द-2.
343. वही, 4/8/12; तु.—शृं.प्र., पृ. 410.
344. वही, 4/13/18; तु.—शृं.प्र., पृ. 410.
345. वही, 4/19; तु.—शृं.प्र., पृ. 410-11.
346. वही, 4/20-23; तु.—शृं.प्र., पृ. 411.
347. हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ. 343.
348. वही।
349. वही।
350. वही, पृ. 344.
351. उपमानादाचारे, 3/1/10 तथ 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च, 3/1/11.
352. एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः सह पंचविंशतिः। —का.प्र., पृ.त्र 579.
353. दे., अ.वु., 343, 6-21.
354. वही, अ.स.पू., 37.
355. दे., काव्यानुशासन, पृ. 341-42.
356. वही, पृ. 342-3.
357. उपमेयोपमावाचकयोस्तु वाक्येलोपो न संभवति। —वही, पृ. 342.
358. पूर्णेन्दुकल्पवदना मृणालीदेश्यदोर्लता। चक्रदेशीयजघना सा स्वप्नेऽपि न दृश्यते।। काव्यानु. पृ. 343, यह उदाहरण भोज का है 'सरस्वती कंठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' दोनों में उपलब्ध है।
359. सूर्यीयति सुधारश्मिमनाथति मृतायते।
मृतस्तु कान्ताविरहे स्वर्गेऽपि नरकीयति।। —वही, पृ. 344.
360. हेमचन्द्र के विभाजन और उदाहरण के लिये देखिये 'अलंकार चूडामणि' पृ. 341-5.
361. मालोपमादयस्तु उपमाया नातिरिच्यन्त इति न पृथग् लक्षिताः, वही, पृ. 346-47.
362. दे., वाग्भटालंकार 4/51/7.
363. सा प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैश्चतुर्धा। काव्यानुशासन, पृ. 33.
364. सा च धर्मवस्तुविपर्यास ......... हेतुरसनादिभेदैरनेकधा भवति। तत्प्रबन्धस्तु दण्डिनो द्रष्टव्यः। इह च ग्रन्थगौरवमयात्प्रकृतानुपयोगाच्चनोच्यते।।—वही, व्याख्या, पृ. 33.
365. दे., चन्द्रालोक, 5/14-17.
366. वही, एकावली, पृ. 197-204.
367. वही, पृ. 204-5.

368. एवं पूर्णोपमा षट्प्रकारा। लुप्तोपमा एकोनविंशति भेदाः। —प्रता.रु.य., पृ. 258.
369. वही, पृ. 266-67.
370. दे., सा.द., पृ. 672-3 (चौ. सं.सी., वाराणसी)।
371. एवमयं पूर्णालुप्ताविभागो वाक्यसमासविशेषगोचरतया शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिकौशल प्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवालंकारशास्त्रे व्युत्पाद्यतामर्हति, न वा लुप्तानामयं सामस्त्येन विभागः। —चि.मी., पृ. 108.
372. वाचकलुप्ता णिनिं विना कैश्चित् षड्विधा दर्शिता।
णिनिना सहापरैः, क्विप् तद्धितयोरपि दृश्यते।। वही, पृ. 109.
373. चि.मी., पृ. 110-11; तु.—कु., पृ. 8-9; अ.कौ., पृ. 134-35.
374. 'पुनश्चेयमुपमा संक्षेपतस्त्रिधा—क्वचित्स्ववैचित्र्यमात्र विश्रान्ता, यथा—'स च्छिन्नमूलः क्षतजेनरेणुः इत्यादौ। क्वचिदुक्तार्थोपपादनपरा, यथा—'अनन्तरत्नप्रभवस्य' इत्यादौ। क्वचिद्व्यंग्यप्रधाना सा।' —वही, पृ. 114-15.
375. एवमष्टौ भेदा रूपकालंकारस्य प्राचीनैः प्रदर्शिताः। एवं भेदा उपमाया अपि वक्तुं शक्याः। ·········· इति वैधर्म्येण रूपकबदुपमेति सर्वं समानम्। —वही, पृ. 181-83.
376. दे., कुवलयानन्दकारिका, 7-9 तथा वृत्ति।
377. वही, अ.कौ., 8/216-230.
378. वही, अ. मंजूषा, पृ. 6-9.
379. लुप्तोपमालंक्रियासु भेदा एकोनविंशतिः।
पूर्णाः षष्ठोपमा एताः पंचविंशतिरीरिताः।। —नं.य.भू., पृ. 165.
380. दे., वही, पृ. 165-66.
381. एवं साकल्येनैकोनविंशतिर्लुप्ताभेदाः, पूर्णाभेदैः सह पंचविंशतिः। र.गं., पृ. 163.
382. इयं चैवं भेदोपमा वस्त्वलंकाररसरूपाणां प्रधानव्यंग्यानां वस्त्वलंकारयो-र्वाच्ययोश्चोपस्कारकतया पंचधा। ·········· एवं प्राचां मते ·········· सपादशतं भेदाः। द्वात्रिंशद्भेदवादिनां तु षष्ठ्युत्तरं शतम्। —र.गं., पृ. 172-74.
383. कर्माधारक्यचिक्यङि च वाचकलुप्तोदाहरणं प्राचामसंगतमिवप्रतीयते। धर्मलोपस्यापि तत्र संभवात्। —वही, पृ. 169.
384. 'उपमानादाचारे' इत्यत्रोपमानमाचार निरुपितमेव गृह्यते। ·········· इति वैयाकरण मते च सुतरां धर्मलोपः। —मर्मप्रकाश, पृ. 169.
385. यच्चाप्पयदीक्षितैरस्मिन्नेव प्रस्तावे, 'धर्मलुप्ता वाक्यसमासतद्धितेषु दर्शिता द्विर्भावेऽपि दृश्यते। ·········· तत्तुच्छम्। —वही, पृ. 170.
386. दे., मर्मप्रकाश, पृ. 170.
387. 'नृणां यं सेवमानानां ·········· चन्द्रकलाधरम्' अत्र क्विप्कनोर्लोपे प्रत्येकं वाचकधर्मलोपउभयत्रापि तदरमणसीयम्। ·········· 'रूपयौवन ·········· पुष्पायुधीयति।' इदं च पद्यमपशब्ददुष्टमवैयाकरणतां च कर्तुः प्रकाशयति। —वही, पृ. 171.
388. इयमपि रूपकवत् ·········· अष्टधा। —वही, पृ. 181-82.

389. 'सेयमुपमा संक्षेपतस्त्रिविधा ......... इति तैरेव द्रविडशिरोमणिभिरन्यधीयत। तदप्यहृद्यमेव। वही, पृ. 180.
390. दे., अ.कौ., पृ. 106, 7.
391. द्योतकलुप्तोपमा वाक्ये तद्धिते च न संभवति। वही, पृ. 117.
392. दे., वही, पृ. 136-37.
393. अत्रकेचिदुपमाया भेदान्तराणि स्वीकुर्वन्ति। ते वैचित्र्याभावादुक्तभेदेष्वेवान्तर्भवन्ति। पृ. 141.
394. दे., अ.कौ., पृ. 141-149.
395. इत्थमेकोनविंशत्या लुप्तयामिलिता तथा।
षोढ्यापूर्णया चेति पंचविंशतिधोपमा।। —सा.सा., 8/33.
396. एका वाच्योपमा पूर्णा षड्लुप्तैकोनविंशतिः।
दैक्षित्येकाकल्पितैकेत्यष्टाविंशतिधास्त्यसौ। —वही, 8/78.
पंचोपस्कर्तृताभेदैः साभवत्खाब्धिभूमिता।
तथानवविधैर्धर्मैर्भिन्ना सा खर्तुदृग्धरा।। —वही, 8/79.
397. उपमायाः निषेधो योऽनुपमा सा प्रकीर्तिता। —सा.बि., 5/8.
398. स्तुतिनिन्दातत्त्वाख्यानेषु।। —का.सू., वृ. 4/2/7.
399. डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा, सं. साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास, पृ. 174.
400. एकदेश विवर्तिन्युपमावाच्यत्वगम्यते। भवेतां यत्र साम्यस्य—सा.द., 10/24.
401. वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थः कोऽपि यद्युपमीयते।
एकानेकेव शब्दत्वात्सा वाक्यार्थोपमा द्विधा।। —काव्यादर्श, 2/43.
402. इयं चेव यथावादि शब्दैर्वाचकैः प्रतिपादिता वाच्यालंकारः। लक्ष्यापिचालंकुर्वाणा दृश्यते। ......... क्वचिद्व्यंग्यापि चेयमुपमालंकारः। —र.गं., पृ. 179.
403. नहि व्यंग्यत्वालंकारत्वयोरस्ति कश्चिद्विरोधः। प्राधान्येन व्यंग्यतायां तु प्रधानत्वालंकारत्वयोर्विरोधादलंकारलक्षणं तत्र मातिप्रसाङ्क्षीदिति उपस्कारकत्वेव पुनर्विशेषणीयम्, नत्वव्यंग्यत्वेन। —वही, पृ. 180.
404. सा चेयमुपमा वस्त्वलंकाररूपाणां व्यंग्यानां वस्त्वलंकारयोर्वाच्ययोश्चोपस्कारकतयाऽलंकारतां भजते। —उद्योत, पृ. 454.
405. न खलु व्यंग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुताप्रतीतिः, अपितु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव। का.प्र., 562 तथा—उक्त व्यंग्यरूपं वैचित्र्यमनुसंधानसाधितं भवदपि पश्चात् प्रतीतया अलंकारवैचित्र्यप्रतीतिव्यवहितप्रतीतिकत्वेनास्फुटतया च सदप्यकिंचित्करमेव। बा.बो., वही। तु.—सं.प्र., पृ. 258; सा.चू., पृ. 258; प्रदीप, प्रभा, पृ. 312; गजेन्द्रगडकर, पृ. 256-7.
406. विद्यानाथ, विश्वनाथ, विश्वेश्वर प्रभृति के लक्षण देखिये।
407. दे., चि.मी., पृ. 63 तथा अलंकार भूतोपमालक्षणं त्वेतदेवादुष्टाव्यंग्यत्व विशेषितम्। —पृ. 74-75.

408. क्वचिद्व्यंग्यप्रधाना सा व्यंग्यस्य वस्त्वलंकाररसस्वरूपतया त्रैविध्यात् त्रिविधा। —वही, पृ. 115.
409. दे., बा.बो., पृ. 570.
410. 'सुतीयसि' इत्यत्र स्नेहनिर्भरत्वस्य साधारणधर्मस्य लोपः। —सा.द., पृ. 481 (नि.सा.प्रे.)।
411. '......... वत्यादि क्यङ्घ्योः साम्यमेवेति। यच्च केचिदाहुः — वत्यादयः इवाद्यर्थेऽनुशिष्यन्ते, क्यङादयस्त्वाचारार्थे इति' इति तदपि न। न खलु क्यङादय आचारमात्रार्था, अपितु सादृश्याचारार्था इति। —वही, पृ. 482-83.
412. 'एवमयं पूर्णालुप्ताविभागो वाक्यसमासप्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्रव्युत्पत्ति कौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवालंकारशास्त्रे वयुत्पाद्यतामर्हति।' —चि.मी., पृ. 108; तु.—उद्योत, पृ. 554.
413. 'तदल्पमि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।। —काव्यादर्श, 1/7.
414. हीनतासंभवो लिंग वचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि वा।। —काव्यालंकार, 2/39.
त एत उपमादोषाः सप्तमेधाविनोदिताः।।
415. न लिंगवचने भिन्ने तेनासदृशतापिवा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्।। —दंडी 2/5.
416. दे., वही, 2/55/56.
417. हीनत्वाधिकत्वलिंगवचनभेदासादृश्यासंभवास्तद्दोषाः। —का.सू.वृ. 4/2/8.
418. जाति प्रमाणधर्म न्यूनतोपमानस्य हीनत्वम्—वही 4/2/9.
419. तेनाधिकत्वं व्याख्यातम् —वही, 4/2/11 तथा वृत्ति।
420. अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अतएव अस्माकं मते षडेव दोषाः। —वही, पृ. 119.
421. इष्टः पुंन्नपुंसकयोः प्रायेण। —वही, 4/2/13.
422. लौकिकायां समासाभिहितायामुपमायां प्रपंचे च।। —वही, 4/2/14.
423. पास्यामि लोचने तस्याः पुष्पं मधुलिहो यथा। —वही।
तेन वचन भेदो व्याख्यातः। —4/2/15.
424. अप्रतीतगुणसादृश्यमसादृश्यम्। —वही, 4/2/16.
425. उपमानाधिक्यात्तदपोह इत्येके। —वही, 4/2/18.
426. नापुष्टार्थत्वात्। —वही, 4/2/19.
427. अनुपपत्तिरसम्भवः। —वही, 4/2/20.
428. चकास्ति वदनस्यान्तः स्मितच्छाया विकासिनः।
उन्निद्रस्यारविन्दस्य मध्ये मुग्धेव चन्द्रिका।। —वही, पृ. 123.
429. सामान्यशब्दभेदो वैषम्यमसंभवो प्रसिद्धिश्च।

इत्येते चत्वारो दोषा नासम्यगुपमायाः।। —रुद्रटालंकार, 11/24.

430. तस्माच्चत्वारएवामी दोषा, न तु सप्त।। —न.सा., पृ. 146.

431. दे., काव्यालंकार, 11-26.

432. वही, 11-29.

433. काव्यालंकार सार संग्रह की विवृत्ति, पृ. 13-14.

434. उपमायामुपमानस्य जातिप्रमाणगतन्यूनत्वमधिकता वा तादृश्यनुचितार्थत्वं दोषः। धर्माश्रयेऽन्यूनाधिकत्वे यथाक्रमं हीनपदत्वमधिकपदत्वं च व्यभिचरतः।का.प्र., पृ. 772.

435. लिंगवचनभेदोऽपि ·········· इति प्रक्रान्तस्य स्फुटमनिर्वाहादस्य भग्नप्रक्रमरूपत्वम्।

436. यत्र तु नानात्वेऽपि लिंगवचनयोः सामान्याभिधायिपदं स्वरूपभेदं नापद्यते, तत्र नैतद्दूषणावतारः। —वही, पृ. 774.

437. कालपुरुषविध्यादिभेदेऽपि न तथापि प्रतीतिरस्खलितरूपतया विश्रान्तिमासादयतीत्य सावपि भग्नप्रक्रमतयैव व्याप्तः। वही, पृ. 778.

438. असादृश्यासंभवावप्यनुचितार्थायामेवपर्यवस्यतः।। —वही, पृ. 783.

439. अ.म., पृ. 93-4.

440. वाग्भटालंकार, 4-58.

441. प्रतापरुद्रयशो., पृ. 229-30.

442. सा.द., पृ. 543-6.

443. केचित्तु कालपुरुषलोडर्थादिभेदमपि दोषमाहुः। —चि.मी., पृ. 123.

444. दे., चि.मी., 125-130.

445. वही, र.गं., पृ. 191.

446. वही, अ.कौ., पृ. 149.

447. देखिये, वाचस्पत्यम्, भाग-1, पृ. 149 तथा शब्दकल्पद्रुम, भाग 1, पृ. 61.

448. 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः। पा. 2/2/24 पर कात्यायन। तु. विश्वेश्वर—अ.कौ., पृ. 164; प्रदीप, पृ. 321-22 का वार्तिक।

449. दे., ल. वृ., पृ. 72; का.प्र., पृ. 582; काव्यादर्श संकेत, पृ. 263; बा.बो., पृ. 581; उद्योत, पृ. 456; विमर्शिणी, पृ. 31; संजीवनी, पृ. 40; धर्मैक्येहि स्वस्य स्वेनोपमानान्नान्वेतीति अनन्वय इत्यन्वर्थं नाम। —चि.मी., पृ. 151.

450. संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास, (काणे), हिन्दी, पृ. 90.

451. काणे, वही, पृ. 99 पर अनन्वय, वि.पु., 14/15.

452. यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम्।।—भामहा. 3/45 तथा उद्भट का.सा.सं. 6-7.

453. चन्द्रारविन्दयोः कक्ष्यामतिक्रम्य मुखं तव।
आत्मनैवाभवत्तुल्यमित्यसाधारणोपमा।। —काव्यादर्श, 2/37.

454. का.सू.वृ., 4/3/14.

455. दे., रुद्रट काव्यालंकार, 8.11-12.

456. अ.म. 8/15; चन्द्रा. 5/12; एकावली, पृ. 209; प्र.य., पृ. 267; सा.द. 10/26; चि.मी., पृ. 147; कुव. श्लोक 10; अ.मं. 3; अ.प्र. 4; अ.मु. 8; अ.कौ., पृ. 168; लं.रा., पृ. 166; सा.बि. 5/8.
457. डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा, वही, पृ. 191.
458. प्रदीप, पृ. 321; बा.बो., पृ. 581-82; एकस्यैवोपमानोपमेयत्वक्लृप्तिः सदृशान्तरसम्बन्धनिवृत्यर्थम्' —संजी., पृ. 40.
459. एकस्यैव हि सिद्धसाध्यरूपेणोपमानोपमेयत्वेनाविद्यमानोऽन्वयः सम्बन्धो यत्र स तथोक्तः। —वि., पृ. 31.
460. सादृश्यस्य चोभयनिष्ठत्वेनैव संभवात् एकस्य च तदभावात् कथमिह तदाश्रयस्याप्यस्य वचनम्। —वही, पृ. 30.
461. 'इत्थं शाब्दमेव सादृश्यानुगममित्याश्रित्येहास्य लक्षणम्। —वही, पृ. 30.
462. पूर्वरूपमुपमेयत्वं तदनुगमोवाच्याभिप्रायेण, यत्पुनस्पूर्वरूपमुपमानत्वं तदनुगमो व्यंग्याभिप्रायेणेति। सं., पृ. 39, तु.—अन्ये तु पूर्वमुपमानोपमेययोरेकतरप्रतिपादनयोपात्तस्य ......... वाच्याभिप्रायेण वाच्यस्यार्जुनादेः शब्दभेदोपाधिभेदप्रतिभासापनयनेन वास्तवस्यैकत्वस्य स्फुटप्रतिपत्तिमभिप्रेत्य क्रियते।स.ब., पृ. 26. तु.—रत्नापण, पृ. 267.
463. द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्तिप्रतिपत्त्यभावान्नायमलंकारः।। वि., पृ. 31.
464. यद्यप्यसति सादृश्ये नोपमानोपमेयं, सादृश्यं च भेदघटितमित्येकस्योपमानोपमेयत्वमनुपपन्नम्, तथाप्याहार्योऽत्र भेदो द्रष्टव्यः। ......... अयमेवोपमानन्वययोर्भेदः। यदेकत्र वास्तवोऽन्यत्राहार्यो भेदः। सु.सा., पृ. 569, तु.—बा.बो., पृ. 582.
465. वही, पृ. 193.
466. रामचन्द्रतर्कवागीश—सा.द., पृ. 490 (नि.सा.प्रे.)।
467. प्रदीप, पृ. 322; सा.चू., पृ. 272; गजेन्द्रगडकर, का.प्र. नोट्स, पृ. 273.
468. दे., बा.बो., पृ. 582; गजेन्द्रगडकर, पृ. 273.
469. उपमेयेनैवोपमानतया कल्पितेनोपमेयस्यामुखावभासमानसाधर्म्यापादनमेकोऽनन्वयः। उपमेयस्यैकदेशस्य तथैवोपमानता कल्पनमपरः। उपमेयस्यैव प्रतिबिम्बत्वादिना भेदेनावसितस्य तत्कल्पनं तृतीयः।। —अ.र., पृ. 10.
470. दे., वि., पृ. 31.
471. अत्र स्वीयप्रतिबिम्बैरेव तव सादृश्यमिति प्रतीयते। —वही, पृ. 11.
472. यत्तु तेन तदेकदेशेनावसितभेदेन वोपमानतया कल्पितेन सादृश्यमनन्वयः। —इत्यनन्वयस्त्रिविधः। इति रत्नाकरेणोक्तम्। तन्न, उपमानान्तरविरहप्रतीतिमात्रादेवानन्वयत्वे। ......... कल्पितोपमायाः अपि तथात्वापत्तेः। यद्यर्थातिशयोक्तावतिप्रसक्तश्च। ......... नास्त्यन्वयोऽस्येति योगार्थविरहेण तदेकदेशसादृश्यस्यानन्वय पदार्थत्वासंभवात्। —वही, पृ. 206-8.
473. दे., वि., पृ. 30-31.
474. उपमानान्तरविरहस्त्रिष्वपि भेदेषु गम्यते येन।तदनन्वयस्त्रिधा .........।—अ.र., पृ. 11.

475. 'यदपि चालंकारसर्वस्वकृता अनन्वयध्वनित्वमत्र भविष्यति। अन्यथालंकारध्वनेर्विषयापहारः स्यात्। इत्युक्तम्, तदपि तुच्छम्। —र.गं., पृ. 208.
476. इहाभेदेभेद इत्येवं रूपा अतिशयोक्तिर्द्रष्टव्या। अ.म., पृ. 245.
477. स्वस्य स्वेनोपमा या स्यादनुगाम्येकधार्मिका। अन्वर्थनामधेयोऽयमनन्वय इतीरितिः। चि.मी., पृ. 150.
478. आचार्य विश्वेश्वर ने दीक्षित मत का खंडन किया है कि अनन्वय में स्वसादृश्य का असंभवत्व नहीं है। वस्तुतः दीक्षितजी अनन्वय शब्द का अभिप्राय सिद्ध कर रहे हैं। विश्वेश्वर उसे न समझकर उनका खंडन ही करने लगते हैं। अ.कौ., पृ. 172.
479. वही, पृ. 192.
480. एकावली, पृ. 209, तु. एकस्यैवोपमानोपमेयभावानन्वयादन्वर्थेयं संज्ञा। रत्नापण, पृ. 267, तु.—बा.बो., पृ. 581.
481. दे., चि.मी., पृ. 152.
482. वही, काव्यानुशासन, विवेक, पृ. 340.
483. अत्र तु परस्मिन्स्वसाधर्म्याभावकृतः। न तु स्वाभेदबुद्धिकृतः। उद्योत, पृ. 457.
484. कमलाकरभटट्स्तु, अयं हि अनन्वयो द्विविधः श्रौतः आर्थश्चेति। ……… तन्न युक्तम्। अनन्वये साम्यकृतचमत्कारस्यैवाभावात्। बा.बो., पृ. 582; सु.सा., पृ. 587.
485. चि.मी., पृ. 147-8.
486. सुधा, पृ. 147-8.
487. वही, सुधा, तु. र.गं., पृ. 206.
488. दे., र.गं., पृ. 205-6.
489. अस्य च भेदा उपमावदेव। अयं च विशेषः। धर्मोऽनुगामिमात्रम्। अ.कौ., पृ. 172 तथा दे., र.गं., पृ. 204-5.
490. दे., चि.मी., पृ. 154.
491. र.गं., पृ. 208-9, तु.—सुधा, पृ. 154.
492. तद्विरहोऽसमः। —अ.र., सूत्र-10.
493. सर्वथैवोपमाननिषेधोऽसमालंकारः। र.गं., पृ. 210. सा.सा. 8/84.
494. वही, पृ. 198.
495. यत्तु 'ढुण्ढुण्णन्तो' इत्यादौ नेयमुपमानलुप्तोपमा, तस्याः संभवदुपमानानुपादानविषयत्वात्, अपित्वसमालंकारः' इति रत्नाकरेणोक्तम्, तदसत्। र.गं., पृ. 211.
496. आत्यन्तिकः क्वाचित्कश्च सदृशनिषेधोऽसमोपमानलुप्तयोर्विषयः। सर्वथैवोपमाननिषेधेन सादृश्यस्याप्रतिष्ठानान्नोपमागन्धोऽपि। —र.गं., पृ. 211.
497. एतेनासमालंकारोऽयमुपमातिरिक्त इतिरत्नाकराद्युक्तमपास्तम्। अतएवोपमानानुपादानइत्युक्तं, न त्वसत्व इति। उद्योत, पृ. 448.
498. अयं चानन्वये व्यंग्योऽपि तच्चमत्कारानुगुणतया ……… न पृथगलंकार व्यपदेशं भजते। —र.गं., पृ. 210.

499. दे., र.गं., पृ. 210-11.
500. वही, सा.सा., 8/87.
501. वही, र.गं., पृ. 211-12; अ.कौ., पृ. 173-74; उद्योत, पृ. 457; सुधा., पृ. 155; बा.बो., पृ. 583.
502. अन्यधर्म योगादार्थमौपम्यं प्रतिमा—अ.र., 13.
503. अत्र पुलकोद्‌गमादिवल्लभकार्यंशिशिरेण कृतमिति, तस्य वल्लभतुल्यता प्रतीतेरर्थावसेयौपम्या प्रतिमा। —वही
504. दे., का.प्र., चतुर्थ उल्लास।
505. ल.वृ., पृ. 67; विवृत्ति, पृ. 49.
506. क्रमेणोपमेयोपमा। का.सू.वृ. 4/3/15. एकस्यैवार्थस्योपमेयत्वमुपमानत्वं च क्रमेणोपमेयोपमा।। —वही, वृत्ति।
विपर्यास उपमेयोपमा तयोः।। —का.प्र., 10/91.
द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा। —अ.स. 13.
परस्परमुपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमा। —अ.र., 11 तथा देखिये—अ.म. 8/15; चन्द्रा. 5/13; एकावली पृ. 207; प्र.रु., पृ. 267; सा.द., 10/27; कु. 11; अ.कौ. 8/234; अ.मं. 4; विश्वेश्वर के अ.कौ., पृ. 175; अ.प्र. 6; अ.मु. 8; अ.चि. 4-100 (अजितसेन)।
507. उद्‌भट— अन्योन्यमेव यत्र स्यादुपमानोपमेयता।
उपमेयोपमामाहुस्तां पक्षान्तरहानिगाम्।। —का.सा.सं., 5/27.
रुद्रट— वस्त्वन्तरमनयोर्नसममिति परस्परस्य यत्र भवेत्।
उभयोरूपमानत्वं सक्रममुभयोपमा सान्या।। —काव्या., 8/9.
जगनाथ— तृतीय सदृशव्यच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूतं परस्परमुपमानोपमेयभावमापन्नयोरर्थयोः सादृश्यमुपमेयोपमा।। —र.गं., पृ. 196. सा.सा., 8/82.
508. तृतीयसब्रह्मचारिव्यवच्छेदोह्युपमेयोपमाजीवितम्। —र.गं., पृ. 199-200.
509. सादृश्यस्यार्थतः सिद्धतया शब्देन पुनस्तदुक्तिः स्वनैरर्थक्यपरिहाराय तृतीयसदृशव्यवच्छेदमाक्षिपति।। —र.गं., पृ. 196.
510. अस्याश्चोपमानान्तरतिरस्कार एव फलम्। अतएव, उपमेयेनोपमा इत्यस्य अन्वर्थाभिधानम्।। —वि., पृ. 32.
511. दे., का.प्र. उपमेयोपमा लक्षण तथा बा.बो., पृ. 584.
512. .......... नात्रोपमानोपमेयभावे तात्पर्यं किन्तु एतदेव द्वयमेवं विधं, नत्वन्यदेतयोः सदृशं वस्त्वन्तरं विद्यते इति। .......... एषचात्रोपमानोपमेयभावः उपमानान्तराभावे पर्यवसितः।। —ल.वृ., पृ. 67.
513. इयमपि सामान्यस्य प्रयोगाप्रयोगाभ्यां द्विविधा। —न.सा., पृ. 100.
514. 'न च मुखमरविन्दं च परस्परेण सममित्यादावेकवाक्येऽप्युपमेयोपमास्त्येवेति कथमसंभव

इति शङ्क्यम् । तत्राप्यरविन्देन मुखं समं मुखेन चारविन्दमित्यर्थतोवाक्यभेदसत्वात् ।'
—प्रभा, पृ. 322.

515. वाक्यभेदे द्वयस्य पृथगुपादानाच्छाब्दत्वम् । ......... शब्देनोपमानत्वे श्रुत्या प्रतिपादिते उपमेयत्वमर्थात्प्रतीयते उपमेयताया वा शाब्दत्वे उपमानतार्थीति न, द्वयमेव शाब्दमित्यार्थी उपमेयोपमा । आर्थत्वे त्वेक वाक्यत्वम् । —अ.र., पृ. 12.

516. दे., अ.र., वही ।

517. वि., पृ. 32 तथा र.गं., पृ. 201-202.

518. दे., बा.बो., पृ. 584.

519. किं च 'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः' इत्यादि प्रागुदाहृतायां परस्परोपमायामतिव्याप्तिः । न च तत्राप्युपमेयोपमा, तृतीयसदृशव्यवच्छेदाप्रतिपत्तेः । —चि.मी., पृ. 136.
'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः .........' इत्यत्र परस्परोपमायामतिव्याप्तिः ।। र.गं., पृ. 201.

520. 'यच्च विमर्शिनीकारेणोक्तम्—स च वाक्यभेदः शाब्दः आर्थश्च । तत्र-शाब्दो यथा—रजोभि स्यन्दनोद्धूतैः इत्यादि ......... ।' इति तत्तुच्छम् । वही, पृ. 201-2.

521. यत्तु चित्रमीमांसारसगंगाधरकारादयः — नात्रोपमानान्तरतिरस्कारः प्रतीयते, उपमयोरेकधर्मकत्वाभावात् । ......... तत्तुच्छम् । रजसां मेघतुल्यगजानां च बिम्बप्रतिबिम्बभावविवक्षायां बाधकाभावात् । —अ.कौ., तु. 178-79.

522. उपमेयोपमादेरूपमान्तर्गतत्त्वेऽपि व्यंग्यादिकृतवैचित्र्यविशेषेण पृथग्गणनं न विरुध्यते रूपकपरिणामवत् । —चि.मी., पृ. 72.

523. दे., डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी तथा डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा का ग्रन्थ ।

524. चि.मी., पृ. 136; तु. बा.बो., पृ. 583.

525. र.गं., पृ. 198-200.

526. मर्मप्रकाश, पृ. 200.

527. दे., र.गं., पृ. 200-201.

528. वही, अ.र., पृ. 12.

529. न च मंजु (ङ्खु) कादिभिरत्र 'पर्यायः यौगपद्याभावः, अतएवात्र वाक्यभेदः इति वाक्य (भेद) एवोपमेयोपमोक्तेः कथं तृतीय सदृशव्यवच्छेदपरत्वमिति वाच्यम् ।
—नञ्जराजयशोभूषण, पृ. 167.

530. त्वन्मुखं कमलेनैव तुल्यं नान्येन केनचित् ।
इत्यन्य साम्यव्यावृत्तेरियं सा नियमोपम ।। काव्यादर्श, 2/19.

531. इति तृतीय सदृशव्यवच्छेदकफलकवर्णनविषये सादृश्येऽतिव्याप्तिवारणाय परस्परमिति ।
—र.गं., 196.

532. एतच्च भेदत्रयं सर्वेषामेव सादृश्याश्रयाणामलंकाराणां जीवितभूतत्त्वेन संभवतीत्यग्रतएव तत्र तत्रोदाहरिष्यामः ।। —संजीवनी, पृ. 27.

533. स.ब., पृ. 27.

534. द्विविधा धर्मस्य वस्तुप्रतिवस्तुतया निर्देशे साधारण्ये चेति । —एकावली, पृ. 207.

535. युगपदुपमेयोपमोदाहरणं तु—तद्वल्गुनेत्यादि। तत्रापि यथासम्भवं पूर्वोक्ता भेदा उन्नेयाः। —चि.मी., पृ. 145.

536. इयं च तावद्विविधा—उक्तधर्मा व्यक्तधर्मा च। उक्तधर्मातावदनुगाम्यादिभिः प्रागुक्तैर्धर्मैरनेकधा। एषा सर्वापि स्फुटे वाक्यभेदे प्रपंचिता। आर्थे तु वाक्यभेदे 'अभिरामता ..........' इत्यादि। —वही, पृ. 197-8.

537. दे., नं.य., पृ. 168.

538. तवाननमिवाम्भोजभम्भोजमिव ते मुखम्।
इत्यन्योन्योपमा सेयं अन्योन्योत्कर्षशालिनी।। —काव्यादर्श, 2/18.

539. इयं चोपमेयोपमा यदि कस्याप्यर्थस्योत्कर्षाधायिका तदालंकारः। अन्यथा तु स्ववैचित्र्यमात्रपर्यवसिता। —र.गं., पृ. 202.

540. तत्र तावत्प्रागुक्ता यावन्त उपमाया दोषाः अनुक्ताश्च विस्तृतिभयात्, ते सर्वेऽप्युपमात्वाक्रान्तत्त्वादस्यामपि बोध्याः। —वही, पृ. 202-203.

541. ल्युट् च — 3/3/115.

542. स्याच्चिन्ता स्मृतिराधानम् — अमरकोश, 1/29.
स्मृतिः स्मरणधीच्छासु शास्त्रे इति हैमः — सु., पृ. 81.
स्मृतिस्तु धर्मसंहिता — वही, 1/6.

543. बुद्धिर्ज्ञानम्, तद्विविधं — स्मरणमनुभवश्च। पूर्वानुभवः संस्कारद्वारा स्मरणं जनयति। —तर्कामृतम्, पृ. 21.

544. दे., र.गं., पृ. 217.

545. मतान्तरे काव्यलिङ्गमेतत्। अ.स., पृ. 43; मतान्तरे उद्भटमते—रा.ब., पृ. 29.

546. वस्तुविशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम्।
कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम्।। —काव्या., 8/109.

547. सदृशान्तरचिन्तादेरनुभूतार्थवेदनम्।
स्मरणं प्रत्यभिज्ञानस्वप्नाद्यपि न तद्वहिः।। —स.कं., 3/42; शृं.प्र., भाग-2, पृ. 403.

548. यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः। स्मरणम्—का.प्र., 10/132.

549. दे., का.प्र., पृ. 731; प्रदीप प्रभा, पृ. 382; सं.प्र., पृ. 392.

550. सदृशानुभवाद्वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम् — अ.स., 14.

551. अविनाभावान्नानुमानम्। .......... सादृश्यं विना तु स्मृतिर्नायमलंकारः। वही, 41.

552. असादृश्यहेतुका स्मृतिर्न स्मरणालंकारः। संजी., पृ. 41.

553. सदृशानुभवात्स्मरणे स्मृतिः। —अ.र. 19 तथा वृत्ति।

554. अ.भ., 8/16, 'सदृशदर्शनात्स्मरणं स्मृतिः' काव्यानु., 6/24.

555. सदृशदर्शनात्पूर्वार्थस्मरणं स्मृतिः — काव्यानु., पृ. 40.

556. स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसन्देहैस्तदेवालंकृतित्रयम्। चन्द्रा., 5/31.

557. सदृशं सदृशानुभवाद्यत्र स्मर्येत तत्स्मरणम् — एकावली, पृ. 210.
सदृशानुभवादन्यस्मृतिः स्मरणमुच्यते। —प्र.रु., पृ. 268.

सदृशानुभवाद्वस्तु स्मृतिः स्मरणमुच्यते। —सा.द., 10-27.

558. कु. कारिका, 24.

559. वस्त्वन्तरपदं सदृशासदृशसाधारण्यार्थम्। —सुधा., पृ. 157.
कुत्रचित्तु तत्सदृश वस्तुनः सम्बन्धिपदार्थस्य यस्य कस्यचित् (असादृश्यस्यापि) स्मरणम्। वही, टिप्पण, कालिकाप्रसाद शुक्ल।

560. चि.मी., पृ. 156 तथा कु., पृ. 24.

561. अ.कौ., 8/308.

562. अ.मं., 13.

563. का.वि., 2/21.

564. र.गं., पृ. 217.

565. यदपि 'सदृशानुभवाद्वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्' इत्यलंकारसर्वस्वरत्नाकरयोः स्मरणालंकार लक्षणमुक्तं, तदपि न। ·········· यदि च 'सदृशानुभवात्' इत्यपहाय 'सदृशज्ञानात्' इति लक्षणे निवेश्यते। तदा भवत्यस्यापि संग्रहः इति। वही, पृ. 221-22.

566. अप्पयदीक्षितास्तु—'स्मृतिः सादृश्यमूलाया ·········· अव्यङ्ग्यत्वविशेषिता।' ·········· एतद्व्यावृत्तये सादृश्यमूलेति विशेषणम् इत्याहुः। तदेतत्सर्वमरमणीयम्। वही, पृ. 218-19.

567. यत्तावदुच्यते सदृशासदृशयोः केशपाशजलनिधिमन्थनयोः संग्रहाय लक्षणे वस्त्वन्तर ग्रहणमर्थवदिति तत्सादृश्यमूलास्मृतिः स्मरणालंकार इत्येतावतैव केशपाशस्मरणस्येव जलनिधिमन्थनस्मरणस्यापि संग्रहाद्वस्त्वन्तरसमाश्रयत्वविशेषणमनर्थकम्। वही, पृ. 219.

568. मर्मप्रकाश, पृ. 219 तथा 'सादृश्यमूलत्वं स्मृतित्त्वम्' इत्येतावदुक्तौ स्त्रीसादृश्येन श्रियः स्मरणस्यैव साक्षात् सादृश्यमूलतया तत्सम्बन्धिनो जलनिधिमन्थनस्य स्मृतेर्वस्त्वन्तरसमाश्रयणरूपविशेषणबलेनैव लाभात्। सुधा, पृ. 159.

569. अ.स. पृ. 42 तथा 'विभावाद्यागूरितत्त्वे प्रेयोऽलंकारस्य सादृश्यव्यतिरिक्त-निमित्ततोत्थापिता स्मृतिर्विषयो न स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यते स्मृतिर्विषयः। वि., पृ. 34; तु.सं., पृ. 42; अ.र., पृ. 23; र.गं., पृ. 221-22.

570. का.प्र., पृ. 197; र.गं., पृ. 221.

571. कुवलयानन्द, पृ. 183 तथा र.गं., पृ. 221.

572. यदपि सौमित्रे ननु सेव्यताम्, इत्यत्र स्मृतिर्व्यङ्ग्या अलंकार्यभूता च, तदव्यावृत्तये व्यङ्ग्यत्वविशेषणमित्युक्तम्। तत्र नेयं स्मृतिरलंकार्यभूता। ·········· अतो नितरां तद्व्यावृत्त्यर्थमव्यङ्ग्यत्व विशेषण दानमनुचितम्। ·········· यदप्युक्तम् 'अत्युच्चाः परितः' इत्यत्र स्मृतेः संचारिभावस्य भूभृद्विषयक रति भावाङ्गत्वात्प्रेयोऽलंकार इति तन्न भावस्यभावाङ्गतायां प्रेयोऽलंकारत्वम्। —अपि च महदिदमाश्चर्य यः स्वेनैव निर्मितः कुवलयानन्दसंदर्भो विस्मृतः। —र.गं., पृ. 219-21.

573. दे., सुधा, पृ. 159-60.

574. चमत्कारि स्मृतिः स्मरणम्। अ.प्र., 96.
575. सदृशज्ञानोद्‌बोधित संस्कारभवास्मृतिः स्मरणम्। अ.मु.।
यही लक्षण शब्दशः अ.कौ. में भी है, दे., वही, पृ. 286.
576. सादृश्यधीद्धसंस्कारजज्ञानं स्मरणालंकृतिः। सा.सा., 8/122.
577. सदृशानुभूत्या वस्त्वन्तरस्मरणं स्मृतिमदलंकारः। नं.य., पृ. 168.
578. सा.द., पृ. 492.
579. वाग्भट (2) काव्यानु., पृ. 40; र.वं., 9-67.
580. अ.स., पृ. 41; तु. अ.र., पृ. 23; दे., स.प्र., पृ. 394; सा.चू., पृ. 395; संकेत, पृ. 282; काव्या. सं., पृ. 329; बा.बो., पृ. 731-2; संजीवनी, पृ. 41; सा.द., पृ. 492; रत्नापण, पृ. 268; र.गं., पृ. 217; अ.भ., पृ. 246.
581. अ.चं., पृ. 24.
582. अतश्च स्मर्यमाणेनानुभूयमानस्य अनुभूयमानेनवा स्मर्यमाणस्य सादृश्यपरिकल्पनमयमलंकारः।। —वि., पृ. 33.
583. अविनाभावो व्याप्तिः। नहि गवादिदर्शने नियमेन गवयादिसदृशान्तरस्मरणमस्ति। सं., पृ. 41. नेदमनुमानम्। सदृशमनुभूय सदृशमेव स्मर्यतइति नियमाभावात्। सदृशदर्शनेन विसदृशस्यापि स्मरणसंभवात्। एका., पृ. 210.
584. विशेषालंकारस्य ह्यशक्यवस्त्वन्तरकरणे रूपम्।इहपुनरशक्य वस्त्वन्तर दर्शनमिति। वि., पृ. 34; तु.सं., पृ. 43; अ.स., पृ. 43.
585. मतान्तरे औद्‌भटे। —वि., पृ. 34.
586. काव्यालंकार, 8/110.
587. दे., वि., पृ. 331.
588. दे., र.गं., पृ. 223-24.
589. अत्रास्मिन्नलंकारे उपमादोषाः प्रायशः सर्वएव दोषाः। र.गं., पृ. 222.
590. अन्यासङ्गात्कौतुकविनोदो विनोदः। अ.र., 20.
असन्निहितेऽनुभूतेऽननुभूते वामिलक्ष्यमाणेऽर्थे प्रतिच्छन्द सदृशादिवस्त्वन्तरानुभवात्मकादन्यासङ्गात्कौतुकातिवाहनं विनोदः।। —वही।
591. अनुभवस्मृत्यादिप्रत्यूहो व्यासङ्गः —अ.र., 21.
प्रक्रम्यमाणस्य प्रकान्तस्य वानुभवस्य स्मृतेरादिशब्दात् क्रियान्तरस्य वा पूर्ववदन्यासङ्गादन्तरायः प्रत्यूहो व्यासङ्गः। —वही।
592. का.प्र., पृ. 124.

# (ब) अभेदप्रधान अलंकार

## (क) आरोपगर्भ — रूपक

रूपक शब्द की अनेकधा व्युत्पत्ति की जाती है—(1) प्रकृतं रूपवत् करोतीति रूपकम्,[1] (2) रूपयत्युपमानोपमेययोरभेदारोपेण एकतां नयतीति रूपकम्,[2] (3) उपमानं स्वात्मरूपाध्यारोपेण उपमेयं रूपयति रूपवन्तं करोति इति अन्वर्थाभिधानं रूपकालंकारस्य।[3] प्रथम व्युत्पत्ति विद्याचक्रवर्ती, रुय्यक, समुद्रबन्ध, विद्याधर, आदि को स्वीकार है। द्वितीय व्युत्पत्ति दुर्गाप्रसाद द्विवेदी और तृतीय गजेन्द्रगडकर की है। इस प्रकार रूपक का अर्थ होता है, जहां अप्रकृत प्रकृत को अपने रूप में रूपित कर ले या अभेदारोपपूर्वक दोनों में एकता स्थापित हो जाये अथवा अपने रूप के आरोप से उपमान उपमेय को अपने रूप का बना ले, वहां रूपक होता है। रूपकरणार्थक चुरादि की 'रूप' धातु से ण्वुल् (ण्वुल्तृचौ पा., 3/1/133) प्रत्यय करने पर रूपक शब्द निष्पन्न होता है। उपर्युक्त अर्थ का अभिधायी होने से 'रूपक' अलंकार का नाम अन्वर्थक है। उपमा आदि अलंकारों में अभेद (साधर्म्य) के अतिरिक्त भेद (वैधर्म्य) भी एक तत्त्व के रूप में निहित रहता है, परन्तु रूपक आदि अलंकारों में अभेद तत्त्व ही प्रधान होता है। जब हम 'मुखं चन्द्रः' कहते हैं, तो वहां मुख का चन्द्र से अभेद ही विवक्षा का विषय होता है। यह अभेद मुख में चन्द्रगत गुणों के आरोप से प्रतीत होता है। अतएव रूपक में अभेद के अतिरिक्त आरोप प्रक्रिया भी काम करती है।

ऋग्वेद में रूपक के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। एक ऋचा में सुन्दर गीत को पुत्र कहा गया है।[4] एक अन्य स्थान पर गीत को मां तथा ईश्वर को उस बालक का रूप कहा गया है, जिसका वह चुम्बन करती है।[5] यजुर्वेद में एक स्थल पर पृथ्वी को अग्नि का बड़ा पात्र बताया गया है।[6] अन्यत्र ऋग्वेद में कहा गया है कि 'जब सूर्या अपने पति के पास जाती है तो विशुद्ध विचार ही उसके शयन का उपधान है। स्पष्ट दृष्टि ही उसकी आँखों का काजल है तथा आकाश और पृथ्वी ही उसके आभूषण हैं।[7] प्रो. दिवेकर ने 'विद्युद्रथाः'[8] तथा 'वृक्षकेशाः'[9] में रूपक स्वीकार किया है, परन्तु ऐसे स्थल उपमित समास के ही हो सकते हैं, रूपक के

नहीं। ऋग्वेद में पाये जाने वाले रूपक के उदाहरणों में सबसे प्रसिद्ध उदाहरण नीचे दिया जा सकता है, जिसका प्रयोग प्रायः सभी विद्वान् करते हैं :

> **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
> **तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।'**[10]
>
> —ऋ., 1/164/20

'प्रकृति एक विशाल पीपल का वृक्ष है। ईश्वर और जीव सुन्दर पंखवाले दो सहवासी पक्षी हैं। दोनों ही एक समान वृक्ष (प्रकृति) पर स्थित हैं। उनमें एक (जीव) उस वृक्ष के सुस्वादु फलों का रसास्वाद किया करता है, (जीव अपने कर्मानुसार संसार में सुख-दुःख का भोग किया करता है।) और दूसरा (ईश्वर) फलों का उपभोग न करके भी (सांसारिकता से अलिप्त) चतुर्दिक् सृष्टि में अपने सौन्दर्य-प्रकाश को बिखेरा करता है। इस प्रकार का सौन्दर्य-पूर्ण दार्शनिक विवेचन अन्यत्र मिलना कठिन है। इसी मंत्र को लेकर राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में अलंकार को वेद का सप्तम अंग स्वीकार किया है :

> **'उपकारकत्वादलंकारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः, ऋते च तत्स्वरूप ज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। यथा—द्वासुपर्णेत्यादि।**
>
> —का.मी., पृ. 6

इसी प्रकार ऋग्वेद में अन्य स्थल भी देखे जा सकते हैं।[11]

शतपथ ब्राह्मण में एक जगह नारी में वज्र का आरोप किया गया है।[12] मैत्रायणीय आरण्यक 16/36 में रूपक शब्द भी प्रयुक्त है। मैत्रायणीय आरण्यक तथा उपनिषद् का रथरूपक, अत्यन्त रमणीय है।[13] यह रथरूपक कठ उपनिषद् में भी प्राप्य है। उपनिषदों में रूपक के अन्य अनेक रमणीय स्थल देखे जा सकते हैं।[14]

पाणिनि के सूत्र 'मयूरव्यंसकादश्यच' (2/1/72) पर ही रूपक की भित्ति खड़ी की गयी है। रामायण, महाभारत, शिलालेख तथा परवर्ती साहित्य में तो रूपक के प्रचुर प्रयोग पाये जाते हैं।

काव्य-शास्त्र में सर्वप्रथम भरत का ही रूपक विवेचन उपलब्ध होता है। उपमा, उत्प्रेक्षा के बाद काव्य या लोक में जिसका सबसे अधिक सहारा लिया जाता है, वह रूपक ही है। भरत ने इसे सादृश्यमूलक मानकर तथा अलंकार परिगणन में द्वितीय स्थान प्रदान कर इसकी महत्ता स्वीकार की है।

अलंकार का रूपक अभिधान ही लक्षण को अभिव्यक्त कर देता है।[15] भरत के अनुसार नाना द्रव्य गुणाश्रित औपम्य प्रयुक्त, रूपनिर्वर्णनायुक्त, स्वविकल्प विरचित, तुल्यावयवस्वरूप घटित तथा किंचित्सादृश्य सम्पन्न रूप (रूपण) ही रूपक[16] है। भरत का रूपक-लक्षण भामह आदि की अपेक्षा व्यापक है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार उपमेय की उपमान से तुल्यता ही रूपक है।[17] ध्यातव्य है कि इस पुराण में उपमा का विवेचन नहीं किया गया है। अतएव यह रूपक उपमा तथा रूपक दोनों को अभिव्यक्त करता है। भामह का लक्षण इन दोनों पूर्वोक्त लक्षणों से अधिक स्पष्ट और ग्राह्य है। उनके अनुसार उपमेय तत्त्व की उपमान से गुण आदि की समानता के आधार पर की गयी रूपण प्रक्रिया रूपक है।[18] दंडी का अभिमत है कि भेद (वैधर्म्य) विरहित उपमा ही रूपक है।[19] उद्भट के अनुसार एक पद का दूसरे पद से शाब्द सम्बन्ध न होने पर भी जब अप्रधान (गुणवृत्ति) पद प्रधान पद से युक्त होता है तो रूपक होता है।[20] तात्पर्य यह कि रूपक में गुणवृत्ति (लक्षणा) का होना आवश्यक है। वस्तुतः रूपक में दो पदों का सम्बन्ध अर्थगत होता है और ऐसी दशा में एक पद का प्राधान्य तथा दूसरे का गौण होना स्वाभाविक ही है।

**'ज्योत्स्नाम्बुनेन्दुकुम्भेन ताराकुसुमशारितम्।**
**क्रमशोरात्रिकन्याभिर्व्योमोद्यानमसिच्यत।।'** —का.सा.सं., 1/23

यहां 'ज्योत्स्नाम्बु' आदि में रूपक है। अम्बु शब्द जलवाची होने से ज्योत्स्ना की समानाधिकरणता को नहीं प्राप्त होता। अतएव गुणवृत्ति (शौक्ल्य, आह्लादकत्व, प्रसरणशीलत्व, आदि गुणों की समानता होने से) के द्वारा दोनों में आर्थ सम्बन्ध होता है। अम्बु में ज्योत्स्नात्व की शक्ति न होने के कारण वह अप्रधान है तथा ज्योत्स्ना प्रकृत और स्व का अभिधायक होने के कारण प्रधान तथा श्रौत है। इस प्रकार उद्भट ने रूपक में गुणवृत्ति (लक्षणा) को आधार बताकर रूपक के विकास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान की है।

वामन[21] के रूपक लक्षण पर भामह का स्पष्ट प्रभाव है। रुद्रट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से अत्यधिक स्पष्ट परिभाषा प्रदान की है, जिसके ऋणी मम्मट आदि आचार्य हैं। रुद्रट के अनुसार गुणों के साम्य होने पर उपमान उपमेय का अभेद कथन ही रूपक है।[22] कुन्तक का रूपक लक्षण स्पष्ट नहीं है। भोज ने उद्भट के लक्षण को और सरल करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार उपमानवाची शब्दों की गौणी लक्षणा के कारण उपमेय में वृत्तिता ही रूपक है।[23] मम्मट रुद्रट का अनुसरण करते हैं—'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' का.प्र., 10/93.

मम्मट की इस परिभाषा पर[24] कुछ विद्वानों को आपत्ति है। उनके अनुसार रूपक में अभेद न होकर ताद्रूप्य सम्बन्ध से आरोप होता है। 'मुखं चन्द्रः' में अभेद सम्बन्ध संभव नहीं है, क्योंकि अभेद प्रतीति दो वस्तुओं के केवल गुणसाम्य के ही आधार पर न होकर जब एक वस्तु का दूसरी में विलय होता है, तब भी होता है और ऐसी स्थिति में किसी भी एक की पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। किन्तु 'मुखं चन्द्रः' में मुख और चन्द्र की पृथक् सत्ता बनी ही रहती है। सादृश्य के आधार पर दो वस्तुओं को कितना ही समीप क्यों न लाया जाये उनकी द्वितावस्था सदैव बनी रहती है। मुख को मुख और चन्द्र को चन्द्र न मानने की यह प्रक्रिया जो सादृश्य पर आश्रित है, अभेद न होकर ताद्रूप्य है।

ताद्रूप्य और अभेद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। आलोचकों में उक्त प्रकार की भ्रान्ति मम्मट के गूढ़ लक्षण को न समझ पाने के कारण हुई है। मम्मट ने अपनी वृत्ति में उपर्युक्त सन्देह का स्वयं निवारण कर दिया है—'अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोः अभेदः' कह कर। अर्थात् यद्यपि उपमान और उपमेय में भेद प्रकट रहता है तथापि अतिसाम्य[25] के कारण अभेद प्रतीति होती है। पर यह अभेद प्रतीति वास्तविक न होकर आहार्य या काल्पनिक[26] होती है। मम्मट का यही अभिप्राय भी है न कि वे यह मानते हैं कि रूपक में प्रकृत-अप्रकृत का सर्वथा अभेद होता है।

वस्तुतः रूपक के लक्षण पर आचार्यों में दो मत हैं। मम्मट प्रभृति अभेद में रूपक मानने के पक्षपाती हैं तो जगन्नाथ आदि तादात्म्य में। विरोधी आलंकारिक अभेद प्रतिपत्ति को अध्यवसाय मानते हैं। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है, अभेद और ताद्रूप्य दोनों एक ही हैं।[27] यहां होने वाला अभेद वास्तविक नहीं होता।

उपमा में उपमेय को उपमान के तुल्य बताया जाता है, जबकि रूपक में उपमान का उपमेय पर आरोप किया जाता है। दोनों में साम्य या आरोप गुण आदि की समानता पर ही आधृत है। अतएव विवेचन के उपरान्त मम्मट रुय्यक आदि के ही समान अन्य आचार्यों के भी लक्षण प्रतीत होते हैं।[28] रुय्यक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अभेद प्राधान्य आरोप ही रूपक है, किन्तु आरोप विषय का अपह्नव नहीं रहता। शोभाकर ने लक्षण को सूक्ष्म करने का प्रयास किया है।[29] नरेन्द्रप्रभसूरि, हेमचन्द्र, वाग्भट (1), वाग्भट (2), जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अमृतानन्द, केशवमिश्र, अप्पयदीक्षित, कर्णपूर, चिरंजीव, देवशंकर, सर्वेश्वर, छज्जूराम, आदि के लक्षण[30] समान ही हैं। जगन्नाथ आदि का लक्षण इससे भिन्न है :

**'उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमानतादात्म्यं रूपकम्। तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलंकारः।'**[31] र.गं., पृ. 224

उपमेय में उपमान का शब्दतः निश्चीयमान तादात्म्य ही रूपक है। जब यह किसी का उपकारक होगा तभी अलंकार माना जायेगा।

प्रस्तुत वस्तु का अप्रस्तुत के रूप में रूपण ही आरोप है। 'मुखं चन्द्रः' में प्रकृत मुख का अप्रकृत चन्द्र पर आरोप किया जाता है। रुय्यक के शब्दों में इसे ही 'अन्यत्रान्यावाप'[32] कह सकते हैं। शोभाकर इस प्रक्रिया के विरोधी हैं। उनके अनुसार भिन्न वस्तुओं का समानाधिकरण रूप से निर्देश ही आरोप है, न कि अन्य का अन्यत्र आरोप। 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि में न तो शब्द में दूसरे शब्द का आरोप होता है, न अर्थ में दूसरे अर्थ का।[33] क्योंकि मुखादि की चन्द्र शब्द के रूप में प्रतीति संभव नहीं है। दोनों ही भिन्न-भिन्न वस्तु हैं। शब्द में शब्दान्तर का आरोप तो इसलिये संभव नहीं है, क्योंकि अवसान में दोनों की ही पृथक् सत्ता बनी रहती है, किन्तु अर्थ में अर्थान्तर का आरोप नहीं होता यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।[34] 'शुक्तिकायां रजतम्' में शुक्तिका में रजत का आरोप भ्रान्तिमूलक है, किन्तु जिस प्रकार यहां शुक्तिका का ज्ञान रजत से आच्छन्न हो जाता है, उस प्रकार 'मुखं चन्द्रः' इस कथन में मुख चन्द्र को आच्छन्न नहीं करता। अतएव शुक्तिका में रजत की भांति मुख में चन्द्र की प्रतीति भ्रान्त नहीं होती। सीपी में रजत का आरोप अवास्तविक, भ्रान्त तथा प्रयोजनशून्य है, परन्तु मुख और चन्द्र की अभेद प्रतीति चन्द्रगत सौन्दर्य तथा उनके अतिसाम्य के कारण होने से निर्भ्रान्त और प्रयोजन विशिष्ट होती है। भले ही यहां प्रतिपादन में भ्रम हो, किन्तु प्रतीति भ्रान्त नहीं होती। सीपी में रजतमान के समय प्रमाता को इन दो वस्तुओं की भिन्नता का ज्ञान नहीं रहता, परन्तु मुख में चन्द्र का आरोप करते समय सहृदय को इन दोनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान रहता है। अतएव अभेद की अवस्था में भी भेद की प्रतीति बनी रहती है,[35] शोभाकर भी इसे स्वीकार करते हैं।[36] इसलिये मम्मट, रुय्यक, आदि की आरोपण शैली उपयुक्त है।

आरोप सामानाधिकरण्य या समान विभक्तिक ही होता है, यह बात जगन्नाथ[37] को भी मान्य है। किन्तु केवल समानाधिकरण में ही आरोप होता है। शोभाकर का यह कथन उन्हीं के लक्षण में घटित नहीं होता। इसी आधार पर जयरथ ने उनका खंडन किया है :

**'याताः कणादतां केचिदपरे विन्ध्यवासिताम्।**
**शबरस्वामितामन्ये शास्त्रकारास्तवारयः।।'**

यहां शत्रु पर कणादत्व, विन्ध्यवासित्व तथा शबर स्वामित्व का आरोप किया गया

है। विषय शत्रु का निर्देश प्रथमा विभक्ति में हुआ है, जबकि विषयी 'कणाद' आदि का द्वितीया में। अतः यहां समानाधिकरण आरोप नहीं मिलता। शोभाकर यहां आर्थ समानाधिकरण[38] मानते हैं, किन्तु परिभाषा में शाब्द-आर्थ का निर्देश नहीं किया गया है।[39] अतः उनका कथन उन्हीं के लक्ष्य में अव्याप्त हो जाता है। 'नीलमुत्पलम्' में समान विभक्तिक आरोप है किन्तु शोभाकर की दृष्टि से ऐसे स्थल रूपक के नहीं हो सकते। अतएव शोभाकर का लक्षण अतिव्याप्ति दोषग्रस्त भी है। जयरथ का यह भी कथन है कि दो भिन्न वस्तुओं का समान विभक्तिक निर्देश संभव न होने के कारण शोभाकर का लक्षण असंभव दोष से भी ग्रस्त है।[40] अतएव शोभाकर का आरोप लक्षण दोषपूर्ण है। जहां तक शोभाकर की आरोप-परिभाषा का प्रश्न है, उसकी सदोषता हो सकती है, किन्तु उक्त उदाहरण में परिभाषा व्याप्त नहीं होती, क्योंकि कणाद आदि तथा 'शास्त्रकार' में विशेषण-विशेष्य भाव होने से 'अरयःकणाद इति' ऐसा साक्षात् अभिधान न करके प्रकारान्तर से यही बात कही गयी है।

**रूपक में सादृश्य या इतर सम्बन्ध**

आलंकारिकों में इस बात को लेकर काफी मतभेद है कि रूपक सादृश्य-निमित्तक ही होता है या प्रकारान्तर सम्बन्ध से भी। भरत की परिभाषा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हें रूपक की सादृश्यमूलकता स्वीकार थी। भामह की परिभाषा से कुछ स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। दंडी ने 'उपमैव तिरोभूत भेदा रूपकमिष्यते'[41] कहकर मुक्तकंठ से रूपक की सादृश्यमूलकता स्वीकार की है। उद्भट ने अपने रूपक लक्षण में गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है तथा इन्दुराज ने टीका में 'पदान्तरस्य गुणवृत्तेरपरेण पदेन योगो रूपकं भवति' कहा है। राजानकतिलक भी 'साधारण गुणान् लक्षयित्वा ········· गौणेन व्यापारेण सम्बन्धं भजते यत्तद्रूपकम्' कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि उद्भट को सादृश्य तथा सादृश्येतर सम्बन्ध में भी रूपक अभीष्ट था। रुद्रट, मम्मट तथा रुय्यक को इसकी सादृश्यमूलकता अभिमत है। रुय्यक ने तो सूत्र की वृत्ति में दंडी के लक्षण को भी उपस्थित किया है और 'सादृश्यं त्वनुगतमेव' यह भी कहा है। भोज ने 'सरस्वती कंठाभरण' में गौणीवृत्ति का सहारा लिया है किन्तु शृंगारप्रकाश में वे रूपक का लक्षण इस प्रकार करते हैं—'उपमैवोत्पन्नसादृश्यात्तिरोभूतभेदा रूपकम्'—शृं.प्र., द्वि.भा., पृ. 412. इससे यही सिद्ध होता है कि भोजराज 'शृंगारप्रकाश' में दंडी से प्रभावित है। तो 'सरस्वती कंठाभरण' में उद्भट से।

शोभाकर को सादृश्येतर सम्बन्ध में भी रूपक अभीष्ट है। इसके विरुद्ध केवल सादृश्य में ही रूपक माननेवालों का वह खंडन भी करते हैं।[42] शोभाकर का यहां संकेत रुय्यक की ओर है। जयरथ ने विमर्शिणी में यह दिखाने का प्रयास किया है, कि रुय्यक को भी सादृश्येतर सम्बन्ध में रूपक[43] स्वीकार है। परन्तु जयरथ का यह प्रयास वास्तविकता से परे है। रुय्यक इस बात का कहीं भी उल्लेख नहीं करते और 'सादृश्यं त्वनुगतमेव' उनकी यह उक्ति भी उपेक्षणीय नहीं है। अन्त में जयरथ रुय्यक के अभीष्ट को अभिव्यक्त करते हैं :

**'अनेन च सादृश्यनिमित्त एवारोपो रूपकमित्युक्तं भवति'**—वि., पृ. 26

नरेन्द्रप्रभसूरि,[44] हेमचन्द्र, वाग्भट (1), वाग्भट (2), विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, आदि भी सादृश्य में ही रूपक मानते हैं, परन्तु अप्पयदीक्षित को सादृश्य से भिन्न स्थल में भी रूपक स्वीकार है और इसीलिये उन्होंने दंडी तथा मम्मट के लक्षण को अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त कहा है।[45] जगन्नाथ को भी सादृश्य सम्बन्ध में ही रूपक मान्य है :

**'सादृश्यमूलकमेव च तादात्म्यं रूपकमामनन्ति'** —र.गं., पृ. 225

जगन्नाथ कार्यकारणभाव (सादृश्येतर सम्बन्ध) में रूपक नहीं मानते तथा सादृश्येतर सम्बन्ध में रूपक मानने वाले शोभाकर का वह खंडन करते हैं। उनका कहना है कि चिन्ता आदि कारणों से भी स्मरण संभव होने पर सादृश्यमूलक स्मृति को ही स्मरण अलंकार मानते हैं, न कि सादृश्येतर मूलक चिन्तादि से उद्भूत स्मृति को। इसलिये यदि सादृश्यमूलक न होने वाले कार्यकारण आदि के कल्पित ताद्रूप्य में रूपक मानते हैं तो चिन्तादिमूलक स्मृति को भी स्मरण अलंकार मानना पड़ेगा।[46] अतएव यद्यपि सादृश्येतर सम्बन्ध में भी रूपक की कल्पना की जा सकती है, किन्तु सादृश्य का अभाव होने से उसमें सौन्दर्य का अभाव होने के कारण उसे अलंकार नहीं कह सकते।

### रूपक में लक्षणा

वस्तुतः यह सब विवाद 'लक्षणा' को लेकर है। कुछ आचार्य 'सारोपा लक्षणा' को रूपक के मूल में सन्निहित मानते हैं। इस विषय में 'अलंकार भाष्यकार' उल्लेखनीय हैं। उन्होंने कहा है 'लक्षणापरमार्थं यावता रूपकम्'।[47] शोभाकर भी इसी मत के पोषक हैं। सारोपा लक्षणा दो प्रकार की मानी गयी है—गौणी और शुद्धा।

सादृश्य सम्बन्ध में भी गौणी सारोपा होती है। जैसे 'गोर्बाहीकः' में 'बाहीक' और गो का सादृश्य उनमें निहित 'मूर्खत्व' आदि गुणों को लेकर है। शुद्धा सारोपा निमित्तान्तर के उपादान में होती है। उदाहरण के लिये 'आयुर्घृतम्' में 'घृत' का 'आयु' से साम्य अतिशय कार्यकारणभाव के कारण है। सारोपा लक्षणा रूपक का बीजभूत है। अतः रूपक को सादृश्येतर सम्बन्ध में भी स्वीकार करना चाहिये। शोभाकर के अनुसार लक्षणा जहां रूढ़िगत होती है, वहां प्रयोजनाभाव होने के कारण कोई चारुता रहती नहीं। प्रयोजनशून्य होने के कारण उसके द्वारा रस का परिपाक भी नहीं होता। अतएव उसे रूपक का मूल नहीं मान सकते। किन्तु प्रयोजनवती लक्षणा में व्यङ्ग्यार्थ होने के कारण चारुता भी बढ़ जाती है और रस का परिपोष भी होता है। अतः वह रूपक का बीजभूत[48] है। इस प्रकार लक्षणा ही रूपक के मूल में अवस्थित है। लक्षणा सादृश्य तथा सादृश्येतर दोनों सम्बन्धों में होती है। अतएव रूपक भी दोनों स्थितियों में संभव है :

**'सादृश्यसम्बन्धनिबन्धनाया अलंकृतित्त्वं यदि लक्षणायाः।**
**साम्येऽपि सर्वस्य परस्य हेतोः सम्बन्धभेदेऽपि तथैव युक्तम्।।'**

—अ.र., पृ. 33

भोज के अनुसार जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, उपमान शब्दों की गौणीवृत्ति के द्वारा उपमेय में वृत्तिता होने पर रूपक होता है।[49] अप्पयदीक्षित के अनुसार भोज का यह लक्षण दुष्ट है, क्योंकि यह अतिशयोक्ति में अतिव्याप्त है। उनके अनुसार अतिशयोक्ति में ही लक्षणा संभव है, रूपक में नहीं। अतिशयोक्ति में विषयी के द्वारा विषय का सर्वथा निगरण होने के कारण विषयी ही उपात्त रहता है, किन्तु रूपक में विषय-विषयी दोनों ही उपस्थित रहते हैं। उनमें अभेदप्रतीति सम्बन्ध या संसर्ग के द्वारा होती है, लक्षणा की कोई भी आवश्यकता नहीं है। उनका यह भी कहना है कि रूपक अभेदप्रधान अलंकार है, भोज का लक्षण इस सिद्धान्त के विरुद्ध भी है। रूपक में अभेद प्रतीति दोनों (विषय-विषयी) के संसर्ग मर्यादा से होती है, अतः उक्त लक्षण असंभव दोषग्रस्त भी है।[50]

भोजराज का रूपक लक्षण भले ही अतिशयोक्ति में अतिव्याप्त हो, किन्तु 'रूपक में लक्षणा अनावश्यक है' दीक्षित का यह मत उन्हीं के कथन के विरुद्ध है। आगे चलकर उन्होंने यह स्वीकार किया है कि शुद्ध सारोपा स्थल में भी रूपक अलंकार होता है।[51] उनका कहना है कि यदि 'आयुर्घृतम्' आदि शुद्ध सारोपा स्थल में विच्छित्ति का अभाव होने के कारण रूपक नहीं मानेंगे, तो 'गौर्बाहीकः' इत्यादि

गौण सारोपा स्थल में भी विच्छित्तिविशेष का अभाव होने से अलंकारत्व की हानि होगी। यही नहीं वह यह भी कहते हैं कि वैचित्र्य के अभाव या भाव दोनों ही स्थितियों में रूपक हो सकता है। दीक्षित के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि रूपक में वह न केवल लक्षणा स्वीकार करते हैं, अपितु सादृश्येतर सम्बन्ध में भी रूपक मानते हैं। अप्पंयदीक्षित, दंडी, रुय्यक तथा मम्मट के रूपक लक्षण को भी दुष्ट मानते हैं।[52]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जगन्नाथ भी रूपक में लक्षणा मानने के पक्षपाती नहीं हैं। प्राचीनों के मत को उपस्थित करते हुए उन्होंने सविस्तार विवेचन किया है और अन्त में आधुनिकों के इस मत को उपयुक्त सिद्ध किया है कि रूपक में लक्षणा के बिना ही 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि में अभेद संसर्ग से अन्वय बोध होता है।[53]

वस्तुतः गौणी सारोपा लक्षणा को ही रूपक का मूल माना जा सकता है।[54] पर सारोपा लक्षणा के प्रत्येक भेद को रूपक नहीं माना जा सकता। अप्रकृत के द्वारा प्रकृत का रूपण रूपक के लिये आवश्यक है। यदि विषयी-विषय को अपने रंग में रंजित कर दोनों में अभेद सम्बन्ध का प्रतिपादन कर सके तथा उससे प्रकृत का अतिशय संभव हो, उनमें विच्छित्ति या चमत्कार का भाव हो, तो वह रूपक होगा। केवल लक्षणा के आधार पर आरोप मात्र तो शुद्ध आरोप ही होगा, रूपक अलंकार नहीं, क्योंकि उसमें सहृदय-हृदय का अनुरंजन करने की क्षमता का अभाव होता है।

जगन्नाथ ने दीक्षितोक्त रूपक लक्षण को दुष्ट स्वीकार किया है,[55] परन्तु जगन्नाथ के इस मत का निरास चित्रमीमांसा के 'सुधा' टीकाकार तथा आचार्य[56] विश्वेश्वर ने सविस्तार कर दिया है। जगन्नाथ ने मम्मट[57] के लक्षण की अतिव्याप्ति अपह्नुति में मानी है, क्योंकि अपह्नुति में भी उपमान-उपमेय का अभेद सम्बन्ध होता है। जगन्नाथ का यह भी प्रयास व्यर्थ है। इसी भ्रम के निवारणार्थ मम्मट ने वृत्ति में स्पष्ट किया है कि 'अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरभेदः'। अर्थात् उपमान उपमेय में अतिसाम्य के कारण अभेद होता है किन्तु उनका भेद अनपह्नुतया स्पष्ट रहता है। अस्तु।

सादृश्य के कारण उपमेय पर उपमान का अभेदारोप या दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध ही रूपक है। उपमानोपमेय का यह अभेद आरोप आहार्य होता है, न कि वास्तविक। दो वस्तुओं में अभेद होने के कारण रूपक के मूल में गौणी सारोपा लक्षणा निहित रहती है। आरोप शब्दगत ही होता है, वाक्यगत नहीं, अन्यथा निदर्शना अलंकार हो जायेगा। रूपक और उपमा में प्रधान भेदक यह है कि रूपक में मयूरव्यंसकादि समास होता है तथा उत्तर पद प्रधान होता है, किन्तु उपमा में

उपमित समास होता है और पूर्वपद प्रधान होता है। उदाहरण के लिये 'मुख चन्द्रः' इस कथन में 'मुखमेव चन्द्रः' इस प्रकार के समास से उत्तर पद प्रधान होने से रूपक है तथा मयूरव्यंसकादि समास और 'मुखंचन्द्र इव' इस प्रकार के उपमित समास से पूर्वपद प्रधान होने से उपमा है। कहा जा सकता है कि एक ही कथन में दो प्रकार से समास होने के कारण उपमा-रूपक का संदेह उत्पन्न होगा? वस्तुतः इसका निर्णयप्रकरण ज्ञान पर आधृत है।

**विभाजन**

भरत ने नाट्यशास्त्र में रूपक का एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया है।[58] रूपक के लक्षण की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने इसके दो भेद बताये हैं, जिन्हें समस्त वस्तुविषयक तथा किंचित्सादृश्ययुक्त या एकदेशविवर्ति कहा जा सकता है।[59] भरतोक्त उदाहरण को अभिनवगुप्त ने एकदेशविवर्ति का ही उदाहरण कहा है :

> **'हंसकुलानां नर्मसचिवत्वमरूपितमपि गम्यत इत्ययमंशो द्वितीयस्योदाहरणम्'** —अ.भा., 16/58 पर।

भामह ने उक्त दो भेदों का विवेचन किया है।[60] दंडी ने रूपक के कुल बीस उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उनके नाम इस प्रकार से हैं—समस्तरूपक, असमस्तरूपक, समस्तव्यस्तरूपक, सकलरूपक, अवयवरूपक, अवयविरूपक, एकांगरूपक (योगायोग), युक्तरूपक, अयुक्तरूपक, विषमरूपक, सविशेषरूपक, विरुद्धरूपक, हेतुरूपक, श्लिष्टरूपक, उपमारूपक, व्यतिरेकरूपक, आक्षेपरूपक, समाधानरूपक, एकरूपक तथा तत्त्वापह्नवरूपक।[61] दंडी का सकलरूपक, अवयविरूपक, अवयवरूपक तथा हेतुरूपक ही क्रमशः साङ्ग, निरङ्ग, एकदेशविवर्तिरूपक तथा उल्लेख अलंकार है। उद्भट ने भी भामहोक्त दो भेदों का विवेचन किया है,[62] किन्तु उन्होंने समस्त वस्तुविषय का एक दूसरा भी अभिधान 'मालारूपक' प्रदान किया है।

रूपक लक्षण की भांति भेदोपभेदों के विकास में भी रुद्रट का अपूर्वयोग है। उनके अनुसार रूपक के प्रथम दो भेद होते हैं, वाक्यरूपक और समासरूपक।[63] पुनः इनके सावयव, निरवयव, और संकीर्ण तीन-तीन भेद होते हैं। प्रकारान्तर से पुनः वाक्य समास भेदों के समस्तविषय, तथा एकदेशि दो भेद[64] होते हैं। सावयवरूपक तीन प्रकार का होता हैः सहज, आहार्य और उभय (सहजाहार्य) निरवयव चार प्रकार का होता हैः शुद्ध, माला, रशना तथा परम्परित। संकीर्ण भी सावयव के समान सहजाहार्योभय भेद से त्रिधा होता है।[65]

भोजराज ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के कहे गये भेदोपभेदों का संकलन मात्र किया है। उनके अनुसार पहले रूपक के तीन भेद होते हैं : शब्दभूयिष्ठ, अर्थभूयिष्ठ और शब्दार्थोभूयिष्ठ। प्रत्येक के आठ-आठ भेद होते हैं। शब्दभूयिष्ठ पहले प्रकृत-विकृत भेद से दो प्रकार का होता है। शब्दभूयिष्ठ प्रकृत के चार भेद होते हैं : समस्त, व्यस्त, उभय तथा सविशेषण और शब्दभूयिष्ठ विकृत के चार भेद हैं : परम्परा, रशना, माला तथा रूपकरूपक। अर्थभूयिष्ठ भी दो प्रकार का होता है : अङ्ग प्रधान तथा अङ्गिप्रधान भेद से। अर्थभूयिष्ठ अङ्गि प्रधान के भी चार भेद होते हैं : समस्त, असमस्त, युक्त तथा अयुक्त। इसी प्रकार अर्थभूयिष्ठ अङ्गप्रधान के भी चार भेद होते हैं : सहज, आहार्य, उभय तथा विषमाङ्ग। उभयभूयिष्ठ के भी पहले शुद्ध संकीर्ण भेद से दो भेद होते हैं। फिर प्रत्येक के क्रमशः आधार, निराधार, केवल, व्यतिरेकी तथा सावयव, निरवयव, उभय तथा श्लोषोपहित भेद से चार-चार भेद होते हैं। इस प्रकार भोज के अनुसार रूपक के कुल चौबीस भेद होते हैं।[66] भोजराज ने रूपक के इन्हीं चौबीस भेदों को शृंगारप्रकाश में प्रकारान्तर से इस प्रकार रखा है :

> **'तत् षोढा—शब्दप्रधानं, अर्थप्रधानं, उभयप्रधानं, सावयवं, निरवयवं, संकीर्णं च। तेषु शब्दप्रधानं चतुर्विधम्—समस्तं, असमस्तं, समस्तव्यस्तं, रूपकरूपकं च। अर्थप्रधानं चतुर्धा—समस्तविषयं, एकदेशविषयं, युक्तिमत्, अयुक्तं च। उभयप्रधानं चतुर्धा—शुद्धं, सविशेषणं, रशना, माला च। सावयवं चतुर्धा—सहजावयवं, आहार्यावयवं, उभयावयवं, विषमं च। निरवयवं चतुर्धा—साधारं, निराधारं, परम्परितं, व्यतिरेकवच्च। सङ्कीर्णं चतुर्धा—सावयव संकीर्ण, निरवयवसङ्कीर्णं, उभयसङ्कीर्णं, श्लेषान्वितं च।'**
>
> —शृं.प्र., द्वि. भाग, पृ. 412-15

स्पष्ट है कि 'सरस्वतीकंठाभरण' की अपेक्षा भोजराज का 'शृंगारप्रकाश' का रूपक विभाजन अधिक संतुलित है। दोनों प्रकार के विभाजनों में काफी अन्तर भी है।

प्रायः रूपक के प्रसिद्ध आठ भेदों का उद्भावक आचार्य मम्मट[67] को ही लोग मानते हैं। उन्होंने रूपक के पहले तीन भेद किये हैं : सावयव, निरवयव और परम्परित। सावयव दो प्रकार का है : समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति। निरवयव के भी दो भेद हैं : केवल और माला। परम्परित चार प्रकार का है : श्लिष्ट, अश्लिष्ट, केवल, माला भेद से। इस प्रकार मम्मट ने रूपक के आठ भेद माने हैं। परवर्ती आचार्य रुय्यक, नरेन्द्रप्रभ, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित,

कर्णपूर, जगन्नाथ, विश्वेश्वर, नरसिंह, अच्युतराय, मम्मट प्रोक्त रूपक के आठ भेदों को स्वीकार करते हैं।[68] मम्मट के अनुसार साङ्ग और निरङ्ग को सावयव तथा निरवयव भी कह सकते हैं। रुय्यक भी निरङ्ग और साङ्ग को निरवयव, सावयव कहते हैं। वाक्य, समासगतरूपक के भेद स्थूल होने से रुय्यक ने उनका विवेचन उपयुक्त नहीं समझा[69]—

**'एवमादिभेदा स्थूलतया न प्रतन्यन्त इति'** —सं., पृ. 46

शोभाकर तथा जयरथ के अनुसार सावयव भी श्लिष्ट हो सकता है।[70] शोभाकर, जैसा पहले कहा जा चुका है, सादृश्येतर सम्बन्ध में भी रूपक मानकर, वाक्यार्थ रूपक, शाब्द, आर्थ तथा मालारूपक आदि अनेक रूपक के भेद मानते हैं।[71] रुय्यक, शोभाकर तथा जयरथ परम्परित को वैधर्म्य में भी स्वीकारते हैं।[72] रुय्यक के अनुसार परम्परित भी एकदेशविवर्ति हो सकता है :

**'इति परम्परितमप्येकदेशविवर्ति'** —अ.स., पृ. 48

नरेन्द्रप्रभसूरि उक्त आठ भेदों के अतिरिक्त, अलंकारान्तरोत्थ, रूपकरूपक, वैधर्म्य, व्यतिरेकाङ्क तथा रसनारूपक का भी उल्लेख करते हैं।[73] इसी प्रकार हेतुरूपक आदि अनेक भेद जो दंडी आदि के द्वारा कहे गये हैं, वे विस्तारमात्र हैं, उनमें चारुता का अभाव है, ऐसा कहकर वे उन्हें छोड़ देते हैं—'इति हेतुरूपकादयोभूयांसो रूपकप्रकाराः परेऽपि संभवन्ति' (अ.भ., पृ. 257)।

हेमचन्द्र ने रूपक के दो भेद 'एकविषय' तथा 'अनेकविषय' से ही समस्त रूपक भेदों को गतार्थ किया है।[74] वाग्भट (1) के अनुसार इसके चार ही भेद होते हैं—समस्त, असमस्त, खण्ड तथा अखण्ड।[75] खण्ड को निरङ्ग तथा अखण्ड को साङ्ग कहा जा सकता है। वाग्भट (2) ने दंडी की भांति एक (विषय) अनेक (विषय), माला, समस्त, व्यस्त, खण्ड, अखण्ड, युक्त, अयुक्त, विषम, विशेष, हेतु, श्लेष, उपमा, व्यतिरेक, आक्षेप, समाधान, अपह्नव, रसना, परम्परित, आदि अनेक रूपक भेद की कल्पना की है।[76] अजितसेन मम्मट द्वारा कहे गये आठ भेदों को वाक्य, समास के आधार पर सोलह तक पहुंचा देते हैं—'वाक्यगत समासगत्वाभ्यां एतदष्टविधमपिषोडशविधंस्यात्' (अ.चि., पृ. 66)। जयदेव ने सोपाधिरूपक, सादृश्यरूपक, आभासरूपक और रूपितरूपक चार भेदों का विवेचन प्रस्तुत किया है, जिन्हें क्रमशः परम्परित, समस्तवस्तुविषय सावयव, निरवयव शुद्ध तथा एकदेशविवर्ति कहा जा सकता है।[77] विद्याधर भी व्यस्त समस्तादि भेदों में

सौन्दर्याभाव पाते हैं—'तदेवमिह भेदाष्टकमेवोट्टङ्कितम्। व्यस्तसमस्तत्त्वादिकथने वैचित्र्याभावात्'—एका., पृ. 213. विद्यानाथ अजितसेन की तरह रूपक के आठ भेदों को वाक्य, समास, भेद से दो प्रकार का और मानकर षोडश भेद मानते हैं।[78] विश्वनाथ भी रुय्यक की भांति परम्परित के कहीं-कहीं 'एकदेशविवर्ति' भी मानते हैं—'क्वचित्परम्परितमप्येकदेशविवर्ति'—सा.द., पृ. 496 (नि.प्रे.)। तथा विश्वनाथ का यह भी मत है कि सांग रूपक में भी कभी-कभी आरोप्य श्लिष्ट देखे जाते हैं—'दृश्यन्ते क्वचिदारोप्याः श्लिष्टाः सांगेऽपि रूपके' (सा.द., 10/33)। उन्होंने सांगरूपक के श्लिष्ट का एकदेशविवर्ति तथा समस्तवस्तुविषय दोनों का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है। विश्वनाथ का यह भी विचार है कि समासाभाव में भी कहीं-कहीं रूपक होता है—जैसे 'मुखं तव कुरंगाक्षि सरोजमिति नान्यथा' इस उदाहरण में है। इसी प्रकार रुय्यक की भांति यह भी वैय्याधिकरण्य में तो रूपक मानते ही हैं, अधिकारूढ वैशिष्ट्य में भी रूपक स्वीकार करते हैं :

**'अधिकारूढवैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत्'** —सा.द., 10/34

अमृतानन्द योगी ने भेद व्यवस्था की ओर लेखनी को नहीं बढ़ाया है। केशवमिश्र संक्षेप में रूपक के पांच भेद करते हैं, विरुद्ध, समस्त, व्यस्त, रूपकरूपक तथा श्लिष्ट रूपक।[79]

अप्पयदीक्षित चित्र-मीमांसा में मम्मटोक्त आठ भेदों का विवेचन करते हैं, किन्तु कुवलयानन्द में रूपक का विभाजन दूसरे प्रकार से करते हैं। अभेद रूपक तथा ताद्रूप्यरूपक भेद से प्रथम दो भेद इसके होते हैं। पुनः प्रत्येक के—प्रसिद्धविषयी के आधिक्यवर्णन में, उसके न्यूनत्ववर्णन से, तथा अनुभयोक्ति भेद से—तीन-तीन भेद होकर कुल भेद छः प्रकार के होते हैं।[80] रूपक के इस प्रकार के विभाजन का अनुगमन देवशंकर पुरोहित ने भी किया है। जगन्नाथ ने मम्मटोक्त आठ भेदों का विवेचन किया है। इनके अतिरिक्त वाक्यार्थरूपक, विशेषण, आदि का भी उल्लेख किया है। आचार्य विश्वेश्वर तो मम्मट के अतिरिक्त और किसी का कुछ भी सुनने को उद्यत नहीं हैं। नरसिंह कवि भी अजितसेन की भांति रूपक के सोलह भेद स्वीकार[81] करते हैं। अच्युतराय, मम्मट के अनुसार आठ भेदों का प्रदर्शन करते हुए दीक्षित के (कुवलयानन्द के) छः भेदों को भी दिखलाते हैं।[82]

ऊपर भरत से लेकर नव्य आचार्यों के विचार रूपक के विभाजन में दिखाये गये हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रुद्रट पूर्व रूपक के विभाजन में कोई स्थायित्व नहीं था, किन्तु रुद्रट को आधार मानकर मम्मट द्वारा किये गये

आठ भेद अन्त तक मान्य रहे। परन्तु बीच-बीच में दंडी आदि से कहे गये भेदों को ग्रहण करने का लोभ भी आचार्यों ने नहीं छोड़ा है। भोजराज का विभाजन भी महत्त्वपूर्ण है। परन्तु बाद में किसी ने भी इनका अनुसरण नहीं किया।

(1) **समस्तवस्तुविषयसावयव (साङ्ग)** : परस्पर सापेक्ष निष्पत्तिक रूपकों का संघात सावयव कहा जाता है।[83] जहां समस्त वस्तुओं का आरोप्यमाण (विषयी) का शब्दतः उपादान किया जाता है,[84] वहां समस्तवस्तुविषय रूपक होता है। जैसे :

**'सुविमल मौक्तिकतारे धवलांशुक चन्द्रिका चमत्कारे।**
**वदनपरिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः।।'** —र.गं., पृ. 231

(स्वच्छ मुक्तारूपी तारोंवाली, धवल अंशुकरूपी चन्द्रिका की सुन्दरता वाली, वदनरूपी पूर्णचन्द्रवाली, हे सुन्दरी, तुम सच ही पूर्णिमा हो इसमें सन्देह नहीं है।)

यहां सुन्दरी में राका का आरोप प्रधान आरोप है, अन्य तारा आदि उसके पोषक हैं। अतएव यह सावयव या साङ्गरूपक है। विषय की तरह विषयी राका तथा तारा, चन्द्रिका और पूर्णचन्द्र का शब्दतः उपादान होने के कारण यहां समस्तवस्तुविषय सावयवरूपक है। वस्तुतः समस्तवस्तुविषय में एक प्रधान रूपक होता है और अन्य अप्रधान। अप्रधान आरोप प्रधान आरोप सापेक्ष होते हैं।

(2) **एकदेशविवर्तिसावयवरूपक** : जहां कुछ आरोप्यमाण शब्दोपात्त हों तथा कुछ अर्थगम्य हों, वहां एकदेशविवर्तिसावयवरूपक[85] होता है। जैसे :

**'यस्य रणान्तःपुरे करे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम्।**
**रससंमुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना।।'**

(जिस राजा के रण रूपी अन्तःपुर में, खड्गरूपी लता (नायिका) को हाथ में धारण करने से रससंमुखी (वीररसयुक्त, रसाविष्टा) भी रिपुसेना (प्रतिनायिका) सहसा पराङ्मुख हो जाती है।)

यहां रण में अन्तःपुर का आरोप शाब्द है, किन्तु मण्डलाग्रलता में नायिका का और रिपुसेना में प्रतिनायिका का आरोप शब्दोपात्त नहीं हैं। नायिका और प्रतिनायिका का ज्ञान रण में अन्तःपुर के आरोप सामर्थ्य से होता है क्योंकि अन्तःपुर में उन्हीं का औचित्य है। इसलिये यहां एकदेशविवर्ति रूपक है। ध्यातव्य है कि यहां श्लेष भी सहायक है।

(3) **केवल निरवयव रूपक** : जहां अवयव रहित अर्थात् एक ही अंगी का रूपण होता है, वहां निरंग रूपक होता है। इसीलिये मम्मट ने इसे शुद्ध कहा

है—'निरङ्गं तु शुद्धम्', का.प्र., पृ. 598.

(4) **माला निरवयव रूपक** : एक ही विषय पर अनेक विषयी का आरोप होने पर माला निरवयव रूपक होता है।

(5) **श्लिष्ट केवल परम्परित** : जहां एक आरोप[86] किसी अन्य आरोप का कारण हो वहां परम्परित रूपक होता है। श्लिष्ट आरोप के आरोपान्तर के कारण होने पर श्लिष्ट केवल परम्परित होता है।

(6) **श्लिष्ट माला परम्परित** : एक ही विषय के लिये कई श्लिष्ट विषयी का आरोप होने पर श्लिष्ट माला परम्परित अलंकार होता है।

**धर्म के आधार पर विभाजन**

उपमा की भांति रूपक का भी साधारण धर्म के आधार पर विभाजन संभव है। सर्वप्रथम जयरथ ने धर्म के आधार पर रूपक का विभाजन प्रस्तुत किया है। उन्होंने अनुगामी, वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव रूप से इसे तीन प्रकार का माना है। अप्पयदीक्षित के अनुसार रूपक में साधारण धर्म की बिम्बप्रतिबिम्बभाव रूप में व्याख्या उचित नहीं है, इसीलिये उन्होंने अपने लक्षण में 'बिम्बाविशिष्टे' पद का सन्निवेश किया है।[87] रूपक उपमामूलक अलंकार है। अतएव यदि उपमा में बिम्बप्रतिबिम्बभाव आदि के आधार पर विभाजन किये जा सकते हैं, तो रूपक में क्यों नहीं? रूपक ताद्रूप्यप्रतीति में होता है और ताद्रूप्यप्रतीति में बिम्बप्रतिबिम्बभाव अनिवार्य है। अतः रूपक को भी धर्म के आधार पर विभाजित कर सकते हैं। यही कारण है कि जगन्नाथ ने दीक्षित के मत का खंडन किया है।[88] जगन्नाथ के अनुसार रूपक में साधारण धर्म अनुगामी, बिम्बप्रतिबिम्बभाव, उपचरित तथा केवल शब्दात्मक रूप से चार प्रकार का होता है। वह भी कहीं साक्षात् शब्दोपात्त होता है कहीं शब्दोपात्त न होने से प्रतीयमान रहता है—'साधारणधर्मश्चात्राप्युपमायामिव क्वचिदनुगामी, क्वचिद्बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नः, क्वचिदुपचरितः, क्वचिच्च केवल-शब्दात्मा। सोऽपि क्वचिच्छब्देनोपात्तः। क्वचित्प्रतीयमानतया नोपात्तः। —र.गं., पृ. 243. उदाहरण, जैसे :

**'कन्दर्पद्विपकर्णकम्बुमलिनैर्दानाम्बुभिर्लाञ्छितं**
**संलग्नाञ्जनपुञ्जकालिकमलं गण्डोपधानं रतेः।**
**व्यामानोकहपुष्पगुच्छमलिभिः संच्छायमानोदरं**
**पश्यैतच्छशिनः सुधासहचरं बिम्बं कलङ्कङ्कितम्।।**

—वि., पृ. 36 तथा र.गं., पृ. 228-29

यहां 'सुधासहचर' का अनुगामी रूप में निर्देश है। 'लांछित' और 'अंकित' में वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा 'कलंकदान', 'अम्बुदान', आदि का बिम्बप्रतिबिम्बभाव रूप में निर्देश किया गया है। विस्तार भय से देना अशक्य है। रूपक ध्वनि के अनेक उदाहरण भी आचार्यों ने दिये हैं, तत्तद्ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार वाक्यार्थ रूपक के (शाब्द, आर्थ, भेद, जैसा कि शोभाकर, जगन्नाथ, आदि मानते हैं उदाहरण भी ग्रन्थों में ही देखना चाहिये)।

**अभेदालंकार का रूपक में अन्तर्भाव**

शोभाकर ने रूपक से भिन्न एक 'अभेद' नामक अलंकार माना है। जब विषय और विषयी का अत्यन्त साम्य बताने के लिये, विषयी में नियत रूप से रहने वाले धर्म का अभाव बताया जाता है तो दोनों का अतिसाम्य होने के कारण अभेद अलंकार होता है।[89] जैसे :

**'वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः।**
**भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः।।'**

कु.सं., 1/10 —उद्धृत अ.र., पृ. 38

शोभाकर के अनुसार यहां 'औषधि' और 'अतैलपूरसुरतप्रदीप' में अत्यन्त साम्य होने के कारण 'अभेद' अलंकार है। 'दीप' में तैल आवश्यक होता है। औषधि के 'अतैलपुर सुरतप्रदीप' रूप में होने से यह प्रतीत होता है कि 'औषधि' से 'प्रदीप' में केवल तैलाभाव का होना ही मामूली सा अन्तर है, अन्यथा दोनों समान ही हैं। रूपक में अभेद मात्र की प्रतीति होती है, किन्तु अभेद अलंकार में विषयी के नियत धर्म की हानि से सर्वथा, सर्वत्र अभेद ही होता है,[90] न कि प्रतीति मात्र होती है। शोभाकर के अनुसार दोनों में यही अन्तर है।

विचार करने पर रूपक से इसका न्यूनमात्र ही भेद प्रतीत होता है। एक में साम्य या अभेद की प्रतीति होती है तथा दूसरे में साम्यदाढ्र्य होता है। किन्तु साम्यदाढ्र्य मात्र होने के कारण 'अभेद' को रूपक से भिन्न नहीं माना जा सकता। प्रत्येक अलंकार के भेदोपभेद की व्यवस्था कुछ भिन्न आधारों को लेकर की जाती है। किन्तु उन समग्र भेदों को स्वतंत्र अलंकार मानना संभव नहीं है। रूपक में ही अभेद प्रतीति कई प्रकार से होती है। कहीं आरोप जन्य अभेद प्रतीति भेद प्रतीति को लेकर होती है, तो कहीं विषयी में नियत धर्म के हानि से तथा कहीं धर्माधिक्य के कारण। इन सबों को पृथक् अलंकार तो नहीं कह सकते? दृढ़ारोप रूपक में भी अभेद की ही अवस्था रहती है। अतएव अभेद को रूपक से भिन्न अलंकार नहीं माना जा सकता।

**परिणाम अलंकार का खंडन**

'प्रकृतमप्रकृतरूपतया परिणमतीति परिणामः'[91] अर्थात् जब प्रकृत अप्रकृत के विषय के रूप में परिणमित हो जाता है तो परिणाम अलंकार होता है। सर्वप्रथम रुय्यक ने इस अलंकार का विवेचन किया और प्रायः परवर्ती सभी आचार्यों ने स्वीकार भी किया है। रुय्यक के अनुसार आरोप्यमाण विषयी का प्रकृत में उपयोग ही परिणाम अलंकार है—'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः'—अ.स. सूत्र-16. बाद में जिन आलंकारिकों ने इस अलंकार का विवेचन किया है, शब्दों के किंचित् परिवर्तन के साथ इसी लक्षण को माना है।[92] हेमचन्द्र, वाग्भट तथा विश्वेश्वर आदि आलंकारिक इसका विवेचन नहीं करते। अप्पयदीक्षित चित्रमीमांसा में प्राचीन आचार्यों के लक्षण को दूषित कर विद्यानाथ के परिणाम लक्षण को सपरिष्कार स्वीकार करते हैं। जगन्नाथ रुय्यक तथा दीक्षित दोनों के ही लक्षण को दुष्ट मानकर उनका खंडन करते हैं।[93] परिणाम का समानाधिकरण और वैय्यधिकरण रूप से दो भेद प्रायः सभी आचार्यों को मान्य हैं।

विवेचन के उपरान्त रूपक और परिणाम में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं प्रतीत होता। रूपक में विषय और विषयी का पृथक् रूप से भान होते हुए भी उनका अभेद प्रतिपादित किया जाता है किन्तु आमुख में वैसी प्रतीति नहीं होती।[94] परिणाम में विषयी से विषय का ताद्रूप्य तो होता है, किन्तु उसका प्रकृतोपयोग भी होता है। रूपक में 'मुखं चन्द्रः' इस कथन में मुख सौन्दर्य चन्द्र के सौन्दर्य में विलीन हो जाता है, पुनः उसका कोई उपयोग नहीं रह जाता। 'मुख चन्द्रेण तापः शाम्यति' इस कथन में चन्द्र अपने रूप से मुख को तो रूपित करता ही है, परन्तु मुख की स्वरूपता नष्ट नहीं होती, उसका तापशमन में उपयोग शेष रह जाता है। यही इनमें भेद है। शोभाकर ने परिणाम का निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है :

**'यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृक्षया किंपुरुषाङ्गनानाम्।**
**दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बाः तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति।।'**

कु.सं., 1/14 अ.र., पृ. 39

यहां जलद में तिरस्करिणी (पर्दे) का आरोप किया गया है। शोभाकर का कथन है कि जलदों के तिरस्करिणी का कार्य करने से—जिससे विद्याधरियों के वल्लभ उनके गुप्त अवयवों को न देख पायें—मेघों का अदर्शनकारित्व रूप कार्य में परिणाम होने से यहां परिणाम अलंकार है। परन्तु यहां जलद और तिरस्करिणी में स्पष्ट साम्य होने से अभेदारोप है। केवल इसीलिये परिणाम को रूपक से पृथक् नहीं किया जा

सकता कि उसका प्रकृत में उपयोग होता है। ऐसा मानने पर तो 'रजनीपुरन्ध्रिरोध्रतिलक' इस रूपक में भी प्रकृतोपयोगित्व होने से, तथा 'अत्रान्तरे सरस्वत्यवतारवार्तामिव कथयितुभवततार मध्यमं लोकमंशुमाली' इस उत्प्रेक्षा में भी अंशुमाली के लोकवार्ता कथन रूप कार्य में परिणमित होने से—रूपक और उत्प्रेक्षा को भी परिणाम अलंकार कहना पड़ेगा। इसी प्रकार जैसा कि चित्रमीमांसा में अप्पयदीक्षित ने दिखाया है, भ्रान्तिमान् अतिशयोक्ति, अपह्नुति, अनुमान, आदि में भी परिणाम मानना पड़ेगा।[95] जैसा कि अप्पयदीक्षित मानते हैं, रूपक में प्रकृत अप्रकृत रूपापन्न होता है, परिणाम में अप्रकृत प्रकृत[96] रूपापन्न। ऐसी दशा में तो प्रतीप अलंकार भी हो सकता है। और 'मुखं चन्द्रः' से ऐसी बात भी नहीं है, कि सौन्दर्य की कमी रह जाती है, तापशमन तो उससे भी होता है। उसके साथ केवल क्रिया का योग कर देना मात्र कौन सी बड़ी उपलब्धि है? इस प्रकार तो प्रत्येक अलंकारों में किसी एक नयी क्रिया का उपयोग करके अनन्त अलंकार बनाये जा सकते हैं। जयदेव का 'परिणाम' लक्षण तो मम्मट के रूपक जैसा ही है—'परिणामोऽनयोर्यस्मिन्नभेदः पर्यवस्यति' रूपक से कहां वैशिष्ट्य है? 'मुखं चन्द्रं पश्यामि' न कहकर 'मुखचन्द्रं पिबामि' ही कह दिया तो क्या अन्तर आ गया? सदृश्य की जो रसानुभूति देखने में थी वही पीने में भी हो सकती है। केवल व्यापार में इन्द्रियों की भिन्नता मात्र है।

आचार्य विश्वेश्वर ने परिणाम का खंडन कर 'मुखचन्द्रेण तापःशाम्यति' में उपमित समास होने से, उसका अन्तर्भाव उपमा[97] में ही कर लिया है। उद्योतकार के अनुसार विषय की विषयी के रूप में परिणति हो जाने से मुखादि (विषय) की चमत्कारिता का अभाव हो जाता है। अतएव चमत्काराभाव होने से परिणाम को अलंकार[98] नहीं मान सकते। वस्तुतः चमत्कार तो परिणाम में भी है, किन्तु वह रूपक के क्षेत्र के ही अन्तर्गत आता है, बाहर नहीं। विषय और विषयी के तादात्म्य या अभेद प्रतीति के बिना विषयी का प्रकृतोपयोगित्व भी असंभव है और एतदर्थ रूपक का सहारा लेना ही पड़ता है। इसलिये परिणाम को पृथक् अलंकार न मानकर अधिक से अधिक उसको रूपक का एक भेद मान सकते हैं। कुछ लोग तो इसे रूपक से अतिरिक्त मानते ही नहीं :

**'एवं च परिणामद्वयात्मकमिदं रूपकमेव भवितुमर्हति। ..........
तस्मान्न रूपकात्परिणामोऽतिरिच्यते।'** —र.गं., पृ. 252.

## सन्देह

दो समान वस्तुओं में उद्भूत संशय को संदेह कहते हैं।[99] सम् उपसर्गपूर्वक उपचयार्थक् दिह् धातु से भाव अर्थ में[100] (भावे, पा. 3/3/18) घञ् प्रत्यय करने पर सन्देह शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसके संशय, विचिकित्सा[101] आदि अनेक अर्थ हैं। उपमान-उपमेय में अतिशय साम्य (अभेद) होने के कारण प्रकृताप्रकृत के संशयात्मक ज्ञान को सन्देह अलंकार कहा जाता है। अतएव अलंकार का सन्देह नाम अन्वर्थक है—'यत्र सादृश्यदर्शनात् स्वप्रतिभावशेन वर्णनार्थं कविः संदेहमुपनिबध्नाति तत्र प्रकृतस्य संदिह्यमानत्वादन्वर्थोऽयमलंकारः' एका., पृ. 222.

ऋग्वेद में भी सन्देह के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। नीचे दिया गया उदाहरण द्रष्टव्य है :

**'अदस्युध्ना मनसा याह्यस्तं भुवस्ते कुत्सः सख्ये निकामः।**
**स्वे योनौ निष्दतं सरूपाविवां चिकित्सदृतचिद्धि नारी।।'**

—ऋ., 4/16/10

कुत्स नामक किसी राजा से इन्द्र की मैत्री थी। एक बार मित्र कुत्स को इन्द्र अपने यहां ले गये। इन्द्र के ही समान कुत्स को देखकर इन्द्राणी (शची) को सन्देह हो गया और वह यह निश्चय ही नहीं कर पायी कि कौन इन्द्र है, कौन कुत्स। इसी आख्यायिका को इस मन्त्र में सुन्दर ढंग से उपस्थित किया गया है। 'शत्रुहन्ता इन्द्र तुमकुत्स के घर आये, कुत्स ने तुम्हारी मैत्री की अत्यन्त अभिलाषा की। (तुम उसके साथ अपने घर गये और) दोनों अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। समान रूपवाले तुम दोनों में सत्यदर्शना नारी (शची) को सन्देह हो गया।' यह सन्देह का सुन्दर उदाहरण है। यहां भी 'विचिकित्सा' का सन्देह अर्थ है।

भरत का 'संशय' नामक काव्य-लक्षण सन्देह अलंकार के अत्यन्त समीप[102] है। भामह के ही समय में काव्य-लक्षणों को अलंकार रूप में परिवर्तित किया जाने लगा था। उदाहरण के लिये हेतु, आशीः, अतिशय, आदि को लिया जा सकता[103] है। अभिनवगुप्त ने भट्टतौत के मत को उपस्थित करते हुए कहा है कि उपाध्याय (भट्टतौत) के अनुसार लक्षण के द्वारा अलंकारों में वैचित्र्य का आधान होता है। जैसे—गुणानुवाद नामक लक्षण से प्रशंसोपमा, अतिशय से अतिशयोक्ति, मनोरथ से अप्रस्तुतप्रशंसा, मिथ्याध्यवसाय से अपह्नुति तथा सिद्धि से तुल्ययोगिता, आदि अलंकारों का प्रादुर्भाव हुआ है। इसके अतिरिक्त उन्होंने वहीं यह भी संकेत किया है, कि इसी प्रकार अन्य अलंकारों के विषय में जानना चाहिये। उनका यह भी

कहना है कि लक्षणों के परस्पर संयोग से भी अनेक वैचित्र्य का निर्माण होता है, जैसे : प्रतिषेध और मनोरथ के संयोग से 'आक्षेप' अलंकार का ग्रहण होता है।[104] इसलिये भरत प्रोक्त 'संशय' काव्य-लक्षण ही आगे चलकर 'सन्देह' नामक अलंकार बन गया। रुद्रट, भोज प्रभृति आचार्य तो इसे 'संशय' अभिधान भी प्रदान करते हैं। वस्तुतः आचार्यों ने इस अलंकार को विभिन्न नामों से अभिहित किया है। रुद्रट, भोज, वाग्भट (1) तथा नरेन्द्रप्रभसूरि ने इसे संशयालंकार कहा है, जबकि भामह, उद्भट, वामन, मम्मट, हेमचन्द्र, अच्युतराय, विश्वेश्वर (अ.मु.) इसको ससन्देह नाम प्रदान करते हैं, और कुन्तक, रुय्यक, शोभाकर, विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, कर्णपूर, अजितसेन, विश्वेश्वर (अ.प्र.), छज्जूराम शास्त्री सन्देह कहना ही उपयुक्त समझते हैं। इस अलंकार को उद्भट ने 'सन्देह' तथा 'ससन्देह' दोनों ही नामों से अभिहित किया है।[105] उद्भट की टीका में राजानक तिलक ने दोनों नामों के सम्बन्ध में प्रचलित परम्परा का संकेत किया है :

**'अस्य चालंकारस्य ससन्देह सन्देह शब्दाभ्यां द्वाभ्यामप्यभिधानम्'**

विवृत्ति, पृ. 50

सर्वप्रथम भामह ने ही इसका 'ससन्देह' नाम से विवेचन किया है। उनके अनुसार उपमान का उपमेय से अभेद बतलाते हुए संदेहात्मक भेद-कथन ससंदेह अलंकार है।[106] दंडी ने सन्देह अलंकार का पृथक् निरूपण नहीं किया है। उनकी 'संशयोपमा'[107] सन्देह से भिन्न नहीं है। 'संशयोपमा' के अतिरिक्त दंडी ने निर्णय में 'निर्णयोपमा' भी स्वीकार की है। उद्भट ने सन्देह के दो लक्षण प्रस्तुत किये हैं। प्रथम लक्षण तो भामह की कारिका ही है। दूसरे लक्षण के अनुसार उपमानोपमेय का अभेद सम्बन्ध होने पर बिना सन्देह के भी जहां सन्देह उत्पन्न होता है, उसे सन्देह अलंकार कहते हैं, ऐसे सन्देह में, अलंकारान्तरजन्य विच्छित्ति, सौन्दर्यप्रतिपत्ति[108] का कारण होती है।

वामन के अनुसार अतिशय के लिये उपमान-उपमेय में किया गया संशय ससन्देह अलंकार है।[109] वामन का यह लक्षण उपयुक्त नहीं है, क्योंकि सन्देह अलंकार में 'भेद' भी निरूपित रहता है, जैसे—'अयं मार्तण्डः किं' इत्यादि में सप्ततुरगादि सूर्य से राजा का वैधर्म्य प्रतिपादित करता है, और कहीं-कहीं अभेद भी रहता है। उदाहरण के लिये निश्चयान्त सन्देह में समान धर्मवाली दो वस्तुओं में सन्देह उत्पन्न होता है, किन्तु विवेचन के पश्चात् दोनों के धर्म का ज्ञान हो जाने पर निश्चय हो जाता है। इस दृष्टि से मम्मट आदि के लक्षण अधिक परिष्कृत कहे

जा सकते हैं। रुद्रट ने सन्देह का कोई सामान्य लक्षण नहीं किया है, प्रत्युत सन्देह (संशय) के तीनों भेदों का सलक्षण विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार जहां एक वस्तु (उपमेय) में सादृश्य के कारण प्रतिपत्ता को अनेक विषयों का सन्देह होता है, उसे प्रथम (शुद्ध) संशय कहते हैं। जो वस्तु उपमेय में नहीं हो सकती उसका संभवित्व कथन, या जो उपमेय में हो सकती है, उसका असंभवित्व कथन और इसी प्रकार जो उपमान में असंभव है, उसका संभवित्व और संभव का असंभवित्व कथन निश्चयर्गर्भ द्वितीय संशय है और उससे अतिरिक्त (जहां पर्यवसान में निश्चय हो जाता है, वह) निश्चयान्त तृतीय संशय कहा जाता है।[110] इन तीनों भेदों के अतिरिक्त रुद्रट ने एक और भी संशय माना है। जहां अनेक अर्थों (उपमान-उपमेयरूप अनेकार्थ) में एककारकत्वगत अथवा एकत्वगत (एक का तात्त्विक अन्य का अतात्त्विक) संदेह होता है, उसे भी संशय कहते हैं।[111] रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु के अनुसार अन्य आलंकारिक इसे औपम्याभास या उत्प्रेक्षा मानते हैं।[112] नमिसाधु ने रुद्रट की व्याख्या में सन्देह के कई प्रकार के लक्षण दिये हैं, जैसे : जहां निश्चयपूर्वक कह देने पर भी साम्य के कारण सन्देह नहीं निवर्तित होता, उसे शेषगर्भ संदेह कहते हैं। इसी प्रकार जहां उपमेय का निषेध कर प्रतिपत्ता उपमान को 'यह है' ऐसा कह देता है, वहां भी संशय अलंकार होता है।[113] ध्यातव्य है कि इस प्रकार का संशय अपह्नुति से भिन्न नहीं है। कुन्तक ने इसे उत्प्रेक्षामूल माना है। उनके अनुसार जहां विच्छित्ति के निमित्त संभावना, अनुमान तथा साम्य समन्वय से स्वरूपान्तरसमारोप द्वारा उत्प्रेक्षित वस्तु संशयित हो जाती है, वहां सन्देह अलंकार होता है। इसमें उत्प्रेक्षा का प्रकर्ष होने पर भी सन्देह ही माना जाता है।[114] भोज का कथन है कि जहां अर्थों की अत्यन्त समानता के कारण मन दोलायमान हो जाता है, उसे संशय अलंकार कहते हैं।[115] मम्मट ने भी रुद्रट को आधार माना है और उनकी प्रथम परिभाषा का परिष्कार कर सन्देह का सामान्य लक्षण उपस्थित किया है। उनके अनुसार उपमान-उपमेयगत संशयात्मक ज्ञान के भेद की उक्ति या अनुक्ति ससन्देह अलंकार है।[116] रुय्यक के अनुसार (अभेदप्रधान आरोप में) विषय की सन्दिह्यमानता में सन्देह अलंकार होता है। प्रायः सन्देह का रुद्रट, मम्मट, रुय्यक के ही समान लक्षण अन्य आचार्यों ने भी किया है।[117] अग्निपुराण तथा अमृतानन्दयोगी के अलंकार-संग्रह में इसका उल्लेख नहीं है। केशवमिश्र संदेह को 'संशयोपमा' ही मानते हैं।

रूपक में उपमान और उपमेय के समान होने के कारण दोनों में अभेद प्रतिभासित होता है और इस अभेद को लेकर कवि या सहृदय प्रकृत में अप्रकृत

का आरोप कर देता है। आरोप तो साम्य को लेकर किया जाता है, किन्तु प्रतिपत्ता को दोनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान भी अवभासित होता है। 'मुखं चन्द्रः' में यही स्थिति है, किन्तु सन्देह में मन दोलायमान रहता है। प्रतिपत्ता को निश्चय नहीं हो पाता है कि यह मुख है या चन्द्रमा। अतएव समान दो वस्तुओं में दोलायमान अनिश्चयात्मक चित्त की अवस्था ही सन्देह है। सन्देह की स्थिति उत्प्रेक्षा में भी रहती है, किन्तु वहां उपमान का पक्ष भारी होता है, सन्देह में यह बात नहीं है। सन्देह में कविचित्तवृत्ति समान रूप से उपमान और उपमेय के ऊपर दोलायित रहती है। परन्तु कवि की इस चित्तवृत्ति में और सन्देहात्मक लौकिक चित्तवृत्ति में अन्तर है। दूर से ठूंठे वृक्ष को देखकर उसमें पुरुष का सन्देह होने पर 'स्थाणुर्वा पुरुषोवा' इस लौकिक सन्देह में सन्देह वास्तविक भी हो सकता है, किन्तु काव्य में कवि की सन्देहमयी चित्तवृत्ति कल्पनाजन्य होने के कारण आहार्य या अवास्तविक होती है। ऐसी स्थिति में कवि को प्रस्तुत वस्तु का व्यावहारिक ज्ञान अवश्य रहता है, किन्तु उस वस्तु के धर्म को किसी अन्य में व्यक्त करने के लिये वह सन्देह का सहारा लेता है। कभी-कभी कवि स्वयं न कह कर जब किसी पात्र विशेष के द्वारा सन्देहावस्था की अभिव्यक्ति करता है, तो वहां वह सन्देह वास्तविक किंवा अनाहार्य भी हो सकता है। इस प्रकार सन्देह में आहार्य तथा अनाहार्य दोनों प्रकार का ज्ञान संभव है।[118] जगन्नाथ आदि भी इससे सहमत हैं।

**त्रिविधि प्रतीति**

भारतीय काव्यशास्त्र में कवि और सहृदय दोनों को समान स्थान प्राप्त है। कवि किस भावना से उद्वेलित होकर अलंकार का निर्माण करता है, तथा अलंकार-विशेष सहृदय में किस वृत्ति का सृजन करता है, इन दोनों दृष्टियों से काव्य प्रतीति को प्रथमतः निश्चयात्मक तथा अनिश्चयात्मक दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं। अर्थ से अव्यभिचरित ज्ञान को सम्यक् (निश्चय) तथा व्यभिचरित को असम्यक् (अनिश्चय) कहा जाता है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से ज्ञान का यह विभाजन उपयुक्त है, किन्तु कवि तथा सहृदय की चित्तवृत्ति में इसका उतना महत्त्व नहीं है। कवि और सहृदय मुख को चन्द्र या कमल मानकर निश्चयात्मक प्रतीति कर सकता है, किन्तु कोई भी शास्त्रविद् इसे सम्यक् ज्ञान नहीं कह सकता। पर आस्वादयिता कवि और सहृदय को तो मुख की चन्द्रमा में ही प्रतीति अभीष्ट है। उसे सौन्दर्य चाहिये मानव की शारीरिक संरचना से क्या काम? अनिश्चय-ज्ञान संशय और तर्क रूप से दो प्रकार का होता है। 'यह मुख है या चन्द्रमा या कमल' 'चन्द्रमा तो आकाश

में रहता है, भूतल पर नहीं' इस प्रकार का वितर्क ही संशय है। संशय में उपमान-उपमेय दोनों की ही अवस्था अनिश्चित तथा दोलायमान रहती है। अतएव अनिश्चयात्मक ज्ञान के एकभेद 'संशय' पर ही सन्देहालंकार की भित्ति टिकी हुई है—'अनियतोभयांशावलम्बि हि विमर्श संशयः', वि., पृ. 42.[119] यहां किसी पक्ष के दार्ढ्य या शैथिल्य का प्रश्न नहीं उठता। इसका कारण है प्रकृत (मुख) में अप्रकृत (कमल) का आरोप, क्योंकि कल्पना में कवि ने मुख और कमल का सादृश्य पाया है। इस सादृश्य से ही दोनों में अभेद-प्रतीति भी होती है। मम्मट, रुय्यक, जगन्नाथ, आदि इस तथ्य को स्वीकार करते हैं।[120]

**सन्देह में आरोप और अध्यवसाय**

कुछ आलंकारिक अध्यवसाय में भी सन्देह मानते हैं। रुद्रट का चतुर्थ सन्देह इसी कोटि में आता है।[121] रुद्रट के ही आधार पर शोभाकर आदि ने भी अध्यवसाय गर्भ में सन्देह का विवेचन किया है। नमिसाधु ने रुद्रट के चतुर्थ संदेह का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है :

**'रञ्जिता नु विविधास्तरशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु।**
**पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहता नु कुकुभस्तिमिरेण।।'**

—न.सा., पृ. 113 तथा अ.स., पृ. 57

यहां तिमिर आरोप का विषय है। उसमें राग, नमन, स्थगन, पूरण, संकुचन, आदि अनेक धर्मों का आरोप वृक्ष, शैल, आकाश, पृथ्वी, आदि विभिन्न आश्रयों के आधार पर किया गया है। 'नु' शब्द संभावना की प्रतीति कराता है, परन्तु यह संभावना सन्देह विषयक है, क्योंकि कवि की चित्तवृत्ति प्रकृत अप्रकृत दोनों पर ही समान रूप से दोलायित है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नमिसाधु इस पर दो मत देते हैं : कुछ लोग इसे औपम्याभास कहते हैं, अन्य लोग उत्प्रेक्षा—'औपम्याभास इति केचित्। उत्प्रेक्षेवेयमित्यन्ये'—न.सा., पृ. 113. संभवतः इसी कथन को आधार मानकर उक्त उदाहरण के विषय में रुय्यक ने कहा है कि कुछ लोग इसे अध्यवसायात्मक होने से सन्देह का प्रकार मानते हैं तथा अन्य लोग 'नु' शब्द के संभावना परक होने के कारण उसे उत्प्रेक्षा का भेद मानते हैं।[122] विमर्शिणीकार जयरथ का अभिमत है कि ग्रन्थकार रुय्यक ही सन्देह को अध्यवसायमूलक मानते हैं।[123] परन्तु जयरथ की यह भ्रान्ति है। रुय्यक यहां अन्यों के मत का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। रुय्यक के अन्य टीकाकार विद्याचक्रवर्ती भी उक्त स्थल में सन्देह मानते हैं :

**'वस्तुतस्तु नेह संभावना प्रतीतिः, वितर्कस्यैककोटिपक्षपाताभावात्। अतो दोलायमाननानाकोटिको सन्देह एवायमिति भावः।'** सं., पृ. 57

विवेचन के उपरान्त यही प्रतीत होता है कि यहां संभावना सन्देह रूप न होकर उत्प्रेक्षा की प्रतिपादक है। शोभाकर तथा जयरथ, जगन्नाथ, भीमसेन, विश्वेश्वर प्रभृति आचार्य भी सन्देह को आरोपगर्भ मानते हैं।[124] किन्तु शोभाकर तथा जयरथ सन्देह का एकभेद अध्यवसाय में भी स्वीकार करते हैं :

**'किं तारण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा मंजरी।**
**लीलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः।।**
**उद्गाढोत्कलिकावतां सुसमयोपन्यासविस्रम्भिणः।**
**किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृंगारिणः।।'** —अ.र., पृ. 44

शोभाकर के अनुसार यहां तन्वी रूप विषय के अनुपादान में उसका मंजरी, लहर तथा उपदेशयष्टि के रूप में अध्यवसाय होने से अध्यावसायगर्भ सन्देह है।[125] डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा का कथन है कि जगन्नाथ अध्यवसान में भी सन्देह मानते हैं।[126] परन्तु शर्मा जी ने जगन्नाथ के मन्तव्य को बिना समझे ही लिख मारा है। जगन्नाथ अध्यवसाय मूल सन्देह का उदाहरण प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से ही प्रस्तुत करते हैं, अन्यथा अध्यवसान में संदेह मानने वाले विमर्शिणीकार जयरथ का वह खंडन ही नहीं करते।[127] डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी का मत है कि शोभाकर केवल आरोपगर्भता में ही सन्देह मानते हैं,[128] परन्तु द्विवेदी जी को भी भ्रम है। जैसा कि पहले कह चुके हैं शोभाकर तो अध्यवसान में सन्देह का एक भेद भी मानते हैं।

विवेचन के बाद उचित यही प्रतीत होता है कि सन्देह की अध्यवसायगर्भता भी निर्विवाद है, क्योंकि 'अयं मार्तण्डः'[129] प्रभृति स्थलों में जब हम प्रकृत 'राजा' आदि में अप्रकृत 'मार्तण्ड' आदि का सन्देह करते हैं, तो वहां विषयी मार्तण्ड आदि से विषय 'राजा' आदि का सर्वथा निगरण प्रस्तुत रहता है। शोभाकर, हेमचन्द्र, विश्वेश्वर, आदि इससे सहमत भी हैं।[130] वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक तो जैसा पहले ही कहा जा चुका है—संभावना, अनुमान और साम्यसमन्वय के द्वारा जहां स्वरूपान्तर समारोप से संशय उत्प्रेक्षित होता है, वहां सन्देह मानते हैं और यहां उत्प्रेक्षा का ही अतिशय उत्कर्ष रहता है :

**'उत्प्रेक्षाप्रकर्षपरस्यापि तद्विषयस्य संभवात्'** —व.जी., पृ. 216

## संदेह के भेद

भामह तथा भट्टि का उदाहरण 'निश्चयगर्भसन्देह' का उदाहरण[131] है। उद्भट ने निश्चयान्त सन्देह का उदाहरण न प्रस्तुत कर केवल दो भेद का ही लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किया है, इसका कारण है, निश्चयान्त में प्रतीयमान निश्चय के न होने से चारुत्व का कम होना।[132] वामन ने भी एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया है,[133] जिसे शुद्ध सन्देह का निदर्शन कहा जा सकता है। सर्वप्रथम रुद्रट ने रूपक के तीन भेदों का प्रदर्शन किया, जिनको परवर्ती आलंकारिकों ने भी स्वीकार किया है। वे हैं : शुद्ध, निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त। रुद्रट के तीनों लक्षण पहले ही दिये जा चुके हैं। विवेचन आवश्यक है। जब कवि प्रकृत वस्तु में अनेक धर्मों के सादृश्य के कारण अनेक वस्तुओं का सन्देह करता है और उस सन्देह का निवारण न होने के कारण सन्देह में ही पर्यवसान हो जाता है, तो शुद्ध संदेह होता है।[134] उदाहरण के लिये पूर्वोक्त 'किं तारण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवामंजरी' इत्यादि को लिया जा सकता है, जहां नायिक में 'मंजरी', 'लहरी' और 'उपदेशयष्टि' का संशय है। पुनः कवि की चित्तवृत्ति जब आगे बढ़ती है और 'यह मुख है या कमल, कमल तो सरोवर में रहता है, इस प्रकार निश्चय की ओर उन्मुख होती है, किन्तु निश्चय नहीं हो पाता है, तो मध्य में निश्चय और[135] प्रारंभ तथा पर्यवसान में अनिश्चय होने के कारण संशय को निश्चयगर्भ कहा जाता है। 'अयं मार्तण्डः' इत्यादि में यही स्थिति है। निश्चयगर्भ संदेह में मन निश्चय की ओर उन्मुख था, पर निश्चय न हो पाया, किन्तु निश्चयान्त में सन्देह से प्रारंभ होकर वितर्क के बाद अन्त में निश्चय हो जाता है,[136] अतएव इसे निश्चयान्त कहा जाता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, रुद्रट उपमान-उपमेय के एकत्व या अध्यवसान में सन्देह का चौथा भेद भी मानते हैं। कुन्तक की दृष्टि में सन्देह के उत्प्रेक्षामूलक होने के कारण, उसका एक ही भेद संभव है—'ससन्देहस्यैकविधप्रकारत्वमुत्प्रेक्षामूलत्वात्'—व.जी., पृ. 217, भोज के मत से यह उभयालंकार है। वे संशयालंकार के चार भेद मानते हैं। प्रथमतः एक विषय तथा अनेकविषय रूप से दो भेद होते हैं। एकवस्तु का अनेक में सन्देह होने पर संशय अनेकविषय होता है, उसके विपरीत एक विषय। प्रथम के अभिधीयमान सादृश्य तथा प्रतीयमान सादृश्य रूप से दो भेद होते हैं, दूसरे के भी शुद्ध और मिश्र रूप से दो भेद होकर कुल चार भेद होते हैं। रुद्रटोक्त संदेह के प्रथम तीन भेदों को मम्मट, रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, जगन्नाथ, विश्वेश्वर, अभिनवकालिदास, अच्युतराय, आदि सभी आलंकारिक स्वीकार करते हैं।

शोभाकर का सन्देह-विभाजन अन्य आचार्यों से कुछ भिन्न-सा है। उन्होंने इसको पहले दो भेदों में विभाजित किया है : समानधर्म तथा अनेकधर्म। प्रथम भेद विषय, विषयी या अनेक विषयी की संशयावस्था में होता है, यह आरोपगर्भ है। अनेक धर्म रूप सन्देह के भी विषय के उपादान तथा अनुपादान भेद से दो प्रकार हैं। विषयोपादान रूप अनेकधर्म सन्देह विषय के अपह्नव तथा अनपह्नव भेद से द्विधा होता है। ये भी दोनों भेद आरोपमूलक हैं।[137] विषयानुपादानरूप अनेकधर्म सन्देह को वह अध्यवसायमूल मानते हैं—'अनुपादाने अध्यवसायमूलः'—अ.र., पृ. 43. 'किं तारण्यतरोः' इत्यादि पूर्वप्रदर्शित उदाहरण अध्यवसायमूल सन्देह का सुन्दर निदर्शन है। विमर्शिणीकार जयरथ ने अध्यवसायमूल सन्देह को उत्प्रेक्षा की भांति स्वरूप, फल हेतु भेद से तीन प्रकार का माना है।[138] पूर्वोक्त 'रञ्जितानु' इत्यादि अध्यवसाय मूल स्वरूप संदेह का उदाहरण है। अन्य दो उदाहरण 'विमर्शिणी' में देखे जा सकते हैं।[139] शोभाकर का अभिमत है कि 'स्थाणुर्वापुरुषोवा' इस प्रकार का संशय स्वारसिक न होने से संदेह अलंकार नहीं हो सकता, किन्तु सन्देह अलंकार कविप्रतिभा से उद्भूत संशय में ही संभव है। इसलिये साधर्म्य से अतिरिक्त निमित्तान्तर में भी यदि कविप्रतिभा का समावेश है, तो वहां भी सन्देहालंकार संभव है।[140] परन्तु अन्य आचार्यों की दृष्टि में सन्देह अलंकार सादृश्य से अतिरिक्त निमित्त में चारुता का विधान नहीं करता।[141]

वाग्भट (1) ने निश्चयगर्भ सन्देह का उल्लेख नहीं किया है। वाग्भट (2) को भी सूत्र में तो निश्चयगर्भ अमान्य है, किन्तु टीका में वे इसका प्रतिपादन करते हैं।[142] जयदेव का उदाहरण शुद्ध-संदेह का है। कर्णपूर की दृष्टि में निश्चयान्त सन्देह नहीं हो सकता,[143] क्योंकि कौन (किम्) शब्द वहां निश्चय का बोधक होता है। परन्तु कर्णपूर की यह भ्रान्ति मात्र है।

इन उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त साधारणधर्म के आधार पर भी सन्देह का विभाजन किया जाता है। साधारणधर्म कहीं एक होता है, कहीं अनुगामी, बिम्बप्रतिबिम्बभाव, शाब्द, आर्थ, आदि भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। जयरथ तथा जगन्नाथ ने इनका विवेचन किया है।[144] जगन्नाथ ने सन्देह को लक्ष्य और व्यंग्य भी माना है।[145] यद्यपि शोभाकर, जगन्नाथ एकधर्म, अनेकधर्म में तथा जयरथ अध्यवसाय के स्वरूप, हेतु, फल में भी सन्देह अलंकार मानते हैं, किन्तु इनके आधार पर इस अलंकार का विभाजन उपयुक्त नहीं है। इस अलंकार का भी जीवातु सादृश्य ही है। अतः सादृश्यविरहित संदेह के भेद, विप्रतिपत्ति, उपलब्धि, अव्यवस्था, आदि के सादृश्यान्तर निमित्त पर आधृत होने के कारण सन्देहालंकार नहीं मानना चाहिये,

क्योंकि सादृश्याभाव के कारण इनमें चारुत्व का अभाव है :

**'स च यद्यपि ·········· विप्रतिपत्त्युपलब्ध्यव्यवस्थात इत्यनेकधोक्तस्तथापि निमत्तान्तरोत्थापितस्य तस्य चारुत्वाभावात्'**[146] —अ.र., पृ. 43

**वितर्क अलंकार का खंडन**

शोभाकर तथा भोजराज ने सन्देह से अतिरिक्त एक 'वितर्क' नामक भिन्न अलंकार माना है। पहले इसका विवेचन भोज ने अर्थालंकार के अन्तर्गत किया है। डॉ. भोलाशंकर व्यास का कथन है कि शोभाकर के ही आधार पर भोज भी वितर्क को अलग अलंकार मानते हैं।[147] परन्तु यह उनकी भ्रान्ति है। भोज शोभाकर के पूर्ववर्ती हैं और शोभाकर रुय्यक के बाद आते हैं। अतएव शोभाकर से भोज इस अलंकार को ग्रहण करें, यह बिल्कुल असंभव है। भोज के अनुसार सन्देह और निर्णय के बीच अवस्थित ऊह ही वितर्क अलंकार है।[148] इसके उन्होंने पहले दो भेद किये हैं : निर्णयान्त और अनिर्णयान्त। इन दोनों के भी तीन-तीन भेद होते हैं। तत्त्वानुपाती, अतत्त्वानुपाती तथा उभयात्मक रूप से निर्णयान्त तीन प्रकार का होता है। इसी प्रकार अनिर्णयान्त भी मिथ्या, अमिथ्या तथा उभयात्मक भेद से तीन प्रकार का होता है।[149] शोभाकर के अनुसार सामान्य रूप से दृष्टवस्तु में आशंकित या आशंक्यमान विशेष का अपोह ही वितर्क अलंकार है।[150] उनका कथन है कि सन्देह में कवि की चित्तवृत्ति न साधक प्रमाण की ओर उन्मुख रहती है और न बाधक की ओर, अपितु संशय की ओर आकृष्ट रहती है, परन्तु वितर्क में सामान्य रूप से दृष्ट वस्तु में आशंक्यमान या आशंकित विशेष की[151] बाधकता की ओर उन्मुख रहती है। 'मुख है या चन्द्र' इस प्रकार की प्रतीति सन्देह की है 'मुख है या चन्द्र, चन्द्रमा तो नभोमण्डल में रहता है', इस प्रकार की प्रतीति वितर्क की है। तात्पर्य यह कि जहां दो वस्तुओं में दोलायमान केवल वस्तुनिष्ठ चित्तवृत्ति हो वहां संदेह होता है और जहां संभावना के बाधक द्वारा बाधित बुद्धि पायी जाये वहां वितर्क अलंकार होता है :

**'अर्थद्वयोल्लेखवतीमतिर्या ससंशयः केवल वस्तुनिष्ठा।**
**सम्भावना बाधकबाधनीया यत्र स्फुटस्तत्र भवेद्वितर्कः।।'** अ.र., पृ. 45

इसी आधार पर शोभाकर ने 'अयं मार्तण्डः'[152] इत्यादि पूर्वोक्त निश्चयगर्भ के उदाहरण में वितर्क अलंकार माना है। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' में जैसे बहुकाल पर्यन्त चेष्टा का अभाव पाया जाता है, तो

स्थाणुत्व की बाधकता उपस्थित हो जाती है और पुरुष का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार 'अयं मार्तण्डः' इत्यादि में जब सूर्य के सप्ततुरगत्वादि का ज्ञान हो जाता है, तो राजा में आरोपित मार्तण्ड रूप सन्देह का बोध हो जाता है। इसलिये यहां वितर्क अलंकार है।[153] परन्तु स्पष्ट है कि विपक्षी शत्रुओं को अन्त तक निर्णय नहीं होता। अतएव यह निश्चयगर्भ से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार भोज ने 'अस्याः सर्गविधौ' इत्यादि में अतत्त्वानुपाती वितर्क माना है।[154] उनके अनुसार उर्वशी जैसे रूप के निर्माण में पुराणप्रजापति समर्थ नहीं हो सकता। अतएव इसका निर्माता प्रजापति चन्द्र, मदन तथा बसन्त में से ही कोई एक हो सकता है, इस प्रकार का अतत्त्वानुपाती निर्णय होने से यह अतत्त्वानुपाती निर्णयान्त वितर्क का उदाहरण है। मम्मट के अनुसार यहां शुद्ध सन्देह है।[155] अतः वितर्कालंकार सन्देह से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार सन्देह में नानाकोटिक दोलायमान प्रतीति होने से एककोटिक ज्ञान का अभाव होता है, उसी प्रकार वितर्क में भी एककोटिक ज्ञान का अभाव रहता है—'वितर्कस्यैककोटिपक्षपाताभावात्' (सं., पृ. 57)। इसके अतिरिक्त ये दोनों ही अलंकार सादृश्य पर आधृत हैं। अतएव वितर्क को सन्देह से अतिरिक्त अलंकार नहीं माना जा सकता। शोभाकर जो यह कहते हैं कि सन्देह में साधक-बाधक बुद्धि का अभाव रहता है, यह उनका भ्रम है। शुद्ध सन्देह में साधक बुद्धि काम करती है और निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त में दोनों। अतएव वितर्क सन्देह से भिन्न नहीं है।[156] अन्त में भोज को भी यह तथ्य स्वीकार करना ही पड़ा—'तेन वितर्कोक्त्यादयोऽपि संशेयोक्तावेव द्रष्टव्याः'।[157]

### सन्देहाभास का निराकरण

शोभाकर ने सन्देहाभास नामक एक और अलंकार माना है। जहां दो वस्तुओं में 'यह करना चाहिये या यह' इस प्रकार का सन्देह होने पर किसी एक के स्वीकार करने में तात्पर्य होता है, वहां सन्देह का आभास मात्र होने के कारण सन्देहाभास अलंकार होता है।[158] शोभाकर का अभिमत है कि सन्देह अलंकार में कवि प्रतिभोत्यापित सन्देह ही विच्छित्तिविशेष के कारण अलंकार बन जाता है, किन्तु इसमें भंगीभणिति द्वारा सन्देहाभास ही सौन्दर्य का कारण है, यही इन दोनों में भेद है।[159]

**'मात्सर्यमुत्सार्यविचार्यकार्यमार्या समर्यादमुदाहरन्तु।**
**सेव्या नितम्बाः किमुभूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्।।'** अ.र., पृ. 88

शोभाकर के अनुसार यहां आपाततः 'भूधरों' के नितम्ब (तल प्रदेश) या कामिनियों के नितम्ब का सेवन करना चाहिये' यह सन्देह व्यक्त किया गया है किन्तु आर्यों को समर्याद विचारपूर्वक सेवन करने को कहा गया है, अतएव वक्ता का अभिप्राय पर्वतों के ही नितम्ब सेवन में है। इसलिये यहां 'सन्देहाभास' अलंकार है।[160]

यहां भी सन्देह वाच्य है।[161] उससे शान्तचित्त विरागी के लिये भूधर नितम्ब सेवन तथा शृंगारी के लिये कामिनी नितम्ब सेवन रूप निश्चय व्यंग्य है। अतएव यह उदाहरण ध्वनि के अन्तर्गत आता है। किन्तु सन्देह वाच्य है। अतएव इसे सन्देह अलंकार के ही अन्तर्गत रखा जा सकता है। शोभाकर भी मानते हैं, कि यहां सन्देह का आभास होता है। केवल आभास मात्र भेद मानकर इसे सन्देह अलंकार से भिन्न नहीं माना जा सकता, अन्यथा उपमा के तथा अन्य अलंकारों के भेदों को भी स्वतंत्र अलंकार मानना पड़ेगा। अतएव 'सन्देहाभास' सन्देह से भिन्न नहीं है। यदि इसे अलंकार ही मानना हो तो सन्देह का एक भेद मान सकते हैं। और वह है निश्चयान्त तथा निश्चयगर्भ सन्देह। जहां सन्देह होते हुए भी निश्चय का निबन्धन किया जाता है।

## विकल्प का विखंडन

सादृश्य के ही आधार पर कुछ आलंकारिकों ने 'विकल्प' नामक एक अतिरिक्त अलंकार माना है। इस अलंकार की सर्वप्रथम उत्पत्ति करने वाले रुय्यक हैं।[162] परन्तु भोज ने 'संभव' अलंकार के विवेचन में 'विकल्प'[163] का भी उल्लेख किया है। अतएव संभव है कि रुय्यक को इसका मूल भोज से ही प्राप्त हुआ है। रुय्यक के अनुसार दो समान बल वालों का विरोध विकल्प है।[164] अर्थात् समानप्रमाण से विशिष्ट होने से समान बलवाले दो विरोधी पदार्थों का एकत्र अवस्थान विरुद्ध होने के कारण संभव न हो तो विकल्प अलंकार होता है। रुय्यक के बाद इस अलंकार को नरेन्द्रप्रभसूरि, शोभाकर, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, अच्युतराय, आदि ने भी स्वीकार किया है।[165] शोभाकर को छोड़कर प्रायः सभी आलंकारिकों के लक्षण समान ही हैं। विरुद्ध दो वस्तुओं में समानता होने के कारण अनियतरावलम्बन को शोभाकर विकल्प मानते हैं :

**'विरुद्धयोस्तुल्यत्वे पाक्षिकत्वं विकल्पः'** — अ.र., सू. 88

जगन्नाथ का भी लक्षण इसी प्रकार से है :

**'विरुद्धयोर्पाक्षिकी प्राप्तिर्विकल्पः'** —र.गं., पृ. 487

**'विजयोऽथवा स्वर्गो नियतो मे रणांगणे।**
**इति निश्चित्य विजयी शूरः सन्नह्यते रणे।।'** —अ.मं., 247

भट्ट देवशंकर ने यहां विकल्प अलंकार स्वीकार किया है। परन्तु यहां सादृश्य का अभाव होने से विकल्प भी नहीं है, क्योंकि औपम्य ही विकल्प का प्राण है : 'औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्'।[166]

**'पतत्यविरतं वारि नृत्यन्ति च कलापिनः।**
**अद्य कान्तः कृतान्तो वा दुःखस्यान्तं करिष्यति।।'** कु., पृ. 132

अनेक आलंकारिकों ने इसे विकल्प के उदाहरण में प्रयुक्त किया है। यहां प्रावृट् काल की निरन्तर वर्षा तथा मयूर की केका से विरहिणी के लिये प्रिय के आगमन, या अनागमन से (मृत्यु हो जाने के कारण) दुःखाभाव का निबन्धन किया गया है, यद्यपि मेघ तथा मयूर-केका से उत्कण्ठित होकर प्रिय के आगमन की संभावना है, किन्तु नायिका को सन्देह बना हुआ है। उसकी मनःस्थिति दोलायमान है, इसीलिये वह कृतान्त का भी आमन्त्रण करने को उद्यत है। दुःखहरण रूप धर्म को लेकर यहां कान्त और कृतान्त में सादृश्य माना जा सकता है, किन्तु कामिनी को तो सन्देह बना ही है। विकल्प में भी सन्देह अलंकार की भांति साधक या बाधक प्रमाण का अभाव रहता है :

**'साधनबाधनादिरूपगत्यन्तराभावाद्विकल्पः'** —सं., पृ. 184

उक्त उदाहरण में 'कान्त दुःख का हरण करेगा या कृतान्त' इस प्रकार मनोदशा संशयपूर्ण होने से दोलायित है। अतएव यहां भी सन्देह अलंकार है। रुय्यक के उदाहरण :

**'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी**
**ध्यानालम्बनतां समधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये।**
**लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मी दृशोस्तन्वती**
**युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः।।'**[167] —अ.स., पृ. 184

में तो विकल्प का लक्षण भी नहीं घटित होगा। प्रत्युत् पूरे श्लोक में 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' की भांति श्लेषमूला उपमा ही है।[168] यहां अर्थ का चारुत्व श्लेष के कारण है, सन्देह से भी नहीं। कहीं-कहीं तो ऐसे स्थलों

में 'लिंग वचन भेद' रूप उपमादोष भी आ जाते हैं। इसी उदाहरण में 'नेत्रे तनुर्वा हरेः' में 'नेत्रे' द्विवचन तथा नपुंसकलिंग है और 'तनुः' एकवचन, पुल्लिंग। अस्तु। विकल्प को सन्देह से अतिरिक्त नहीं मानना चाहिये। उद्योतकार के अनुसार वर्णनीय वस्तु का उत्कर्ष न होने के कारण इस प्रकार का कथन अलंकार ही नहीं हो सकता, क्योंकि 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं' इत्यादि अलंकार लक्षण के अन्तर्गत यह नहीं आता। वस्तुतः जिस प्रकार का औपम्य रुय्यक आदि इस अलंकार में मानते हैं, उसमें कोई चारुता नहीं है, तो उसे सन्देह से व्यतिरिक्त नहीं कहा जा सकता। इसमें भी सन्देह से निश्चय व्यंग्य रहता है।[169] जैसे 'पतत्यविरतं वारि' इत्यादि में कान्त या कृतान्त प्राप्ति रूप सन्देह से नायिका के दुःखहरण (कामप्राप्ति उपभोग आदि से या मरण से) का निश्चय व्यंग्य है। अस्तु। विकल्प को पृथक् अलंकार नहीं मान सकते।

**विकल्पाभास का खंडन**

विकल्पित दो वस्तुओं में जहां एक के स्वीकार में तात्पर्य होता है, वहां विकल्प के आभासमान होने के कारण विकल्पाभास[170] अलंकार होता है। इसका भी प्रादुर्भाव शोभाकर ने ही किया है। शोभाकर का यह विकल्पाभास भी विकल्प से अतिरिक्त नहीं है। शोभाकर का अभिमत है कि दो वस्तुओं में तुल्यधर्म वर्ण्यमान होने के कारण एक साथ दोनों का अनुप्रवेश असंभव होने के कार्य सिद्धि में एक का परिहार किये जाने पर विकल्प अलंकार होता है। इसमें विरुद्ध वस्तुओं का बलाबल समान होता है। परन्तु विकल्पाभास में तुल्य प्रयोजन का अभाव रहता है। अतएव यहां विधीयमान विकल्प बाधित होकर विशेष प्रतीति के लिये विकल्प के समान आभासित होता है। यही दोनों में भेद है।[171]

**'आपदां दर्शितः पन्थाः इन्द्रियाणामसंयमः।**
**तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्।।'** —अ.र., पृ. 89

(इन्द्रियों का असंयम आपत्ति का मार्ग है और उनकी विजय सम्पत्ति का। अतएव जो इष्ट हो उस मार्ग से गमन करो।) इस उदाहरण से तथा 'पतत्यविरतं वारि' आदि उदाहरण में कोई अन्तर नहीं है। मार्ग का निश्चय करना श्रोता या सहृदय पर छोड़ दिया गया है, किन्तु यह व्यक्त नहीं किया गया, कि किस मार्ग का अवलम्बन किया जाये। अतएव यहां भी सहृदय की चित्तवृत्ति संशयारूढ ही है। अतः यहां भी वाच्य संशय से पर्यन्त में 'अनिष्टकर होने से असंयम वाला पथ परिवर्जनीय है और लाभकर होने से संयमपथ गमनीय है' यह निश्चय व्यंग्य होता है। शोभाकर भी

यहां सन्मार्ग ग्रहण का निश्चय स्वीकार ही[172] करते हैं। इसी प्रकार शोभाकर के द्वितीय उदाहरण में :

**'एषो वसन्तमासो अथ वराकी शोकशल्यसर्वस्वम्।**
**हंहो युवन् त्वं धनरसिक व्रज वा इह वा तिष्ठ।।'** —वही, पृ. 90

भी ध्वनि है, अलंकार नहीं। यहां प्रत्येक पद, वसन्तमास, नायिका का शोक युक्त होना तथा युवक का धनरसिक होना, व्यंजक है। वस्तुतः 'धनरसिक' पद से 'तुम धनप्रिय हो रतिप्रिय नहीं, अतएव जा सकते हो' यह व्यंग्य है। तात्पर्य यह कि यहां भी संशय से निश्चय ही व्यंग्य है। अतएव विकल्प तथा विकल्पाभास दोनों ही ध्वनि के विषय हैं। सन्देह वाच्य होने के कारण इनमें सन्देह अलंकार की विच्छित्ति अवश्य है, किन्तु इनमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य अधिक उत्कर्षातिशायी होता है। अतएव विकल्प तथा विकल्पाभास को अलंकार न मानकर ध्वनि मानना ही उपयुक्त है। और यदि अलंकार मानते हैं, तो सन्देह ही मानना चाहिये।

## भ्रान्तिमान्

जिससे बुद्धि भ्रमित हो जाती है, उसे भ्रान्ति कहते हैं।[173] भ्रान्ति चित्त का धर्म है, मिथ्या ज्ञान है।[174] अतएव जिस भंगीभणिति में भ्रान्ति या मिथ्या ज्ञान का निबन्धन हो उसे भ्रान्तिमान् कहा जाता है।[175] प्रकृत के समान अन्य वस्तु को देखकर प्रकृत में उसका (अप्रकृत का) भ्रम या मिथ्या ज्ञान होना ही भ्रान्तिमान् अलंकार है। अतएव इस अलंकार का भ्रान्तिमान् अभिधान अन्वर्थक है।[176] चलनार्थक 'भ्रम्' धातु से भाव अर्थ में (स्त्रियांक्तिन्, पा. 3/3/94) 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर (अनुनासिकस्य क्विझलोःक्ङिति, 6/4/15 सूत्र से) दीर्घ होकर भ्रान्ति शब्द बनता है। उससे (तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्, 5/2/94) 'मतुप्' प्रत्यय होने पर 'भ्रान्तिमान्' शब्द की निष्पत्ति होती है, जो पूर्वकथित अर्थ का बोधक है। सन्देह और भ्रान्तिमान् दोनों ही अलंकारों के मूल में 'स्मरण ज्ञान' अवस्थित है। स्मरण ज्ञान दो प्रकार का होता है, यथार्थ और अयथार्थ। अयथार्थ ज्ञान को भी चार प्रकार का माना गया है, संशय, विपर्यय, स्वप्न और अनध्यवसान। समान धर्मवाले सदृश धर्मियों के ज्ञान-विशेष के उपलक्षित न होने के कारण कोटिद्वय स्मरण से 'यह स्थाणु है या पुरुष' इस प्रकार का ज्ञान संशय कहा जाता है। इससे विपरीत अर्थात् एककोटिक ज्ञान विपर्यय ज्ञान है। संशय सन्देह अलंकार का मूल है और विपर्यय भ्रान्तिमान् का। भ्रान्ति में चित्त का विपर्यय रूप निश्चयात्मक ज्ञान होता है, जैसे—शुक्तिका में रजत

का ज्ञान। सीपी में चांदी का ज्ञान चित्त का विपर्यय रूप भ्रान्ति ही है। परन्तु काव्य में 'शुक्तिकायां रजतम्' इस प्रकार के ज्ञान को अलंकार नहीं माना जाता, क्योंकि वहां कविकल्पना से उद्भूत सादृश्यात्मक और अनाहार्य भ्रम ही विवक्षित है।[177] स्वारसिक या वास्तविक भ्रान्ति अलंकार नहीं है। शोभाकर जैसे इसके अपवाद भी हैं, जो सादृश्यमूलक भ्रान्ति तथा सादृश्य से अतिरिक्त निमित्तान्तरोद्भूत भ्रान्ति में भी अलंकार मानते हैं। उनका अभिमत है कि यदि चमत्कार है तो भ्रान्ति चाहे जैसी हो, उसे अलंकार ही कहना चाहिये :

**'सादृश्यहेत्वन्तरयोर्भ्रमेषु न लेशतः क्वापिविशेषबुद्धिः'** —अ.र., पृ. 53

भ्रान्तिमात्र ही इसमें अलंकार है। अतएव भ्रान्तिमान् नाम औपचारिक है :

**'अत्र च भ्रान्तिमात्रमलंकारः, भ्रान्तिमानलंकार इति व्यवहारस्त्वौपचारिकः'**
—र.गं., पृ. 266

संभवतः इसीलिये भोज, अप्पयदीक्षित प्रभृति आचार्य इसे भ्रान्ति नाम से ही व्यपदिष्ट करते हैं।

भामह, दंडी, उद्भट तथा वामन ने इस अलंकार का विवेचन नहीं किया है, किन्तु दंडी ने उपमा का एक भेद 'मोहोपमा' का उल्लेख किया है। यद्यपि उन्होंने 'मोहोपमा' का लक्षण नहीं किया है, किन्तु उदाहरण 'भ्रान्ति' के समान ही है :

**'शशीत्युत्प्रेक्ष्य तन्वंगि त्वन्मुखं त्वन्मुखाशया।**
**इन्दुमप्यनुधावामीत्येषा मोहोपमा स्मृता।।'** काव्याद., 2/25

यहां मुख में चन्द्र की भ्रान्ति (मोह) होने से भ्रान्तिमान् (मोहोपमा) अलंकार है। सर्वप्रथम रुद्रट ने औपम्यमूल अलंकारों के अन्तर्गत 'भ्रान्तिमान्' का भी विवेचन किया है। उनके अनुसार जहां प्रतिपत्ता (ज्ञाता) अर्थ विशेष को देखकर उसे बिना किसी सन्देह के उसके समान दूसरी वस्तु समझ ले, वहां भ्रान्तिमान् अलंकार होता है।[178] रुद्रट ने कारिका में उपमान-उपमेय का उल्लेख नहीं किया है। नमिसाधु की निम्न व्याख्या इसे स्पष्ट करती है :

**'यत्र प्रतिपत्तार्थविशेषमुपमेयलक्षणं**
**पश्यंस्तत्सादृश्यादन्यमेवार्थमुपमानलक्षणं निः संशयमबुध्येत स**
**इत्यमुना प्रकारेण भ्रान्तिमान्नामअलंकारः'** —मै.सा.का., 8/87 पर

भोज के अनुसार विपर्ययज्ञान (जो जैसा नहीं है, उसमें उस प्रकार का निश्चय)

ही भ्रान्ति है।[179] भोज की दृष्टि में सादृश्य में ही भ्रान्ति हो, आवश्यक नहीं है। मम्मट का कथन है कि प्रकृत वस्तु के समान वस्तु को देखकर अन्य संवित्ति (ज्ञान) भ्रान्तिमान् अलंकार है।[180] स्पष्ट है कि यह रुद्रट की परिभाषा का ही परिमार्जन है। मम्मट के लक्षण में 'संवित्ति' इस बात का सूचक है कि भ्रान्ति में विषय का तिरोधान और विषयी की संवित्ति आवश्यक है, क्योंकि यहां प्रमाता को रूपक की भांति विषय और विषयी दोनों का ज्ञान नहीं रहता, अपितु विषय की विषयी रूप में भ्रान्ति हो जाती है। शुक्तिका में रजत की भ्रान्ति होने पर प्रमाता को रजत का निश्चयात्मक ज्ञान होता है, अन्यथा यदि उसे विषय का भी ज्ञान रहे तो भ्रम काहे का? संवित्ति का यहां अर्थ निश्चयात्मक ज्ञान ही है। अतएव मम्मट का अभिप्राय यह है कि उपमेय के समान किसी अन्य वस्तु को देखकर उपमेय को ही भ्रमवश प्रमाता उपमान समझ बैठता है। अतएव यहां आरोप के बजाय अध्यवसान की प्रक्रिया बलवती रहती है। संभवतः यही समझकर मम्मट ने इसका निरूपण रूपक के बाद नहीं किया। ध्यातव्य है कि स्मरण की भांति भ्रान्ति में भी तीन प्रकार की मानसिक प्रक्रिया काम करती है: (1) प्राकरणिक के समान अप्राकरणिक विषय या वस्तु का दर्शन, (2) उसके दर्शन से संस्कार का उद्बुद्ध होना, (3) संस्कार से उत्पन्न स्मृतिपथ में आये हुए वस्तु (प्राकरणिक) की अप्राकरणिक रूप में भ्रान्ति।[181] मम्मट ने अतिशयोक्ति (भेदेऽभेदरूपा) से भी इसकी पृथक् विषयता का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि अध्यवसायात्मिका अतिशयोक्ति में भ्रम न होने पर भी अध्यवसान होता है, किन्तु यहां भ्रम के ही कारण वस्तु की अन्यथा प्रतीति होती है।[182] रुय्यक की भी परिभाषा मम्मट के ही समान है—'सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिः भ्रान्तिमान्' —अ.स.सू., 18. अर्थात् सादृश्य के कारण एकवस्तु में अन्य वस्तु की प्रतीति (भ्रम) भ्रान्तिमान् है। भ्रान्ति की निरुक्ति करते हुए उनका कथन है कि भ्रान्ति चित्तधर्म है, जिस कथन में वह विद्यमान है, वही भ्रान्तिमान् है। परन्तु इसमें सादृश्य होना आवश्यक है। गाढ मर्म प्रहार आदि से उत्पन्न भ्रान्ति इसका विषय नहीं हो सकती। यही नहीं उनका यह भी कथन है कि सादृश्यात्मक भ्रान्ति भी अलौकिक विच्छित्ति के लिये कविप्रतिभा निवर्तित होने पर ही अलंकार मानी जा सकती है न कि शुक्तिका में रजत की भांति स्वरसोत्थापित।[183] रुय्यक के सभी टीकाकार जयरथ आदि उनसे सहमत हैं।[184] रुय्यक ने भ्रान्तिमान् को जहां आरोपमूल माना है, वहीं जयरथ इसे नहीं मानते। उनका कथन है कि विषय और विषयी के एक प्रमाता का विषय होने को आरोप कहा जाता है। आरोप में दोनों का ज्ञान प्रमाता को रहता है किन्तु भ्रम को आरोप गर्भ नहीं मान सकते, क्योंकि सीपी का यदि

सीपी के ही रूप में ज्ञान हो तब तो उसमें रजत ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है। अतएव शोभाकर के ही आधार पर जयरथ भी भ्रान्तिमान् को अध्यवसायमूल कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

शोभाकर की भ्रान्तिमान् परिभाषा रुय्यक से भिन्न है। उनकी दृष्टि में विषय का अन्य रूप में (असम्यक् अभिमान रूप) निश्चय ही भ्रान्तिमान्[185] है। शोभाकर का अभिमत है कि भ्रान्तिमान् केवल सादृश्य निमित्त ही नहीं होता है, वह भावावसाय, शोक, आदि अन्य निमित्त से भी हो सकता है। इसी आधार पर शोभाकर ने मम्मट, रुय्यक, आदि के लक्षण को अव्यापक सिद्ध किया है। उनका कहना है कि सादृश्य-व्यतिरिक्त अन्य निमित्तों से भी उद्भूत भ्रान्ति में यदि विच्छित्ति है, तो उसे अलंकार मानना पड़ेगा, क्योंकि विच्छित्ति[186] ही अलंकार है। परन्तु विमर्शिणीकार जयरथ शोभाकर के उदाहरण :

**'प्रासादे सा पथिपथि च सा पृष्ठतः सा पुरस्सा**
**पर्यङ्के सा दिशिदिशि च सा तद्वियोगातुरस्य।**
**हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा**
**सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः।।'** —अ.र., पृ. 52

में भ्रान्तिमान् अलंकार मानने को उद्यत नहीं है। शोभाकर के अनुसार यहां नायक को अतिशय अनुराग के कारण प्रासाद आदि भी प्रियतमा के रूप में प्रतीत हो रहे हैं। अतएव यह सादृश्येतर निमित्त के कारण उत्पन्न[187] भ्रान्ति का उदाहरण है। जयरथ का कथन है कि भ्रान्तिमान् अलंकार तभी होगा, जब भ्रान्ति सादृश्य के कारण हो। यहां नायक को एक ही नायिका की प्रासाद आदि अनेक रूपों में भ्रान्ति हो रही है, जिसका कारण अतिशय अनुराग ही है। यहां भ्रान्तिमान् तब माना जा सकता था जब प्रासाद आदि ही नायिका के रूप में प्रतीत होते। अतएव यहां भ्रान्तिमान् अलंकार न होकर, विशेष अलंकार है।[188] वस्तुतः शोभाकर सादृश्येतर निमित्त भ्रान्ति में इसलिये भ्रान्तिमान् अलंकार मानते हैं कि जिससे 'संस्कार' नामक एक पृथक् अलंकार की योजना से बच सकें। इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

नरेन्द्रप्रभसूरि तथा हेमचन्द्र के अनुसार सादृश्य से उत्पन्न विपर्यय ज्ञान ही भ्रान्तिमान् अलंकार है।[189] वाग्भट (1) का लक्षण, मम्मट के ही समान है।[190] वाग्भट (2) मिथ्या ज्ञान को भ्रान्ति कहते हैं।[191] जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ मम्मट के अनुगामी हैं।[192] अमृतानन्दयोगी तथा केशव मिश्र ने इसका उल्लेख नहीं किया है। अप्पयदीक्षित ने 'कुवलयानन्द' में तो जयदेव की कारिका[193]

अपनायी है किन्तु 'चित्रमीमांसा' में विद्यानाथ के लक्षण को स्वीकार कर लिया है, जिसके अनुसार कविकल्पित सादृश्य से पिहित (छिपे हुए स्वरूपवाले) विषय में आरोप्यमाण (विषयी) का अनुभव ही भ्रान्तिमान् अलंकार है। उनका कथन है कि भ्रान्तिमान् में विषय का विषयी रूप में अनुभव स्वारसिक तथा कविकल्पित होता है, क्योंकि स्वारसिक (वास्तविक) अनुभव में ही विषय को ढंकने (पिहितत्व) की सामर्थ्य है। रूपक में विषय और विषयी दोनों की प्रतीति होती है। 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि रूपक में विषय में विषयी की प्रतीति स्वारसिक न होकर अवास्तविक होती है। अर्थात् विषय पिहित नहीं होता। उनका कथन है कि लक्षण में 'पिहितात्मनि' विशेषण इसीलिये लगाया गया है कि जिससे उसकी अतिव्याप्ति रूपक में न हो।[194] कर्णपूर विश्वनाथ का अनुसरण करते हैं।[196] देवशंकर जयदेव तथा अप्पयदीक्षित (कुवलयानन्द) का अनुगमन करते हैं।[196]

जगन्नाथ की परिभाषा में तार्किकता का पुट अधिक है। उनके मत से (प्रकृत) सदृश धर्मी में सादृश्य प्रयुक्त अन्य धर्मी का तादात्म्य सम्बन्ध से चमत्कारी अनाहार्य निश्चय भ्रान्ति है। पशु, पक्षी, आदि गत इस प्रकार की भ्रान्ति को जब वाक्य संदर्भ (काव्य) में निबद्ध किया जाता है, तो भ्रान्तिमान् अलंकार होता है। भ्रान्ति मात्र ही यहां अलंकार है, इसका भ्रान्तिमान् नाम तो औपचारिक है।[197] लक्षण की व्याख्या में उन्होंने कहा है कि मीलित, सामान्य और अतद्गुण अलंकार का वारण करने के लिये लक्षण में 'धर्मिद्वय' का समावेश किया गया है। रूपक ज्ञान को भी भ्रान्ति न समझ लिया जाये, इसलिये लक्षण में 'अनाहार्य' पद को ग्रहण किया है। संशय का निषेध करने के लिये 'निश्चय' का तथा सीपी में रजत की भ्रान्ति को अलंकार न मान लिया जाये इसलिये 'चमत्कारी' पद का उपन्यास किया गया है। सीपी में रजत की भ्रान्ति लौकिक होने से कविप्रतिभाविहीन तथा चमत्कारशून्य होती है। 'सादृश्य प्रयोज्य' पद से सादृश्येतर निमित्त उन्माद आदि से उत्पन्न भ्रान्ति का वारण होता है।[198]

जगन्नाथ अपने स्वभाव के ही अनुसार अप्पयदीक्षित के चित्रमीमांसा-प्रोक्त भ्रान्तिमान् लक्षण का खंडन करते हैं। उनका अभिमत है कि रूपक के वारण के लिये लक्षण में 'पिहितात्मनि' पद का समावेश, जैसा कि अप्पयदीक्षित स्वीकारते हैं—अनावश्यक है। रूपक में आरोप्यमाण वस्तु के अनुभव का वर्णन नहीं किया जाता, अपितु आरोप्यमाण (विषयी) से वह अनुभव (विषय में विषयी का अरोप रूप) उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जगन्नाथ सविस्तार दीक्षित के लक्षण का खंडन करते हैं।[199] जगन्नाथ की ही दृष्टि से विचार किया जाये तो उनका भी लक्षण अनुपद

दूषित प्रतीत होता है। उनका यह कथन कि मीलित, सामान्य तथा अतद्गुण के वारण के लिये लक्षण में 'धर्मिद्वय' पद का ग्रहण किया गया है : अयुक्त है, क्योंकि, मीलित आदि अलंकारों में भी दो धर्मी का वर्णन उपात्त रहता है। अस्तु। अप्पयदीक्षित के लक्षण का खंडन करने वाले जगन्नाथ की दीक्षित के प्रति ईर्ष्या बुद्धि ही अधिक काम करती है अन्यथा यह लक्षण तो विद्यानाथ का है। जगन्नाथ को चाहिये था कि दीक्षित का खंडन न करके विद्यानाथ का खंडन करते। पिहित विषय में आरोप्यमाण (विषयी) का अनुभव वर्ण्य हो या उससे उत्पन्न हो, दीक्षित का इस विषय में तो कोई आग्रह है नहीं। अतएव जगन्नाथ की उपर्युक्त व्याख्या[200] का कोई महत्त्व नहीं है। धरानन्द ने इसीलिये अप्पयदीक्षित के मत को उपयुक्त सिद्ध किया है। सुधाकार (घरानन्द) ने तो जगन्नाथ के भी लक्षण को उल्लेख आदि अलंकारों में अतिव्याप्त सिद्ध किया है।[201] अप्पयदीक्षित भिन्न-भिन्न कर्ता में उत्पन्न उत्तरोत्तर भ्रान्ति निबन्धन में भी भ्रान्तिमान् अलंकार स्वीकार करते हैं :

**शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुगं चुम्बितं चञ्चरीकै-**
**स्तत्त्रासोल्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदष्टाः।**
**तल्लोपायालपन्त्यः पिकननदधिया ताडिता काकलोकै-**
**रित्थं चोलेन्द्रसिंह त्वदरिमृगदृशां नाप्यरण्यं शरण्यम्॥** —चि.मी., पृ. 221

(हे चोलाधिपति सिंह। तुम्हारे शत्रु की औरतों को जंगल में भी शरण नहीं मिलती। गुंजन करते हुए भ्रमर उनके दोनों स्तनकलशों को मंजरी समझकर चूमा करते हैं, उनके भय से उठाये गये हाथों को किसलय समझकर कीट आदि डस लेते हैं, हाथों को छिपाने के लिये जब आपस में आलाप करती हैं तो कोकिल शब्द की भ्रान्ति से कौवे मारा करते हैं।)

यहाँ एक ही औरत में भ्रमर, कीट तथा काक समूह द्वारा मंजरी, किसलय और कोकिल की भ्रान्ति होने से यह भिन्नकर्तृक भ्रान्ति का उदाहरण है।

जगन्नाथ का कथन है कि इस पूरे श्लोक में ही भ्रान्ति नहीं है। पहली बात तो यह है कि स्तनकलश युगों से मंजरी का कोई साम्य नहीं है, जिससे चंचरीकों को उसकी भ्रान्ति हो। साम्य स्वीकार भी कर लें तो इस प्रकार का सादृश्य कविसमय के विरुद्ध होने से दोष माना जायेगा, दोष कभी अलंकार नहीं कहा जाता। दूसरी बात यह है कि स्तन में जब एक बार कलश का आरोप करके रूपक अलंकार सिद्ध कर दिया गया, तो पुनः उसी में मंजरी की भ्रान्ति का निबन्धन सहृदय के लिये उद्वेजक भी हो सकता है। जिस वस्तु में सादृश्यमूलक एक अलंकार का

निबन्धन हो चुका है, उसी में पुनः सादृश्यमूलक दूसरे अलंकार का निबन्धन शोभावह नहीं होता। प्रत्युत् कलश रूपक के द्वारा मंजरी के सादृश्य का तिरस्कार भी होता है। 'तत्रासोल्लासलीलाकिसलयमनसा पाणयः कीरदष्टाः' में तो विधेयाविमर्श दोष भी है, क्योंकि यहां 'कीरैर्दष्टाः' होना चाहिये। पिक के निनाद पर कौवे मारते नहीं हैं, जिससे आलाप करती हुई वे औरतें मारी जायें। औरतों के आलाप में पिक शब्द की भ्रान्ति संभव नहीं है और यदि हो भी तो वह सादृश्यमूल नहीं होगा। काव्य में पिक आदि के शब्दों को 'कूजन' आदि शब्दों के द्वारा वर्णित किया जाता है, न कि 'निनाद' शब्द के द्वारा। 'निनाद' आदि शब्दों का प्रयोग सिंह तथा दुन्दुभी आदि के शब्दों में किया जाता है। इन दोषों के अतिरिक्त इस उदाहरण में 'भग्नप्रक्रम' दोष भी है। प्रथम तथा द्वितीयपाद का षष्ठ्यन्त पद 'अरिमृगीदृशां' से जिस किसी प्रकार से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, किन्तु तृतीय पाद में आये हुए 'आलपन्त्यः' का उससे सम्बन्ध नहीं बैठता। अतएव जगन्नाथ के विचार से उक्त उदाहरण अव्युत्पन्नव्यक्तिनिर्मित है। दीक्षित तो यहां भ्रान्ति अलंकार का अंशमात्र मानकर उदाहरण के रूप में इसका प्रयोग करते हैं।[202]

सुधाकार ने जगन्नाथ के उपर्युक्त मन्तव्य का भी विरोध किया है। उनका कथन है कि नायिका में मंजरी का सादृश्य कविसमय प्रसिद्धि-समर्थित है। अतएव स्तनकलश के सम्बन्ध से उनका चुम्बन उपयुक्त है। द्वितीय पाद में 'विधेयाविमर्श' दोष भी नहीं है, क्योंकि वहां दंशन की ही विधेयता है। तीसरे पाद में नायिका के स्वर में कोकिल-कूजन की भ्रान्ति होने के कारण नायिका में कोकिल की भ्रान्ति हो गयी है। अतएव कोकिल-भ्रान्ति से काक-समूह का ताडन उचित है।[203] वस्तुतः चमत्कार युक्त भ्रान्ति ही अलंकार है और वह इस उदाहरण में सर्वत्र है। अतएव यहां भ्रान्तिमान् का अपलाप अशक्य है।

जगन्नाथ ने 'सादृश्याद्वस्त्वन्तर[204] प्रतीतिर्भान्तिमान्' रुय्यक के इस लक्षण को भी दुष्ट कहा है। उनका अभिमत है कि यह लक्षण संशय तथा उत्प्रेक्षा अलंकार में भी अतिव्याप्त है और 'प्रतीति' पद का अर्थ निश्चयपरक होने से लक्षण का रूपक में भी अतिप्रसंग हो जाता है।[205] जगन्नाथ का उपर्युक्त कथन असंगत है। यह ठीक है कि रुय्यक का लक्षण, संशय, आदि अलंकारों में भी अतिव्याप्त है, किन्तु यह बात केवल सूत्र के विषय में कही जा सकती है। रुय्यक ने सूत्र के अतिरिक्त वृत्ति भी तो लिखी है। जगन्नाथ उस पर ध्यान नहीं देना चाहते। भ्रान्तिमान् अलंकार के सूत्र की वृत्ति में रुय्यक द्वारा कहा गया 'असम्यक् ज्ञानत्वसाधर्म्यात्'[206] इत्यादि पद भ्रान्तिमान् को उत्प्रेक्षा आदि से पृथक् करता है। संशय में उभयकोटिक विमर्श

किया जाता है, किन्तु अन्य वस्तु की प्रतीति नहीं होती। उत्प्रेक्षा में अन्यवस्तु की संभावना की जाती है, यद्यपि यह संभावना उत्कटैककोटिक (एक पक्ष-उपमान में उत्कट) होती है, किन्तु निश्चय नहीं होता। भ्रान्तिमान् में प्रकृत में अप्रकृत की भ्रान्ति निश्चयपूर्ण होती है। रूपक में भेद-प्रतीति होते हुए भी अभेद की प्रतीति होती है, किन्तु पदार्थ की अन्य रूप में भ्रान्ति नहीं होती। भ्रान्तिमान् में प्रतिपत्ता को भेद-प्रतीति नहीं होती, किन्तु कवि को दोनों वस्तुओं का ज्ञान रहता है। अतिशयोक्ति (भेदेऽभेदः) में विषय का विषयी द्वारा सर्वथा निगरण कर लिया जाता है। परन्तु यह अभेद प्रतीति आहार्य होती है। भ्रान्तिमान् में वस्तु में अन्य वस्तु की प्रतीति अनाहार्य (वास्तविक) होती है, यह अनाहार्य बुद्धि कवि निबद्ध[207] प्रमाता में होती है, कवि को नहीं। अतएव इन अलंकारों में परस्पर भेद स्पष्ट है। तथापि इस तथ्य को मानना पड़ेगा कि रुय्यक ने भ्रान्तिमान् के विवेचन के समय जगन्नाथ द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का निराकरण करने का प्रयास नहीं किया है। इस दृष्टि से मम्मट स्तुत्य हैं, जिन्होंने भ्रान्तिमन् को रूपक आदि से पृथक्[208] किया है। अभिनव कालिदास (नरसिंह कवि) ने भ्रान्तिमान् का विद्यानाथ वाला ही लक्षण ले लिया है।[209] अच्युतराय[210] जगन्नाथ का अनुगमन करते हैं, तो छज्जूराम शास्त्री मम्मट आदि के समान[211] लक्षण करते हैं।

विवेचन के उपरान्त यही प्रतीत होता है कि प्रकृत वस्तु के समान अन्य (अप्रकृत) वस्तु को देखकर अप्रकृत में प्रकृत की भ्रान्ति ही भ्रान्तिमान् अलंकार है। रास्ते में पड़ी हुई रज्जु (रस्सी) को देखकर सादृश्य के कारण चित्त विपर्यय हो जाता है और रस्सी को हम सर्प समझ बैठते हैं। यही भ्रान्ति कविकल्पनाजन्य होकर अलंकांर बन जाती है। रज्जु में सर्प की भांति चन्द्रिका आदि में दुग्ध आदि की भ्रान्ति संभव है, परन्तु यह भ्रान्ति कवि को नहीं होती, प्रत्युत कविनिबद्धपात्र को होती है। अतएव यहां कवि को आहार्य निश्चय तथा प्रमाता को अनाहार्य निश्चय होता है। यह भ्रान्ति चित्त का धर्म है, मिथ्या ज्ञान है। अतएव विवेचन के उपरान्त आचार्यों के भ्रान्तिमान् लक्षण में समन्वय स्थापित करना अनुपयुक्त नहीं है। सादृश्य से अतिरिक्त भ्रान्ति में भी कभी-कभी विच्छित्तिविशेष देखी जाती है। अतएव ऐसे स्थलों को भी भ्रान्तिमान् अलंकार के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

### आरोप या अध्यवसाय

रुय्यक, जगन्नाथ, आदि अधिकांश आलंकारिक आरोप या तादात्म्य में ही भ्रान्ति मानने के पक्षपाती हैं। रुय्यक आदि का अभिमत है कि सादृश्य के कारण

होने वाली दो वस्तुओं में भ्रान्ति आरोपजन्य है। शोभाकर और सर्वस्व के विमर्शिणी व्याख्याकार जयरथ इसे अध्यवसायमूल ही मानते हैं। उनका कथन है कि आरोपगर्भ रूपक में कवि तथा प्रमाता दोनों को विषय और विषयी का पृथक् ज्ञान भी रहता है, किन्तु भ्रान्तिमान् अलंकार में विषय विषयी में छिप जाता है। विषय की विषयता का ज्ञान ही नहीं रहता। यह भ्रान्ति भिन्न प्रमातृविषय है। तात्पर्य यह कि कवि को तो दोनों वस्तुओं का ज्ञान रहता है, किन्तु प्रमाता को विषयी के ही रूप की प्रतीति होती है। अतएव रूपक एकप्रमातृगत है तथा भ्रान्तिमान् भिन्न प्रमातृगत। उनका कथन है कि 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि रूपक में कवि तथा सहृदय प्रमाता दोनों को 'मुख' और 'चन्द्र' की पृथक् सत्ता का बोध रहता है, किन्तु यदि 'मुखं चन्द्रः' की प्रतीति के समान ही भ्रान्ति प्रतीति को भी स्वीकार करें तब तो सीपी में होने वाली रजत की भ्रान्ति होगी ही नहीं। सीपी का सीपी के ही रूप में ज्ञान होने पर तो रजत से उसकी अभिन्नता का बोध ही नहीं होगा और ऐसी स्थिति में भ्रान्ति होना असंभव है। इसलिये भ्रान्तिमान् आरोपमूल कभी हो ही नहीं सकता। इसीलिये शोभाकर ने उत्प्रेक्षा के बाद इसका विवेचन किया है, जबकि रुय्यक आदि सन्देह के बाद विवेचन करते हैं।[212] वस्तुतः शोभाकर का यह मत ग्राह्य और युक्तिसंगत है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, भ्रान्तिमान् में विषयी, विषय को अपने स्वरूप में छिपा लेता है। रजत ज्ञान से सीपी का ज्ञान आच्छन्न हो जाता है, इस प्रकार की भ्रान्ति अध्यवसाय से ही संभव है आरोप से नहीं। संभवतः इसीलिये मम्मट ने भी इसे बहुत बाद में रखा है।

## भेद-विवेचन

रुद्रट, मम्मट, रुय्यक तथा उनके अनुगामी आलंकारिकों ने भ्रान्तिमान् का प्रायः भेद-विवेचन नहीं किया है। भोजराज, शोभाकर प्रभृति आचार्य इसके अपवाद हैं। भोज ने प्रथमतः भ्रान्ति का दो भेद किया है : (1) अतत्त्वे तत्त्वरूपा (जो जैसा नहीं है, उसमें वैसा आरोप), (2) तत्त्वे अतत्त्वरूपा (जो वस्तु जिस प्रकार की है, उसमें वैसा न होने का आरोप) इन दो भेदों के भी तीन-तीन भेद होते हैं। प्रथम भ्रान्ति, बाधिता, अबाधिता तथा कारणबाधिता भेद से तीन प्रकार की होती है। इसी प्रकार द्वितीय भ्रान्ति भी हानहेतु, उपादानहेतु तथा उपेक्षाहेतुजन्य होने से त्रिधा होती है।[213] आगे भोज यह भी प्रतिपादित करते हैं कि भ्रान्तिमान् भ्रान्तिमाला, भ्रान्ति अतिशय तथा भ्रान्ति अनध्यवसाय भ्रान्ति से व्यतिरिक्त[214] नहीं है। तात्पर्य यह कि मम्मट आदि जो इसे 'भ्रान्तिमान्' अभिधान प्रदान करते हैं, वह भ्रान्ति ही है।

भ्रान्ति-अतिशय दो प्रकार का होता है, वितर्क हेतु और विपर्ययहेतु। वितर्क हेतु को भोजराज उपमाभ्रान्ति कहते हैं तथा विपर्यय हेतु को भ्रान्त्यतिशय। सालम्बन-निरालम्बन भेद से भ्रान्ति अनध्यवसाय भी द्विधा होता है।[215] भोजकृत भ्रान्ति का यह विस्तार काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, शोभाकर भ्रान्ति को सादृश्यनिमित्तक तथा सादृश्य से रहित अन्य निमित्तों में भी भ्रान्तिमान् स्वीकार करते हैं। सादृश्येतर सम्बन्ध वाली भ्रान्ति का उदाहरण 'प्रासादे सा पथि-पथि' इत्यादि दिया जा चुका है। भोज के आधार पर नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी, अतत्त्वे तत्त्वरूपा, तत्त्वे अतत्त्वरूपा तथा मालाभ्रान्तिमान्—भ्रान्ति का तीन भेद स्वीकार किया है।[216] अप्पयदीक्षित भी सादृश्य से व्यतिरिक भ्रान्ति को अलंकार नहीं मानते,[217] किन्तु उन्होंने भ्रान्ति के उत्तरोत्तर विस्तार में, भिन्नकर्तृक तथा अन्योन्य विषयक भ्रान्ति में भी इसका उदाहरण[218] प्रस्तुत किया है। आचार्य विश्वेश्वर ने भी चार प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, कहीं एक विशेष्य प्रयुक्त भ्रान्ति होती है तो कहीं अन्योन्यविशेष्य-प्रयुक्त भिन्न प्रकार की और कहीं-कहीं एक ही वस्तु में अनेक प्रकार की भ्रान्ति हो जाती है, तो कहीं एक ही वस्तु में अनेक लोगों को अनेक प्रकार की।[219] जगन्नाथ के द्वारा दिया गया भ्रान्तिमान् का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

**'कनकद्रवकान्तिकान्तया मिलितं राममुदीक्ष्य कान्तया।**
**चपलायुतवारिदभ्रमान्ननृते चातकपोतकैर्वने।।'** —र.गं., पृ. 267

(सोने के पानी की सी कान्तिमती कमनीय सीता से युक्त राम को देखकर बिजली से युक्त मेघ समझकर वन में चातक पक्षी के बच्चे नाच उठे।) यहां स्वर्णिम कांति युक्त सीता सहित नीले रामचन्द्र जी में सादृश्य के कारण चातक के बच्चों को बिजली युक्त मेघ की भ्रान्ति हो रही है। अतएव यह सादृश्य मूला भ्रान्ति का उदाहरण है।

एकवस्तु में अनेक की भ्रान्ति :

**'कपाले मार्जारः पय इति करांल्लेढि शशिनः**
**तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी संकलयति।**
**रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यशुंकमिति**
**प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति।।**[220]

(आश्चर्य है कि प्रभा से उन्मत्त चन्द्रमा संसार को भ्रम में डाल दिया है, कपाल में पड़ी हुई चन्द्रकिरणों को मार्जार दूध समझकर चाट रहा है, वृक्ष की पत्तियों के छेद

से गिरती हुई किरणों को हाथी बिसकाण्ड समझकर खींचना चाहता है, शैय्या पर पड़ी हुई शशि-किरणों को सुरत के बाद कामिनी अंशुक समझकर खींच रही है।) यहां एक ही चन्द्रकिरण रूप वस्तु में सादृश्य के कारण मार्जार को दूध का, हाथी को बिस का तथा कामिनी को अंशुक का भ्रम हो रहा है। अतएव यह एक ही वस्तु में अनेक भ्रान्ति का उदाहरण है। नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार यह 'तत्त्वे अतत्त्वरूपा' भ्रान्ति का उदाहरण है।

## धर्माश्रित भेद

जयरथ तथा जगन्नाथ ने भ्रान्तिमान् का भी धर्म के आधार पर त्रिधा विभाजन किया है, अनुगामी, शुद्धसामान्यरूप तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव।[221] पूर्वोक्त 'कनकद्रवकान्तिकान्तया' इत्यादि उदाहरण में 'सीता' और 'तडित्' में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है तथा 'युतत्त्व' और 'मिलितत्त्व' में शुद्ध सामान्यत्त्व[222] (वस्तुप्रतिवस्तुभाव)।

## संस्कार-अलंकार का अन्तर्भाव

'अलंकार भाष्यकार' का ग्रन्थ समुपलब्ध नहीं है। सर्वप्रथम शोभाकर ने ग्रन्थ का नाम उल्लेख न करते हुए भी अपने ग्रन्थ में इसका खण्डन प्रस्तुत किया है। शोभाकर के मत में यह भ्रान्ति में ही अन्तर्भूत है, किन्तु जयरथ अलंकार भाष्यकार के मत को पुष्ट करते हुए शोभाकर की विचार-सरणि को दुष्ट सिद्ध करते हैं। जयरथ ने 'अलंकारोदाहरण' में संस्कार का निम्न लक्षण किया है :

**'अनुभूतवासनानुमेयस्संस्कारः-'**[223]

पूर्ववासना जहां किसी कार्य का निमित्त बनती है, वहां यह संस्कार अलंकार होता है। अलंकारभाष्यकार के अनुगामी जयरथ के अनुसार पूर्ववासना या संस्कार पर आधृत इस अलंकार को सादृश्यमूलक भ्रान्ति के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। संस्कार का उदाहरण :

**'दातुं वांछति दक्षिणेऽपिनयने वामः करः कज्जलं**
**भौजंगं च भुजेऽङ्गदं घटयितुं वामेऽपि वामेतरः।**
**इत्थं स्वं स्वमशिक्षितं भगवतोरर्धं वपुः पश्यतोः।**
**साधारस्मितलांछितं दिशतुवो वक्त्रं मनोवांछितम्।।'**

—अ.र., पृ. 53, वि.पृ. 45

यहां अर्धनारीश्वर शिव का वर्णन किया गया है। पार्वती का वाम कर संस्कारवश दक्षिण नेत्र (शिव के नेत्र) में काजल लगाने के लिये उठ जाता है और शिव का दाहिना हाथ सर्पवलय को वामबाहु (पार्वती के हाथ) में पहनाने लगता है। अलंकार-भाष्यकार और जयरथ के अनुसार भवानी तथा शिव के उक्त कार्य संस्कारवश ही हो रहे हैं। शोभाकर का विरोध करनेवाले जयरथ का अभिमत है कि बिना संस्कार के पार्वती का बायां हाथ दाहिने नेत्र में काजल लगाने के लिये तथा शिव का दायां हाथ बायें हाथ में भुजंग वलय डालने के लिये उठ ही नहीं सकता। उनका कथन है कि प्ररूढ संस्कार ही भ्रम है और स्वात्मगत संस्कार ही संस्कार अलंकार। यहां संस्कार का प्ररोह नहीं हुआ है, अतएव भ्रान्ति नहीं है।[224]

शोभाकर का अभिमत है कि यहां संस्कार न होकर 'भ्रान्तिमान्' अलंकार है। शोभाकर की दृष्टि में 'प्रकृत वस्तु का अन्य रूप में निश्चय ही भ्रान्तिमान् अलंकार है। भ्रम के लिये सादृश्य आवश्यक नहीं है। प्रतीति भेद अलंकार भेद का नियामक है। निमित्त भेद (सादृश्येतर, वासना, अनुराग, प्रहार, आदि) होने पर भी यदि कविप्रतिभोद्भूत विच्छित्ति से युक्त भ्रम का वर्णन हो तो उसे भ्रान्तिमान् के ही अन्तर्गत रखना चाहिये। यदि आपका 'सादृश्याद्वस्त्वन्तर प्रतीतिर्भ्रान्तिमान्' लक्षण अव्यापक है, तो व्यापक लक्षण बनाना चाहिये। पृथक् से अलंकार की उद्भावना आवश्यक नहीं है। उक्त श्लोक में पार्वती और शिव के सतत अभ्यास के कारण प्ररूढ संस्कार ही भ्रान्ति का हेतु है। संस्कारबोध के बिना भ्रान्ति असंभव है। संस्कार के प्ररोह या प्रबोध का भ्रान्ति में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। अतएव उक्त उदाहरण में भ्रान्तिमान् अलंकार है। इसलिये 'संस्कार' को पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है :[225]

> **'सादृश्यहेत्वन्तरयोर्भ्रमेषु न लेशतः क्वापि विशेषबुद्धिः।**
> **प्रतीतिभेदेन विना न वाच्यः कुत्राप्यलङ्कारगतश्चभेदः।।**
> **निमित्तभेदेन च भिन्नतायां प्रसज्यते सा खलु संशयादौ।।** अ.र., पृ. 53

शोभाकर का मत युक्तिसंगत और ग्राह्य है।

## निश्चय का खंडन

विहित या आशंकित अर्थ की विशेष प्रतीति के लिये निषेध निश्चय अलंकार है। ऐसा शोभाकर मानते हैं। बाद में साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने उपमान के निषेधपूर्वक उपमेय की अवस्थापना में 'निश्चय' नामक एक अलंकार का विवेचन

किया है।[226] उसका उदाहरण निम्न है :

**'वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्दीवरे एते।**
**इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर मुधा परिभ्रमसि।।'** सा.द., पृ. 506

(हे भ्रमर! इस सुन्दरनयनी के समीप तुम व्यर्थ ही चक्कर काट रहे हो, यह मुख है कमल नहीं, ये दोनों नेत्र हैं, नीलकमल नहीं हैं।) विश्वनाथ के अनुसार 'सरोज' और 'इन्दीवर' का निषेधकर वदन तथा नेत्र का निश्चय होने के कारण यहां 'निश्चय' अलंकार है। वस्तुतः यहां भ्रान्तिकृत चमत्कार का ही सौन्दर्य है। भ्रमर को तो जो यहां भ्रान्ति का प्रमाता है—नायिका के मुख और नेत्र में कमल की भ्रान्ति हो ही रही है। निश्चय तो कवि को है, भ्रमर को नहीं। भ्रान्तिमान् अलंकार में विभ्रम कवि को नहीं होता, प्रत्युत कविनिबद्धपात्र को होता है। अतएव यह भ्रान्ति से अतिरिक्त नहीं है। स्वयं विश्वनाथ भी स्वीकार करते हैं, कि यहां भ्रान्ति है। किन्तु 'निश्चय' अलंकार की स्थापना का आग्रह होने के कारण वे इसमें भ्रान्तिकृत चमत्कार नहीं पाते।[227] विश्वनाथ के इस विमति का खण्डन करते हुए उनके टीकाकार रामचरण तर्कवागीश ने यहां भ्रान्तिमान् ही स्वीकार किया है।[228] अतएव 'निश्चय' अलंकार भ्रान्तिमान् से व्यतिरिक्त नहीं है। अप्पयदीक्षित इसकी चतुर्थ अपह्नुति से गतार्थता स्वीकार करते हैं,[229] जबकि दंडी तत्त्वाख्यानोपमा में इसको रखते हैं :

**'न पद्मं मुखमेवेदं नभृङ्गौ चक्षुषी इमे।**
**इति विस्पष्टसादृश्यात्तत्त्वाख्यानोपमैव सा।।'** काव्या., 2/36

अस्तु। निश्चय अलंकार 'भ्रान्तिमान्' से व्यतिरिक्त नहीं है।

## अपह्नुति

अपह्नूयते (प्रकृतं) निषिध्यते (अप्रकृतस्यावस्थापनेन) यया सा अपह्नुतिः। अपह्नुति शब्द 'अप' उपसर्ग, 'ह्नु' (ङ्) धातु और 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से बना है। किसी क्रिया के साथ योग होने पर 'अप्' का अर्थ ह्रास, विरोध, निषेध, प्रत्याख्यान, आदि होता है। दिवादि-गण में पठित ह्नु (ङ्) धातु का अर्थ, अपनयन है। 'अप' पूर्वक ह्नु (ङ्) धातु से बाहुलकात् करण अर्थ में (स्त्रियांक्तिन्-पा. 3/3/94) क्तिन् प्रत्यय होने पर अपह्नुति शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार अपह्नुति शब्द का अर्थ होता है, किसी वस्तु का अपह्नव, गोपन, अपनयन या

निषेध। इस अलंकार का अपह्नुति अभिधान उपयुक्त ही है, क्योंकि प्रकृत (उपमेय) का निषेध कर (अप्रकृत) उपमान को सत्यरूप में अवस्थापित करना ही अपह्नुति अलंकार का स्वरूप है।

उपमा में दो वस्तुओं के साधर्म्य को लेकर दोनों में समानता दिखायी जाती है। वहां वैधर्म्य भी एक तत्त्व के रूप में उपस्थित रहता है। साम्य-प्रदर्शन की यह प्रक्रिया प्रकृत के उत्कर्ष को व्यक्त करती है। प्रकृत का और भी अधिक उत्कर्ष सिद्ध करने के लिये उस पर अप्रकृत का स्वरूप आरोपित कर दिया जाता है। ऐसे में साधर्म्यतत्त्व का ही प्राधान्य होता है और यह प्रक्रिया रूपक अलंकार की है। आरोप की इस प्रक्रिया में कवि-चित्तवृत्ति जब और भी आगे बढ़ती है और वह प्रकृत को और भी अधिक सुन्दर देखना चाहती है तो प्रकृत में आरोप के साथ-साथ अप्रकृत को वह इतना ऊपर चढ़ा देती है कि वह प्रकृत को आच्छन्न सा कर देता है और इस अवस्था में प्रकृत असत्य रूप में प्रतीत होने लगा है। वस्तुतः ऐसी स्थिति में प्रकृत का निह्नव या गोपन ही कवि को अभीष्ट रहता है, इसके लिये वह प्रकृत का निषेध कर, गुणादि की समानता के आधार पर उस अप्रकृत का आरोप कर बैठता है। इसी को निह्नव, गोपन, आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि यहां विषय असत्य रूप में प्रतिभासित अवश्य रहता है, तथापि उसकी असत्यता को स्थापित कर उसके सौन्दर्य को बढ़ाना ही कवि या सहृदय को अभिप्रेत होता है। अपह्नुति भी सादृश्यमूलक अलंकार है, अतएव इसमें भी सादृश्य का होना अनिवार्य है, अन्यथा यह अपह्नव लौकिक तथा सौन्दर्यहीन होने से अलंकार नहीं माना जायेगा।

ऋग्वेद में भी एक स्थल पर अपह्व शब्द अपनयन के अर्थ में प्रयुक्त है।[230] इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण तथा 'छान्दोग्य उपनिषद्' में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[231]

भरत द्वारा कहा गया 'मिथ्याध्यवसाय'[232] नामक काव्य लक्षण औपम्य के समाश्रय से अपह्नुति अलंकार बन गया है:

> **'लक्षणबलादलंकाराणां वैचित्र्यमागच्छति। तथापि ......... मिथ्याध्यवसायेनापह्नुतिः**। —अभिनव भारती, ना.शा., 16/40 पर।

सर्वप्रथम भामह ने इसका विवेचन किया है। उनके अनुसार किंचित् उपमा-युक्त सत्य अर्थ (उपमेय) का अपह्नव ही अपह्नुति अलंकार है।[233] दंडी के अनुसार किसी (गुण क्रियादि रूप धर्म) का निषेध कर अन्य अर्थ (उपमेय) का प्रदर्शन

अपह्नुति अलंकार है।[234] दंडी के इस लक्षण को साधर्म्येतर सम्बन्ध में जाना जाता है।[235] अपह्नुति की इस परिभाषा के अतिरिक्त उसका उल्लेख दंडी ने प्रतिषेधोपमा (उपमापह्नुति) तथा तत्त्वापह्नव रूपक के नाम से भी किया है। उपमापह्नुति में उपमेय की समानता न कर पाने के कारण उपमान का निषेध किया जाता है[236] और मुखत्वादि धर्म (उपमेय) का निषेध कर उस पर पद्मत्वादि (उपमान) का आरोप होने के कारण उत्पन्न गुणोत्कर्ष ही तत्त्वापह्नव रूपक[237] है। प्रतिषेधोपमा को अपह्नुतिं से संयुक्त न करके व्यतिरेक से संयुक्त करना उपयुक्त होगा। 'तत्त्वापह्नव रूपक को ही बाद के आलंकारिकों की अपह्नुति कहा जा सकता है, क्योंकि यह साधर्म्य को लेकर चलता है। उद्भट ने भामह के ही लक्षण को—उत्तरार्द्ध में परिवर्तित करके ग्रहण कर लिया है।[238] पूर्वोक्त सभी आचार्यों से सुस्पष्ट परिभाषा वामन की है, समान वस्तु से अन्य (उपमेय) का अपलाप (निह्नव) ही अपह्नुति है। वामन की टीका में तिप्पभूपाल ने स्पष्ट कहा है कि सूत्र में 'वस्तु' का अर्थ वाक्यार्थभूत उपमान है और अन्य का अर्थ वाक्यार्थ भूत उपमेय :

> **'वाक्यार्थभूतेनोपमानेनान्यस्य वाक्यार्थभूतस्योपमेयस्य अपलापः अतस्मिंस्तत्त्वाध्यारोपेण अपह्नुतिरिति।'** —का.धे.।

अतएव वामन के अनुसार उपमान के द्वारा उपमेय का निषेध ही अपह्नुति अलंकार है। वामन का लक्षण सादृश्यमूलक अवश्य है, किन्तु प्रकृत का निषेध मात्र ही अपह्नुति नहीं है, अपितु प्रकृत का निषेध करते हुए अप्रकृत का स्थापन अपह्नुति है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं रुद्रट। उनका कथन है कि जहां उपमान-उपमेय के अतिसाम्य के कारण सत् (वास्तविक) उपमेय को भी असत् बताकर उपमान को सत् कहा जाये, वहां उपह्नुति अलंकार होता है।[239] कुन्तक की दृष्टि में किसी अन्य अपूर्व स्वरूप का विधान करने के लिये वर्णनीय वस्तु के स्वरूप का अपह्नव, अपह्नुति है।[240] भोजराज ने दंडी के लक्षण को ग्रहण कर लिया है।[241] मम्मट के अनुसार उपमेय (प्रकृत) का निषेधकर अप्रकृत की स्थापना ही अपह्नुति है।[242] यद्यपि कारिका में मम्मट ने शब्दावली का परिवर्तन कर दिया है, किन्तु वृत्ति में रुद्रट का ही लक्षण स्पष्ट प्रतीत होता है :

> **'उपमेयं असत्यं कृत्वोपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते सा तु अपह्नुतिः'**

रुय्यक ने मम्मट के ही लक्षण को संक्षिप्त कर दिया है।[243] शोभाकर सादृश्य तथा

सादृश्येतर दोनों सम्बन्धों में अपह्नुति मानते हैं। इसलिये उनका लक्षण मम्मट आदि से भिन्न है। उनके अनुसार आरोप विषय (उपमेय) का निषेध कर उपमान विधान तथा मुख्य (चन्द्रादि) का निषेध कर गौण (मुखचन्द्रादि) का विधान ही अपह्नुति है।[244] बाद के आलंकारिकों में नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, जयदेव (प्रथम अपह्नुति), विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ (प्रथम लक्षण), अप्पयदीक्षित, कर्णपूर, देवशंकर (शुद्धापह्नुति), रामचन्द्र तर्कवागीश, जगन्नाथ, विश्वेश्वर, नरसिंह कवि, अच्युतराय, सर्वेश्वराचार्य, छज्जूराम, आदि के लक्षण, मम्मट आदि के ही समान हैं।[245] आचार्य हेमचन्द्र का लक्षण दंडी, शोभाकर, आदि से प्रभावित है। उनके अनुसार प्रकृत से प्रकृत का तथा अप्रकृत से प्रकृत का निषेध अपह्नुति अलंकार है।[246] अमृतानन्द योगी तथा केशव मिश्र का लक्षण दंडी भोज के समान है।[247] वस्तुतः मम्मट के बाद के आचार्यों में अपह्नुति के विषय में दो विचारधाराओं का उन्मेष हुआ है। प्रथम तो वे आलंकारिक हैं जो केवल सादृश्य में ही अपह्नुति स्वीकारते हैं, जैसे विद्याधर, विद्यानाथ, आदि हैं। दूसरे वे आचार्य हैं, जो दंडी की परम्परा का पालन करते हुए सादृश्य और सादृश्येतर दोनों ही सम्बन्धों में अपह्नुति मानने के पक्षपाती हैं। इस प्रकार के काव्यशास्त्रविदों में जयदेव, विश्वनाथ, दीक्षित, देवशंकर, अच्युतराय, आदि को लिया जा सकता है।

### अपह्नुति में सादृश्य

भामह ने 'किंचिदन्तर्गतोपमा' कहकर स्पष्ट रूप से इसकी सादृश्यमूलकता स्वीकार की है। पश्चाद्वर्ती, उद्भट, वामन, रुद्रट, मम्मट, रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, आदि भी भामह के ही अनुसार सादृश्य में अपह्नुति मानते हैं। जगन्नाथ की परिभाषा में तार्किकता का पुट अवश्य है, किन्तु वह मम्मट आदि से भिन्न नहीं है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, दंडी का अपह्नुति लक्षण सादृश्येतर सम्बन्ध का है। परन्तु 'तत्त्वापह्नवरूपक' आदि के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्हें सादृश्य तथा असादृश्य दोनों में ही यह अलंकार मान्य है। उन्हीं को आधार मानकर भोजराज, कुन्तक, जयदेव, दीक्षित, आदि भी औपम्य और अनौपम्य दोनों में अपह्नुति स्वीकारते हैं। इसी कोटि में आचार्य शोभाकर मित्र भी आते हैं, जिन्हें सादृश्य से भिन्न, कार्यकारण, आदि के सम्बन्ध में भी अपह्नुति मान्य है। शोभाकर का प्रथम लक्षण तो सादृश्यगर्भता का है। दूसरी अपह्नुति मुख्य वस्तु (चन्द्र आदि) का निषेध कर गौण मुख चन्द्र आदि की स्थापना में होतीं है :

**'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते।**
**विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं तु ससन्ततिम्।।'** अ.र., पृ. 42

यहां मुख्यवस्तु 'विष' का निषेध कर अमुख्यवस्तु ब्रह्मस्व (ब्राह्मण धन) का कथन है। अतएव यह द्वितीय अपह्नुति का उदाहरण है। जयरथ ने शोभाकर के द्वितीय अपह्नुति का खंडन करते हुए यहां दृढारोप रूपक ही स्वीकारा है। उनका कथन है कि जहां विषय का निषेध कर विषयी की स्थापना की जाये, वहां अपह्नुति होती है। उपर्युक्त उदाहरण में तो मुख्यविषय का निषेध कर उस पर ब्रह्मस्व का आरोप किया गया है, क्योंकि 'विषत्व' का सर्वथा निषेध तो अभीष्ट नहीं है इसी प्रकार उन्होंने यहां शोभाकर के 'मुख्यत्व' और गौणत्व का अभाव भी बताया है। यहां निषेध्य विष का ब्रह्मस्व विषय पर आरोप किया गया है। ब्रह्मस्व का दाढ़र्य होने से इसे दृढ़ारोप रूपक ही कहना उपयुक्त[248] होगा। जगन्नाथ ने भी विमर्शिनीकार का समर्थन करते हुए यहां दृढ़ारोपरूपक स्वीकारा है।[249] नरेन्द्रप्रभसूरि भी सादृश्य तथा असादृश्य दोनों में अपह्नुति स्वीकार करते हैं।[250]

**पर्यस्तापह्नुति का खंडन**

जयदेव, अप्पयदीक्षित, देवशंकर तथा अच्युतराय प्रभृति धर्ममात्र के निषेध में 'पर्यस्तापह्नुति'[251] अपह्नुति का एक भेद स्वीकार करते हैं :

**'नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्'**

अप्पयदीक्षित आदि के अनुसार यहां धर्ममात्र 'सुधांशुत्व' का निषेध होने से पर्यस्तापह्नुति है। वस्तुतः यहां भी रूपक ही है। सुधांशु का निषेध तो अवश्य किया गया है, परन्तु उसी पर प्रेयसी मुख का आरोप कर दिया गया है। 'न विषं विषमित्याहुः' इत्यादि में तो विष का निषेध अवश्य किया गया है, किन्तु ब्रह्मस्व को विष मान लेने पर भी अन्य वस्तु की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि विष और ब्रह्मस्व दोनों की प्रतीति समानाधिकरण रूप में है। इसी आधार पर जगन्नाथ ने मम्मट और रुय्यक की अपह्नुति को उपयुक्त सिद्ध करके जयदेव, दीक्षित, शोभाकर, आदि के मतों को दुष्ट बताया है।[252] वस्तुतः अप्पयदीक्षित भी चित्रमीमांसा में सादृश्य में ही अपह्नुति मानते हैं, लगता है उन्हें कुवलयानन्द में जयदेव आदि प्राचीन आलंकारिकों का व्यामोह अधिक हो गया था।

नागेश तथा वामन झलकीकर ने जगन्नाथ का विरोध करते हुए दीक्षित के

मत को उपयुक्त स्वीकार किया है। विश्वेश्वर दोनों मतों का उल्लेख मात्र करते हैं, कोई टीका-टिप्पणी नहीं करते।[253] नागेश के अनुसार 'नायं सुधांशुः' तथा 'नविषं विषमित्याहुः' इत्यादि में अपह्नुति ही है, न कि दृढ़ारोपरूपक। 'यह मुख नहीं चन्द्रमा है' अपह्नुति के इस उदाहरण में यदि 'दृढ़ारोपरूपक' मान लिया जाये, तब तो अपह्नुति का उच्छेद ही हो जायेगा। यदि निषेधपूर्वक आरोप में चमत्कार विशेष के अनुभव सिद्ध होने से रूपक से अतिरिक्त अन्य अलंकार माना जा सकता है, तो पूर्वोक्त उदाहरणों में भी अपह्नुति मान्य है।[254] दंडी के लक्षण को इस समर्थन में रखते हुए उन्होंने यह भी व्यक्त किया है कि मम्मट के 'साध्यते' का अर्थ है, आहार्यनिश्चयविषयीकरण, न कि अनाहार्य। इसलिये भी अप्पयदीक्षित का मत उपयुक्त है। परन्तु 'नेदं मुखं चन्द्रः' में निषेध की स्पष्ट प्रतीति होने से उसका पुनः आरोप संभव नहीं है। दीक्षित आदि के उदाहरण में तो सुधांशु का निषेध है, पर वस्त्वन्तर की प्रतीति न होकर सुधांशु में प्रेयसी-मुख का स्पष्ट रूप से आरोप है। अतएव नागेश आदि का मत उपयुक्त नहीं है। वस्तुतः अपह्नुति का चमत्कार सादृश्य में ही है। दो वस्तुओं को समान देखकर प्रकृत वस्तु का निषेध कर देने पर वस्त्वन्तर (अप्रकृत) की प्रतीति ही अपह्नुति है। वह सादृश्यविहीन होने पर विच्छित्ति का उतना अधिक संपादन करने में अशक्य है, जितना सादृश्य में।

### भ्रान्तापह्नुति निषेध

जयदेव तथा उनके अनुयायियों ने 'भ्रान्तापह्नुति' नामक अपह्नुति का एक और भेद स्वीकारा है :[255]

**भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शंकायां भ्रान्तिवारणे।**
**तापं करोति सोत्कम्पं ज्वरः किं? न सखि? स्मरः।।**[256]

एक वस्तु का निषेध होने पर वस्त्वन्तर की प्रतीति ही अपह्नुति है। यहां न ताप का ही निषेध किया गया है और न उसके कारण का। केवल कहा यह गया है कि ताप का कारण ज्वर नहीं प्रत्युत स्मर है। यह नहीं कह सकते कि यहां ज्वर का निषेध कर उस पर स्मरताप का आरोप है। आरोप तो तब माना जाता जब ज्वरजन्य तापकारिता होती, किन्तु उसका आरोप न होकर वस्तुतः यहां सखी की भ्रान्ति ही विच्छित्ति विधायक है। अतएव ऐसे स्थलों को भ्रान्तिमान् की ही कोटि में रखना अच्छा है। विश्वनाथ का 'निश्चय' अलंकार इसी कोटि में आता है।

**छेकापह्नुति का खंडन**

जयदेव आदि ने 'छेकापह्नुति' को अपह्नुति का एक भेद स्वीकारा है :

**'छेकापह्नुतिरन्यस्य शङ्कया तथ्यनिह्नवे ।**
**प्रजल्पन् मत्पदे लग्नः कान्तः किं, नहि नूपुरः ।।**[257] चन्द्रा., 5-27

उदाहरण से स्पष्ट है कि यहां भी अपह्नुति नहीं है । विदग्धा नायिका उद्भिन्न रहस्य को व्याजपूर्वक छिपाने का प्रयास कर रही है। वस्तुतः ऐसे कथन व्याजोक्ति से भिन्न नहीं माने जा सकते । अप्पयदीक्षित स्वयं चित्रमीमांसा में इस तथ्य को स्वीकार करते हैं ।[258] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की द्वितीय अपह्नुति भी इसी कोटि में आती है ।[259]

वस्तुतः अपह्नुति सादृश्यमूलक अलंकार है। सादृश्य से अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों में होने वाली अपह्नुति में अतिशय उत्कर्ष का अभाव पाया जाता है।

**आरोप-अध्यवसाय**

अपह्नुति आरोपप्रधान अलंकार है। आरोप में विषयी विषय को अपने स्वरूप में ढाल लेता है, किन्तु उसका निगरण नहीं करता । अपह्नुति में प्रकृत का निषेध कर उस पर अप्रकृत का आरोप किया जाता है। प्रकृत का निषेध होने से विषयी की ही प्रतीति होती है। इसी आधार पर—अपह्नुति में आरोप की स्पष्ट प्रतीति न होने के कारण शोभाकर को इसकी अध्यवसाय गर्भता भी मान्य है । वस्तुतः अपह्नुति में न केवल प्रकृत का निषेध ही होता है, अपितु विषय की प्रतीति भी होती है। अतः यहां आरोप को अध्यवसायतुल्य कह सकते हैं—'तस्या निषेधगर्भत्वादारोपस्याध्यवसायतुल्यत्वम्', अ.र., पृ. 41. संभवतः इसी आधार पर जयरथ ने भी अध्यवसाय गर्भ अपह्नुति का विवेचन किया है ।[260] कुन्तक ने तो उत्प्रेक्षा-मूलकता को ही इसका प्राण माना है :

**'उत्प्रेक्षामूलत्वमेव जीवितमस्याः'**[261] व.जी., पृ. 217

वस्तुतः अपह्नुति सादृश्यमूलक अलंकार है। दो वस्तुओं में दिखाई देने वाले परस्पर साम्य के आधार पर आरोप और अध्यवसाय दोनों संभव हैं। सादृश्येतर सम्बन्ध में अपह्नुति मानने का शोभाकर प्रभृति का आग्रह आरोप के ही कारण है। आरोप लक्षणामूलक है और लक्षणा सादृश्येतर सम्बन्ध में भी होती है। यही कारण है कि उन्होंने इसकी आरोपमूलकता स्वीकार करते हुए भी सादृश्येतर सम्बन्ध में भी

अपह्नुति मानना उपयुक्त समझा। रूपक प्रकरण में कहा जा चुका है कि लक्षणा के समग्र भेद रूपक के आधार नहीं हो सकते, क्योंकि कार्यकारण भाव आदि में कोई चारुत्व नहीं है। अतः प्रकृत में भी यही समझना चाहिये।

**भेदोपभेद**

अपह्नुति के तीन भेद प्रायः आलंकारिकों को स्वीकार्य हैं : निषेधपूर्वक आरोप, आरोपपूर्वक निषेध तथा कपट, वपु, व्याज, आदि शब्दों के प्रयोग में। जहां भी आरोप और निषेध होगा, वहां दो वाक्य का होना आवश्यक है।[262] प्रथम वाक्य से प्रकृत का निषेध होता है और द्वितीय वाक्य से अप्रकृत का आरोप या स्थापन। अतः प्रथम दो भेदों में वाक्यभेद होना आवश्यक है। जहां कपट, छल, परिणाम, व्याज, वपु, आदि शब्दों के द्वारा प्रकृत का अपह्नव होगा, वहां भिन्नवाक्यता संभव नहीं है, क्योंकि वहां केवल आरोप होता है। अतएव तृतीय भेद में एकवाक्यता ही रहती है। अपह्नुति के उपर्युक्त तीन भेद मम्मट, रुय्यक, अजितसेन, नरेन्द्रप्रभसूरि, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ, विश्वेश्वर प्रभृति आचार्यों को अभिमत है।[263] तीसरे भेद में भी भेदद्वय संभव होने पर भी, चमत्कारशून्य होने के कारण रुय्यक को अभीष्ट नहीं हैं।[264]

भामह ने केवल एक उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसे प्रथम भेद का उदाहरण मान सकते हैं।[265] दंडी ने स्वरूपापह्नुति और विषयापह्नुति भेद से इसका दो भेद माना है।[266] उद्भट,[267] वामन[268] के उदाहरण भी प्रथमापह्नुति के हैं। रुद्रट का उदाहरण रूपक (परिणाम) से अतिरिक्त नहीं है।[269] कुन्तक ने भेद का कोई उल्लेख नहीं किया है, तीन उदाहरण प्रस्तुत किया है। प्रथम उदाहरण अस्पष्ट है, द्वितीय और तृतीय को अपह्नुति का प्रथम दो भेद का उदाहरण कह सकते हैं।[270] भोजराज ने इसको प्रथमतः औपम्यवती तथा अनौपम्यवती भेद से दो प्रकार का माना है। पुनः औपम्यवती-अभिधीयमानसादृश्या तथा प्रतीयमानसादृश्या—दो प्रकार की होती है। अनौपम्यवती पूर्वा, अपूर्वा तथा वाच्या, प्रतीयमाना भेद से चार प्रकार की होती है।[271] किन्तु शृंगार प्रकाश में उन्होंने प्रथम दो भेदों को ही स्वीकारा है।[272]

यद्यपि मम्मट प्रदत्त अपह्नुति के तीन उदाहरणों में पूर्वोक्त अपह्नुति के तीन भेद घटित हो जाते हैं, किन्तु उनके टीकाकारों ने इसका विभाजन शाब्दी-आर्थी भेद से द्विधा किया है।[273] निषेध जहां शब्दतः उपात्त होता है, वहां शाब्दी अपह्नुति होती है और जहां वपु, छल, परिणाम, आदि शब्दों से निषेध होता है, वहां आर्थी :

**'अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये**
**कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि।**
**अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दिशिशिरे।**
**रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि।।'** —काव्यप्रदीप, पृ. 332

परिपूर्ण चन्द्रमा में दृश्यमान कलंक का निषेध कर उसके वक्ष पर रतिक्लान्त सोई हुई रात्रिरमणी का आरोप किया गया है। यहां प्रकृत कलंक का साक्षात् 'न' शब्द से निषेध किया गया है। अतएव यह शाब्दी अपह्नुति का उदाहरण है। रुय्यक आदि की दृष्टि से यहां निषेधपूर्वक आरोप है।

शोभाकर के अनुसार जहां साक्षात् 'नञ्' आदि वाचक शब्दों से विषय का निषेध किया जाता है, वहां अपह्नुति शाब्द होती है और जहां छलादि शब्दों के प्रयोग से प्रकरण आदि के द्वारा निषेध या अपह्नव की प्रतीति होती है, वहां वह आर्थ होती है।[274] शोभाकर का यह विभाजन उपयुक्त है। मम्मट के भी प्रथम दो उदाहरण शाब्द के तथा तृतीय आर्थ का है।[275] नरेन्द्रप्रभसूरि, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ, आदि इससे सहमत हैं।[276] परन्तु शोभाकर की दृष्टि में छलादि शब्द निषेधार्थक न होकर व्याजार्थक हैं। उनका अभिमत है कि यदि 'छल' आदि शब्दों को निषेधार्थक मानेंगे, तो 'अस्याः सर्गविधौ' इत्यादि सन्देह के उदाहरण में 'कथम्' शब्द को भी निषेधार्थक मानकर वहां भी आर्थी अपह्नुति स्वीकार करनी पड़ेगी। इसी प्रकार वह 'वपु' शब्द को भी निषेधार्थक मानने को उद्यत नहीं हैं।[277] उनके अनुसार 'वपु' आदि शब्द मयट् या तुल्यार्थ के वाचक हैं, क्योंकि 'तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपकृतवानातुरं नाविकाय' ऐसे स्थलों पर 'मयट्' आदि तुल्यार्थ या 'वपु' के वाचक हैं। रुय्यक को यहां परिणाम अभीष्ट है। शोभाकर का कथन है कि यदि 'वपु' शब्द को 'अपह्नुत' अर्थ का वाचक स्वीकार करने लगेंगे, तो परिणाम के उक्त उदाहरण में भी अपह्नुति स्वीकारनी होगी। अतः 'वपु' शब्द के प्रयोग में 'निदर्शना' या 'रूपक' ही हो सकता है, अपह्नुति नहीं। उनके अनुसार रूपक में आरोप्यमाण का निषेध असंभव है, और विषय का अपह्नव संभव नहीं है। इसलिये भिन्न रूप में प्रसिद्ध दो वस्तुओं का सामानाधिकरण्य असंभव होने पर एक का निषेध प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि आरोप विषय का पर्यवसान में निषेध गम्य होता है। रूपक और अपह्नुति में निषेध का शाब्दत्व और आर्थत्व होना ही विभेदक नहीं है, क्योंकि अपह्नुति में आरोप निषेधगर्भ होने से अध्यवसायतुल्य होता है।[278]

शोभाकर का यह कथन कि रूपक में पर्यवसान में 'विषय' का निषेध विवक्षित

रहता है—असंगत है। 'मुखं चन्द्रः' कहने पर यह तात्पर्य नहीं होता कि चन्द्र के द्वारा मुख का निषेध हो, प्रत्युत् चन्द्रगुण विशिष्ट मुख की प्रतीति कराना ही लक्ष्य होता है। वहां विषयी विषय में अपने गुणों का बोध लक्षणा के माध्यम से कराता है, न कि विषय को असत्य सिद्ध किया जाता है। यह अवश्य है कि विषयिगत गुणों को लक्षणा के द्वारा विषय में लक्षित किया जाता है, किन्तु 'नेदं मुखम्' की प्रतीति नहीं होती। निदर्शना में भी जब एक वस्तु का सम्बन्ध दूसरी वस्तु से असंभव प्रतीत होता है, तो वहां बिम्बप्रतिबिम्बभाव का सहारा आवश्यक हो जाता है। परन्तु 'वपु' शब्द इस कार्यसिद्धि में सहायक नहीं है। अतः शोभाकर का उक्तमत अनुपयुक्त है, किन्तु अलंकार क्षेत्र के विकास की एक कड़ी अवश्य है। मम्मट, रुय्यक स्पष्ट शब्दों में 'वपु' शब्द को 'अपह्नव' के लिये प्रयोग करते हैं।[279] इसलिये :

**अमुष्मिंल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः**
**स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः।**
**यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे**
**शिखाधूमस्येयं परिणमति रोमावलि वपुः।।**[280]

मम्मट, रुय्यक के इस आर्थी अपह्नुति के उदाहरण में शोभाकर द्वारा उठायी गयी परिणाम अलंकार की आशंका को जयरथ ने निर्मूल बताया है।[281] वस्तुतः यहां 'यह रोमावली नहीं, धूमशिखा है' इस प्रकार की प्रतीति बलवती है। इस प्रकार की प्रतीति परिणाम की न होकर अपह्नुति की है। परिणाम तो तब होता जब विषयी का प्रकृतोपयोग होता। यहां रोमावली की प्रधानता विवक्षित होने पर ही परिणाम माना जा सकता है, किन्तु प्रधानता तो धूमशिखा की है। रोमावली विषय है, उसका अपह्नव कर उस पर धूमशिखा का आरोप किया गया है। अतएव यहां अपह्नुति ही है।

शोभाकर तथा जयरथ सादृश्येतर सम्बन्ध में अपह्नुति तो मानते ही हैं, इसके अतिरिक्त वे विषयी के निषेध में भी इसकी सत्ता मानते हैं।[282] शोभाकर, विषय, विषयी के विपर्यय वाले भेद का भी निर्देश करते हैं, किन्तु वह चारुत्वविहीन होने से अग्राह्य है। नरेन्द्रप्रभसूरि सादृश्यवती अपह्नुति को चार प्रकार का मानते हैं। प्रथम दो भेद तो रुय्यक आदि के अनुसार हैं, अन्तिम दो भेद छलादि शब्दों के प्रयोग तथा अप्रयोग में वाच्या, प्रतीयमाना भेद से होते हैं। भोज के अनुसार उन्होंने भी सादृश्येतर सम्बन्धन में वाच्या, प्रतीयमाना दो भेद माना है। इस प्रकार वह छः भेदों का उल्लेख करते हैं।[283] परन्तु असादृश्या प्रतीयमाना को वह व्याजोक्ति ही मानते

हैं—इयं तु मतान्तराभिप्रायेण, स्वमते तु व्याजोक्तिरेवेयम्', अ.भ, पृ. 25.

हेमचन्द्र प्रकृत से, प्रकृत के निषेध, अप्रकृत से प्रकृत निषेध तथा भङ्ग्यन्तर (छलादि शब्द प्रयोग) में त्रिधा उल्लेख करते हैं। वाग्भट (1) का उदाहरण शाब्दी (निषेधपूर्वक आरोप) अपह्नुति का उदाहरण है।[284] वाग्भट (2) का भी उदाहरण पूर्ववत् है।[285] जयदेव, दीक्षित, देवशंकर, आदि के अनुसार शुद्धापह्नुति, हेत्वपह्नुति तथा वैतवापह्नुति, पूर्वोक्त उपह्नुति के तीन भेद हैं। अन्य अपह्नुति का निषेध पहले ही किया जा चुका है। अप्पयदीक्षित ने चित्रमीमांसा में अपह्नवपूर्वक आरोप को सावयवा, निरवयवा भेद से द्विधा[286] माना है। जगन्नाथ भी दीक्षितोक्त इन दो भेदों का विवेचन करते हैं। वह स्पष्ट रूप से कहते हैं[287] 'निरवयवा हेत्वपह्नुति है। इसके अतिरिक्त वे अपह्नवपूर्वक आरोप, आरोपर्पूक अपह्नव, विषय विषयी के ताद्रूप्य में विषय निषेध होने पर एक का शाब्दत्व, अपर का आर्थत्व, विधेयत्व, अनुवाद्यत्व, आदि भेद का उल्लेख करते हुए अनेक प्रकार मानते हैं,[288] किन्तु वे इनमें चमत्कार का अभाव ही पाते हैं :

**'एवमनेके प्रकाराः संभवन्ति, परन्तु न ते वैचित्र्यविशेषभावहन्तीत्यगणनीयाः'** —र.गं., पृ. 279

इसी प्रकार उन्होंने परम्परित आदि का भी विवेचन किया है।[289] दीक्षित, जगन्नाथ अपह्नुति ध्वनि[290] का भी विवेचन करते हैं जो अप्रकृत होने से विचारणीय नहीं है।

विश्वेश्वर यद्यपि मम्मट के अनुयायी हैं, किन्तु दीक्षित तथा जगन्नाथ आदि के मतों का भी उल्लेख करते हैं। अलंकार प्रदीप में तो वे जयदेव द्वारा कहे गये अपह्नुति भेदों का भी विवेचन करते हैं।[291] नरसिंह कवि भी अपह्नुति का तीन भेद मानते हैं।

विमर्शिणीकार जयरथ ने सादृश्यमूला अपह्नुति को साधारण धर्म के आधार पर—अनुगामी, शुद्ध सामान्य तथा बिम्बप्रतिबिम्ब भाव रूप में त्रिधा विभक्त किया है :

**'सादृश्येऽप्यस्याः साधारणधर्मस्य त्रयी गतिः'** —वि., पृ. 53

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भामह के बाद ही दंडी के समय में अपह्नुति को सादृश्य तथा सादृश्येतर दोनों सम्बन्धों में स्वीकारा जाने लगा था। अतएव दोनों के आधार पर जगन्नाथ के बाद भी अपह्नुति-भेदों को घटाने-बढ़ाने का क्रम जारी रहा है।

## (ख) अध्यवसायगर्भ
## उत्प्रेक्षा

'उत्कटा प्रकृष्टस्योपमानस्य ईक्षा ज्ञानम् उत्प्रेक्षा'। उत्, प्र, उपसर्गपूर्वक ईक्षणार्थक 'ईक्ष्' धातु से भाव अर्थ में (गुरोश्च हलः, पा. 3/3/103) 'अ' प्रत्यय होकर, स्त्रीत्व की विवक्षा में (अजाद्यतष्टाप्, पा. 4/1/4) 'टाप्' प्रत्यय करने पर 'उत्प्रेक्षा' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है, उत्कट एवं प्रकृष्ट ईक्षण[292] या ज्ञान। उपमेय की अपेक्षा उपमान का उत्कट और प्रकृष्ट ईक्षण, ज्ञान, संभावन ही उत्प्रेक्षा अलंकार है। अतएव अलंकार का यह अभिधान सार्थक है। विषयी के द्वारा विषय का निगरण अध्यवसाय कहा जाता है। वह दो प्रकार का है : साध्य और सिद्ध। विषय की निगीर्यमाणता दशा साध्य अध्यवसाय की है और उसका पूर्णतः निगरण सिद्ध अध्यवसाय की। प्रथम में उत्प्रेक्षा और द्वितीय में अतिशयोक्ति होती है। उद्भट ने इसे 'लोकातिक्रान्तविषया' कहा है।[293] कुन्तक के अनुसार अन्य अलंकारों के सौन्दर्य का अपहरण कर उत्प्रेक्षा प्राण रूप में उद्भूत होती है।[294] केशवमिश्र का कथन है कि यह समग्र अलंकारों का सर्वस्व, कवि-कीर्ति की विवर्द्धिका तथा नवोढा की मन्दमुस्कान के समान मनोहारिणी है।[295]

ऋग्वेद में भी उत्प्रेक्षा के अनेक सुन्दर उदाहरण पाये जाते हैं।[296] ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थों में इसका लालित्य द्रष्टव्य है।[297] रामायण, महाभारत तथा शिलालेखों में इसका बाहुल्य है। काव्यों में तो इसका बहुल प्रयोग पाया जाता है।

भामह ही इस अलंकार के भी प्रथम उद्भावक आचार्य हैं। उनके अनुसार सामान्य की विवक्षा से रहित, कुछ-कुछ उपमाश्रित, अतिशयान्वित तथा अतद्गुणक्रियायोग [उपमेय से भिन्न (उपमान) के गुण अथवा क्रिया सम्बन्ध] को उत्प्रेक्षा कहते हैं।[298] यहां अतद्गुणक्रियानिबन्धन संभावना ही है। भामह का लक्षण अधिक क्लिष्ट हो गया है। दंडी ने इसे कुछ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि चेतन या अचेतन वस्तु की अन्यथावृत्ति का अन्यथा उत्प्रेक्षण उत्प्रेक्षा है।[299] उद्भट ने यद्यपि भामह के ही लक्षण को कुछ परिवर्तन के साथ रख दिया है, तथापि उन्होंने उत्प्रेक्षा को संभावना बताकर एक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान की है।[300] सर्वप्रथम वामन ने उत्प्रेक्षा लक्षण को एक नयी दिशा प्रदान की, उत्प्रेक्षा को अध्यवसान मानकर। उनका अभिमत है कि अतत्स्वभाव वस्तु का अन्यथा अध्यवसान उत्प्रेक्षा है।[301] उनका यह भी कथन है कि अध्यारोप या लक्षणा इसका विषय नहीं हो सकते। यद्यपि वामन से पूर्व उद्भट ने संभावना में उत्प्रेक्षा मान रखी थी, किन्तु वामन ने अध्यवसान में उत्प्रेक्षा मानकर तथा उनके टीकाकार ने

अध्यवसान को संभावना का अपर पर्याय बताकर[302] न केवल आलंकारिकों के लिये एक प्रशस्त मार्ग का सृजन किया, अपितु उत्प्रेक्षा को संभावना मानें या अध्यवसाय, इस विवाद को भी समाप्त कर दिया। वामनोत्तर आलंकारिकों में—जैसा कि आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा—कुछ लोग संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं, कुछ लोग अध्यवसाय को।

रुद्रट ने उत्प्रेक्षा को औपम्य तथा अतिशय दो विभागों में रखा है। उपमान उपमेय के अत्यन्त साम्य के कारण, उनका अभेद करके, सिद्ध उपमान की गुण क्रियादि का उसमें (उपमेय में) आरोप उत्प्रेक्षा है।[335] रुद्रट का यह औपम्यमूलक लक्षण है। अतिशय मूलक उत्प्रेक्षा वहां होती है, जहां किसी वस्तु में असंभाव्य, गुण, क्रिया, आदि की संभावना की जाती है।[304] रुद्रट के इन लक्षणों से स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें उत्प्रेक्षा अभेद (आरोप) तथा अतिशय (अध्यवसाय) दोनों में ही मान्य है।

कुन्तक संभावना के अनुमान, सादृश्य अथवा दोनों के द्वारा अतिशय प्रतिपादन की विवक्षा में 'उस सा है' या 'वह ही है' इस प्रकार की वर्ण्य वस्तु से अन्य अर्थ की योजना को उत्प्रेक्षा[305] मानते हैं। भोजराज ने दंडी के लक्षण को परिवर्तित करके ले लिया है।[306] मम्मट के अनुसार उपमेय की उपमान से संभावना उत्प्रेक्षा है।[307] अग्निपुराण में भी दंडी का ही अनुकरण है।[308] मम्मट तक उत्प्रेक्षा के लक्षणों में परिवर्तन अवश्य होते रहे हैं, किन्तु विवाद नहीं रहा। पर रुय्यक के व्यापारप्राधान्य अध्यवसाय[309] में उत्प्रेक्षा मानने से विवाद उठ खड़ा हुआ। यद्यपि अध्यवसाय (साध्य) में उत्प्रेक्षा मानने के लिये रुय्यक, उद्भट, वामन, आदि के ऋणी हैं, किन्तु उसका स्पष्ट विवेचन करने का श्रेय रुय्यक को है। रुय्यक के लक्षण तथा परवर्ती आचार्यों के मतों का समीक्षण करने के लिये अध्यवसाय को समझना आवश्यक है।

**अध्यवसाय-संभावना**

अध्यवसाय निश्चय ज्ञान को कहा जाता है।[310] लोक में वह दो प्रकार का देखा जाता है, सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान। सीपी को सीपी ही समझ लेना सम्यक् ज्ञान है और उसे रजत समझ लेना मिथ्या ज्ञान। परन्तु अलंकारशास्त्र में प्रयुक्त अध्यवसाय इन दोनों ज्ञानों से विलक्षण है, क्योंकि कवि या सहृदय काव्यास्वाद के समय प्रियतमा के मुख को चन्द्र ही समझता है, अतएव उसे मिथ्या ज्ञान नहीं कह सकते। मुख हर स्थिति में चन्द्र ही प्रतीत हो, यह भी संभव नहीं। नाना प्रकार

के सांसारिक दुःखों से क्लिश्यमान मानव के लिये यह असंभव है। सीपी या रजत के सम्यक् या मिथ्या ज्ञान में कोई विच्छित्ति नहीं है। इन दोनों से विलक्षण मुख को मुख समझते हुए भी चन्द्र समझने की अध्यवसाय रूप प्रक्रिया प्रतीतिपुरस्सर अध्यास है। उसमें अलौकिक सौन्दर्य है। उत्कट[311] एक कोटिक संदेह ही संभावना है। सन्देह में दो पक्ष होते हैं। स्थाणु को देखकर 'यह पुरुष है या नहीं' में पुरुष विधि, प्रथम कोटि है तथा द्वितीय कोटि है 'न वा' पुरुष-निषेध की। यह सन्देह की स्थिति है। यहां दोनों पक्षों में चित्तवृत्ति बराबर दोलायमान रहती है। परन्तु उत्प्रेक्षा में कवि प्रकृत (मुखादि) की अप्रकृत (चन्द्रादि) रूप में संभावना करता जान पड़ता है। सन्देह में 'यह मुख है या चन्द्रमा' इस प्रकार चित्तवृत्ति विषय-विषयी दोनों पर समान रूप से दोलायमान थी, किन्तु यहां उपमान का पक्ष भारी होता दीखता है। यों कह सकते हैं कि एक पक्ष शिथिल होने लगता है और दूसरे में दाढ्र्य आ जाता है। तात्पर्य यह कि उपमेय की अपेक्षा उपमान उत्कृष्ट प्रतीत होने लगता है। अतएव उत्कट एककोटिक संशय ही संभावना है। इससे आगे बढ़ने पर कवि विषय की प्रतीति नहीं करता। इसमें कवि की मानसी स्थिति निश्चयात्मक होती है। 'नूनं चन्द्रम्' इस प्रकार की सन्देह और निश्चय की अन्तवर्तिनी प्रतीति ही संभावना है। और संभावना ही साध्य अध्यवसाय है।[312] यद्यपि इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु लोक और शास्त्र की दृष्टि से अन्तर स्पष्ट है। 'नूनं स्थाणुना अनेन भाव्यम्' इस लौकिक उक्ति में जब पुरुष में स्थाणु की संभावना की जाती है, तो वहां स्थाणु वास्तविक भी हो सकता है, किन्तु कामिनी के मुख में चन्द्र की संभावना को सत्य ही नहीं माना जा सकता।

विषयी के द्वारा विषय का निगरण अध्यवसाय है।[313] इसी के द्वारा कवि या सहृदय को विषय-विषयी की अभेद-प्रतीति होती है। अध्यवसाय दो प्रकार का होता है, साध्य और सिद्ध। जब विषय का सर्वथा निगरण नहीं होता, वह निगीर्यमाणता दशा में रहता है, तो अध्यवसाय साध्य कहा जाता है। विषय के पूर्णतया निगरण में अध्यवसाय सिद्ध कहा जाता है। प्रथम स्थिति उत्प्रेक्षा की है, द्वितीय अतिशयोक्ति की।[314] साध्य अध्यवसाय में विषयी की असत्यता प्रतीति होती है, क्योंकि प्रमाता मुख को मुख जानते हुए भी चन्द्र गत माधुर्य आदि धर्मों को लेकर मुख की चन्द्र रूप में संभावना करता है।[315] माधुर्य, शैत्य, आर्द्रत्व, आदि गुणों का आश्रय विषयी चन्द्र है, विषय मुख नहीं। इन गुणों का अवस्थान विषयी में होने से वह संभवाश्रय है और विषय असंभवाश्रय। चन्द्र की अपरमार्थ सत्यता है, मुख की परमार्थ सत्यता। कामिनी के सुन्दर मुख में प्रमाता दृश्यमान चन्द्रगत

माधुर्य आदि धर्मों को बताने का प्रयास करता है, भले ही वहां 'मुखचन्द्र है' इस प्रकार की प्रतीति न हो। इस प्रकार रुय्यक के अनुसार व्यापार (मुख) में चन्द्र की संभावना साध्य अध्यवसाय है। उनकी दृष्टि में यही उत्प्रेक्षा का स्वरूप भी है। यही संभावना, अभिमान, तर्क, ऊह, आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है।[316] रुय्यक के इस विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने उत्प्रेक्षा को एक दिशा प्रदान की। यद्यपि उद्भट, रुद्रट तथा मम्मट ने संभावना को उत्प्रेक्षा कहा था और वामन ने अध्यवसान को, किन्तु वामन ने साध्य अध्यवसाय का उल्लेख नहीं किया, या इस प्रकार का कोई विवेचन प्रस्तुत नहीं किया, जो उत्प्रेक्षा से अतिशयोक्ति को पृथक् कर सके। इस विषय में रुय्यक का प्रयास स्तुत्य है।

रुय्यक के तुरन्त बाद शोभाकर ने उनके मत का जोरदार शब्दों में विरोध प्रस्तुत किया। उनके अनुसार विषय का विषयी रूप में संभावन उत्प्रेक्षा है।[317] उन्होंने रुय्यक का विरोध करते हुए कहा कि उत्प्रेक्षा सन्देहमूलक है, न कि अध्यवसायगर्भ।[318] शोभाकर के अनुसार प्रत्यय ज्ञान दो प्रकार का होता है, सन्देह और निश्चय। निश्चय ज्ञान भी द्विधा होता है, सम्यक् और असम्यक्। सम्यक् ज्ञान में यथार्थ का व्यभिचार नहीं होता, असम्यक् ज्ञान में होता है। उनका कथन है कि इन दोनों ही स्थितियों में उत्प्रेक्षा असंभव है। उत्प्रेक्षा में यथार्थ के अव्यभिचार का अभाव होने से वह सम्यक् निश्चय नहीं हो सकता। असम्यक् निश्चय भी उसे नहीं कह सकते, क्योंकि वह विपर्यास रूप है और विपर्यास निश्चयात्मक होता है। अतः ये दोनों ही ज्ञान निश्चयात्मक हैं। उत्प्रेक्षा में निश्चय ज्ञान नहीं होता। इसलिये जो ज्ञान अनिश्चय रूप है, वह संदेह विषयक कहा जायेगा। अतः उत्प्रेक्षा संभावना है, संभावना संदेहमूलक होती है और सन्देह अनिश्चयात्मक ज्ञान है। यहां अध्यवसाय संभव नहीं है, क्योंकि अध्यवसाय का स्वरूप है, विषय का निगरण और विषयी का निश्चय। इनमें से यहां एक भी संभव नहीं है, क्योंकि उत्प्रेक्षा में विषय का उपादान रहता है और विषयी का निश्चय भी नहीं रहता। इसलिये रुय्यक का 'अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा' यह उत्प्रेक्षालक्षण असंगत है।[319] शोभाकर के ही समान जगन्नाथ भी मानते हैं कि उत्प्रेक्षा में विषय जागरूक रहता है और अध्यवसाय के लिये विषय का निगरण आवश्यक है। विषय निगरण न होने पर भी यदि अध्यवसाय माना जायेगा तो रूपक को भी अध्यवसायगर्भ मानना पड़ेगा। अध्यवसाय लक्षणा का एक भेद है, पर उत्प्रेक्षा के विधेयांश में लक्षणा नहीं होती। अतएव उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय मानना अनुपयुक्त है।[320]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संभावना वस्तुतः न निश्चय ज्ञान है, न

अनिश्चय। इन दोनों से अतिरिक्त दोनों की अन्तर्वर्तिनी स्थिति ही संभावना की है। विषय का पूर्णतः निगरण नहीं होता इसलिये रुय्यक ने इसे निगीर्यमाण अवस्था में माना है। साध्य अध्यवसाय में विषय कभी उपात्त रहता है, कभी नहीं भी रहता है। स्वयं शोभाकर संभावना में संभाव्यमान (विषयी) का दार्ढ्य और अपर (विषय) का शैथिल्य मानते ही हैं।[321] और यह स्पष्ट है कि संशय में प्रतीति समान रूप से उभयाश्रित होती है। अतएव संशय से इसका भेद स्पष्ट है। यद्यपि उत्प्रेक्षा में सन्देह अवश्य रहता है, किन्तु वह उत्कट एक कोटिक होता है। इसीलिये इसे अध्यवसाय तुल्य कहा गया है।[322] आरोप और अध्यवसाय का भेद स्पष्ट है। आरोप में विषय की विषयी रूप में प्रतीति होती है, उत्प्रेक्षा में विषय का उपादान आवश्यक नहीं है, 'नूनं चन्द्रम्' मात्र भी कहा जा सकता है। इस प्रकार अध्यवसाय में विषयी की ही प्रतीति होती है। अतएव जगन्नाथ का भी तर्क उपयुक्त नहीं है। वस्तुतः रूपक ज्ञान संभावना रूप न होकर निश्चयरूप होता है। उत्प्रेक्षा में विषय का निर्देश अधःकरण रूप में होता है। विश्वनाथ भी यह मानते हैं।[323] रूपक में उपमान-उपमेय दोनों का उपात्त होना आवश्यक है, उत्प्रेक्षा में नहीं। इसलिये रुय्यक के लक्षण को सदोष नहीं कह सकते।[324]

नरेन्द्रप्रभसूरि का लक्षण मम्मट के ही समान है।[325] हेमचन्द्र, वाग्भट (1), वाग्भट (2) के भी लक्षण मम्मट के ही समान हैं।[326] जयदेव के अनुसार निषेध के बिना ही हेतु आदि का उन्नयन (उत्कटैककोटिक सन्देह) उत्प्रेक्षा है।[327] विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, पूर्णतः रुय्यक का अनुगमन करते हैं।[328] अमृतानन्द योगी के अनुसार यथार्थ वस्तु का अन्यथा परिकल्पन उत्प्रेक्षा है।[329] केशवमिश्र की दृष्टि में अन्यनिमित्तक वस्तु में अन्य निमित्तक आरोप उत्प्रेक्षा है।[330] अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में मम्मट के समान लक्षण किया है और चित्रमीमांसा में विद्यानाथ के ही लक्षण को आधार मान लिया है।[331] कर्णपूर भी मम्मटानुसारी हैं।[332] देवशंकर दीक्षित का अनुसरण करते हैं।[333] रामचन्द्र दंडी के लक्षण का अनुगमन करते हैं।[334] जगन्नाथ का लक्षण पूर्वोक्त आचार्यों से कुछ भिन्न है :

> **'तद्भिन्नत्वेन तदभाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्तितत्-समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन वा संभावनमुत्प्रेक्षा।'** —र.गं, पृ. 285

'जिस पदार्थ का भेद जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो, उस पदार्थ की उस पदार्थ के रूप में दोनों पदार्थों में रहने वाले किसी सुन्दर धर्म को मूल मान कर की जाने

वाली संभावना उत्प्रेक्षा है, अथवा जिस धर्म का, अभाव जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो उस पदार्थ में उस धर्म से युक्त होने की ऐसी संभावना जो धर्म के साथ रहने वाले किसी सुन्दर धर्म को निमित्त मानकर की गयी हो, उत्प्रेक्षा कही जाती है।'

जगन्नाथ ने उत्प्रेक्षा का यह द्विधा लक्षण धर्मी-उत्प्रेक्षा और धर्मोत्प्रेक्षा को ध्यान में रखकर किया है। ये दोनों ही लक्षण अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव पर आश्रित हैं। प्रथम वहां होता है जहां दो धर्मियों की परस्पर भिन्नता वारित हो और दूसरे का अर्थ है, जो जहां कदापि न रहे उसका अभाव। अन्य वस्तु में अन्य की संभावना ही आलंकारिक उत्प्रेक्षा मानते हैं। इन अभावों में किसी एक के सन्निवेश में कोई खास युक्ति नहीं है, अतएव जगन्नाथ ने वैकल्पिक रूप से दोनों का सन्निवेश किया है। प्रथम लक्षण का लक्ष्य है, मुख में चन्द्र की संभावना। यह संभावना चन्द्र से भिन्न रूप में यथार्थतया ज्ञात मुख में चन्द्रगत आह्लादकत्व के कारण है। दूसरे का लक्ष्य है, ब्रह्म में मोह की संभावना। यह संभावना समवाय सम्बन्ध होने के कारण धर्मोत्प्रेक्षा कही जाती है।[335] जगन्नाथ ने प्राचीनों तथा अर्वाचीनों के मतों का विवेचन करते हुए रुय्यक आदि के लक्षण को अनुपयुक्त सिद्ध किया है। प्रकृत में विस्तार भय से देना असंभव है। रसगंगाधर में ही देखना चाहिये।[336]

आचार्य विश्वेश्वर भी संभावना को ही उत्प्रेक्षा मानते हैं।[337] नरसिंह कवि अध्यवसान में उत्प्रेक्षा स्वीकारते हैं।[338] अच्युतराय जगन्नाथ का अनुसरण करते हैं।[339] सर्वेश्वराचार्य भी अन्य वस्तु की अन्य रूप में संभावना को उत्प्रेक्षा[340] कहते हैं। छज्जूराम शास्त्री भी संभावना को ही उत्प्रेक्षा मानते हैं।[341]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि संभावना साध्य अध्यवसाय, ऊह, तर्क, आदि शब्द उत्प्रेक्षा के लिये प्रयुक्त किये गये हैं। इसलिये यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों से लेकर नव्य आलंकारिकों तक उत्प्रेक्षा के लक्षण में प्रायः समानता ही रही है। यह बात अवश्य रही है, कि संभावना, अध्यवसाय, आदि के स्वरूप पर वामन से लेकर जगन्नाथ तक विविध विचार रखे गये हैं। किन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, गोपेन्द्रतिप्पभूपाल, रुय्यक, जयरथ, विद्याधर, नरसिंह, आदि आलंकारिक स्पष्ट रूप से संभावना को साध्य अध्यवसाय का अपर पर्याय मानते हैं। अतएव उपमेय की उपमान के साथ की गयी संभावना, या साध्य अध्यवसाय प्रक्रिया ही उत्प्रेक्षा अलंकार है। इसी को शब्दावली के हेर-फेर के साथ प्रायः सभी आचार्य कहते हैं। अध्यवसाय के मूल में लक्षणानिहित है, अतएव संक्षेप में उसका निर्देश आवश्यक है।

## अध्यवसाय में लक्षणा

अध्यवसाय में लक्षणा बीज है। लक्षणा दो प्रकार की होती है: सारोपा और साध्यवसाना। सारोपा में विषय और विषयी दोनों का उपादान रहता है और साध्यवसाना में विषयी विषय को अन्तर्निगीर्ण कर लेता है।[342] आरोपमूलक और अध्यवसाय मूलक अलंकारों में लक्षणा के ये दो भेद क्रमशः बीजभूत हैं। आरोप में रूपक आदि तथा अध्यवसाय में उत्प्रेक्षा-अतिशयोक्ति अलंकार होते हैं। आरोप में विषय और विषयी का समान रूप से उपादान होता है, विषय की प्रतीति विषयी रूप में होती है। परन्तु आरोप की इस समान विभक्तिक स्थिति को ही रूपक नहीं कहा जाता, क्योंकि यह तो पूर्णतः सारोपा लक्षणा का स्वरूप हुआ। इस आरोप में विच्छित्ति या चारुत्व का होना अनिवार्य है। अध्यवसाय में विषय का कभी-कभी उपादान होता भी है, और नहीं भी होता है।[343] सिद्ध अध्यवसाय में विषय सर्वथा अनुपात्त रहता है, किन्तु साध्य अध्यवसाय उत्प्रेक्षा में विषय का उपादान रहता भी है, जैसे 'मुखं चन्द्रं मन्ये' में है और नहीं भी रहता, जैसे : 'चन्द्रं मन्ये' में है। विषय के उपादान में उसका शिथिलीकरण हो जाता है। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, आदि भी विषय के अनुपादान में उत्प्रेक्षा स्वीकारते हैं। इस प्रकार संभावनारूप साध्य अध्यवसाय में उत्प्रेक्षा होती है। ऐसी स्थिति में विषय निर्गीर्यमाण रहता है और विषय के अनुपादान के बिना यह संभव नहीं है। रूपक, आदि का स्वरूप भेद वामन की टीका में गोपेन्द्रतिप्पभूपाल ने इस प्रकार स्पष्ट किया है, अतत्स्वभाव वस्तु की तद्गुण योग से तद्भावकल्पना अध्यारोप है, साम्य के आधार पर एक वस्तु का जब अन्य वस्तु के साथ अध्यवसाय रूप में प्रतिपादन किया जाता है, तो वहां सादृश्यमूला लक्षणा होती है, और जहां अतद्रूप वस्तु में अतिशय का आधान करने के लिये तद्रूपतया अध्यवसान होता है, तो उसे अध्यवसाय या संभवन कहते हैं। प्रथम में रूपक, द्वितीय में (वामन प्रोक्त) वक्रोक्ति और तृतीय में उत्प्रेक्षा होती है।[344]

## उत्प्रेक्षा के भेद

भामह और दंडी ने उत्प्रेक्षा के भेद का कोई निर्देश नहीं किया है। सर्वप्रथम उद्भट ने उत्प्रेक्षा को दो प्रकार का माना है, भाव और अभाव की संभावना में। यद्यपि उन्होंने प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उनका अभिमत है कि उत्प्रेक्षा इवादि के प्रयोग में 'वाच्या'[345] होती है। इससे स्पष्ट है कि उद्भट वाच्या और प्रतीयमाना भेद भी इसको स्वीकारते हैं। वामन ने भी कोई भेद-प्रदर्शन

का प्रयास नहीं किया। रुद्रट ने औपम्य मूल और अतिशयमूल दोनों प्रकार की उत्प्रेक्षाओं के तीन-तीन भेद किये हैं। औपम्यमूला प्रथम का लक्षण पहले ही दिया जा चुका है।[346] द्वितीय भेद वहां होता है, जहां एक उपमेय में अवस्थित अन्य उपमेय पर उपमान में अवस्थित अन्य उपमान के ताद्रूप्य की संभावना की गयी हो :[347]

**'आपाण्डुगण्डपाली विरचितमृगनाभिपद्मरूपेण।**
**शशिशङ्कयेव पतितं लांछनमस्या मुखे सुतनोः।।'** —काव्या., 8/35

यहां नायिका का मुख प्रथम उपमेय है, उससे सम्बद्ध 'मृगनाभिपत्र' द्वितीय उपमेय है। प्रथम उपमान है चन्द्र तथा द्वितीय लांछन। सादृश्य के कारण नायिकामुखस्थ मृगनाभिपत्र में चन्द्रसम्बद्ध लांछन की संभावना होने के कारण यह द्वितीय उत्प्रेक्षा का उदाहरण है। इसी प्रकार जहां विशिष्ट या अविशिष्ट उपमेय में युक्तिपूर्वक अविद्यमान भी उपमान की सादृश्य के कारण संभावना की जाये, वह तृतीय औपम्यमूला[348] उत्प्रेक्षा है। अतिशयमूला प्रथम उत्प्रेक्षा वहां होती है, जहां अतिशय तथाभूत वस्तु में असंभाव्य क्रियादि की संभावना की जाती है तथा दूसरी उत्प्रेक्षा वहां होती है, जहां अतथाभूत (अविद्यमान) वस्तु में असंभाव्य क्रियादि की संभावना हो।[349] तीसरी उत्प्रेक्षा तब होती है जब अन्य निमित्त के कारण जो वस्तु जिस रूप में है, उसकी स्वरूप प्राप्ति के लिये उससे असम्बद्ध अन्य कारण का आरोप किया जाये।[350] कुन्तक की भेद व्यवस्था अस्पष्ट है। भोजराज ने द्रव्य, गुण, क्रिया भेद से इसका तीन भेद माना है।[351] मम्मट ने उत्प्रेक्षा के भेद का कोई निर्देश नहीं किया है। उनके दो उदाहरणों को टीकाकरों ने हेतूत्प्रेक्षा तथा क्रियोत्प्रेक्षा का उदाहरण माना है।[352]

सर्वप्रथम रुय्यक ने उत्प्रेक्षा के भेदों का विस्तार किया है। उन्होंने पहले वाच्या-प्रतीयमाना दो भेद किया है। उत्प्रेक्षाव्यंजक[353] इवादि शब्दों के प्रयोग में वाच्या-उत्प्रेक्षा होती है, उनके अप्रयोग में प्रतीयमाना। पुनः वाच्या उत्प्रेक्षा वस्तु के द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति रूप से चार प्रकार का होने से चार प्रकार की होती है। ये भी चारों भाव-अभाव भेद से आठ प्रकार के हो जाते हैं। इन आठों के निमित्त, गुण और क्रिया रूप द्विधा होने से सोलह भेद होते हैं। इनमें प्रत्येक, निमित्त के उपादान तथा अनुपादान में होता है, इस प्रकार दो-दो भेद होकर 32 भेद हो जाते हैं। ये भी समस्त भेद हेतु, स्वरूप तथा फल के उत्प्रेक्षण में होते हैं। इस प्रकार वाच्योत्प्रेक्षा 96 प्रकार की होती है।[354] किन्तु द्रव्योत्प्रेक्षा का स्वरूपोत्प्रेक्षण ही संभव

है। अतएव वाच्योत्प्रेक्षा के कुल 80 भेद होते हैं।[355] जयरथ के अनुसार प्रतीयमाना के 48 भेद होते हैं,[356] जबकि विद्याचक्रवर्ती की दृष्टि में केवल बत्तीस।[357] वस्तुतः रुय्यक ने 'अलंकारानुसरणी' में गम्योत्प्रेक्षा के 48 भेद स्वीकार किये हैं।[358] अप्पयदीक्षित की दृष्टि में रुय्यक को वाच्योत्प्रेक्षा के 55 और गम्योत्प्रेक्षा के 40 भेद मान्य हैं।[359] समुद्रबन्ध ने वाच्योत्प्रेक्षा के 56 और गम्योत्प्रेक्षा के 24 भेदों की चर्चा की है।[360] इस प्रकार रुय्यक को—जयरथ की दृष्टि में 128, विद्याचक्रवर्ती की दृष्टि में 112, अप्पयदीक्षित की दृष्टि में 95 तथा समुद्रबन्ध की दृष्टि में 80 भेद मान्य हैं। उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त रुय्यक ने श्लिष्टोत्प्रेक्षा, उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा, सापह्नवोत्प्रेक्षा भेद से उत्प्रेक्षा के अनन्त भेदों की कल्पना की है :

**'अतश्चोक्तवक्ष्यमाणप्रकारवैचित्र्येणानन्त्यमस्याः'** अ.स., पृ. 71

जयरथ ने अतिशयोक्तिमूलकता मानकर उत्प्रेक्षा में भी उन समग्र भेदों की कल्पना की है, जो अतिशयोक्ति में पाये जाते हैं।[361]

रुय्यक के बाद ही उत्प्रेक्षा के इस विस्तार को शोभाकर ने सीमित कर दिया। उन्होंने इसका धर्म्युत्प्रेक्षा और धर्मोत्प्रेक्षा भेद से पहले दो भेद किया है। धर्म्युत्प्रेक्षा आरोप के शाब्द और आर्थ—द्विधा होने से दो प्रकार की होती है (ध्यातव्य है कि शोभाकर उत्प्रेक्षा को आरोप मूलक सन्देह-गर्भ मानते हैं)। धर्मोत्प्रेक्षा भी प्रथमतः धर्म रूप विषय के उपादान में आरोप गर्भा होती है। यहां प्रधानभूत धर्मी के विशेषण रूप में प्रयुक्त धर्म के गौण होने से दोनों में विशेष्य-विशेषण भाव अनुपपन्न होने के कारण समानाधिकरणत्व का अभाव पाया जाता है, अतएव आरोप आर्थ ही होता है। धर्म के अनुपादान में धर्मोत्प्रेक्षा अध्यवसायगर्भ होती है। आरोप गर्भ प्रथम तीन भेदों (धर्म्युत्प्रेक्षा के दो भेद तथा धर्मोत्प्रेक्षा का एक भेद) के विषय के अपह्नव तथा अनपह्नव में होने से प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं। पुनः स्वरूप, फल, हेतु के उत्प्रेक्षण से तथा निमित्त के उपादान, अनुपादान भेद से शोभाकर की दृष्टि में अनेक भेद हो सकते हैं।[362] संभव अन्य भेदों में वह वैचित्र्य का अभाव पाते हैं :

**'संभविनोऽप्यन्यभेदाः वैचित्र्यविशेषाभा(वा)न्नेह गणिताः'** अ.र., पृ. 48

शोभाकर भी उपर्युक्त भेदों को इवादि के प्रयोग में वाच्य तथा अप्रयोग में प्रतीयमान स्वीकारते हैं।[363]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने रुय्यक का पूर्णतः अनुगमन किया है।[364] हेमचन्द्र ने गुण और क्रिया के भाव-अभाव भेद से केवल चार भेदों को ही माना है।[365] वाग्भट

प्रथम ने भेद की कोई चर्चा नहीं की है। वाग्भट द्वितीय ने भी भेद का विवेचन नहीं किया है, किन्तु इव, मन्ये, शङ्के, ध्रुवं तथा 'नूनम्' शब्दों से व्यंजित उत्प्रेक्षा का उदाहरण प्रस्तुत किया है।[366] जयदेव ने, उत्प्रेक्षा (वाच्या) तथा गूढोत्प्रेक्षा दो भेद माना है।[367] रुय्यक के अनुयायी विद्याधर उनके उत्प्रेक्षा विस्तार से इतने ऊब गये थे कि उन्होंने उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा, वाच्या, प्रतीयमाना तथा गुण, क्रिया, फलोत्प्रेक्षा का ही निर्देश किया।[368] विद्यानाथ ने यद्यपि उत्प्रेक्षा विभाजन में रुय्यक का अनुगमन अवश्य किया है, किन्तु वाच्योत्प्रेक्षा के 96 भेदों में वह[369] चारुता का अभाव पाते हैं। उनके अनुसार वाच्योत्प्रेक्षा के केवल 56 भेद और गम्योत्प्रेक्षा के (रुय्यक के ही समान) 48 भेद होते हैं।[370] विश्वनाथ ने भी यद्यपि रुय्यक का अुनगमन किया है, किन्तु उन्होंने उत्प्रेक्षा भेदों की संख्या बढ़ा दी है। वह वाच्योत्प्रेक्षा के 112 और गम्योत्प्रेक्षा के 64 भेद को मिलाकर उत्प्रेक्षा के कुल 176 भेदों का उल्लेख करते हैं। वाच्या के 32 भेद रुय्यक के समान हैं। पुनः वाच्या उनके अनुसार निमित्त के उपादान तथा अनुपादान दोनों में होने से स्वरूपोत्प्रेक्षा, 32 प्रकार की होती है। फलोत्प्रेक्षा तथा हेतूत्प्रेक्षा केवल जाति, गुण और क्रिया में ही होती है, द्रव्य में नहीं। इस प्रकार इन दोनों के भावाभाव तथा जाति, क्रिया, गुण निमित्त के उपादान में होने से प्रत्येक के 12-12 भेद होते हैं। कुल मिलाकर वाच्योत्प्रेक्षा के 56 भेद हुए। ये भी प्रस्तुत की उक्ति तथा अनुक्ति में होकर 112 भेद को प्राप्त हो जाते हैं। प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के 16 भेद वाच्योत्प्रेक्षा के ही समान हैं। पुनः गम्योत्प्रेक्षा केवल फल तथा हेतु के निमित्त में होती है। इस प्रकार 32 भेद हुए। विषय के उपात्त तथा अनुपात्त होने से इसके भी 64 भेद हो जाते हैं। इस प्रकार विश्वनाथ की दृष्टि से कुल 176 भेद हुए।[371]

अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में केवल 6 भेदों को प्रदर्शित किया है।[372] प्रथमतः उत्प्रेक्षा तीन प्रकार की होती है, वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा। वस्तूत्प्रेक्षा उक्त, अनुक्त दो प्रकार की होती है, तथा अन्य दो सिद्ध-असिद्ध भेद से चार प्रकार की होती है। चित्रमीमांसा में दीक्षित ने रुय्यक तथा विद्यानाथ के भेद प्रपंच को न्यून तथा सतृणाभ्यवहारी कहा है।[373] चित्रमीमांसा में स्वरूपोत्प्रेक्षा को उक्तअनुक्तविषया न कहकर अविशिष्टा तथा विशिष्टा अभिधान देकर कुवलयानन्द में कहे गये छः भेदों को ही वह रमणीय मानते हैं।[374] इन भेदों के अतिरिक्त उन्होंने रुय्यक के भेदों में कुछ वृद्धि भी की है। उनका कथन है कि 'सर्वस्वकार' जो धर्म की श्लिष्टता में उत्प्रेक्षा मानते हैं, वहां साधारण धर्म के आधार पर उपमा में अनुगामी आदि जितने भी भेद होते हैं—सभी हो सकते हैं। श्लिष्ट

धर्म की तरह अन्य अलंकार भी उत्प्रेक्षा के निमित्त हो सकते हैं।[375] सापह्नवोत्प्रेक्षा केवल स्वरूपगत न होकर फल तथा हेतु में भी होती है।[376] इसी प्रकार उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा के अतिरिक्त रूपक आदि में भी उत्प्रेक्षा का पर्यवसान संभव है।[377] भट्ट देवशंकर तो कुवलयानन्द के अनुगामी ही हैं।[378] कर्णपूर ने कोई भेद नहीं किया है।

जगन्नाथ ने यद्यपि रुय्यक आदि के द्वारा प्रदर्शित भेदों का विवेचन किया है,[379] किन्तु उन्हें केवल स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा मान्य है :

> **'इह जात्यादयो हिभेदाः प्राचामनुरोधादुदाहृताः। वस्तुतस्तु नैषां चमत्कारे वैलक्षण्यमस्ति इत्यनुदाहार्यतैव। चमत्कारवैलक्षण्यं पुनर्हेतुफलस्वरूपात्मकानां त्रयाणां प्रकाराणामेव।'** —र.गं., पृ. 295

जगन्नाथ ने धर्म को भी द्विधा बताया है, स्वतः साधारण तथा साधारणीकरण हेतुओं से साधारणीकृत असाधारण। स्वतः साधारण धर्म को ही अनुगामी कहा जाता है। द्वितीय (असाधारण) धर्म कहीं रूपक, कहीं श्लेष, कहीं अपह्नुति, कहीं बिम्बप्रतिबिम्बभाव, कहीं उपचार और कहीं अभेदाध्यवसाय रूप अतिशय[380] होता है।

रुय्यक की भांति नरसिंह कवि भी वाच्योत्प्रेक्षा के 96 भेद मानते हैं,[381] किन्तु वाच्योत्प्रेक्षा के भेदों की चर्चा न करके उसका संकेत मात्र करते हैं। अच्युतराय ने वाच्या और प्रतीयमाना भेदों के अतिरिक्त दीक्षितोक्त छह भेदों का भी प्रदर्शन किया है।[382] वस्तुतः उत्प्रेक्षा का बहुल विस्तार सौन्दर्य विधायक नहीं है। उत्प्रेक्षा औपम्यमूलक अलंकार है। द्रव्य, स्वरूप, भाव, आदि के आधार पर किये गये उत्प्रेक्षा भेदों में न औपम्य पाया जाता है, न तज्जन्य चमत्कार। इन समग्र भेदों का उदाहरण पुरस्सर विवेचन किसी भी आलंकारिक के लिये संभव नहीं हुआ। इस तथ्य को रुय्यक भी स्वीकार करते हैं :

> **'तदसावुत्प्रेक्षायाः कक्ष्याविभागः प्रचुरतयास्थितोऽपि लक्ष्ये दुरवधारत्वादिह न प्रपंचितः।'** अ.स., पृ. 79

यही कारण है कि मम्मट, दीक्षित, जगन्नाथ, आदि ने उत्प्रेक्षा प्रपंच को उतना सम्मान नहीं दिया है।

उत्प्रेक्षा के लक्षण तथा भेदोपभेद के अतिरिक्त उसके कतिपय उदाहरणों में भी आलंकारिकों में मतभेद है। दो एक उदाहरणों का विवेचन अनावश्यक न होगा। दंडी ने इस उदाहरण :

**'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभः।**
**असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।।'** —काव्यादर्श, 2/224

में क्रियोत्प्रेक्षा मानी है। उन्होंने यह शंका भी उठाई है कि अन्य लोग इव को उपमा वाचक मानकर यहां (पूर्वार्द्ध में) उपमा अलंकार स्वीकारते हैं। परन्तु दंडी ने महाभाष्य के नियम 'न वै तिङ्न्तेनोपमानमस्ति' को स्वीकार करते हुए उपमा का खंडन किया है।[383] उनका मत है कि उपमा उपमान और उपमेय की समानधर्मिता में होती है। यहां कोई समानधर्म नहीं दीखता। यदि लेपन को ही धर्म मान लें तो प्रश्न उठता है कि धर्मी किसे माना जाये। एक ही वस्तु धर्म भी हो और धर्मी भी, संभव नहीं। 'तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान है' इस कथन में जैसे कान्ति आदि तुल्यधर्म की प्रतीति होती है, लेपन में उस प्रकार की कोई धर्म प्रतीति नहीं है। अतएव यहां उपमा न होकर उत्प्रेक्षा की होगी।

यहां मम्मट ने 'लिम्पति' में तमोव्यापन (प्रसार) को, तथा 'वर्षति' में अधःप्रसरण को विषय मानकर लेपन और वर्षण की संभावना या उत्प्रेक्षा स्वीकार[384] की है। रुय्यक के अनुसार यहां अन्धकार ही उत्प्रेक्षा का विषय है, लेपन क्रिया कर्तृत्व धर्म है और अन्धकार का प्रसार आदि प्रतीयमान निमित्त है। अतः तमरूप धर्मी में लेपनक्रिया कर्तृत्व रूप धर्म की उत्प्रेक्षा की गयी है।[385] डाक्टर रामचन्द्र द्विवेदी ने रुय्यक के मत का अनुगमन करते हुए मम्मट के मत को अनुपयुक्त ठहराया है। उनका अभिमत है कि यहां लेपन और तमःसंपात रूप विषय शब्दतः उपात्त नहीं है, और उत्प्रेक्षा में विषय को उपात्त नहीं होना चाहिये। अतएव प्रकृत उदाहरण में तमप्रसार को विषय नहीं माना जा सकता।[386] द्विवेदी जी का यह मत सराहनीय नहीं है। उत्प्रेक्षा परिसर में ही वह स्वीकार करते हैं कि उत्प्रेक्षा में विषय का कभी-कभी उपादान[387] नहीं भी होता है। अतएव यहां उन्हीं के कथन से विरोधाभास हो जाता है। उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय होता ही है। अतएव साध्यवसानालक्षणा से यहां अनुपात्त भी विषय की प्रतीति हो जाती है। विश्वनाथ आदि आचार्य भी इससे सहमत हैं।[388] जगन्नाथ दोनों मतों को दुष्ट स्वीकारते हैं। उनके अनुसार यहां अभेद में उत्प्रेक्षा मानी गयी है। अनुपात्त विषयक अध्यवसान मूला उत्प्रेक्षा मानने पर तो यहां रूपक की भी आपत्ति हो सकती है।[389] और निमित्त अंश में अतिशयोक्ति भी हो सकती है। जगन्नाथ के रूपक मत की पहले ही समीक्षा की जा चुकी है। अतिशयोक्ति में विषय सर्वथा अनुपात्त रहता है, किन्तु उत्प्रेक्षा में उपात्तविषय का शिथिलीकरण हो जाता है।

**सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।**
**अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेष दुःखादिवबद्धमौनम्।।** र.वं., 13/23

यहां भी प्राचीनों और नव्याचार्यों में मतभेद है। रुय्यक के अनुसार यहां मौन नूपुर में दुःख (गुण) की संभावना की गयी है, अतएव गुणोत्प्रेक्षा है।[390] प्राचीन आलंकारिक विषय में विषयी के अभेद सम्बन्ध की संभावना में उत्प्रेक्षा स्वीकारते हैं और नव्यों के अनुसार धर्म और धर्मी में समवायसम्बन्ध होने से धर्म की धर्मी से संभावना संभव है। उपर्युक्त उदाहरण में मौन की हेतुता से नूपुर में विश्लेष दुःख की संभावना की गयी है। दुःख की संभावना में नूपुर की निश्चलता निमित्त है, अतएव निःशब्दता का मौन में अध्यवसान हुआ है। दीक्षित और जगन्नाथ का यही मत है।[391] परन्तु रुय्यक के अनुसार नूपुर की मौनता का हेतु दुःख है तथा उसकी संभावना का निमित्त भी मौन ही है।[392] इसी प्रकार 'अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे' इत्यादि 'नैषधीय' पद्य में भी आचार्यों में मतभेद है।[393]

## उत्प्रेक्षावयव का अन्तर्भाव

भामह तथा भट्टि ने 'उत्प्रेक्षावयव' एक भिन्न अलंकार माना है। भामह के अनुसार जब उत्प्रेक्षा रूपकार्थ या श्लिष्टार्थ से संवलित होती है, तो उत्प्रेक्षावयव अलंकार होता है।[394] यद्यपि वामन ने भी इसका निरूपण किया है, किन्तु वे इसे संसृष्टि का एक भेद मानते हैं।[395] यदि कोई अन्य अलंकार उत्प्रेक्षा का कारण हो तो उसे उत्प्रेक्षावयव कहते हैं।[396]

भामह का उदाहरण संभावना से व्यतिरिक्त नहीं है।[397] वामन का उदाहरण भी उत्प्रेक्षा का ही है :

**अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।**
**कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी।।**—का.सू.वृ., पृ. 147

चन्द्रमा मानो रात्रि-मुख का चुम्बन कर रहा है। यद्यपि यहां समासोक्ति से उद्भूत उत्प्रेक्षा चमत्कार का कारण है,[398] किन्तु चुम्बन का यहां भी साध्य अध्यवसान ही हुआ है। अतः उत्प्रेक्षावयव उत्प्रेक्षा से व्यतिरिक्त अलंकार नहीं है। भोजराज ने स्पष्ट कहा है कि उत्प्रेक्षोपमा, मत तथा उत्प्रेक्षावयव, उत्प्रेक्षा से व्यतिरिक्त नहीं है :

**'उत्प्रेक्षावयवो याश्च या चोत्प्रेक्षोपमा मता।**
**मतं चेति न भिद्यन्ते तान्युत्प्रेक्षास्वरूपतः।।'** —स.कं., 4/51

**उत्प्रेक्षा व्यंजक**

**मन्ये, शङ्के, ध्रुवं प्रायोनूनमित्येवमादयः।**
**उत्प्रेक्षाव्यंजकाः शब्दाः इवशब्दोऽपि तादृशः।।** —काव्याद., 2/232

इव उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त उपमा का भी वाचक है। ऐसी स्थिति में 'इव' के संयोग में उत्प्रेक्षा माना जाये या उपमा? यह एक गहन विषय है। प्रायः उत्प्रेक्षा में इव का सम्बन्ध क्रिया से हुआ करता है, जबकि उपमा में आवश्यक नहीं है। जैसे पूर्वोक्त उदाहरण 'लिम्पतीव' इत्यादि में 'इव' का 'लिम्पति' और 'वर्षति' के साथ सम्बन्ध है। परन्तु कभी-कभी उत्प्रेक्षा में इव का क्रिया से सम्बन्ध न होकर गुणादि से भी हो जाता है। ऐसी दशा में विद्याचक्रवर्ती के अनुसार उत्प्रेक्षा तथा उपमा का विभाग निम्न ढंग से करना चाहिये। जब उपमान लोकसिद्ध होता है तो वहां इव साधर्म्य का सूचक होकर उपमा की निष्पत्ति करता है और जब उपमान लोक-असिद्ध तथा कविकल्पित होता है, तो इव शब्द संभावनापरक होता है, और ऐसी स्थिति में उत्प्रेक्षा होती है। वस्तुतः उत्प्रेक्षा में कल्पना ही प्रधान है। अतएव जहां इवादि कविकल्पित उपमान से सम्बद्ध होते हैं वहां उत्प्रेक्षा होती है :

**'यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति।**
**तदोपमैव येनेवशब्दः साधर्म्यसूचकः।।**
**यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कविकल्पितः।**
**तदोत्प्रेक्षैव येनेव शब्दः संभावनापरः।।'** —संजीवनी, पृ. 72

## अतिशयोक्ति

भामह के अनुसार समग्र अलंकार अतिशयोक्ति से अनुप्राणित हैं।[399] भामह की इस उक्ति का समर्थन दंडी ने भी किया है।[400] ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने भी प्राचीनों की इस परम्परा का समादर किया है। उनका अभिमत है कि महाकवियों द्वारा प्रयुक्त औचित्य-युक्त अतिशयोक्ति काव्य में अपूर्व सौन्दर्य का सृजन करती है। भामह के 'सैषा सर्वैव' इत्यादि कथन को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा है कि जहां कहीं भी अलंकार में कवि प्रतिभा संसर्ग से अतिशय का संयोजन होता है, काव्य में सौन्दर्य का आधिक्य हो उठता है। अतएव समग्र अलंकारों का शरीर-कल्प होने से अभेदोपचार से इसे सर्वालंकार-सामान्य कहा जा सकता है।[401] वस्तुतः भामह, दंडी और ध्वनिकार द्वारा कही गयी यह अतिशयोक्ति वक्रोक्ति है, जो समग्र अलंकारों में प्राण रूप से अवस्थित है। इसी को सौन्दर्य, विच्छित्ति, चमत्कार, शोभा,

चारुता, आदि नामों से अभिहित किया गया है। अतएव भामह आदि द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त अतिशयोक्ति अतिशयोक्ति अलंकार से भिन्न है। वह अलंकार सामन्य है और प्रकृत अतिशयोक्ति एक अलंकार विशेष है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने इसे सम्पूर्ण अलंकारों का जीवन कहा है।[402]

लोकोत्तर वस्तु या पदार्थ का कथन ही अतिशयोक्ति है।[403] जगन्नाथ के अनुसार विषयी के द्वारा विषय का निगरण ही अतिशय कहा जाता है, उसका कथन होने के कारण इस अलंकार को 'अतिशयोक्ति' कहते हैं।[404] वस्तुतः उपमेय को अतिक्रान्त कर उपमान का अवस्थान होने से इसे अतिशयोक्ति कहा जाता है। अति उपसर्गपूर्वक शीङ् धातु से अधिकरण अर्थ में (अधिकरणे शेतेः —पा. 3/2/15) अच् प्रत्यय करने पर अतिशय शब्द बनता है। यहां शीङ् धातु का शयन अर्थ न होकर उत्कर्ष अर्थ है।[405] अतएव उपमेय को अतिक्रान्त[406] या निगीर्णकर जहां उपमान अवस्थित हो, उसे अतिशय, और इस प्रकार के सौन्दर्यपूर्ण कथन को अतिशयोक्ति कहते हैं। इसलिये इस अलंकार का अतिशयोक्ति अभिधान अन्वर्थक है।

उत्प्रेक्षा में हम देख चुके हैं कि विषय निगीर्यमाण अवस्था में रहता है। पर वहां 'मुखं चन्द्रं मन्ये' में मनःस्थिति सन्देहायित रहती है। यह बात अवश्य है कि यह सन्देह, सन्देह अलंकार की भांति उभयकोटिक न होकर, उत्कटैककोटिक या एक पक्ष के दाढ्र्य और अपरपक्ष के शिथिलीकरण में होता है, किन्तु किसी वस्तु का पूर्णतः निश्चय नहीं हो पाता। इस अवस्था से जब कवि-चित्त-वृत्ति और भी अग्रसर होती है, तो वह विषयगत समग्र धर्मों को विषयी के माध्यम से ही प्रत्यक्ष करना चाहती है। ऐसी दशा में कवि विषयी के द्वारा विषय का निगरण करा देता है, और मुख में मुख की प्रतीति न होकर चन्द्र के रूप में होती है। कवि कह उठता है 'चन्द्रमिदम्'। ध्यातव्य है कि इस प्रकार का कथन विषय को ही अधिक स्पष्ट और रमणीय बनाने के लिये होता है। यही अतिशयोक्ति का स्वरूप है।

ऋग्वेद में भी अतिशयोक्ति के सुन्दर उदाहरण पाये जाते हैं। ऋ. 1/164/20 में अतिशयोक्ति का प्रथम भेद समुल्लसित हो रहा है, क्योंकि यहां जीवात्मा और परमात्मा रूप विषय का विषयी पक्षिद्वय से निगरण किया गया है। इसे जगन्नाथ भी मानते हैं—'इयं चातिशयोक्तिर्वेदेऽपि दृश्यते'।

यथा— **द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानंवृक्षं परिपस्वजाते।**
**तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।**[407]

—ऋ. 1/164/20, र.गं., पृ. 316

इसी प्रकार ऋग्वेद के अन्य स्थल भी द्रष्टव्य हैं।[408] मुण्डक (3/1/1) में भी अतिशयोक्ति पाई जाती है। गीता के निम्न श्लोक में भी अतिशयोक्ति है :

**'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।**
**यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।'** गीता 2/69

जगन्नाथ भी यहां अतिशयोक्ति स्वीकारते हैं।[409] इसी प्रकार मनुस्मृति[410] में भी अतिशयोक्ति पाई जाती है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि भी अपने कथन में अतिशयोक्ति का प्रयोग करते थे।

भरत ने अतिशय नामक काव्य-लक्षण[411] का उल्लेख किया है। भट्टतौत तथा अभिनवगुप्त का अभिमत है कि इसी अतिशय लक्षण से ही अतिशयोक्ति अलंकार का आविर्भाव हुआ है।[412] इससे स्पष्ट है कि अतिशयोक्ति का सर्वप्रथम विवेचन करनेवाले भामह को इसका मूल नाट्यशास्त्र के अतिशय में ही मिला होगा। भामह के अनुसार किसी निमित्त-वश वस्तु का अलौकिक या लोकातिक्रान्त कथन अतिशयोक्ति है।[413] दंडी ने भी यही कहा है, लोक सीमा का अतिक्रमण करने वाली विशेष-विवक्षा ही अतिशयोक्ति है।[414] उद्भट ने यद्यपि भामह के ही लक्षण को ग्रहण कर लिया है,[415] किन्तु भेद विवेचन उनका वैशिष्ट्य है, जिसका प्रतिपादन आगे किया जायेगा। वामन के अनुसार संभाव्यमान धर्म या उसके उत्कर्ष की कल्पना अतिशयोक्ति है।[416] वामन के उदाहरणों से स्पष्ट है[417] कि वह भी भामह के ही अनुगामी हैं। रुद्रट ने अतिशयमूलक पूर्व, विशेष आदि अलंकारों का विवेचन किया है।[418] उन्होंने अतिशय की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रसिद्धि-बाध से अर्थ-धर्म का लोकातिक्रान्त विपर्यय अतिशय कहा जाता है।[419] इससे स्पष्ट है कि उन्हें भी अतिशय का वही स्वरूप अभीष्ट है, जो भामह आदि को है। उनका पूर्व[420] अलंकार अक्रमातिशयोक्ति (कार्यकारण विपर्ययरूपा) से भिन्न नहीं है। कुन्तक भी तद्विद् आह्लादकारी धर्मों के अतिशय निबन्धन को ही अतिशयोक्ति मानते हैं।[421] भोजराज भी दंडी का ही अनुगमन करते हैं।[422] इस प्रकार स्पष्ट है कि भोजराज तक के प्राचीन आचार्य लोकातिक्रान्त कथन को ही अतिशयोक्ति मानते रहे हैं। अग्निपुराण में भी दंडी का ही अनुसरण किया गया है।[423]

सर्वप्रथम मम्मट ने अतिशयोक्ति को नवीनता प्रदान की और प्राचीनों की अतिशयोक्ति को सुव्यवस्थित किया। यद्यपि उन्होंने उद्भट प्रोक्त चार भेदों की ही स्थापना की है और अतिशयोक्ति का कोई सामान्य लक्षण नहीं किया है, तथापि निगीर्याध्यवसान रूपा उनकी पहली अतिशयोक्ति को ही परवर्ती आचार्यों ने प्रायः

अतिशयोक्ति का लक्षण मान लिया है। मम्मट की प्रथम अतिशयोक्ति विषयी के द्वारा विषय के निगीर्ण किये जाने पर होती है।[424] मम्मट के इसी कथन को आधार मानकर रुय्यक ने अतिशयोक्ति का लक्षण किया :

**'अध्यवसितप्राधान्ये तु अतिशयोक्तिः'** —अ.स., सूत्र-22

अपने लक्षण को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है, अध्यवसाय में तीन बातें संभव हैं, अध्यवसान का स्वरूप विषय और विषयी। विषय का विषयी के द्वारा निगरण होने पर ही अध्यवसाय के स्वरूप का उत्थान होता है। अध्यवसाय के साध्य होने पर स्वरूप का प्राधान्य होता है और सिद्ध होने पर अध्यवसित (विषय को निगीर्ण किये हुए विषयी) का। अध्यवसाय में विषय निगीर्यमाण या निगीर्ण सा रहता है, अतएव उसका प्राधान्य असंभव है। अतएव अध्यवसित (विषयी) के प्राधान्य में अतिशयोक्ति होती है।[425] शोभाकर ने भी अध्यवसान को ही अतिशयोक्ति कहा है।[426] नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी लोकातिक्रान्त उक्ति को अतिशयोक्ति कहा है,[427] भेद विवेचन रुय्यक के समान है। हेमचन्द्र के अनुसार प्रकृत का विशेष रूप से वर्णन करने के लिये भेद, अभेद, योग, अयोग का व्यत्यय अतिशयोक्ति है।[428] वाग्भट (1) का अभिमत है कि वर्ण्य-विषय के उत्कर्ष के लिये किसी असंभाव्य वस्तु का वर्णन अतिशय है।[429] वाग्भट (2) के अनुसार अत्युक्ति ही अतिशयोक्ति है।[430]

जयदेव ने भी अतिशयोक्ति का कोई सामान्य लक्षण नहीं प्रस्तुत किया है। विद्याधर ने भी भेदपूर्वक लक्षण उपस्थित किया है।[431] विद्यानाथ पर भी मम्मट, रुय्यक का प्रभाव है। उनके अनुसार कवि कल्पना के कारण विषय के तिरोधानपूर्वक विषयी का निबन्धन अतिशयोक्ति है।[432] विश्वनाथ ने रुय्यक के समान लक्षण किया है।[433] अमृतानन्द योगी का लक्षण दंडी से प्रभावित है।[434] केशवमिश्र ने इसका उल्लेख नहीं किया है। अप्पयदीक्षित ने भी जयदेव का अनुसरण किया है, विवेचन आगे प्रस्तुत किया जायेगा। कर्णपूर[435] मम्मटानुसारी लक्षण करते हैं और देवशंकर कुवलयानन्द के समान।[436] जगन्नाथ अतिशय और अध्यवसाय को समानार्थक मानते हैं :

**'विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः। तस्योक्तिः।'** —र.गं., पृ. 307

इस प्रकार जगन्नाथ की परिभाषा में प्राचीन आचार्यों के यौगिक अर्थ तथा नव्यों के अध्यवसाय दोनों का समावेश हो गया है। आचार्य विश्वेश्वर ने अलंकार प्रदीप

में प्रस्तुत और अप्रस्तुत की सर्वथा अभेद प्रतीति को अतिशयोक्ति[437] माना है किन्तु 'अलंकार मुक्तावली' तथा 'अलंकार कौस्तुभ' में मम्मट के लक्षण का अनुगमन[438] किया है। 'नञ्जराज यशोभूषण' में नरसिंह कवि ने विद्यानाथ के ही लक्षण को ले रखा है।[439] अच्युतराय ने भी जगन्नाथ की भांति अतिशय कथन को अतिशयोक्ति स्वीकारा है।[440] छज्जूराम प्रस्तुत के उत्कर्ष विधायक कथन को अतिशयोक्ति मानते हैं।[441]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि अतिशयोक्ति के विषय में आलंकारिक दो विचारधारायें रखते हैं। प्रथम तो वे प्राचीन आचार्य हैं, जो अतिशयोक्ति को यौगिक अर्थ में ग्रहण करते हैं। उनकी अतिशयोक्ति, लोकोत्तर कथन, विच्छित्ति, सौन्दर्य या वक्रोक्ति रूपा है। इसीलिये वह सभी अलंकारों में सामान्य रूप से अवस्थित रहने वाली अलंकार-प्राण है। इस कोटि में भामह, दंडी, वामन, रुद्रट, कुन्तक, भोज, आदि प्राचीन तथा अमृतानन्द योगी आदि नव्य आचार्य आते हैं, जो अतिशयोक्ति के लिये 'लोकातिक्रान्त', 'लोकसीमातिवर्तिनी' या 'अतिलोक', आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। परन्तु प्राचीनों की यह अतिशयोक्ति काव्य का व्यापक तत्त्व है, तथा अनेक अलंकारों के मूल में विद्यमान है। इसलिये भामह आदि की अतिशयोक्ति, अलंकार विशेष न होकर अलंकार सामान्य है। अन्यथा यदि निगीर्याध्यवसान रूपा अतिशयोक्ति का भी अर्थ 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' अर्थ करेंगे, और सभी अलंकारों के मूल में मानेंगे, तब तो अलंकारों का औपम्य आदि के आधार पर किया गया विभाजन भी दुष्ट हो जायेगा।[442] इसलिये प्राचीनों की वक्रोक्ति का अपर अभिधान अतिशयोक्ति काव्य का व्यापक तत्त्व है, और नव्य आचार्य मम्मट आदि की अतिशयोक्ति अलंकार विशेष है, जो सिद्ध अध्यवसाय या अध्यवसित प्राधान्य में होती है।

यद्यपि अतिशयोक्ति में विषयी की ही प्रतीति होती है, तथापि कवि को विषय की प्रतीति न हो, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः यह प्रतीति आहार्य होती है।[443] जब हम मुख के लिये 'चन्द्रमिदम्' कहते हैं, तो ऐसी प्रतीति नहीं होती कि वास्तव में मुखचन्द्र ही है, प्रत्युत मुखगत सौन्दर्य का चन्द्रगत सौन्दर्य से इतना अधिक साम्य होता है कि सहृदय के सामने चन्द्रमा का सम्पूर्ण सुन्दर स्वरूप उपस्थित हो जाता है। ऐसे समय में प्रमाता को मुख का व्यावहारिक ज्ञान अवश्य रहता है, किन्तु वह कल्पनाप्रसूत प्रतीति में सहायक नहीं होता। मुख के चन्द्रत्व की काल्पनिक प्रतीति में चन्द्रगत सौन्दर्य आदि धर्मों की ही प्रतीति होती है, अन्य किसी की नहीं। कुछ आलंकारिक अतिशयोक्ति में होने वाले इस अभेद-ज्ञान को अनाहार्य या वास्तविक

मानते हैं। इनमें उद्योतकार और विश्वेश्वर प्रमुख हैं।[444] उद्योतकार आदि का अभिमत है कि प्रकृत-अप्रकृत के अत्यन्त सादृश्य के कारण बाधबुद्धि का विघात हो जाने से चन्द्र की प्रतीति अनाहार्य ही होती है। किन्तु यह मत उतना समादरणीय नहीं है। 'चन्द्रमिदम्' इस कथन में प्रमाता को मुख का भी व्यावहारिक ज्ञान रहता है, यह बात और है कि वह कल्पनाजन्य प्रतीति में निगूढ़ रहता है। यदि उसे मात्र चन्द्र का ही ज्ञान हो, तो निश्चय ही उसे वास्तविक ज्ञान कहना पड़ेगा और वास्तविक होने से उसे कार्य रूप में परिणत भी होना चाहिये। मुख के लिये चन्द्र शब्द का प्रयोग ही चन्द्र ज्ञान को वास्तविक या अनाहार्य सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं है, उसका व्यवहार में भी उपयोग होना चाहिये। जैसा कि पहले ही कहा है, मुख को चन्द्र कहने या समझने वाले के सामने मुख का भी स्वरूप उपस्थित रहता है, हां, वह चन्द्र की काल्पनिक पृष्ठभूमि में छिपा रहता है। रूपक की भांति यहां बाधकबुद्धि भी काम नहीं करती, अतएव अतिशयोक्ति में आहार्य ज्ञान होता है, और वह भी अध्यवसित रूप में होता है।

## अतिशयोक्ति के भेद

भामह ने अतिशयोक्ति के दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। प्रथम उदाहरण में मम्मट आदि की दृष्टि से मीलित है, तो द्वितीय में 'यद्यर्थातिशयोक्ति'।[445] दंडी ने चार उदाहरण दिये हैं।[446] प्रथम में मीलित अलंकार है। द्वितीय को संशयातिशयोक्ति तथा तृतीय को निश्चयातिशयोक्ति[447] कहा गया है, जिन्हें संदेहालंकार और साहित्यदर्पणोक्त निश्चयालंकार का उदाहरण मान सकते हैं। चतुर्थ उदाहरण को मम्मट आदि ने अधिक अलंकार का उदाहरण माना है।[448] अतिशयोक्ति का सर्वप्रथम और वैज्ञानिक विभाजन उद्भट ने प्रस्तुत किया, जिसके लिये मम्मट, रुय्यक, जगन्नाथ, आदि सभी आलंकारिक आभारी हैं। उद्भट के अनुसार अतिशयोक्ति चार प्रकार की होती है : भेदे-अभेदः (अनन्यत्व), अभेदे (अनन्यत्वे) भेदः (नानात्व), जगत् में अविद्यमान वस्तु की संभावना मात्र के उपनिबन्धन में (मम्मट आदि की यद्यर्थातिशयोक्ति), तथा कार्यकारण के पौर्वापर्य विपर्यय होने पर।[449] वामन ने भी भामह की भांति दो ही उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, प्रथम उदाहरण में 'यद्यर्थातिशयोक्ति'[450] है और द्वितीय को तो मम्मट आदि 'सामान्य' के उदाहरण में प्रस्तुत करते हैं।[451] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, रुद्रट ने अतिशयमूलक 12 अलंकारों का विवेचन किया है। उनमें 'पूर्व' अलंकार कार्यकारण-विपर्ययरूप अतिशयोक्ति से भिन्न नहीं है।[452] रुद्रट ने 'पूर्व' अलंकार को औपम्य-मूल[453] में

भी रखा है, किन्तु वह भी कार्यकारण विपर्यय रूपा अतिशयोक्ति से भिन्न नहीं है :

**'काले जलदकुलाकुलदशदिशि पूर्वं वियोगिनीवदनम्।**
**गलदविरलसलिलभरं पश्चादुपजायते गगनम्।।'** —का. 8/98

मेघ समूहों से संकुल काल में पहले आकाश को बरसते हुए जल से पूर्ण होना चाहिये, किन्तु यहां पहले वियोगिनी मुख को अनवरत गिरते हुए जल (अश्रु) से पूर्ण बताया गया है, अतएव यहां क्रम का अभाव होने से पौर्वापर्यविपर्ययरूपा अतिशयोक्ति है। इससे स्पष्ट है कि रुद्रट का 'पूर्व' अलंकार अतिशयोक्ति से भिन्न नहीं है।

अतिशयोक्ति-भेद पर कुन्तक का विचार स्पष्ट नहीं है। भोजराज के अनुसार जाति और द्रव्य का अतिशय हो नहीं सकता, अतएव गुण तथा क्रिया की ही अतिशय कल्पना में अतिशयोक्ति संभव है। उनका यह भी मन्तव्य है कि प्रभावातिशय, अनुभवातिशय तथा अन्योन्यातिशय भी अतिशय के ही अन्तर्गत आते हैं।[454] दंडी के चतुर्थ उदाहरण को, जिसमें अधिक अलंकार है, भोज ने गुणातिशयजन्य महत्त्वातिशय माना है। दंडी प्रोक्त संशयातिशयोक्ति उदाहरण को वह तनुत्वातिशय का उदाहरण स्वीकारते हैं। इसी प्रकार दंडी के प्रथम उदाहरण जिसमें विश्वनाथ आदि मीलित मानते हैं, को भोज कान्त्यतिशय का उदाहरण मानते हैं।[455] उद्भट के ही आधार पर मम्मट ने भी अतिशयोक्ति के चार भेदों की कल्पना की है, (1) निगीर्याध्यवसान रूपा (भेदेऽभेदः), (2) प्रस्तुतवस्तु की अन्य रूप में कल्पना (अभेदे-भेदः), (3) यदि, चेत्, आदि शब्दों के प्रयोग से असंभव अर्थ की कल्पना (मम्मट की इस 'यद्यर्थातिशयोक्ति में टीकाकार दो भेद करते हैं, सम्बन्धेऽसम्बन्धः तथा असम्बन्धे सम्बन्धः। मम्मट का उदाहरण असम्बन्धे-सम्बन्ध रूपा अतिशयोक्ति का है।)[456] और (4) कार्यकारणपौवापर्यविपर्यय।[457] मम्मटोक्त यद्यर्थातिशयोक्ति ही भामह आदि की अतिशयोक्ति है।[458] माणिक्यचन्द्र के अनुसार यही रुद्रट की उत्पाद्या-उपमा है और दंडी की अद्भुतोपमा।[459] रुय्यक ने भी उद्भट के आधार पर अतिशयोक्ति का पांच भेद किया है, भेदेऽभेदः, अभेदे-भेदः, सम्बन्धेऽसम्बन्ध, असम्बन्धे-सम्बन्धः, तथा कार्यकारण का पौर्वापर्य विध्वंस।[460] स्पष्ट है कि मम्मट की यद्यर्थातिशयोक्ति में रुय्यक ने दो भेदों की कल्पना कर ली है और कुछ अधिक विशेषता नहीं है। पंचम भेद में भी उन्होंने दो भेद किया है : कार्यकारण के पौर्वापर्य विपर्यय तथा समान-कालिकत्व[461] में। कारण का कार्य से पहले होना लोकसिद्ध है। यहां पर उसके विपरीत पहले कार्य का ही कथन होता है, अतएव विरोध प्रतीति होती है। इसलिये अतिशयोक्ति के

पंचम भेद का निरूपण रुय्यक ने विरोधमूलक अलंकारों के अन्तर्गत किया है।[462] उनका अभिमत है कि इन पांचों भेदों में 'भेद में भी अभेदादि' कथन लोकोत्तर[463] होता है। रुय्यक के अन्तिम भेद को जयरथ ने पांच भेदों में विभक्त किया है। कार्यकारणविध्वंस और उनका पौर्वापर्यविध्वंस, प्रथमतः दो भेद होते हैं। इनमें भी प्रथम के दो भेद हैं : प्रसिद्धकारण को कार्य समझने तथा प्रसिद्ध कार्य को कारण समझने से। इसी प्रकार द्वितीय के भी तीन भेद हैं, कार्य का कारण से पूर्व होना, प्रसिद्ध क्रम का विपर्यास तथा कार्यकारण का सहभाव।[464] शोभाकर ने अतिशयोक्ति के पूर्वोक्त प्रथम चार भेदों को ही स्वीकार किया है। पंचम भेद का उन्होंने चतुर्थ भेद में अन्तर्भाव कर डाला है।[465] नरेन्द्रप्रभसूरि ने रुय्यकोक्त पांच भेदों के अतिरिक्त भोज द्वारा कहे गये गुण, क्रिया अतिशय का भी उल्लेख किया है।[466] हेमचन्द्र ने भी प्रथम चार भेदों को ही स्वीकार किया है।[467] हेमचन्द्र की विशेषता यह है कि वह अतिशयोक्ति को समग्र अलंकारों में प्राणरूप से अवस्थित मानकर, सामान्य, मीलित, एकावली, निदर्शना विशेष अलंकारों को उसी में अन्तर्भूत कर देते हैं।[468] वाग्भट प्रथम के दो उदाहरणों में प्रथम उदाहरण अतिशय कथन का है, द्वितीय में यद्यर्थातिशयोक्ति है।[469] वाग्भट (2) भी प्रथम वाग्भट के अनुगामी हैं।[470] जयदेव ने अतिशयोक्ति के छः भेद माने हैं। उनकी अक्रमातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति तथा चपलातिशयोक्ति[471] कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपा अतिशयोक्ति से गतार्थ है। सम्बन्धातिशयोक्ति[472] रुय्यक की चतुर्थ अतिशयोक्ति है। भेदकातिशयोक्ति तथा रूपकातिशयोक्ति[473] क्रमशः 'अभेदे-भेदः' और भेदेऽभेदः रूपा अतिशयोक्ति ही हैं। ध्यातव्य है कि जयदेव के इन भेदों का अनुगमन, अप्पयदीक्षित, देवशंकर तथा अच्युतराय आदि भी करते हैं। विद्याधर ने रुय्यकोक्त प्रथम चार भेदों का ही विवेचन किया है।[474] पंचम भेद का वह भी उल्लेख नहीं करते। विद्यानाथ भी चार भेदों को ही स्वीकार करते हैं। उनका अभिमत है कि पौर्वापर्य विपर्यय अतिशयोक्ति में अध्यवसाय का अभाव पाया जाता है। अतएव यद्यपि वह अतिशयोक्ति का विषय नहीं है, तथापि कवि प्रौढोक्तिमूल होने से उसे अतिशयोक्ति कहा जाता है।[475] विश्वनाथ रुय्यक का पूर्णतः अनुगमन करते हैं।[476]

अप्पयदीक्षित ने जयदेव के छः भेदों को सलक्षण ग्रहण कर लिया है। किन्तु उन्होंने रूपकातिशयोक्ति का एक भेद पर्यस्तापह्नुतिगर्भा और स्वीकार किया है। जयदेव असम्बन्धातिशयोक्ति का विवेचन नहीं करते, दीक्षित ने उसे भी मान्यता प्रदान की है। जयदेव के विवेचन में क्रम का अभाव है, जबकि अप्पयदीक्षित ने

रुय्यक आदि का ध्यान रखते हुए क्रमानुसार विवेचन प्रस्तुत किया है: रूपकातिशयोक्ति, अपह्नुतिगर्भा, भेदकातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, असम्बन्धा-तियोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति तथा अत्यन्तातिशयोक्ति।[477] कर्णपूर मम्मट के समान चार भेद मानते हैं।[478] देवशंकर ने दीक्षित की सापह्नवा अतिशयोक्ति का विवेचन नहीं किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सम्बन्धातिशयोक्ति के दो भेद माने हैं, 'सम्बन्धेऽसम्बन्धः' और 'असम्बन्धे सम्बन्धः'।[479] जगन्नाथ ने रुय्यक द्वारा प्रतिपादित भेदों का विवेचन तो किया है,[480] किन्तु वह समग्र भेदों में अतिशयोक्ति नहीं पाते। उन्होंने प्राच्य तथा नव्य आचार्यों के मतों का विश्लेषण करते हुए अपने अभिमत मत की स्थापना की है। उनका कथन है कि प्राचीन आलंकारिकों के अनुसार अतिशयोक्ति के पांच भेदों में किसी एक का होना ही अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण है। उन्होंने मम्मट के मत को अन्य के नाम से प्रस्तुत करते हुए कहा है, कि अन्य लोग 'सम्बन्धे असम्बन्धः' तथा 'असम्बन्धे सम्बन्धः' को अतिशयोक्ति का भेद नहीं स्वीकारते। उनका अभिमत है कि इस प्रकार का अतिशय तो स्वभावोक्ति से भिन्न रूपक दीपक आदि सभी अलंकारों में पाया जाता है। यथावस्तु के कथन में कोई विच्छित्ति नहीं है और कार्यकारणपौर्वापर्य-विपर्यय भेद भी उक्त दो भेदों में ही अन्तर्भूत हो जाता है। इसलिये विषय का विषयी से निगीर्याध्यवसान, विषय की अन्यत्वेन कल्पना, यदि आदि शब्दों से असंभव अर्थ की कल्पना और पौर्वापर्य विपर्यय, ये ही चार भेद अतिशयोक्ति में संभव हैं। नव्यों के मत का सविस्तार विवेचन करते हुए जगन्नाथ ने अन्त में कहा है कि निगीर्याध्यवसान ही अतिशयोक्ति है। तात्पर्य यह है कि 'भेदेऽभेदः' प्रथम भेद का ही अतिशयोक्ति है। अन्य लक्षणों में अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण लागू नहीं होता। अतः उन्हें अतिशयोक्ति से भिन्न अलंकार मानना चाहिये।[481] इस प्रकार जगन्नाथ ने अतिशयोक्ति अलंकार का क्षेत्र अत्यन्त सीमित कर दिया। विश्वेश्वर ने मम्मटोक्त भेदों के विवेचन के अतिरिक्त किसी नूतन योग का उपयोग नहीं किया है। नरसिंह कवि ने यद्यपि विवेचन रुय्यक-प्रदर्शित भेदों का ही किया है, किन्तु उन्होंने अन्तिम भेद के दो अवान्तर भेदों को स्वतंत्र भेद मानकर अतिशयोक्ति की भेद संख्या छः कर दी है।[482] अच्युतराय ने सात भेदों का विवेचन किया है, जिसमें जयदेव से एक भेद विपर्ययपूर्विका अधिक है। इन भेदों के अतिरिक्त उन्होंने भोज तथा मम्मट प्रदर्शित भेद का भी उल्लेख किया है।[483] छज्जूराम भी पांच भेदों का ही विवेचन करते हैं।[484]

अतिशयोक्ति के उपर्युक्त भेद-विवेचन से स्पष्ट है कि उद्भट द्वारा

प्रतिपादित चार भेदों में ही अवान्तर दो, एक भेद की अधिक कल्पना करके उन्हीं का विवेचन किया जाता रहा है।

(1) **भेदेऽभेद :** रूपक के मूल में गौणी सारोपा लक्षणा अवस्थित है और अतिशयोक्ति के मूल में साध्यवसाना। परन्तु साध्यवसाना के जिन भेदों में चमत्कार का अभाव पाया जाता है, उनमें भी अतिशयोक्ति नहीं मानी जा सकती। अतिशयोक्ति का आधार है, गौणी साध्यवसाना। अतिशयोक्ति के प्रथम भेद के मूल में यही लक्षणा[485] निहित है। रुय्यक का अभिमत है कि भेद में भी अभेद प्रतिपादन के लिये जब हम मुख के लिये 'चन्द्रमिदम्' ऐसा प्रयोग करते हैं, तो वहां चन्द्र और मुख का अभेद अध्यवसाय नहीं होता है, अपितु वहां कविकल्पित सौन्दर्य से 'वदन' आदि का वास्तविक सौन्दर्य अध्यवसित होता है।[486] परन्तु रुय्यक का यह मत उपयुक्त नहीं है। अतिशयोक्ति सिद्ध अध्यवसाय में होती है। यह अध्यवसाय धर्म का धर्मी के साथ, धर्म का धर्म के साथ और धर्मी का धर्मी के साथ तीनों ही रूपों में हो सकता है।[487] अतिशयोक्ति के इस प्रथम भेद को अप्पयदीक्षित ने 'रूपकातिशयोक्ति' कहकर इसका दो भेद किया है, अभेदातिशयोक्ति और ताद्रूप्यातिशयोक्ति। उनका यह भी अभिमत है कि रूपक में प्रदर्शित भेद भी इसमें संभव हैं।[488] देवशंकर ने तो प्रदर्शित भी किया है। वस्तुतः इस प्रकार के सूक्ष्म भेदों में कोई चारुता नहीं है।[489] रूपक में ताद्रूप्य होता है, प्रथम अतिशयोक्ति में निगरण। अभेदातिशयोक्ति केवल इतना ही अर्थ व्यक्त करती है कि यहां उपमेय का भान उपमान गत धर्मों के रूप में होता है, न कि उपमान से अभिन्न रूप में, क्योंकि अभेद-प्रतीति के लिये दोनों (उपमान-उपमेय) की उपस्थिति अनिवार्य है। इसीलिये जगन्नाथ ने रूपक के आधार पर अप्पयदीक्षित द्वारा किये गये रूपकातिशयोक्ति के दो भेदों (ताद्रूप्य और अभेद) का खंडन किया है।[490] यद्यपि नागेश[491] ने दीक्षित के मत का समर्थन किया है, किन्तु रूपक और अतिशयोक्ति का भेद स्पष्ट है, एक में आरोप होता है और दूसरे में अध्यवसान।

**'कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।**
**सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्।'**[492]

यहां पर रमणी के मुख, नेत्र और शरीर का क्रमशः कमल, कुवलय और स्वर्णलतिका के द्वारा निगरण किया गया है। यद्यपि मुख आदि का कमल आदि से भेद अवश्य है, किन्तु दोनों का अभेदाध्यवसान होने से यहां अभेद-प्रतीति होती है। अतएव यह प्रथम अतिशयोक्ति का उदाहरण है। अप्पयदीक्षित ने रूपकातिशयोक्ति को

'पर्यस्तापह्नुतिगर्भा' भी माना है।[493] पर्यस्तापह्नुति की अलंकारता ही असिद्ध है, फिर तो उसके आधार पर अतिशयोक्ति का स्वीकार असंभव है।[494]

**(2) अभेदे-भेद :** पदार्थों में अभेद होते हुए भी भेद प्रतिपादन होने पर दूसरी अतिशयोक्ति होती है। सौन्दर्य आदि समग्र सांसारिक वस्तुएँ विधाता की सृष्टि है, अतएव एककृतित्त्व से उनमें अभेद संभव है। पर जब 'यह सौन्दर्य तो कुछ और प्रकार का ही है' 'यह कामिनी विधाता की सृष्टि नहीं हो सकती' इस प्रकार के कथन का प्रयोग किया जाता है, तब द्वितीय अतिशयोक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

**'अन्यद्यत्सौकुमार्यं अन्यैव कपि वर्तनच्छाया।**
**श्यामा सामान्यप्रजापतेः रेखैव न संभवति।।'**[495]

'इस कामिनी का सौकुमार्य कुछ और ही है, शरीर की अनिर्वचनीय शोभा कुछ अन्य प्रकार की ही है, यह नवयौवना सामान्य विधाता की सृष्टि ही नहीं हो सकती।' संसार की हर कामिनी विधाता की कृति है, अतएव कृतित्वेन हर कामिनी में अभेद है। किन्तु प्रकृत कामिनी को ब्रह्मा की कृति से अन्य बतलाने से यहां अभेद में भी भेद कथन है। अतएव यहां दूसरी अतिशयोक्ति है।

**(3 - 4) :** यदि यह (मुख) चन्द्र है, तो उसे भूतल पर नहीं होना चाहिये, इस प्रकार की संभावना ही तृतीय-चतुर्थ अतिशयोक्ति की जनक है। इसीलिये मम्मट ने इन दो भेदों को 'यद्यर्थातिशयोक्ति' से ही गतार्थ कर लिया है। जैसा कि पहले ही कह चुके हैं मम्मट की इस तीसरी अतिशयोक्ति में टीकाकरों ने दो भेदों की कल्पना की है, असम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध कथन तथा सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध कथन। वस्तुतः ये दोनों भेद 'यदि ऐसा हो तो ऐसा हो' इस कथन पर आधृत है। इसलिये मम्मट का 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' कथन भी सार्थक प्रतीत होता है।

**'राकायमकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः।**
**तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात्।।'** का.प्र., पृ. 632

यहां पूर्वार्द्ध में पूर्णचन्द्र में कलङ्काभाव के असम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध कल्पना करने के कारण असम्बन्धे सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति है और उत्तरार्द्ध में साम्य-सम्बन्ध संभव होने पर भी उसका अभाव बताया गया है, अतः सम्बन्धे असम्बन्ध रूपा अतिशयोक्ति है।[496] अप्पयदीक्षित के असम्बन्धे सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति का उदाहरण :

**'सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम् ।**
**सौधाग्राणि पुरस्यास्य स्पृशन्ति विधुमण्डलम् ।।'** कु.का., 39

में जगन्नाथ अतिशयोक्ति नहीं मानते। उनका विचार है कि यहां 'सौधाग्राणि विधुमंडलम स्पृशन्तीव' की प्रतीति होने से उत्प्रेक्षा की संभव है। इवादि के अभाव में गम्योत्प्रेक्षा हो जाती है। इसलिये दीक्षित प्रोक्त गम्योत्प्रेक्षा के उदाहरण— 'त्वत्कीर्तिर्भ्रमणश्रान्ता विवेश स्वर्गनिम्नगाम्' से प्रकृत उदाहरण में कोई अन्तर नहीं है। अतिशयोक्ति वहां होती है, जहां उत्प्रेक्षा का गन्ध भी न हो। अतएव उक्त उदाहरण में अतिशयोक्ति नहीं है।[497] जगन्नाथ का उपर्युक्त मत अनुचित है। यदि उनका तर्क मान लिया जाये तब तो 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्यादि उत्प्रेक्षा में 'नूनं' पद के हटा देने पर 'मुखं चन्द्रः' में भी गम्योत्प्रेक्षा होने लगेगी, किन्तु यह प्रसिद्ध है कि 'मुखं चन्द्रः' में रूपक होता है। यदि 'मुखं चन्द्रः' में गम्योत्प्रेक्षा नहीं मानते तो, प्रकृत में ही क्यों माना जाये? 'त्वकीर्ति' आदि में दूर देश में भ्रमण से श्रान्त कीर्ति का स्वर्ग निम्नगा में प्रवेश उचित है, अतएव वहां प्रवेश संभावना उत्प्रेक्षा की जनक है, प्रकृत में ऐसी संभावना नहीं है। अतएव दीक्षित का उदाहरण उपयुक्त है।[498] जगन्नाथ का तर्क मान भी लिया जाये तो उनका भी उदाहरण :

**'धीरध्वनिभिरलं ते नीरद मे मासिको धर्मः ।**
**उन्मदवारणबुद्धया मध्ये जटरं समुल्लसति ।।'** —र.गं., पृ. 311

दुष्ट सिद्ध हो जाता है। यहां भी 'समुल्लसतीव' की प्रतीति मानकर गम्योत्प्रेक्षा स्वीकार करनी पड़ेगी। अतएव जगन्नाथ का मत रमणीय नहीं है।

(5) **कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्यय :** अतिशयोक्ति के पांचवे भेद में विवाद है। शोभाकर इस भेद को पृथक् न मानकर चतुर्थ भेद में ही अन्तर्भूत कर लेते हैं। उनका अभिमत है कि संसार के समग्र पदार्थ देश और काल से सम्बद्ध हैं। रुय्यक आदि का पंचम भेद काल पर आधृत है। शोभाकर का कथन है कि यदि काल पर आधारित अतिशयोक्ति का पंचम भेद स्वीकार करते हैं, तो फिर देश पर आधारित छठा भेद भी क्यों नहीं स्वीकार करते? देश और काल की पदार्थ सम्बन्ध में कोई विभेदकता नहीं है, जिससे एक के कारण तो भेद माना जाये? दूसरे से नहीं। इसलिये यदि देश के आधार पर अतिशयोक्ति का भेद नहीं मानते तो काल के आधार पर भी पंचम भेद मानने की आवश्यकता नहीं। उसका भी अन्तर्भाव चतुर्थ भेद (असम्बन्धे सम्बन्धः) में हो जायेगा, क्योंकि कार्यकारण आदि की समान कालिकता का असम्बन्ध होने पर भी पंचम भेद में सम्बन्ध प्रतिपादित किया जाता है।[499] परन्तु

शोभाकर का मत उपयुक्त नहीं है। कार्यकारण के देशगत भिन्नता के आधार पर असंगति नामक एक पृथक् अलंकार माना जा चुका है, स्वयं शोभाकर भी असंगति का विवेचन करते हैं। यद्यपि दो समान तत्त्वों के आधार पर निर्मित एक को स्वतंत्र अलंकार और दूसरे को किसी अन्य अलंकार का एक भेद मानना अनुचित है, तथापि अतिशयोक्ति और असंगति का विषय भिन्न है। अतिशयोक्ति में सदैव अतिशय का ध्यान रखा जाता है, जबकि असंगति में विरोध का। अतिशय अध्यवसाय का विषय है, विरोध विरोधाभास का। विरोधाभास में प्रतीति अनिश्चयात्मक या स्खलद्गति होती है। यह प्रतीति अनुपपन्न भी होती है। अध्यवसाय निश्चय ज्ञान को कहा जाता है, अतएव यह प्रतीति निश्चयात्मक होती है। अध्यवसाय में विषय के निगीर्ण होने से विषयी का ही प्राधान्य रहता है। अतएव जयरथ के अनुसार दोनों की प्रतीति में भेद होने से दोनों को पृथक् अलंकार मानना आवश्यक है।[500] वस्तुतः पंचम-भेद में अध्यवसान का अभाव पाया जाता है, विद्यानाथ भी मानते हैं।[501] अतएव जयरथ का अध्यवसान के आधार पर असंगति से इसका भेद प्रतिपादन अयुक्त है।

वस्तुतः विचार कर देखा जाये—जैसा कि शोभाकर भी मानते[502] हैं: अतिशयोक्ति के समग्र भेदों को असम्बन्धे-सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति में ही अन्तर्भूत किया जा सकता है। सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध की कल्पना इस भेद का स्वरूप है। 'भेदेऽभेदः' में 'कमलमनम्मसि' इत्यादि में कमल और मुख भिन्न-भिन्न है, उनमें कोई तात्विक सम्बन्ध नहीं है, तथापि सम्बन्ध दिखाया गया है। 'अन्यद्यत्सौकुमार्य' आदि 'अभेदे-भेदः' में भी श्यामा को सौन्दर्यातिशय के कारण सामान्य प्रजापति से भिन्न प्रजापति की कृति कहा गया है, यद्यपि उसका किसी अन्य प्रजापति के निर्माण से सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार 'सम्बन्धेऽसम्बन्धः' के उदाहरण 'अस्याः सर्वविधौ' में कामिनी के असामान्य सौन्दर्य का वेधा चन्द्र, मदन या वसन्त को बताया गया है, जिनका सर्जन से कोई सम्बन्ध नहीं है। सृष्टि का सम्बन्ध तो केवल बूढ़े ब्रह्मा से ही है। पांचवे भेद में भी कारण से पूर्व कार्य की उत्पत्ति बताकर असम्बन्ध में सम्बन्ध की ही कल्पना की जाती है। इसलिये अतिशयोक्ति का एक ही भेद मानकर समस्त विवादों का उपशमन संभव है।

### उल्लेख का अन्तर्भाव

सर्वप्रथम रुय्यक ने उल्लेख का उल्लेख किया है। एकवस्तु की निमित्तवश अनेक रूप में कल्पना उल्लेख अलंकार है:

**'एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः'** —अ.स., सूत्र-19

रुय्यक के अनुयायी परवर्ती सभी आलंकारिकों ने प्रायः रुय्यक के ही समान लक्षण किया है। प्रमुख हैं: शोभाकर, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, जगन्नाथ, आदि।[503] यह उल्लेख एक वस्तु की अनेक लोगों द्वारा अनेक रूप में कल्पना करने पर या एक व्यक्ति द्वारा भी अनेकधा कल्पना (ग्रहण) करने पर होता है।[504] अप्पयदीक्षित आदि ने शुद्ध और संकीर्ण भेद से दो प्रकार के उल्लेख का निरूपण किया है।[505] परन्तु उल्लेख को एक पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है। प्रथम तो उल्लेख में, रूपक, भ्रान्तिमान्, श्लेष, आदि अनेक तत्त्व पाये जाते हैं, जिनके कारण उसे संसृष्टि या संकर के ही अन्तर्गत रखना उपयुक्त होगा। और जहां संकीर्णता नहीं है, वहां अतिशयोक्ति संभव है। उदाहरणपूर्वक विवेचन उपयुक्त होगा। शुद्ध उल्लेख का उदाहरण :

**'गजत्रातेति वृद्धाभिः श्रीकान्त इति यौवतैः।**
**यथास्थितश्च बालाभिः दृष्टः शौरिः सकौतुकम्।।'** चि.मी., पृ. 228

मथुरा में प्रवेश करते समय श्रीकृष्ण का वर्णन है। यहां एक ही कृष्ण वृद्धाओं, युवतियों और बालाओं से भिन्न-भिन्न रूप में देखे गये हैं। दीक्षित के अनुसार यह शुद्ध उल्लेख का उदाहरण है, परन्तु यहां श्रीकृष्ण का गजत्राता, श्रीकान्त और यथास्थित रूप से अध्यवसान हुआ है। रुय्यक ने :

**'नारायण इति परिणतवयोभिः श्रीवल्लभ इति तरुणीभिः।**
**बालाभिः पुनः कौतुकेन एवमेव दृष्टः।।'** —अ.स., पृ. 60, 81

इस श्लोक को 'अभेदे भेद रूपा' अतिशयोक्ति के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। मजे की बात तो यह है कि इसी उदाहरण को वे रूपक संकीर्ण उल्लेख का भी उदाहरण मानते हैं। एक विषय के प्रतिपादन के लिये जब अतिशयोक्ति (द्वितीय भेद) अलंकार वर्तमान ही है, तो उसी के लिये एक नवीन अलंकार की कल्पना में कोई विशेष युक्ति नहीं है। दीक्षित का उदाहरण रुय्यक के श्लोक का अनुवाद मात्र है। अतएव स्पष्ट है कि अतिशयोक्ति से व्यतिरिक्त उल्लेख की स्थिति नहीं है।

रुय्यक आदि[506] समग्र आलंकारिक मानते हैं कि एक वस्तु का अनेकधा ग्रहण रूप उल्लेख धर्मों के नानात्व पर अवस्थित है। स्वयं रुय्यक सम्बन्धेऽसम्बन्ध रूपा अतिशयोक्ति के 'अस्याः सर्गविधौ' इत्यादि उदाहरण में एक ही कामिनी के निर्माण के लिये अनेक प्रजापति का उल्लेख करते हैं। अनेक प्रजापति का उल्लेख

कामिनी के अतिशय सौन्दर्य तथा कर्तृत्व (निर्मातृत्व) धर्म के नानात्व के ही कारण है। कामदेव, बसन्त, आदि के तत्तद् निर्माण कर्तृत्व धर्म के कारण ही उनका अनेकधा ग्रहण किया गया है। अतएव उल्लेख को अतिशयोक्ति से भिन्न अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है।

**संकीर्ण का उदाहरण**

**आलोक्य सुन्दरि मुखं तव मन्दहासं**
**नन्दन्त्यमन्दमरविन्दधिया मिलिन्दाः।**
**किं चालिपूर्णमृगलांछन संभ्रमेण**
**चंचूपुटं चपलयन्ति चिरं चकोराः।।** —र.गं.

जगन्नाथ के अनुसार यहां भ्रान्तिमूलक उल्लेख है। वस्तुतः यहां मन्दहासयुक्त कामिनी के मुख में भ्रमरों को अरविन्द की भ्रान्ति हो रही है इसी प्रकार पूर्णचन्द्र उसके मुख में चकोरों को चन्द्रमा की भ्रान्ति है :

**'गुरुर्वचसि पृथुररसि, विशालो मनसि, जनकस्तपसि, ..........।'**

इत्यादि श्लेष संकीर्ण को, संकर या संसृष्टि के अन्तर्गत रखना समीचीन है। वस्तुतः शुद्ध उल्लेख का अतिशयोक्ति में अन्तर्भाव संभव है, और संकीर्ण उल्लेख को संसृष्टि या संकर से ही गतार्थ करना उपयुक्त है। रुय्यक का अभिमत है कि उल्लेख का अतिशयोक्ति में अन्तर्भाव इसलिये असंभव है[507] क्योंकि यहां गृहीतृभेद से अनेकधा ग्रहण रूप अतिरिक्त विच्छित्ति पायी जाती है। रुय्यक का यह कथन तर्कहीन है। हर एक अलंकार के भेदोपभेदों में कुछ न कुछ अन्तर पाया जाता है, परन्तु प्रत्येक भेद को स्वतंत्र अलंकार नहीं माना जाता। अन्यथा उपमा आदि के समग्र भेद स्वतंत्र अलंकारों की श्रेणी में आ जायेंगे और अलंकारों की बाढ़ आ जायेगी। इसके अतिरिक्त आलंकारिक यह भी मानते हैं कि यह अलंकार नियमतः अन्य अलंकारविच्छित्ति मूल है।[508] ऐसी स्थिति में इसे स्वतंत्र अलंकार मानना तर्कहीन है। इसीलिये, भीमसेन, नागेश, आदि आचार्य उल्लेख का खण्डन करते हैं।[509]

**हेतु अलंकार का खण्डन**

भरत ने हेतु नामक एक लक्षण का उपन्यास किया है।[510] भामह ने हेतु की अलंकारता का खंडन किया है,[511] किन्तु दंडी ने उसे उत्तमभूषण[512] स्वीकार किया

है। दंडी ने इसका सप्रपंच विवेचन किया है, जिसका पल्लवन काव्यलिंग परिसर में होगा। रुद्रट वास्तवमूल अलंकारों में 'कार्य के साथ कारण का अभेद रूप में अभिधान होने पर 'हेतु' नामक अलंकार मानते हैं।[513] रुद्रट के ही आधार पर विश्वनाथ ने भी इसकी सत्ता स्वीकार की है।[514] यद्यपि उन्होंने इसका विवेचन अनुमान के बाद किया है, किन्तु माना है अध्यवसायमूलक। परवर्ती आलंकारिकों में इसका विवेचन, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, अच्युतराय, आदि भी करते हैं।[515] हेतु को पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है। इसका भी अन्तर्भाव अतिशयोक्ति में संभव है। विश्वनाथ ने :

**तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदोहासः।**
**धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम्।।** —सा.द., पृ. 123

इस श्लोक में हेतु अलंकार माना है। विश्वनाथ के अनुसार युवकों के मन का वशीकरण हेतु नायिका, वशीकरण रूप (कार्य) में प्रस्तुत की गयी है। अतएव कार्यकारण का अभेद सम्बन्ध से कथन होने से यहां हेतु अलंकार है। वस्तुतः यहां 'भेदेऽभेद रूपा' अतिशयोक्ति ही अधिक चमत्कारिणी है, क्योंकि नायिका का वशीकरण से भेद होने पर भी उसका अभेद रूप में अध्यवसान हुआ है। विश्वनाथ प्रस्तुत उदाहरण के हास, विलास में ही अध्यवसान मानते हैं।[516] वस्तुतः नायिका का, हास, विलास, आमरण और वशीकरण चारों रूपों में अध्यवसान हुआ है। अतएव हेतु अलंकार अतिशयोक्ति से अतिरिक्त नहीं है।[517] हेतु का विवेचन काव्यलिंग प्रकरण में भी किया गया है।

## प्रौढोक्ति का अन्तर्भाव

जयदेव ने प्रौढोक्ति नामक एक अलंकार की उद्भावना की है। जिस वस्तु में जिसकी शक्ति नहीं है, उसमें उसकी कल्पना प्रौढोक्ति अलंकार है।[518] बाद में इसका विवेचन दीक्षित, देवशंकर, अच्युतराय, ब्रह्मतन्त्र परकाल आदि ने किया है।[519] जयदेव का उदाहरण निम्न है :

**'कालिन्दजा तीररुहाः श्यामलाः सरलद्रुमाः।'** —वही

जयदेव के अनुसार यहां कालिन्दी तट में सरलद्रुमों को श्याम करने की सामर्थ्य न होने पर भी वैसी कल्पना करने के कारण प्रौढोक्ति अलंकार है। वस्तुतः यहां भी असम्बन्धे सम्बन्ध रूपा अतिशयोक्ति ही अपने परिपूर्ण सौन्दर्य से उल्लसित हो

रही है। सरलद्रुमों की स्वाभाविक श्यामता का कालिन्दी तट रोहण से सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इसलिये प्रौढोक्ति अतिशयोक्ति में ही अन्तर्भूत है।[520]

**संभावना भी अतिशयोक्ति ही है**

जयदेव ने अतिशयोक्ति से व्यतिरिक्त संभावना नामक एक अलंकार माना है : 'संभावनं यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये।' —चन्द्रा., 5/48. किसी कार्य की सिद्धि के लिये, 'यदि ऐसा हो तो ऐसा हो' इस प्रकार की कल्पना संभावना अलंकार है। इसका भी विवेचन, दीक्षित, आदि आलंकारिक करते हैं।[521] मम्मट की 'यद्यर्थातिशयोक्ति' संभावना रूप ही है। अतएव संभावना को भी पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है।[522] मम्मट का 'राकायमकलंकं चेद्' इत्यादि उदाहरण इसी कोटि में आता है। 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' अतिशयोक्तिभेद इति काव्यप्रकाशकारः —कु., पृ. 146.

**मिथ्याध्यवसिति का खंडन**

भरत ने 'मिथ्याध्यवसिति'[523] नामक एक काव्यलक्षण का उल्लेख किया है। अप्पयदीक्षित ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार माना है। किसी मिथ्यात्व की सिद्धि के लिये अन्य मिथ्यात्व की कल्पना मिथ्याध्यवसिति अलंकार है :

**'किंचिन्मिथ्यात्वसिद्‌ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम्।**
**मिथ्याध्यवसितिर्वेश्यां वशयेत्खस्रजं वहन्।।'**[524] कु.का., 127

'आकाशपुष्प को धारण करके वेश्या को वश में करे।' जगन्नाथ के अनुसार मिथ्याध्यवसिति प्रौढोक्ति से ही गतार्थ है।[525] उनका यह भी कहना है कि दीक्षित का उपर्युक्त उदाहरण निदर्शनागर्भ है, इसमें मिथ्याध्यवसिति भी नहीं है। ऊपर प्रौढोक्ति को अतिशयोक्ति का ही भेद बताया गया है। इसलिये मिथ्याध्यवसिति को असम्बन्धे सम्बन्ध रूपा अतिशयोक्ति में ही अन्तर्भूत किया जा सकता है।[526] दीक्षित के प्रकृत उदाहरण में ही यद्यपि खपुष्प से वेश्या के वशीकरण का कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि वैसा प्रतिपादन किया गया है। अतएव यहां भी अतिशयोक्ति है, पृथक् से अलंकार निर्माण अयुक्त है। अप्पयदीक्षित का कथन है कि 'असम्बन्धे सम्बन्धरूपा' अतिशयोक्ति से किंचित् मिथ्या अर्थान्तर की कल्पना ही—मिथ्याध्यवसिति का भेद है।[527] दीक्षित का यह तर्क असंगत है। इस प्रकार तो सत्याध्यवसिति,

असत्याध्यवसिति आदि अलंकारों की कल्पना करनी पड़ जायेगी।[528] छोटे-मोटे विभेद तत्त्वों को लेकर अलंकारान्तर की कल्पना अग्राह्य है। अतएव मिथ्याध्यवसिति को पृथक् से अलंकार मानना अनुपयुक्त है। रुय्यक ने उपमा से लेकर अतिशयोक्तिपर्यन्त अलंकारों को वाच्यौपम्य तथा तुल्ययोगिता से लेकर आक्षेप तक के अलंकारों का गम्यौपम्य मानकर उनका विवेचन किया है।

## (ख) पदार्थगत

### दीपक-तुल्ययोगिता

दीप्त्यर्थक ण्यन्त की दीप् धातु से कर्तृ-अर्थ में (ण्वुल्तृचौ, 3/1/133) ण्वुल् प्रत्यय तथा 'वु' को अक् (युवोरनाकौ—7/1/1) आदेश होने पर दीपक-दीपयति प्रकाशयति प्रस्तुतसम्बन्धेन अप्रस्तुतमप्यर्थं इति दीपकम्—शब्द निष्पन्न होता है। जो वस्तु (गुण या क्रिया) समग्र पदार्थ (प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत) को एक साथ ही प्रकाशित या उपस्कृत करे उसे दीपक कहते हैं। दीपक की एक दूसरी व्युत्पत्ति भी आलंकारिक करते हैं। जो दीप्त या प्रकाशित हो उसे दीप कहा जाता है—दीप्यते इति दीपः। जहां प्रस्तुत निष्ठ एक धर्म (गुणक्रिया रूप) दीप की भांति—प्रासाद को प्रकाशित करने के लिये रखा गया दीप प्रासाद को प्रकाशित करता ही है, अपने समीपस्थ मार्ग (रथ्या) को भी प्रकाशित करता है—अप्रस्तुत अर्थ को भी प्रकाशित या उपस्कृत करता है, उसे दीपक-दीप इव स्थितमिति दीपकम्—कहते हैं, दिवादि की दीप् धातु से कर्तृ अर्थ में 'पचाद्यच्' (3/1/134) करने पर 'दीप' शब्द बनता है, उससे इवार्थ में (संज्ञायां कन् 5/3/97) कन् प्रत्यय करने पर दीपक शब्द की निष्पत्ति होती है, जो उपर्युक्त अर्थ का अभिधायक है। दीपक की ये दोनों ही व्युत्पत्तियाँ आलंकारिकों को अभिमत हैं।[529] इस प्रकार 'दीपक' इस अलंकार का अभिधान सार्थक है, क्योंकि जहां प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का धर्म एक ही होता है वहां दीपक अलंकार होता है। यह धर्म कहीं गुण रूप होता है, कहीं क्रिया रूप। दीपक अलंकार का एक वैशिष्ट्य और भी है, कि इसमें औपम्य वाच्य न होकर गम्य होता है, क्योंकि यहां इव आदि का अभाव पाया जाता है। दीपक तुल्ययोगिता दोनों ही पदार्थगत अलंकार है।

अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा के प्रथम मंत्र 'शन्नो देवीरभीष्टये शन्नो भवन्तु पीतये' में दीपक का प्रयोग किया गया है।[530] सर्वप्रथम भरत ने नाट्यशास्त्र में दीपक अलंकार का विवेचन किया है। उनके अनुसार एक वाक्य से संयुक्त, नाना अधिकरणार्थक शब्दों को भली-भांति दीपित करने वाले को दीपक अलंकार कहते

हैं।[531] भामह का लक्षण अस्पष्ट है। उनका कहना है कि एक (धर्म) की ही तीन अवस्था होने से दीपक आदि, मध्य और अन्तगत त्रिधा होता है। अर्थ का दीपन करने से ये तीनों भेद इसके अभिधान (आख्या) को अन्वर्थक बनाते हैं।[532] प्रतीत होता है कि इसकी अन्वर्थकता को ही भामह इसका लक्षण भी मानते हैं। दंडी का अभिमत है कि 'एकत्र अवस्थित (गम्य नहीं) जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य के वाचक (शब्द) द्वारा यदि समग्र वाक्य का उपकार हो तो दीपक अलंकार कहा जाता है।[533] उद्भट ने दीपक को काव्यदीपक[534] कहा है। सर्वप्रथम उद्भट ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि दीपक में औपम्यगम्य रहता है[535] और एक ही धर्म[536] उपमेय (प्राधान्य) उपमान (इतर) दोनों में संपृक्त रहता है। वामन के अनुसार उपमान उपमेय वाक्यों में एक क्रिया दीपक है।[537] वामन की क्रिया का अभिप्राय धर्म से ही है। रुद्रट ने दीपक को वास्तवमूलक अलंकारों की श्रेणी में रखा है। उनका कथन है कि जहां अनेक वाक्यार्थों का एक क्रियापद हो या, अनेक क्रियाओं का एक कारक हो, उसे दीपक कहते हैं।[538] कुन्तक ने भामह लक्षण की आलोचना करते हुए उद्भट के लक्षण को ठीक माना है। उनका कथन है कि औचित्यावह, सहृदयाह्लादकारी, अप्रकाशित धर्म जहां वस्तु रूप धर्म को दीपित करता है, उसे दीपक[539] कहते हैं। भोज ने दंडी के लक्षण को ही रख दिया है।[540] मम्मट ने उद्भट, वामन तथा रुद्रट के लक्षण को एकस्थ किया है। मम्मट का मत है कि 'प्रकृत और अप्रकृत के सकृत् धर्म (गुण क्रियादि) तथा अनेक क्रियाओं में एक कारक के होने पर दीपक अलंकार होता है।[541] यद्यपि लक्षण से मम्मट रुद्रट का पूर्णतः अनुगमन करते प्रतीत होते हैं, किन्तु रुद्रट ने इसे वास्तवमूल माना है, जबकि मम्मट उपमान उपमेय का उल्लेख कर इसे औपम्य मूल सिद्ध करते हैं। इससे स्पष्ट है कि मम्मट का प्रथम लक्षण उद्भट, वामन से प्रभावित है तो द्वितीय रुद्रट से।

रुय्यक की परिभाषा मम्मट आदि पूर्ववर्ती आचार्यों से अधिक सूक्ष्म और उपयुक्त है। उनके अनुसार जहां प्राकरणिक या अप्राकरणिक किसी एक के उपात्तधर्म से दूसरा भी उपस्कृत हो जाता है, वहां दीपक अलंकार होता है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि यहां इवादि का अभाव होने से उपमान-उपमेय भाव गम्यमान रहता है और वह वास्तविक होता है। यद्यपि दीपक वाक्यार्थ गत ही अलंकार है, किन्तु एक ही क्रिया का अनेक (उपमान-उपमेय) से सम्बन्ध होने के कारण इसकी पदार्थता औपचारिक है।[542] शोभाकर का लक्षण रुय्यक के ही समान है।[543] नरेन्द्रप्रभसूरि मम्मटानुगामी है।[544] हेमचन्द्र भी रुय्यक के समान लक्षण करते हैं।[545] वाग्भट प्रथम का तथा वाग्भट द्वितीय का लक्षण भामह और दण्डी से प्रभावित

है।[546] जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, जगन्नाथ, अच्युतराय, आदि के लक्षण समान और रुय्यक से प्रभावित हैं।[547] अमृतानन्द योगी पर प्राचीनों का प्रभाव है।[548] कर्णपूर ने मम्मट का अनुगमन किया है।[549]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दीपक के स्वरूप पर प्राचीन तथा नव्य आचार्यों में मतभेद है। भामह, दंडी, रुद्रट, भोज, आदि अनेक वाक्यों या वाक्यांशों में एक क्रियाभिसम्बन्ध को ही दीपक मानते थे। इसकी उपमा-मूलकता के विषय में ये आचार्य मौन हैं। परन्तु उद्भट और वामन इसके अपवाद हैं, जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में दीपक की औपम्यगर्भता स्वीकार की। आगे चलकर मम्मट आदि कुछ आचार्यों ने उद्भट का अनुगमन भी किया, किन्तु औपम्यविहीन दीपक के भेद परवर्ती आचार्यों को मान्य नहीं हुए। अतएव उन्होंने प्रकृत-अप्रकृत के समान धर्माभिसम्बन्ध को ही दीपक माना। जयदेव से लेकर जगन्नाथ आदि—यहां तक कि रुय्यक, हेमचन्द्र भी इसी मत के अनुगामी रहे।

## दीपक-भेद

भरत ने दीपक का कोई भी विभाग नहीं प्रस्तुत किया। भामह के लक्षण से ही स्पष्ट है कि क्रिया के (श्लोक में) आदि, मध्य तथा अन्तगत होने के कारण उन्हें दीपक के तीन भेद मान्य हैं। दंडी के लक्षण से दीपक के चार भेद स्पष्ट हो जाते हैं : जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य। ध्यातव्य है कि भामह ने यह उल्लेख नहीं किया है कि दीपक में अर्थ को कौन दीपित करता है। आगे चलकर दंडी-प्रोक्त जात्यादि में गुण और क्रिया ही दीपक के साधारण धर्म माने गये हैं। उपर्युक्त चार भेदों को दंडी ने आदि, मध्य और अन्त में स्थित होने से प्रत्येक को तीन-तीन प्रकार का माना है। इन भेदों के अतिरिक्त वह मालादीपक, विरुद्धार्थ दीपक, एकार्थ दीपक, श्लिष्टार्थ दीपक का उल्लेख करते हुए अन्य भेदों का ज्ञान स्वयं कर लेने का निर्देश करते हैं।[550] उनके इसी कथन के आधार पर काव्यादर्श की 'रत्नश्री' टीका में उपमादीपक, उत्प्रेक्षादीपक तथा आक्षेपदीपक का भी विवेचन उपलब्ध है।[551] उद्भट तथा वामन ने भामहीय भेदों का अनुमोदन किया है।[552] रुद्रट ने दीपक को क्रियादीपक तथा कारकदीपक भेद से प्रथमतः दो भेदों में विभक्त किया है, पुनः भामह के अनुसार प्रत्येक के तीन भेद मानकर उन्होंने कुल छः भेदों का विवेचन किया है।[553] कुन्तक का भेद विवेचन अस्पष्ट है। भोजराज ने न केवल जात्यादि चार विभाग दंडी के समान प्रस्तुत किया है, उन्होंने दंडी के चारों आदिदीपक के उदाहरणों को भी सरस्वतीकंठाभरण में उद्धृत किया है।[554] मध्य और

अन्तदीपक का संकेत मात्र कर दिया है। इन भेदों के अतिरिक्त उन्होंने आठ और भेदों का विवेचन किया है, अर्थावृत्ति, पदावृत्ति, उभयावृत्ति, आवली, संपुट, रसना, माला और चक्रवाल।[555] 'शृंगार प्रकाश' का उनका विभाजन उपर्युक्त विभाजन से भिन्न है—दीपक तीन प्रकार का होता है : क्रियादीपक, कारकदीपक और मालादीपक। आगे वह कहते हैं कि आवृत्ति भी दीपक ही है, वह तीन प्रकार की है : शब्दावृत्ति, अर्थावृत्ति और उभयावृत्ति।[556]

मम्मट ने रुद्रट-प्रोक्त प्रथम दो भेदों—क्रियादीपक और कारक दीपक—को ही स्वीकार किया है। मम्मट का लक्षण तथा द्वितीय भेद जगन्नाथ की दृष्टि में अनुपयुक्त है। उनका अभिमत है कि प्रथम लक्षण 'सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्' से ही द्वितीय लक्षण की गतार्थता है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत में जिस धर्म से सम्बन्ध होता है, दीपक अलंकार में वह गुण-क्रिया रूप ही होता है। जिस प्रकार गुणियों के गुण रूप धर्म का और कारकों के क्रियारूपधर्म का सकृत् उपादान होगा, उसी प्रकार क्रियाओं के कारक रूप धर्म का भी सकृत् उपादान संभव होने से लक्षण का पूर्वार्द्ध ही उपयुक्त है, उत्तरार्द्ध का—सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्—उपादान व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त द्वितीय लक्षण उनके उदाहरण में घटित भी नहीं होता :

**स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक्।**
**अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणयावधूः शयने।।**

दीपक में प्रकृत और अप्रकृत का एक धर्माभिसम्बन्ध, या प्रकृत-अप्रकृत अनेक क्रियाओं का एक कारक से सम्बन्ध होना चाहिये। पर प्रकृत उदाहरण में नायिका की चेष्टाओं का वर्णन है, जो शुद्ध क्रियारूप और प्रकृत हैं। इनमें अप्रकृत कोई भी नहीं है। अतएव मम्मट का लक्षण यहां अव्याप्त है। इसके अतिरिक्त दीपक एक औपम्यगर्भ अलंकार है। यहां एक कारक (वधू) से सम्बद्ध अनेक क्रियाओं में कोई भी औपम्य नहीं है। और यदि यहां यह मान भी लें कि स्वेदन आदि क्रियाओं का औपम्य प्रतीत हो रहा है, तो भी यह स्पष्ट है कि नायिका की समग्र क्रियायें शुद्ध प्रकृत हैं। अतएव यह उदाहरण कारण तुल्ययोगिता का ही हो सकता है।[557] वस्तुतः लक्षण एक सामान्य परिभाषा का बोधक होता है। मम्मट के लक्षण में उसका अभाव है। इसीलिये जगन्नाथ को मम्मट की परिभाषा में दोष-बुद्धि जागृत हुई है। उपर्युक्त उदाहरण में समुच्चय अलंकार मानना अधिक उपयुक्त होगा। समुच्चय में गुण और क्रिया एक ही आधार में अवस्थित रहते हैं। प्रकृत में वधू आधार है,

जिसमें स्वेदन आदि अनेक क्रियाएँ अवस्थित हैं। अतएव इसे कारक तुल्ययोगिता का भी उदाहरण नहीं माना जा सकता, क्योंकि तुल्ययोगिता में भी औपम्यगम्यमान रहता है और समुच्चय में औपम्य का अभाव पाया जाता है। शोभाकर का यही अभिमत है।[558]

रुय्यक ने भी प्रथमतः दो भेद मम्मट के ही समान कल्पित किये हैं। पुनः प्रथम भेद को वे आदि, मध्य, अन्तगतत्त्वेन त्रिधा मानते हैं। रुय्यक के मध्यदीपक (एक क्रियागत) तथा कारक दीपक के उदाहरण क्रमशः 'संचारपूतानि दिगन्तराणि' तथा 'साधूनामुपकर्तुं' में तुल्ययोगिता पायी जाती है।[559] शोभाकर ने दीपक का कोई भेद नहीं किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि रुय्यक का अनुगमन करते हैं।[560] हेमचन्द्र ने भी भेद का निर्देश नहीं किया है, किन्तु प्रकृताप्रकृत के एक धर्म सम्बन्ध का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने केवल दोनों अप्रकृत का भी उदाहरण प्रस्तुत किया है और तुल्ययोगिता को भी दीपक से ही गतार्थ किया है।[561] हेमचन्द्र भी मम्मट के कारकदीपक के उदाहरण में दीपक अलंकार न मानकर जाति (स्वभावोक्ति) ही स्वीकारते हैं।[562] इसी प्रकार वह अन्योन्य अलंकार को भी दीपक की परिधि से बाहर नहीं रखते।[563] वाग्भट् प्रथम भामह के अनुसार तीन भेद मानते हैं। वाग्भट द्वितीय जैसा कि उनके लक्षण से ही स्पष्ट है, दंडी का अनुगमन करते हैं। व्याख्या में उन भेदों का भी उल्लेख किया है, जो सूत्र में नहीं आ सके हैं।[564] जयदेव किसी भी भेद का उल्लेख नहीं करते, किन्तु भोजप्रोक्त आवृत्तिदीपक का विवेचन करते हैं।[565] विद्याधर धर्म के गुण-क्रिया रूप द्विधा होने से, आदि, मध्य और अन्त-गत मानकर छः भेद मानते हैं।[566] विद्यानाथ भामहोक्त तीन भेदों को स्वीकारते हैं, परन्तु विश्वनाथ आदि, मध्यान्त, दीपक की आलोचना करते हैं।[567]

### आवृत्तिदीपक का खंडन

अप्पयदीक्षित ने भी दीपक के भेद का कोई उल्लेख नहीं किया है, किन्तु दंडी, भोज और जयदेव का अनुगमन करते हुए आवृत्तिदीपक को एक अलंकार माना है,[568] यद्यपि भोज और दंडी इसे स्वतंत्र अलंकार नहीं मानते। यदि अप्पयदीक्षित ने इसको प्राचीनों के ही आधार पर स्वीकार किया है, तो उचित था कि वे इसका विवेचन दीपक-चक्र में ही करते। अतएव जिनका वे अनुगमन करते हैं, उन्हीं के आधार पर आवृत्तिदीपक की पृथक् अलंकारता असिद्ध हो जाती है। वस्तुतः आवृत्तिदीपक को दीपक का भी भेद नहीं मानना चाहिये, क्योंकि दीपक का प्राण है—औपम्य, और दीक्षित के उदाहरण—'वर्षत्यम्बुदमालेयं वर्षत्येषा च शर्वरी' में

उसका अभाव है। दीपक प्रस्तुत अप्रस्तुत के एक धर्मान्वय में होता है, यहां दोनों (अम्बुदमाला और शर्वरी) ही प्रस्तुत हैं। इसलिये ऐसे प्रयोगों को समुच्चय की ही कोटि में रखना चाहिये, अथवा शब्द जन्य चमत्कार होने से शब्दालंकार की कोटि में। इसी प्रकार भोज के 'रसनादीपक' आदि के विषय में भी जानना चाहिये। भोज के आवली दीपक के उदाहरण 'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः' में भी दीपक अस्वीकार्य है। अप्पयदीक्षित का अनुसरण करनेवाले[569] देवशंकर के विषय में भी यह कथ्य संपृक्त है।

कर्णपूर तो मम्मट का ही अनुसरण करते हैं। जगन्नाथ ने यद्यपि प्राचीनों के त्रिविध भेद का निर्देश अवश्य किया है, किन्तु वह इन भेदों से सहमत नहीं हैं। उनका अभिमत है कि धर्म के आदि, मध्य, अन्त गत होने में कोई वैचित्र्य नहीं है। और इस प्रकार तो उपादि, उपमध्य, उपान्त्य, न्यून, अधिकदेश, आदि के आधार पर अनन्त भेद की कल्पना करनी पड़ जायेगी।[570] जयरथ तथा जगन्नाथ ने दीपक को भी धर्म के, अनुगामी, बिम्बप्रतिबिम्बभाव आदि भेदों में विभक्त किया है।[571] विश्वेश्वर मम्मट के अनुगामी हैं तो नरसिंह कवि एकावलीकार के।

दीपक के उपर्युक्त भेद-विवेचन से स्पष्ट है कि भामह कृत दीपक का त्रिविध भेद कभी ग्रहण और कभी परित्यक्त होता रहा है। नव्य आचार्य ऐसे विभग को हृदयवर्जक नहीं मानते। इसी प्रकार दंडी तथा भोज कृत दीपक प्रपंच भी नव्य दृष्टि को रमणीय नहीं लगा। कारकदीपक भेद भी रुय्यक के बाद प्रायः अमान्य ही रहा। नव्यमत केवल प्रकृत-अप्रकृत के एक धर्म (गुण या क्रिया) सम्बन्ध को ही दीपक मानने को उद्यत है। वस्तुतः नव्य मत ही आदरणीय है। गुण या क्रिया रूप धर्म तो स्वभावतः रचना के आदि, मध्य या अन्त में हुआ करते हैं। उनके आधार पर भेद-स्वीकार अप्रशंस्य है। दीपक के उदाहरण मूलग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

**मालादीपक का खंडन**

मम्मट से पूर्व दंडी ने मालादीपक को दीपक का एक भेद माना था। मम्मट के लक्षण के अनुसार भोज का चक्रवाल नामक भेद भी इसी श्रेणी में आता है। परन्तु मम्मट ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार के रूप स्वीकार किया है। जहां पूर्व वस्तु क्रम से उत्तर वस्तु की उपस्कारक होती है, वहां मालादीपक अलंकार होता है—'मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम्' (का.प्र. 10/104)। मम्मट के परवर्ती अधिकांश आलंकारिक प्रायः इसी प्रकार के लक्षण करते हैं।[572] अप्पयदीक्षित आदि दीपक तथा एकावली के योग को ही मालादीपक मानते हैं।[573] परन्तु मालादीपक

को एक पृथक् अलंकार मानना संभव नहीं है। मालादीपक के इस उदाहरण को मम्मट आदि सभी प्रयोग में लाते हैं :

**सङ्ग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते।**
**देवाकर्णय येनयेन सहसा यद्यत्समासादितम्।**
**कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलम्।**
**तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम्।।**[574]

इस उदाहरण में दीपक का सर्वथा अभाव है। गम्यमान औपम्य दीपक का अनिवार्य तत्त्व है, यहां उसका अभाव है। कोदंडों ने बाणों का, बाणों ने अरिमस्तक का, अरिमस्तक ने भूमंडल का, भूमंडल ने तुम्हारा, तुमने अतुलकीर्ति का और कीर्ति ने लोकत्रय को प्राप्त किया (उपस्कृत किया)—' इस प्रकार यहां पूर्व का पर के प्रति उपकार मान सकते हैं। काव्यप्रकाश के टीकाकार तथा रुय्यक आदि 'समासादन' रूपक्रिया को दीपक का हेतु स्वीकारते हैं,[575] किन्तु क्रिया का योग तो एकावली में भी रहता है।[576] फिर इसे दीपक का ही उदाहरण क्यों माना जाये? दीपक में मुख्यतया रहने वाला सादृश्य यहां है कहां? अतएव मालादीपक को पृथक् से अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है। कोदंड आदि का शिरः समासादन आदि का अर्थ यह नहीं है कि कोदंड, शर, आदि समान हैं, अपितु एक-दूसरे के ये उपस्कारक हैं, यही अर्थ होता है। रुय्यक आदि इसे स्वीकारते हैं। अस्तु, यह एकावली से व्यतिरिक्त नहीं है। यहां माला का अर्थ शृंखला है। दीपक से स्वार्थ में कन् प्रत्यय करने पर दीपक शब्द का अर्थ होता है—एकस्थक्रियादि से समन्वित सभी का उपस्कार। इस प्रकार मालदीपक का अर्थ हुआ—शृंखलाबद्ध उपस्कार। यह कार्य एकावली से भी संभव है। उक्त प्रकार से 'मालादीपक' का अर्थ न समझते हुए—दीपकैकावली योगान्मालादीपकमिष्यते—दीपक लक्षण दीक्षित आदि की भ्रान्ति मात्र है। शृंखलाबद्ध उपस्कार ही मालादीपक का स्वरूप है, वह एकावली से भी हो सकता है। अतएव मालादीपक को एकावली से पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है।[577]

## तुल्ययोगिता

तुल्ययोगिता शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ दी गयी हैं। इसमें तुल्य और योगिता दो शब्द हैं। तुला शब्द से संमित अर्थ में तद्धित से (नौवयोधर्म पा.-4/4/91) यत् प्रत्यय होने पर तुल्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ—तुलया संमितं तुल्यम्—सदृश

समान आदि होता है।[578] योगार्थक रुधादि की युज धातु से भाव अर्थ में—युज्यते इति योगः—घञ् प्रत्यय होने पर योग शब्द बनता है। योग का अर्थ अन्वय, सम्बन्ध, आदि होता है। योग शब्द से—योगः अस्ति येषां ते योगिनः—मत्वर्थ में (अत इनिठनौ—पा. 5/2/115) इन् प्रत्यय होने पर योगी शब्द बनता है, उससे भाव अर्थ में (तस्य भावस्त्वतलौ, पा. 5/1/119) तल् प्रत्यय तथा स्त्रीत्व में टाप् प्रत्यय करने पर योगिता शब्द निष्पन्न होता है। तुल्य और योगिता (योग) शब्द के समास में विद्वानों में मतभेद है। काव्यप्रकाश के टीकाकार वामन झलकीकर कर्मधारय समास करते हुए तुल्ययोगिता—तुल्यश्चासौ योगः तुल्ययोगः, एक धर्मान्वयः, सोऽस्ति येषां ते तुल्ययोगिनः, तेषां भावः तुल्ययोगिता[579]—शब्द की निष्पत्ति करते हैं। जबकि कुवलयानन्द कारिका की व्याख्या में आशाधरभट्ट बहुब्रीहि समास—तुल्यायोगिता, अन्वयो यत्र—करते हैं।[580] 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' के रत्नापण टीकाकार, कुमारस्वामी भी बहुब्रीहि समास ही स्वीकारते हैं।[581] उपर्युक्त तीनों ही व्युत्पत्तियाँ तुल्ययोगिता की सार्थकता को अभिव्यक्त करने में समर्थ है, किन्तु गजेन्द्रगडकर द्वारा प्रस्तुत की गई व्युत्पत्ति अधिक सटीक है। उनके अनुसार यहां तृतीयातत्पुरुष समास—तुल्येन साधारण धर्मेण योगः प्रकृतानामप्रकृतानां वा सम्बन्धः स अस्ति येषां ते तुल्ययोगिनः तेषां भावः तुल्ययोगिता[582]—ही अधिक उपयुक्त है। इस प्रकार जहां समान (गुण-क्रिया रूप) साधारण धर्म से प्रकृत या अप्रकृत दोनों का सम्बन्ध हो, वहां तुल्ययोगिता होती है—यही तुल्ययोगिता का अर्थ है। तुल्ययोगिता की अन्वर्थकता सिद्ध करते हुए रुय्यक ने भी उपर्युक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को स्वीकार किया है।[583] रुय्यक आदि के अनुसार दीपक की भांति तुल्ययोगिता भी पदार्थगत अलंकार है। इवादि का अभाव होने से यहां भी औपम्य गम्यमान रहता है, किन्तु वर्ण्य-विषय के शुद्ध प्रकृत या शुद्ध अप्रकृत होने से यहां उपमान-उपमेय भाव विवक्षाधीन होता है, जबकि दीपक में वास्तविक।

सर्वप्रथम भामह ने ही तुल्ययोगिता का विवेचन किया है। उनके अनुसार गुणों की साम्य-विवक्षा से न्यून (उपमेय) का भी विशिष्ट (उपमान) से तुल्यकार्य वाली क्रिया में योग तुल्ययोगिता अलंकार है।[584] भामह की परिभाषा न केवल लक्षण को अभिव्यक्त करती है, अपितु व्युत्पत्ति भी बताती है। दंडी की दृष्टि में स्तुति या निन्दा के लिये किसी का विवक्षित गुणों में उत्कृष्ट वस्तु से समीकृत कथन तुल्ययोगिता है।[585] दंडी की 'तुल्ययोगोपमा' प्रचलित तुल्ययोगिता के समीप है।[586] उद्भट ने उपमान-उपमेय भाव शून्य, अप्रस्तुत या प्रस्तुत के साम्याभिधायी कथन को तुल्ययोगिता कहा है।[587] उद्भट ही रुय्यक आदि के लक्षणों के आश्रय हैं।

उपमान-उपमेय भाव शून्यत्व कहकर उन्होंने तुल्ययोगिता को गम्यमान औपम्य सिद्ध किया है। उद्‌भट ने ही यह भी व्यक्त किया कि यहां दोनों ही प्रकृत या अप्रकृत रहेंगे। इस दृष्टि से दीपक और तुल्ययोगिता दोनों ही अलंकारों को प्रचलित नव्य स्वरूप प्रदान करने का श्रेय उद्‌भट को है। वामन का लक्षण भामह की कारिका का सूत्रीकरण मात्र है।[588] रुद्रट ने इस अलंकार का उल्लेख नहीं किया। संभवतः वह इसे दीपक से ही गतार्थ करते हैं। कुन्तक इसे उपमा में ही अन्तर्भूत करते हैं।[589] भोजराज दंडी की कारिका को ही ले लेते हैं।[590] मम्मट ने उद्‌भट के लक्षण को सपरिष्कार सूक्ष्मरूप प्रदान किया है, वर्णनीय रूप में नियत केवल प्रकृतों या केवल अप्रकृतों के एक धर्म (गुण या क्रिया) का सकृत् वर्णन तुल्ययोगिता है।[591] अग्निपुराणकार भी इसे मान्यता नहीं देते। रुय्यक के अनुसार पदार्थगत प्रस्तुत या अप्रस्तुत की औपम्यगर्भता में समानधर्म से सम्बन्ध होने पर तुल्ययोगिता[592] होती है। धर्म के गुण या क्रिया रूप ही होने के कारण उन्होंने प्रकृत दो अलंकारों को पदार्थगत स्वीकार किया है। परवर्ती अधिकांश आलंकारिक रुय्यक का अनुगमन करते हैं। वस्तुतः परवर्ती सभी आंलकारिकों के लक्षण उद्‌भट मम्मट, रुय्यक की अनुकृति मात्र हैं।[593] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हेमचन्द्र तुल्ययोगिता को दीपक से व्यतिरिक्त नहीं मानते। वाग्भट प्रथम का लक्षण भामह जैसा ही है।[594] वाग्भट (2) भी तुल्ययोगिता की सत्ता नहीं मानते। अमृतानन्द योगी का लक्षण दंडी से प्रभावित है।[595]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राच्य और नव्य आलंकारिक तुल्ययोगिता के स्वरूप पर भिन्न-भिन्न मत रखते हैं। प्राचीन आचार्य भामह, दंडी, वामन, भोजराज, वाग्भट (1), आदि स्तुति या निन्दार्थ उत्कृष्ट गुण से साम्य-कथन में ही तुल्ययोगिता मानते हैं। इन आचार्यों के लक्षण से यह व्यक्त नहीं होता कि वे तुल्ययोगिता में गम्यमान औपम्य को एक तत्त्व मानते हैं, या नहीं, किन्तु उद्‌भट ने परिभाषा में एक नया मोड़ दिया तुल्ययोगिता को उपमान-उपमेयवचनशून्य बता कर। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि तुल्ययोगिता केवल प्रस्तुत या केवल अप्रस्तुत के साम्य अभिधान में होती है। बाद में आलंकारिक मम्मट, रुय्यक से लेकर जगन्नाथ आदि समग्र आचार्य उद्‌भट मत का ही शब्दान्तर से प्रतिपादन करते हैं। अस्तु, केवल प्रस्तुत या केवल अप्रस्तुत का एक धर्माभिसम्बन्ध तुल्ययोगिता अलंकार है। यहां धर्म साधारण धर्म न होकर गुण और क्रिया रूप होता है। इसलिये यह एक पदार्थगत अलंकार है। केवल प्रकृत या अप्रकृत का ही वर्णन होने से गम्यमान भी औपम्य प्रयोक्ता के विवक्षाधीन है।

**भेद**

भामह ने तुल्ययोगिता का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसे क्रियारूप-धर्मनिबन्धना मान सकते हैं।[596] दंडी ने स्तुति और निन्दा का दो उदाहरण प्रस्तुत किया है।[597] उद्भट ने केवल प्राकरणिक तथा केवल अप्राकरणिक का दो उदाहरण प्रस्तुत किया है। उद्भट का केवल अप्राकरणिक का उदाहरण :

> **'त्वदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते।**
> **मालतीशशभृल्लेखा कदलीनां कठोरता।।'**[598] —का.सा.सं., 5/12

'तुम्हारे शरीर का सौकुमार्य देखने वाले, किसके चित्त में मालती, चन्द्ररेखा तथा कदली की कठोरता प्रस्फुटित नहीं होती।' यहां मालती आदि सभी अप्रस्तुत हैं, उनका कठोरता रूप धर्म सभी से सम्बद्ध है। अतएव यहां अप्रस्तुत तुल्ययोगिता है। ध्यान देने योग्य है कि यहां दीपक भी समुल्लसित हो रहा है। नायिका के शरीर की कोमलता बताना ही यहां कवि को अभिप्रेत है। कवि का भाव है कि तुम्हारे शरीर का सौकुमार्य देखकर द्रष्टा के चित्त में मालती आदि की कठोरता अवभावित होने लगती है। अतएव इस वर्णन में प्रकृत भी उपनिबद्ध है। ऐसी स्थिति में इसे दीपक का भी उदाहरण कह सकते हैं।

वामन ने भामह की भांति इसका भी कोई भेद नहीं किया है। भोज दंडी के आधार पर स्तुति, निन्दा, तुल्ययोगिता को वाच्या, प्रतीयमाना भेद से चार प्रकार की मानते हैं।[599] इन भेदों के अतिरिक्त भोजराज सुख-दुःख हेतुक स्तुति-निन्दा साम्य में भी तुल्ययोगिता स्वीकारते हैं।[600] मम्मट ने उद्भट रीति का परिपालन किया है। रुय्यक प्रकृत-अप्रकृत के धर्म को गुण और क्रिया रूप दो प्रकार का मानकर चार प्रकार की तुल्ययोगिता मानते हैं।[601] अप्रस्तुत गुणरूप धर्म का उदाहरण दिया जा चुका है। प्रस्तुत के गुणरूप धर्म का उदाहरण :

> **'योगपट्टो जटाजालं तारवी त्वङ्मृगाजिनम्।**
> **उचितानि तवाङ्गेषु यद्यमूनि तदुच्यताम्।।'** —का.सा.सं., 5/15

(तुम्हारे शरीर के लिये यदि योगपट्ट, जटाजाल, वृक्ष की छाल तथा कृष्ण मृगचर्म उचित हो तो, बताओ।) यहां योगपट्ट, जटाजाल, आदि सभी प्रस्तुत हैं। उचितत्व गुणरूप धर्म है, जो सभी से सम्बद्ध है। अतएव यहां प्रस्तुत तुल्ययोगिता है। राजानकतिलक के अनुसार यहां स्पर्शन रूप औचित्य ही धर्म है।[602] जयरथ की दृष्टि में उपर्युक्त दोनों उदाहरण औपम्य-शून्य हैं।[603] जयरथ का उक्त कथन

अयुक्त है, क्योंकि प्रथम उदाहरण में नायिका के अंगों की मालती आदि से औपम्य-प्रतीति स्पष्ट है।

नरेन्द्रप्रभसूरि रुय्यक का अनुसरण करते हैं। वाग्भट किसी भेद का उल्लेख नहीं करते। शोभाकर, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, जगन्नाथ, विश्वेश्वर, आदि मम्मट, उद्‌भट-प्रयुक्त सरणि का ही अवलम्बन करते हैं। केवल विद्याधर रुय्यक की भांति तुल्ययोगिता के चार भेद मानते हैं। भोजराज की द्वितीय तुल्ययोगिता के आधार पर अप्पयदीक्षित ने हिताहित व्यापार की समानता में एक अन्य प्रकार की तुल्ययोगिता का उल्लेख किया है,[604] जिसका अनुगमन देवशंकर ने भी किया है।[605] जगन्नाथ के अनुसार दीक्षितोक्त यह तुल्ययोगिता भी प्रथम वर्ण्यानामितरेक्षां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता—लक्षण में अन्तर्भूत है।[606] नागेश और विद्यानाथ तत्सत् जगन्नाथ से असहमत हैं।[607] उनका अभिमत है कि हिताहित रूप उभय विषयक शुभाशुभ का एक व्यापार के व्यवहर्ता की स्तुति-निन्दा से सम्बन्ध होने से एक नवीन सौन्दर्य की सृष्टि होती है। अतएव यह प्रथम लक्षण से परे हैं। नागेश आदि का उक्त मत तर्कहीन है। धर्म का नियमन व्यवहाराश्रित नहीं है। 'प्रदीयते पराभूतिर्मित्रशात्रवयोस्त्वया' में 'पराभूति' रूप धर्म का श्लेष के द्वारा दो अर्थ—उत्कृष्ट ऐश्वर्य और पराभव—हो जाता है। अतएव एकधर्माभिसम्बन्ध, जो तुल्ययोगिता का प्राण है, कहां रह जाता है? पराभव और अतुलसम्पत्ति में एकधर्मता मानना असंगत है। जहां तक हिताहित के समीकरण का प्रश्न है, वह प्रथम लक्षण में ही समाविष्ट है। दीक्षित ने इस भेद का उल्लेख तो भोज के आग्रहवश किया है,[608] अतएव उनकी रुचि का अभिनिवेश भी इसमें नहीं कहा जा सकता है। केवल बद्धपरम्परा का वहनमात्र है। दीक्षित ने दंडी की तुल्ययोगिता को भी एक पृथक् लक्षण में आबद्ध किया है।[609]

जगन्नाथ ने रशनारूपतुल्ययोगिता, कारकतुल्ययोगिता, अर्थान्तरन्यासाश्रिता, व्यंग्या, आदि भेद प्रस्तुत किये हैं। जयरथ तथा जगन्नाथ ने बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा शुद्धसामान्यरूप धर्मवाली तुल्ययोगिता भी मानी है।[610] नरसिंह कवि द्रव्य, गुण, क्रिया रूप धर्म के भाव, अभाव तथा प्रकृत-अप्रकृत के आधार पर इसके 12 भेद मानते हैं।[611] वस्तुतः तुल्ययोगिता के दो भेद ही रमणीय हैं, प्रकृत मात्र का एक गुणक्रियाभिसम्बन्ध तथा अप्रकृतमात्र का एकगुणक्रियाभिसम्बन्ध। इसीलिये मम्मट ने अन्य भेदों को उपेक्षित कर दिया है :

**हर्षाश्रुलवकीर्णेन सत्पत्रावलिचारुणा।**
**वामेन पुस्फुरे तस्याश्चक्षुषा च स्तनेन च।।** —अ.र., पृ. 16

यहां नेत्र और स्तन दोनों का स्फुरण रूप एकक्रियाभिसम्बन्ध होने से प्रस्तुत तुल्ययोगिता है। अन्य उदाहरण मूल ग्रन्थों में द्रष्टव्य हैं।

## तुल्ययोगिता दीपक से व्यतिरिक्त नहीं है

दीपक और तुल्ययोगिता को पृथक् अलंकार न मानकर एक ही अलंकार मानना संगत है। दोनों ही अलकारों में समान धर्म सम्बन्ध एक सामान्य तत्त्व है। अनुभूति भी एक समान होती है। केवल प्रकृत-अप्रकृत और प्रकृता-प्रकृत के विषय-विशेष को लेकर एक अलग अलंकार मानकर अलंकारों की संख्या में अभिवृद्धि उचित नहीं है। इन दो अलंकारों में जो थोड़ा बहुत अन्तर है, उसे एक ही अलंकार का उपभेद मानकर बताया जा सकता है। तुल्ययोगिता के किसी उदाहरण में शुद्ध प्रकृत या शुद्ध अप्रकृत का वर्णन नहीं मिलता। जैसा कि पहले कह चुके हैं 'त्वदङ्गमार्दवं' इत्यादि में मालती, चन्द्रलेखा, आदि की कठोरता का वर्णन है, किन्तु इनकी कठोरता से प्रस्तुत अङ्गों की सुकुमारता का भी भान होता है। यद्यपि प्रस्तुत और अप्रस्तुत का धर्म से समान सम्बन्ध नहीं बन पाता, किन्तु विरोध सम्बन्ध अवश्य बैठता है। मालती आदि की कठोरता से अंगों का मार्दव प्रतीत होता है। फिर तो हम कह सकते हैं कि तुल्ययोगिता में प्रस्तुत अप्रस्तुत दोनों की ही प्रतीति होती है और उनमें धर्म के साथ-साथ वैधर्म्य भी प्रतिभासित होता है। इसलिये यह कहना कि दीपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक ही समान धर्म से और तुल्ययोगिता में मात्र प्रस्तुत या मात्र अप्रस्तुत का एक ही समानधर्म से सम्बन्ध होता है, सिद्ध नहीं होता। भेदकता में कोई विशेष अन्तर भी नहीं है। कहीं-कहीं तो उदाहरणों में भेद कर पाना भी कठिन हो जाता है। दीपक और तुल्ययोगिता के उदाहरणों में इस बात का संकेत किया जा चुका है। औपम्यगर्भता दोनों अलंकारों का जीवातु है। इसलिये भी इन्हें पृथक् मानना उचित नहीं है। कहीं-कहीं तो दोनों अलंकारों में औपम्य-प्रतीति भी नहीं होती, किन्तु आलंकारिक हठात् उन्हें दीपक-तुल्ययोगिता का उदाहरण मान बैठते हैं। 'योगपट्टो जटाजालं' आदि में औपम्य का अभाव है। रुय्यक के अनुसार दीपक में उपमानोपमेय भाव वास्तविक होता है, किन्तु तुल्ययोगिता में विवक्षाधीन। तुल्ययोगिता में भी जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, प्रकृत के वर्णन में अप्रकृत का और अप्रकृत के वर्णन में प्रकृत का प्रतिभास होता है। वैवक्षिक या वास्तविक उपमानोपमेयभाव भेद, उपभेद मानकर प्रकट किया जा सकता है। दोनों ही अलंकारों में इवादि का अभाव होने से औपम्य-प्रतीति गम्यमान होती है। दोनों में ही धर्म के गुण या क्रिया

रूप में होने से, पदार्थगत दोनों ही माने जाते हैं। इससे भी दोनों अलंकारों की एकता की पुष्टि होती है। तथापि यदि किंचित् भेद को लेकर दो अलंकार मानने का हठ किया जायेगा तो 'समुच्चयोपमा' आदि को भी पृथक् अलंकार मानना पड़ेगा अतएव इन्हें भिन्न अलंकार न मानकर एक ही अलंकार का दो भेद मानना उपयुक्त है। इसीलिये जयरथ और जगन्नाथ ने दोनों को ही एक अलंकार स्वीकार किया है।[612] दोनों अलंकारों का ऐक्य मानकर जगन्नाथ ने इसका तीन भेद स्वीकार किया है, प्रकृतों के ही धर्म की सकृत्वृत्ति, अप्रकृतों के ही धर्मों की सकृत् वृत्ति तथा प्रकृताप्रकृतों के धर्मों की सकृत् वृत्ति। परन्तु जगन्नाथ दीपक को तुल्ययोगिता में अन्तर्भूत करके, उसी का उक्त प्रकार से त्रिधा विभाजन करते हैं, जो अयुक्त है। वस्तुतः तुल्ययोगिता ही दीपक का भेद हो सकती है। दीपक भरतप्रोक्त आदि अलंकार और महाविषय है, तथा तुल्ययोगिता स्वल्पविषय। अतएव तुल्ययोगिता को दीपक का भेद मानना संगत है।[613]

## (घ) वाक्यार्थगत
## प्रतिवस्तूपमा

'प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थं उपमा साधारणधर्मः अस्यां इति प्रतिवस्तूपमा।'[614] जहां प्रत्येक वाक्यार्थ में साधारण धर्म या साम्यकथन हो, उसे प्रतिवस्तूपमा कहते हैं। यहां प्रतिवस्तु का अर्थ है, वाक्यार्थ और उपमा का साधारण धर्म या साम्य। प्रतिवस्तूपमा दो वाक्यों में होती है। एक ही साधारणधर्म का दो वाक्यों में कथितपदता दोष से बचने के लिये पृथक्-पृथक् शब्दों से उपादान होता है। इसलिये प्रतिवस्तूपमा इस अलंकार का नाम अन्वर्थक है तथा प्रतिवस्तूपमा वाक्यार्थगत है, आलंकारिकों की यह उक्ति भी उचित है। इवादि के उपादान में साधारणधर्म के सकृत् निर्देश में उपमा होती है। इवादि के उपादान में साधारणधर्म के असकृत् निर्देश होने पर भी वस्तुप्रतिवस्तुभाव से उपमा ही होती है। जैसे उपमाप्रकरण प्रोक्त 'यान्त्यामहुर्वलितकन्धरम्' आदि में उपमा है। धर्म के एकबार (सकृत्) निर्देश में तथा इवादि का अनुपादान होने पर दीपक तुल्ययोगिता अलंकार होते हैं। धर्म के अनेकबार (असकृत्) उल्लेख में दो गति है, शुद्ध सामान्य रूप और बिम्बप्रतिबिम्बभाव। प्रथम में प्रतिवस्तूपमा होती है और द्वितीय में दृष्टान्त निदर्शना। उपमा में साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य भी आवश्यक तत्त्व के रूप में उपस्थित रहता है, किन्तु प्रतिवस्तूपमा में साधारण धर्म (साधर्म्य) की ही प्रधानता होती है। इसलिये प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों को भी रुय्यक आदि ने अभेद प्रधान अलंकारों की

श्रेणी में रखा है। उपमा वाचक इवादि का अभाव होने से यहां औपम्य आर्थ या गम्यमान होता है। प्रतिवस्तूपमा में होने वाले दो वाक्यों में साधारणतः एक उपमान वाक्य होता है और दूसरा उपमेय वाक्य। दो वाक्यों में एक ही धर्म का दो शब्दों से द्विधा अभिधान आलंकारिकों की दृष्टि से वस्तुप्रतिवस्तुभाव कहा जाता है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव का विवेचन उपमा-प्रकरण में किया जा चुका है। निर्देश आवश्यक हैं: 'एकस्यैवधर्मस्य पृथक् शब्दाभ्यामुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः'।[615] इस प्रकार साधारण धर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभाव निबन्धन में प्रतिवस्तूपमा होती है।

सर्वप्रथम भामह ने उपमा के एक भेद के रूप में प्रतिवस्तूपमा का उल्लेख किया है। उपमा का एक भेद होते हुए भी भामह का प्रतिवस्तूपमा लक्षण उद्‌भट के लिये एक स्वतंत्र अलंकार की स्थापना का आधार है। भामह के अनुसार इव आदि के द्वारा अभिधान न होने पर भी गुणों की साम्य-प्रतीति होने से, समान वस्तु का उपन्यास प्रतिवस्तूपमा है।[616] दंडी भी इसे उपमा-भेद ही मानते हैं। दंडी का लक्षण भी भामह के ही समान है—किसी वस्तु को उपस्थित कर, उसके समान धर्म वाली अन्य वस्तु का उपन्यास करने से, साम्य-प्रतीति होने पर प्रतिवस्तूपमा होती है।[617] दंडी का उदाहरण नव्य आचार्यों की प्रतिवस्तूपमा से संगति रखता है।[618] उद्‌भट ने न केवल उपमा से प्रतिवस्तूपमा को पृथक् किया, अपितु उसे सहज स्वरूप भी प्रदान किया। उनका कथन है कि उपमान और उपमेय की विद्यमानता में साम्यवाचीपद (साधारणधर्म) का एकबार से अधिक ग्रहण होने पर प्रतिवस्तूपमा होती है। उनका यह भी कथन है कि समान धर्म के दो बार उपात्त होने से वाक्य भी दो होंगे और वहां इवादि का अभाव होगा, किन्तु जो वाक्य प्राकरणिक होगा वह उपमेय होगा, ज़ो अप्राकरणिक होगा, वह उपमान। उन्होंने अन्य अलंकारों से इसका भेद स्पष्ट करने के लिये उपमा की त्रिधा अवस्था बताई है, कहीं इवादि के शब्द सामर्थ्य से उपमा वाच्य होती है, जैसे 'चन्द्र इव मुखमस्याः' में, इवादि के अभाव में कहीं लक्ष्य होती है, जैसे 'शस्त्रीश्यामा' में और कहीं इवादि के अभाव में केवल अर्थ-गम्य होती है, जैसे रूपक, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, आदि में।[619] इस प्रकार प्रतिवस्तूपमा में दो वाक्य होते हैं, औपम्य गम्यमान रहता है, धर्म का असकृत् उपादान होता है—उद्‌भट की महती देन है, जिसका परवर्ती आलंकारिकवर्ग ऋणी है। रुद्रट ने प्रतिवस्तूपमा का उल्लेख तो नहीं किया है, किन्तु इसी के समान उभयन्यास नामक अलंकार का विवेचन किया है।[620] कुन्तक के अनुसार प्रतिवस्तूपमा उपमा से व्यतिरिक्त नहीं है, वह प्रतीयमानोपमा में अन्तर्भूत है।[621] भोज ने प्रतिवस्तूपमा को 'साम्य' अलंकार का एक भेद प्रतिवस्तूक्ति कहा है।[622]

लक्षण दंडी की प्रतिवस्तूपमा का लक्षण रखा है।

उद्भट के बाद मम्मट ने उद्भट के ही लक्षण का संक्षिप्तीकरण कर दिया है, एक ही साधारण धर्म का दो वाक्यों में कथितपदता दोष से बचने के लिये शब्द भेद से उपादान होने पर प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है :[623] रुय्यक ने लक्षण में 'वाक्यार्थगत' शब्द को भी रख लिया है,[624] मम्मट से और कोई वैशिष्ट्य नहीं है। वस्तुतः परवर्ती सभी आलंकारिकों ने उद्भट, द्वारा प्रतिपादित तथा मम्मट, रुय्यक द्वारा समर्थित लक्षण को ही शब्दावली के किंचित् परिवर्तन के साथ ग्रहण कर लिया है।[625] हेमचन्द्र के अनुसार प्रतिवस्तूपमा निदर्शन से व्यतिरिक्त नहीं है।[626]

उद्भट प्रतिवस्तूपमा के किसी भेद का उल्लेख नहीं करते। मम्मट साधर्म्य तथा मालारूप प्रतिवस्तूपमा का विवेचन करते हैं।[627] रुय्यक ने साधर्म्य-वैधर्म्य दो भेदों का उल्लेख किया है। परवर्ती सभी आलंकारिक प्रायः इन्हीं दो भेदों का विवेचन करते हैं। रुय्यक प्रदत्त साधर्म्य का उदाहरण :

**चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि।**
**आवन्त्य एव निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि।।** —अ.स., पृ. 90

(चकोरियां ही चन्द्रिका-पान में चतुर होती हैं, अवन्ति की सुन्दरियाँ ही सुरत-कर्म में निपुण होती हैं।)

यहां अवन्ति सुन्दरियों का सुरतपटुत्व ही प्रकृत या उपमेय वाक्य है तथा पूर्वार्द्ध उपमान वाक्य। दोनों में 'निपुणता रूप साधारण धर्म एक ही है, किन्तु पुनरुक्ति भय से भिन्न-भिन्न दो शब्दों में ग्रहण किया गया है। दोनों का उपमा में इस प्रकार पर्यवसान होता है, 'जिस प्रकार चकोरियाँ ही चन्द्रिका पान में निपुण होती हैं, उसी प्रकार अवन्ति सुन्दरियाँ ही सुरत कर्म में निपुण होती हैं।' दोनों में साधर्म्य होने के कारण यह साधर्म्य रूप प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण है। अप्पयदीक्षित द्वारा प्रस्तुत वैधर्म्य का उदाहरण :

**विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्।**
**नहि बन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्।**
**यदि सन्ति गुणाः पुंसां विकसन्त्येव ते स्वयम्।**
**नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते।।** —कु., पृ. 56

जगन्नाथ के अनुसार दीक्षित का प्रथम उदाहरण जिस किसी प्रकार से वैधर्म्य का उदाहरण कहा जा सकता है, परन्तु द्वितीय उदाहरण वहां माना जाता है, जहां प्रस्तुत

धर्मिविशेष के लिये प्रयुक्त अर्थ को दृढ़ बनाने के हेतु अप्रकृत अर्थ के रूप में किसी ऐसे अन्य धर्मी का वर्णन किया गया हो, जो प्रस्तुत धर्मी के द्वारा आक्षिप्त अपने प्रतियोगी का समान जातीय हो। 'यदि सन्ति' में 'यदि गुण हैं तो स्वयं प्रकाशित होते हैं' यह प्रकृत है, इसका व्यतिरेकी (प्रतियोगी) अर्थ 'यदि नहीं हैं तो अन्य उपायों से भी नहीं प्रकाशित होते' होगा। पूर्वार्द्ध का सजातीय उत्तरार्द्ध कथन नहीं है। वैधर्म्य में कभी भी प्रकृत के अनुरूप अप्रकृत का पर्यवसान नहीं होना चाहिये। 'कस्तूरिका की सुगन्धि शपथ से नहीं प्रकाशित होती, किन्तु स्वयं ही प्रकाशित होती है' उत्तरार्द्ध का यह कथन पूर्वार्द्ध के ही अनुरूप है। अतएव अप्रकृत का प्रकृत के ही अनुरूप पर्यवसान हुआ है। इसलिये यह वैधर्म्य का उदाहरण न होकर साधर्म्य का ही उदाहरण है।[628]

जगन्नाथ का उपर्युक्त मत तर्कहीन है। चन्द्रिकाकार का अभिमत है कि जहां कहीं भी वैधर्म्य होगा, उसका पर्यवसान साधर्म्य में अवश्य होगा, अन्यथा उपमा ही नहीं बन पायेगी। 'विद्वानेव हि जानाति' इत्यादि में यद्यपि 'एव' की सहायता से 'अविद्वान् नहीं जानता' यह भी अर्थ हो सकता है, क्योंकि श्लोक का उत्तरार्द्ध उसका सजातीय है। फिर भी यहां भावान्वय का विधान किया गया है। 'बन्ध्या नहीं जानती' इस कथन से 'प्रसवित्री ही जानती है' यह वाक्य आक्षिप्त है। यहां यही विवक्षित है। इसलिये उपात्त रूप भावार्थ ही यहां अभीष्ट है वह औपम्य की गम्यमानता से भी सिद्ध है। अतएव प्रथम उदाहरण वैधर्म्य का ही हो सकता है। उक्त प्रकार से 'यदि सन्ति' इत्यादि में भी भावान्वय का विधान है। अथवा 'एव' का अर्थ क्रियासमभिव्याहार से अत्यन्त अयोग का व्यवच्छेद किया जाये तो 'दूसरे से नहीं प्रकाशित होते' आक्षेप से यह अर्थ प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार उठाई गई जगन्नाथ की आपत्ति का निराकरण स्वतः सिद्ध है। जगन्नाथ का भी वैधर्म्य के उदाहरण में आक्षेप-लभ्य अर्थ अभिप्रेत है :

**तत्त्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि।**
**मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रताम्।।** —र.गं., पृ. 332

(काव्यों के अलौकिक तत्त्व को विरला ही व्यक्ति जानता है, भ्रमरों के बिना मकरन्द का मर्मज्ञ कौन है?) मधुव्रत के बिना कौन जानता है? के द्वारा आक्षेपलभ्य अर्थ मधुव्रत ही जानता है—से ही यह वैधर्म्य का उदाहरण हो सकता है। यदि जगन्नाथ स्वदत्त उदाहरण को वैधर्म्य का प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण स्वीकारते हैं, तो दीक्षित का भी उदाहरण उपयुक्त ही है। अस्तु, विद्यानाथ तत्सत्, नागेश, विश्वेश्वर, आदि

ने उक्त आधार पर ही जगन्नाथ के मत की उपेक्षा की है।[629] मालाप्रतिवस्तूपमा के उदाहरण मूल ग्रन्थों में प्राप्य हैं।

उपमा में एक ही वाक्य होता है, प्रतिवस्तूपमा में दो वाक्य का होना आवश्यक है। यद्यपि वाक्यार्थोपमा में भी दो वाक्य होते हैं, किन्तु वे अन्योन्याश्रित होते हैं, प्रतिवस्तूपमा की भांति स्वतंत्र नहीं। अतएव उनका पर्यवसान एक ही वाक्यार्थ में होता है। मम्मट आदि की कारिका से स्पष्ट है कि प्रतिवस्तूपमा में दो वाक्य होते हैं। उपमा में उपमावाचक इव, आदि का प्रयोग होता है, प्रतिवस्तूपमा में उनका अभाव रहता है। सकृत् धर्म प्रयुक्त उपमा पदार्थगत औपम्य में पर्यवसित होती है, किन्तु पदार्थ से आरंभ होने के कारण असकृत् धर्म प्रयुक्त प्रतिवस्तूपमा वाक्यार्थ में। एक में औपम्य वाच्य रहता है तो द्वितीय में गम्यमान। उपमा की भांति दीपक तुल्ययोगिता में भी धर्म का सकृत् उपादान होता है, किन्तु इवादि का अभाव होने से औपम्य गम्यमान रहता है। जयरथ के अनुसार दीपक और तुल्ययोगिता में भी धर्म का असकृत् उपादान हो सकता है, किन्तु बिना सकृत् उपादान के इन दो अलंकारों का उत्थान असंभव है। अतएव सकृत् ही उपादान किया जाता है।[630]

## दृष्टान्त

दृष्टो ज्ञातः, दृष्टान्त सम्बन्धेन दार्ष्टान्तिक निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः।[631] इस अलंकार का दृष्टान्त नाम महत्त्वपूर्ण है। दृश् धातु से कर्म अर्थ में (निष्ठा, पा. 3/2/102) क्त प्रत्यय करने पर दृष्ट—शब्द निष्पन्न होता है। दृश् धातु का अवलोकन अर्थ है। अतएव दृष्ट का अर्थ होता है, अवलोकित या ज्ञात। वैजयन्ती कोश[632] के अनुसार अन्त शब्द का एक अर्थ निश्चय भी है। आलंकारिकों ने भी अन्त का निश्चय अर्थ ही लिया है।[633] इस प्रकार दृष्टान्त या उपमान वाक्य से दार्ष्टान्तिक या उपमेय वाक्य का जहां निश्चय ज्ञात हो, उसे दृष्टान्त कहते हैं—यह दृष्टान्त का अर्थ हुआ। दृष्टान्त अलंकार में प्रकृत कथन को पुष्ट या निश्चित करने के लिय ही अप्रकृत का उपादान किया जाता है। जहां एक वाक्य का निश्चय करने के लिये किसी अन्य वाक्य का सहारा लिया जाता है, वहां दो वाक्यों का होना स्वाभाविक है। इसलिये दृष्टान्त में दो वाक्य होते हैं। दो वाक्य प्रतिवस्तूपमा में भी होते हैं, किन्तु वहां दोनों वाक्यों में एक ही धर्म दो शब्दों में उपात्त होता है, जबकि दृष्टान्त अलंकार में दोनों वाक्यों में धर्मों की भिन्नता रहती है, सादृश्य के कारण वे एक से प्रतीत होते हैं। इसीलिये आलंकारिक धर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभाव में प्रतिवस्तूपमा और बिम्बप्रतिबिम्बभाव में दृष्टान्त स्वीकारते हैं। जहां दो भिन्न

धर्मों का दो बार उपादान होता है, उसे बिम्बप्रतिबिम्बभाव कहते हैं। दो वाक्यों में उपात्त ये धर्म यद्यपि भिन्न होते हैं, किन्तु परस्पर सादृश्य के कारण अभिन्न से प्रतीत होते हैं :

**'वस्तुतो भिन्नयोरप्युपमानोपमेयधर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नयोः पृथगुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः।'** —कु., पृ. 6, चि.मी., पृ. 811

ध्यातव्य है कि दृष्टान्त अलंकार में धर्म के साथ-साथ धर्मी (उपमान-उपमेय) तथा उनके विशेषण आदि में भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव निबन्धन होता है।[634] अतएव बिम्बप्रतिबिम्बभाव की उक्त परिभाषा में 'धर्म' शब्द धर्मी का भी उपलक्षण है। इवादि का अभाव होने से प्रतिवस्तूपमा आदि की भांति यहां भी औपम्य गम्यमान रहता है।[635]

वेदों में भी दृष्टान्त के उदाहरण पाये जाते हैं—'अहरह प्रयाव भरतो श्यावेव तिष्ठते घासमस्य रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽनेन भाते प्रतिवेषारिषाय'। —वा.सं. 11/75. यहां दृष्टान्त अलंकार है। मनुस्मृति 2/32 तथा 6/66-68 में भी दृष्टान्त पाया जाता है। कालिदास के काव्यों और नाटकों में दृष्टान्त के अनेक सुन्दर प्रयोग पाये जाते हैं।[636]

भरत ने 'पूर्व उपलब्धि में निदर्शनकृत समत्व की उपपत्ति को दृष्टान्त नामक काव्य लक्षण माना है।[637] यद्यपि इसे दृष्टान्त का मूल तो नहीं कह सकते, तथापि लक्षण के रूप में इसका उल्लेख इसे अलंकार स्वरूप प्रदान करने में सहायक अवश्य हुआ। भामह, दंडी और वामन ने दृष्टान्त का उल्लेख नहीं किया है। सर्वप्रथम इसका विवेचन उद्‌भट के अलंकार ग्रन्थ में प्राप्त होता है, किन्तु उद्‌भट को इसका मूल भरत के तथाकथित दृष्टान्त लक्षण और भामह के दृष्टान्त प्रमाण से ही प्राप्त हुआ होगा। भामह के अनुसार कथित अर्थ का प्रतिबिम्बन दृष्टान्त प्रमाण है :

**'उक्तस्याऽर्थस्य दृष्टान्तं प्रतिबिम्बनम्'** —का. 5/55.

उद्‌भट के अनुसार प्रकृत (इष्ट) अर्थ का, यथा, इव, आदि वाचक पदों से शून्य अत्यन्त स्पष्ट प्रतिबिम्ब प्रदर्शन दृष्टान्त अलंकार है।[638] राजानकतिलक ने उद्‌भट की विवृत्ति में सन्देह प्रकट किया है कि इसे प्रतिवस्तूपमा ही कहा जाता है।[639] इससे प्रतीत होता है कि उद्‌भट के बाद तिलक के समय तक भी दृष्टान्त की स्थिति सन्देहायित ही थी। वामन ने भी दृष्टान्त का उल्लेख नहीं किया है। रुद्रट का अभिमत है कि प्रकृत-अप्रकृत (विवक्षितेतरयोः) अर्थ विशेष में जिस प्रकार अर्थ विशेष पूर्व

न्यस्त किया गया हो, उसी प्रकार के अन्य अर्थ विशेष का पुनः न्यास दृष्टान्त अलंकार है।[640] रुद्रट की परिभाषा लम्बी हो गई है, किन्तु बिम्बप्रतिबिम्बभाव से भिन्न नहीं है। रुद्रट के 'विवक्षितेरयोः' शब्द से यह भी प्रतीत होता है कि चाहे उपमान वाक्य का पूर्व कथन हो या उपमेय वाक्य का, कोई प्रतिबन्ध नहीं है। कुन्तक के अनुसार जहां दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक के साम्य को लेकर वस्तु-साम्य प्रदर्शित किया जाता है, वहां दृष्टान्त अलंकार होता है।[641] भोज ने यद्यपि साम्य अलंकार के एक भेद, दृष्टान्तोक्ति का विवेचन किया है, किन्तु उससे व्यतिरिक्त उन्होंने दृष्टान्त अलंकार भी माना है। उनका अभिमत है कि उक्त (प्रकृत) अर्थ की सिद्धि के लिये तत्तुल्य अन्य अर्थ का प्रदर्शन दृष्टान्त है।[642] भोज ने दृष्टान्त और दृष्टान्तोक्ति का भेद प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का भिन्न वाक्यों में कथन होने पर दृष्टान्त अलंकार होता है, एक वाक्य में निर्देश होने पर दृष्टान्तोक्ति। दृष्टान्त में साधर्म्य की सिद्धि की जाती है, दृष्टान्तोक्ति में साधर्म्य के निमित्त (गुण-क्रिया) की। दृष्टान्त में इवादि का प्रयोग नहीं होता, जबकि दृष्टान्तोक्ति में होता है। इसीलिये दृष्टान्त अर्थालंकार है और दृष्टान्तोक्ति उभयालंकार।[643]

सर्वप्रथम मम्मट ने दृष्टान्त की स्पष्ट परिभाषा की। यद्यपि उद्‌भट, रुद्रट, आदि के द्वारा कहे गये लक्षण को ही मम्मट ने भी दृष्टान्त कहा है, तथापि लक्षण को सहज और सुबोध बनाने का श्रेय मम्मट को है।[644] उनके अनुसार उपमान-उपमेय, उनसे सम्बद्ध विशेषण, विशेष्य तथा साधारण धर्म आदि सभी का प्रतिबिम्ब कथन दृष्टान्त अलंकार है। रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, शोभाकर, जयदेव, वाग्भट प्रथम तथा अन्य सभी परवर्ती आलंकारिक मम्मट का ही अनुगमन करते हैं।[645] हेमचन्द्र ने इसे निदर्शन कहा है।[646] किन्तु हेमचन्द्र निदर्शन में ही प्रतिवस्तूपमा तथा निदर्शना को भी अन्तर्भूत कर लेते हैं। इस प्रकार हेमचन्द्र की दृष्टि में निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त तीनो ही अलंकार दृष्टान्त (निदर्शन) में अन्तर्भूत हैं। वाग्भट (2) का भी लक्षण इन्हीं के समान है।[647] अन्य आचार्यों की परिभाषा में उद्‌भट मम्मट से अधिक कोई वैशिष्ट्य नहीं है।

इस प्रकार निर्विवाद है कि बिम्बप्रतिबिम्ब कथन ही दृष्टान्त अलंकार है। बिम्ब का शरीर और प्रतिबिम्ब का छाया अर्थ होता है।[648] शरीर की छाया की भांति जहां प्रकृत कथन को पुष्ट करने के लिये, उसके समान तद्रूप नहीं, किसी अन्य अप्रकृत कथन को उपस्थिति किया जाता है, वहां दृष्टान्त अलंकार होता है। इस अलंकार में कवि की मनोवृत्ति प्रकृत अर्थ के अप्रकृत अर्थ से समर्थन की ओर

उन्मुख रहती है। अतएव स्वभावतः दो वाक्यों का सहारा लेना पड़ता है। समर्थन की यह प्रवृत्ति दोनों में साम्य दिखाने के लिये ही होती है, किन्तु साम्य-कथन इवादि का अभाव होने से वाच्य न होकर गम्य होता है। इसलिये दृष्टान्त भी वाक्यार्थगत गम्यमान औपम्यमूलक अलंकार है। समर्थन अर्थान्तरन्यास में भी होता है, किन्तु वहां सामान्य से विशेष का और विशेष से सामान्य का समर्थन होता है और दृष्टान्त में सामान्य का सामान्य से, विशेष का विशेष से।[649] प्रतिवस्तूपमा में साधर्म्य में बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं होता[650] क्योंकि वहां धर्म एक ही होता है। अतएव दृष्टान्त प्रतिवस्तूपमा भी आपस में भिन्न-भिन्न अलंकार है।

साधर्म्य और वैधर्म्य[651] के आधार पर दृष्टान्त का दो भेद मम्मट से लेकर जगन्नाथ आदि सभी आलंकारिक स्वीकारते हैं। साधर्म्य का उदाहरण :

**'त्वयि दृष्ट एव तस्याः निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम्।**
**आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः।।'**

—काव्या., 8/95, का.प्र., पृ. 637

(तुम्हारे दर्शनमात्र से काम-दग्ध उसका मन शान्त हो जाता है,[652] चन्द्रमा के दर्शन से (सूर्यदग्ध) कुमुद्वती कुसुम खिल उठता है।) यहां नायक चन्द्र, नायिका कुमुद्वती, मन कुसुम, मनोभव ज्वलित (सूर्य ज्वलित) तथा निर्वाण-विकास सभी में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। यहां निर्वाण और विकास दोनों भिन्न धर्म हैं। एक का अर्थ नष्ट, शान्त या बुझ जाना है, दूसरे का विकसित या खिलना। परस्पर सादृश्य के कारण दोनों एक जैसे प्रतीत हो रहे हैं, और अन्ततः इन्हीं के द्वारा दोनों वाक्यों का इस प्रकार उपमा में पर्यवसान होता है—जिस प्रकार चन्द्र दर्शन मात्र से ही सूर्य तप्त कुमुद्वती कुसुम खिल उठता है, उसी प्रकार तुम्हारे दर्शन मात्र से उस नायिका का कामतप्त मन उल्लसित हो उठता है। इस प्रकार यहां औपम्य भी गम्य है। वैधर्म्य का उदाहरण :

**'अपि सहजमनोहरं कवित्वं भवति नृसिंहगुणान्वितं मनोज्ञम्।**
**अकुचकलशसंगतं तरुण्याः कलयति मौक्तिकदाम दुर्भगत्वम्।।'**

एका., पृ. 245-6

(सहज मनोहर भी कवित्व नृसिंह के गुण से युक्त होने पर मनोज्ञ हो जाता है। तरुणी के कुचकलश-संसर्ग से विहीन लरी (मुक्तामाला) दौर्भाग्य को प्राप्त हो जाती है।) यहां तरुणी के कुचकलश-संसर्ग के बिना मुक्तामाला दौर्भाग्य को प्राप्त होती

है, इस वैधर्म्य कथन का साधर्म्य में ही 'तरुणी के कुचकलश से संसक्त मुक्तामाला शोभावह होती है, पर्यवसित होने से दृष्टान्त अलंकार है। मनोज्ञ-दुर्भगत्व, कवित्व-मौतिकदाम, नृसिंह गुणान्वित तरुणी कुचकलश संगत आदि में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

## विवाद

रुय्यक के 'तदेवमौपम्याश्रयेणैव प्रतिवस्तूपमा' की व्याख्या करते हुए जयरथ का कथन है कि प्रतिवस्तूपमा में अप्रकृत अर्थ का उपादान प्रकृत अर्थ का सादृश्य बताने के लिये किया जाता है। इससे दोनों में उपमान-उपमेयभाव हो जाता है। दृष्टान्त अलंकार में अप्रकृत का उपादान प्रकृत अर्थ की स्पष्ट प्रतीति कराने के लियें होता है, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि जो प्रकृत में वर्णित है, उसके समान अन्य वृत्तान्त भी प्राप्य है। उक्त प्रकार से जयरथ के अनुसार प्रतिवस्तूपमा में उपमानोपमेयभाव या सादृश्य प्रदर्शन ही अभिप्रेत होता है और दृष्टान्त में प्रतीति को विशद बनाया जाता है। अतएव क्रमशः सादृश्य की प्रतीति और अप्रतीति ही इन दोनों का भेद है।[653] जयरथ का उक्त मत उपयुक्त है। जब दोनों ही अलंकारों में प्रकृत-अप्रकृत वाक्यार्थों का समान रूप से ग्रहण होता है, तो एक में सादृश्य प्रतीति मानना और दूसरे में न मानना ही असंगत है। इस प्रकार तो यह भी कह सकते हैं कि प्रतिवस्तूपमा में सादृश्य-प्रतीति नहीं होती, दृष्टान्त में होती है। जयरथ का यह कथन कि 'प्रकृत के समान अन्य अर्थ भी अन्यत्र अवस्थित हैं' प्रकारान्तर से सादृश्य को ही अभिव्यक्त करता है। प्रायः सभी अलंकारों में प्रकृत अर्थ को विशद करने के लिये ही अप्रकृत अर्थ को प्रस्तुत किया जाता है। प्रतिवस्तूपमा में भी प्रकृत अर्थ को ही विशद बनाने के लिये अप्रकृत का विन्यास किया जाता है। जयरथ के आधार पर तो दीपक, प्रतिवस्तूपमा, आदि किसी अलंकार में सादृश्य प्रतीति नहीं होनी चाहिये? इसके अतिरिक्त जयरथ जिस ग्रन्थ की व्याख्या कर रहे हैं, उसी के मत से उनका विचार विरुद्ध है। इसीलिये जगन्नाथ ने जयरथ का खंडन किया है,[654] जो उपयुक्त है। वस्तुतः दीपक तुल्ययोगिता की भांति प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त दोनों को ही एक अलंकार मानकर उसके दो भेद करना चाहिये। दोनों ही अलंकार में दो वाक्य होते हैं, दोनों में ही औपम्य गम्यमान रहता है। केवल धर्म के एक या दो होने मात्र का अन्तर है। प्रतिवस्तूपमा में एक ही धर्म द्विधा उपात्त होता है, दृष्टान्त में दो धर्म। ध्यातव्य है कि प्रतिवस्तूपमा में भी धर्म को छोड़कर उपमान उपमेय आदि में बिम्बप्रतिबिम्ब होता है। उदाहरण के लिये

प्रतिवस्तूपमा के 'चकोर्य एव चतुरा:' इत्यादि उदाहरण में अवन्ति सुन्दरियों, चकोरियों, सुरतकर्म, चन्द्रिका-आचाम में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है, केवल धर्म में वस्तुप्रतिवस्तुभाव है। अतएव इन्हें एक ही अलंकार का भेद मानना संगत है :

**'एकस्यैवालंकारस्य द्वौ भेदौ—प्रतिवस्तूपमा दृष्टान्तश्च। यच्चानयोः किंचिद्वैलक्षण्यं तत्प्रभेदताया एव साधकम्।'** —र.गं., पृ. 339

## निदर्शना

नि उपसर्ग पूर्वक अवलोकनार्थक दृश् (ण्यन्त की) धातु[655] से भाव अर्थ में युच् (ण्यासश्रन्थो युच्, पा.- 3/3/110) प्रत्यय करने पर 'यु' को अन् (युवोरनाकौ, पा.- 7/1/1) आदेश तथा स्त्रीत्व में टाप् प्रत्यय होने पर निदर्शना शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार निदर्शना का अर्थ होता है—संभव या असंभव (अनुपपन्न) सम्बन्ध वाली (पदार्थ या वाक्यार्थ रूप) दो वस्तुओं का सादृश्य[656] में पर्यवसान। नि उपसर्ग पूर्वक दृश् धातु से करण अर्थ में युच् प्रत्यय[657] करने पर निदर्शन शब्द बनता है। निदर्शन का अर्थ है दृष्टान्तकरण।[658] निदर्शना में कहीं पर संभव (अबाधित) सम्बन्ध ही अपनी सामर्थ्य से बिम्बप्रतिबिम्बभाव का आक्षेप कर लेता है और कहीं पर अन्वय की बाधा के कारण वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध असंभव (बाधित) होकर प्रतिबिम्बन का आक्षेप कर लेता है।[659] मम्मट आदि इसी को दृष्टान्तकरण की संज्ञा प्रदान करते हैं।[660] इसलिये निदर्शना अन्वर्थक है। यद्यपि मम्मट अपने लक्षण में इसका नाम निदर्शना ही रखते हैं। परन्तु भ्रमवश वृत्ति में वह निदर्शनम् लिखते हैं—निदर्शनम् दृष्टान्तकरणम्। इसी प्रकार कुछ और भी आलंकारिक निदर्शना के बजाय निदर्शनम् कहना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं, जिसमें दंडी, वामन, भोज, हेमचन्द्र, आदि प्रमुख हैं। ध्यातव्य है कि 'निदर्शनम्' कथन व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है।[661] अतएव निदर्शना की प्रथम व्युत्पत्ति ही अधिक संगत है। उद्भट ने इसे विदर्शना कहा है, जिसके आधार पर इन्दुराज ने एक अन्य व्युत्पत्ति भी प्रस्तुत की है। उनका कथन है कि उपमानोपमेय भाव रूप विशिष्ट अर्थ का प्रदर्शन होने से, इसे विदर्शना कहते हैं।[662]

सर्वप्रथम भरत ने अपने काव्यलक्षणों में 'निदर्शन'[663] को भी स्थान दिया है। यद्यपि यह निदर्शन, निदर्शना अलंकार नहीं है, तथापि निदर्शना का बीजभूत अवश्य है, क्योंकि अभिनवगुप्त का स्पष्ट कथन है कि वक्रोक्ति स्वरूप लक्षण समग्र अर्थालंकारों के बीजभूत हैं।[664] इससे स्पष्ट है कि भामह को जिन्होंने सर्वप्रथम इस

अलंकार का विवेचन किया है—भरत से ही प्रेरणा मिली होगी। भामह के अनुसार यथा, इव, वत्, आदि के बिना ही जहां क्रिया के द्वारा विशिष्ट अर्थ का उपदर्शन होता है, उसे निदर्शना कहते हैं।[665] नव्य आचार्यों की दृष्टि में भामह का यह लक्षण अपूर्ण है। दंडी की परिभाषा तो और भी विचित्र है, किसी अन्य कार्य में प्रवृत्त होने पर तदनुरूप सत् या असत् फल का निदर्शन, निदर्शन अलंकार है।[666] स्पष्ट है कि दंडी के समय तक वाक्यार्थ, पदार्थ-निदर्शना का उद्भव नहीं हुआ था। प्रचलित नव्य निदर्शना की उद्भावना का श्रेय उद्भट को है। उनके अनुसार जहां असंभव या संभव वस्तु-सम्बन्ध उपमान उपमेय भाव की कल्पना करता है, उसे नि(वि)दर्शना[667] कहते हैं। प्रतिहारेन्दुराज के शब्दों में :

> **'यत्रपदार्थानां सम्बन्धः स्वयमनुपपद्यमानः सन् उपमानोपमेयभावे पर्यवस्यति अथवा उपमानोपमेयभावकल्पनया स्वात्मानमुपपादयति तत्र विदर्शना, विशिष्टस्यार्थस्य उपमानोपमेयभावात्मकस्योपदर्शनात्।'**[668]
>
> ल.वृ., पृ. 62

रुय्यक आदि समग्र आलंकारिक इसी लक्षण का आश्रय लेते हैं। वामन का लक्षण[669] भामह के ही समान है किन्तु 'स्वतदर्थान्वयख्यापनं' कथन महत्त्वपूर्ण है। यह अन्वयख्यापन औपम्य में पर्यवसित होता है, अतएव निदर्शना का आवश्यक तत्त्व है। रुद्रट ने इसका उल्लेख नहीं किया है। कुन्तक निदर्शना को उपमा से व्यतिरिक्त नहीं स्वीकारते।[670] जैसा कि दृष्टान्त प्रकरण में कहा जा चुका है—भोज का निदर्शन अलंकार दृष्टान्त ही है।[671]

मम्मट ने निदर्शना का दो लक्षण प्रस्तुत किया है। प्रथम लक्षण असंभवद्वस्तु-सम्बन्ध निदर्शना का है, तो द्वितीय संभवद्वस्तु-सम्बन्ध का। प्रथम के अनुसार वाक्यार्थ या पदार्थ रूप दो वस्तुओं का अनुपपन्न सम्बन्ध जब उपमा की परिकल्पना करता है तो निदर्शना होती है।[672] यों कह सकते हैं कि जिनका आपस में उपमान-उपमेय भाव असंभव है, ऐसी दो वस्तुओं में उसका प्रदर्शन ही निदर्शना है। दूसरे लक्षण के अनुसार क्रिया के ही द्वारा (न कि किसी वाचक से) अपने (कार्य) और अपने कारण के सम्बन्ध (हेतुहेतुमद्भाव) का कथन निदर्शना है।[673] मम्मट का प्रथम लक्षण उद्भट से प्रभावित है, तो द्वितीय भामह और वामन से। रुय्यक ने एक ही सूत्र में, उद्भट तथा मम्मट के लक्षण को समेटने का स्तुत्य प्रयास किया है। रुय्यक ने लक्षण में उद्भट के 'उपमानोपमेयत्व' शब्द को हटाकर 'गम्यमान प्रतिबिम्बकरण' पद का सन्निवेश कर दिया है। यही उनकी उद्भट से विशेषता[674]

है और कुछ नहीं। परवर्ती आचार्यों में, विद्याधर, विद्यानाथ, आदि रुय्यक के ही समान लक्षण करते हैं। विश्वनाथ आदि तो शब्दशः रुय्यक लक्षण को ग्रहण कर लेते हैं।[675] दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा प्रकरण में कहा जा चुका है कि हेमचन्द्र 'निदर्शन' अलंकार से ही प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना तीनों अलंकारों को गतार्थ करते हैं।[676] वाग्भट प्रथम का लक्षण यद्यपि संभवद्वस्तु निदर्शना का है, उदाहरण भी उसी का है, किन्तु नाम अलंकार का दृष्टान्त है।[677] वाग्भट द्वितीय भी निदर्शन अलंकार का विवेचन करते हैं, किन्तु वह भी दृष्टान्त से व्यतिरिक्त नहीं हैं।[678] जयदेव के अनुसार दो सदृश वाक्यार्थों का ऐक्य आरोप निदर्शना है।[679] अप्पयदीक्षित ने जयदेव के प्रथम लक्षण के अतिरिक्त पदार्थवृत्ति निदर्शना तथा दंडी प्रोक्त निदर्शना[680] को भी प्रस्तुत किया है। दीक्षित का अनुगमन, देवशंकर ने भी किया है।[681] जगन्नाथ के अनुसार वर्ण्यमान दो अर्थों (वाक्यार्थ-पदार्थ रूप) का औपम्य पर्यवसायी आर्थ अभेद निदर्शना अलंकार है।[682] अच्युतराय का लक्षण जगन्नाथ के ही समान है, किन्तु उन्होंने दंडी और दीक्षित की सदसत् निदर्शना का भी उल्लेख किया है।[683] ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि उद्भट, मम्मट प्रतिपादित निदर्शना ही प्रायः आचार्यों को मान्य हुई है। जगन्नाथ मम्मट प्रतिपादित प्रथम निदर्शना को ही मानते हैं।

**भेद**

सर्वप्रथम उद्भट ने ही निदर्शना के भेदों का भी निदर्शन किया है। उन्होंने, असंभवद्वस्तुसम्बन्ध तथा संभवद्वस्तु सम्बन्ध दो भेदों का संकेत किया है।[684] उद्भट के प्रथम उदाहरण की व्याख्या में इन्दुराज ने लिखा है, कि द्वितीय निदर्शना का उदाहरण उद्भट के ग्रन्थ में अनुपलब्ध है।[685] इसके लिये वह भामह के उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं।[686] इससे प्रतीत होता है कि इन्दुराज तक वाक्यार्थ निदर्शना का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। सर्वप्रथम मम्मट ने प्रथम निदर्शना के दो भेद वाक्यार्थ और पदार्थ निदर्शना का विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार निदर्शना के तीन भेद होते हैं। इन तीन भेदों के अतिरिक्त वह 'माला' निदर्शना भी मानते हैं।[687] रुय्यक इन तीन भेदों के अतिरिक्त 'शृंखला' निदर्शना का भी उल्लेख करते हैं, 'माला' उन्हें मान्य है।[688] रुय्यक का यह भी कथन है कि प्राचीन आचार्य असंभवद्वस्तुसम्बन्ध निदर्शना का प्रतिपादन उपमेय में उपमान धर्म के अनुपपन्न (असंभव या बाधित) होने पर करते हैं, परन्तु यह उपमान में भी उपमेय वृत्ति के असंभव होने पर हो सकती है। रुय्यक के इस कथन का अनुमोदन

एकावलीकार भी करते हैं।[689] उनके अनुसार संभवद्वस्तु सम्बन्ध निदर्शना में तो औपम्य ही नहीं पाया जाता।[690] नरेन्द्रप्रभसूरि, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, विश्वेश्वर, आदि सभी आलंकारिक निदर्शना के तीनों भेदों को स्वीकार करते हैं। विश्वनाथ पदार्थगत निदर्शना को एक वाक्यगा तथा वाक्यार्थ निदर्शना को अनेकवाक्यगा कहते हैं।[691] जगन्नाथ असंभवद्वस्तु निदर्शना के ही भेद स्वीकारते हैं।[692] विश्वेश्वर तो मम्मट के ही अनुयायी हैं। जयरथ धर्म के अनुगामी, बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव तीन भेद भी मानते हैं।[693]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि निदर्शना के तीन भेद प्रायः आलंकारिकों को मान्य हैं, पदार्थनिदर्शना, वाक्यार्थ निदर्शना और संभवद्वस्तु निदर्शना। प्राचीन आचार्य अन्तिम निदर्शना का ही उल्लेख करते हैं। मम्मट आदि तीनों को मानते हैं। शोभाकर तथा नव्य आलंकारिक अन्तिम निदर्शना को नहीं मानते। वाक्यार्थ निदर्शना का उदाहरण :

**क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषयामतिः।**
**तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।।**—का.प्र., पृ. 614; सा.द., पृ. 523

(कहां सूर्यप्रभव वंश और कहां मेरी स्वल्पविषयक मति। मैं छोटी नौका (डोंगी) से समुद्र पार कर जाना चाहता हूँ।) यहां सूर्य-वंश के वर्णन में 'मैं सागर तैर जाना चाहता हूँ' यह सम्बन्ध अनुपपन्न है। इस अनुपपन्न अर्थ का पर्यवसान उपमा में होता है—मेरी अल्पमति से सूर्य वंश का वर्णन डोंगी से सागर तैर जाने के समान है।[694] इसमें दो वाक्यार्थ हैं—अल्पमति से सूर्यवंश का वर्णन और डोंगी से सागर संस्तरण। ये दोनों वाक्यार्थ ही उपमा के आक्षेपक हैं। अतएव यह वाक्यार्थ निदर्शना का उदाहरण है। जगन्नाथ यहां आर्थी निदर्शना स्वीकारते हैं।[695] पदार्थ निदर्शना :

**'पाणौ कृतः पाणिरिलासुतायाः सस्वेदकम्पो रघुनन्दनेन।**
**हिमाम्बुमन्दानिलविह्वलस्य प्रभातपद्मस्य बभार शोभाम्।।'**
—र.गं., पृ. 341

(सस्वेदकम्पित इलापुत्री के हाथ को अपने हाथ में थामे हुए रघुनन्दन शीतल मन्द वायु से विह्वल प्रभातकालीन कमल की शोभा को धारण किये।)

पद्म की लीला को रघुनन्दन कैसे धारण कर सकते हैं, क्योंकि दूसरे की लीला का धारण दूसरे से असंभव है। अतएव यह अनुपपन्न अर्थ उपमा में पर्यवसित होता है—इलासुता का हाथ ग्रहण किये हुए रघुनन्दन ने शीतल मन्द अनिल से

कम्पित प्रभातकालीन कमल की शोभा के समान शोभा को धारण किया। पूरे कथन का एक ही वाक्य है, अतएव यह पदार्थनिदर्शना का उदाहरण है। संभवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना :

**चूडामणिपदेधत्ते योऽम्बरे रविमागतम्।**
**सतां कार्यातिथेयीति बोधयन्गृहमेधिनाम्।।**

—अ.स., पृ. 92; कु., पृ. 64; र.गं., पृ. 345

(अभ्यागतों का सत्कार करना चाहिये, ऐसा गृहस्थों को बताते हुए जो उदयाचल, आकाश में आये हुए सूर्य को अपने सिर पर धारण करता है।) यहां पदार्थों का सम्बन्ध बाधित नहीं है। अतः संभव दो वस्तुओं का सम्बन्ध औपम्य में पर्यवसित होता है—जिस प्रकार समागत सूर्य को सिर पर धारण कर उदयाचल उसका सम्मान करता है, उसी प्रकार गृहस्थ को भी गृहागत सत्पुरुष का सत्कार करना चाहिये।[696] इसलिये बोधन-सम्बन्ध संभाव्य होने के कारण यह संभवद्वस्तु निदर्शना का उदाहरण है। भामह, दंडी तथा वामन की निदर्शना इसी कोटि में आती है। शोभाकर के अनुसार उक्त उदाहरण में सदर्थ (संभवद्वस्तु) निदर्शना न होकर स्मरण अलंकार है। उनका अभिमत है कि यद्यपि 'बोधयन्' पद में णिच् का समर्थाचरण अर्थ में प्रयोग होने से यहां संभवत्सम्बन्धमूल आर्थ औपम्य प्रतीत होता है, तथापि पूर्वानुभूत अतिथि सपर्या आदि का स्मरण होने से यहां आर्थ स्मरण अलंकार है।[697]

शोभाकर का यह मत अनुपयुक्त है। 'मेरी ही तरह गृहस्थों को अतिथि सेवा करनी चाहिये' इस प्रकार का उपदेश स्मृतिरूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सूर्य का दर्शन गृहस्थ के लिये स्मृति का जनक नहीं है। सदृश वस्तु के दर्शन से तत्सदृश पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण ही स्मरण अलंकार है। सूर्य-दर्शन अतिथि की स्मृति का जनक नहीं है, यहां साम्य भी नहीं है। अतएव स्मरण अलंकार की कल्पना तुच्छ प्रायः है। जगन्नाथ आदि आलंकारिक उपर्युक्त श्लोक में गम्योत्प्रेक्षा मानकर निदर्शना के तृतीय भेद को अनावश्यक मानते हैं।[698] प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में संभावना या उत्प्रेक्षा आवश्यक है। उसका अभाव होने से यहां उत्प्रेक्षा मानना असंगत है।

निदर्शना के विषय में जगन्नाथ का अन्य आचार्यों से मतभेद है। रुय्यक का असंभवद्वस्तु वाक्यार्थ निदर्शना का उदाहरण :

**त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।**
**इदं श्रीखंडलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः।।** —अ.स., पृ. 93 तथा र.गं., पृ. 32

(जो रत्नरूप तुम्हारे चरणनखों में आलता का लगाना है, वह चन्दन-लेप से चन्द्रमा का धवल करना है।)

नखों का अलक्तमार्जन और चन्द्रमा का पाण्डुरीकरण दो भिन्न वस्तुएं हैं। इनका सम्बन्ध सम्भव न होने पर भी औपम्य में पर्यवसान होने से सम्बन्ध हो जाता है। प्रतिबिम्बभाव (औपम्य) वाक्यार्थ से आक्षिप्त है, अतएव यह संभवद्वस्तु वाक्यार्थ निदर्शना का उदाहरण है।[699] रुय्यक के इस उदाहरण में शोभाकर रूपक स्वीकारते हैं। उनका कथन है कि यहां प्रकृत वाक्यार्थ अलक्तकमार्जन पर अप्रकृत वाक्यार्थ पाण्डुरीकरण का आरोप किया गया है। अतएव यह उदाहरण वाक्यार्थ रूपक का है, निदर्शना का नहीं। यदि ऐसा नहीं मानते तो 'मुखं चन्द्रः' में भी निदर्शना स्वीकारना होगा, क्योंकि मुख और चन्द्र का भी सम्बन्ध असंभव है और इस प्रकार रूपक का ही उच्छेद हो जायेगा। उनका यह भी कथन है कि श्रौतार्थ सामानाधिकरण्य के बिना ही जहां सम्बन्ध विघटन होता है, वहां निदर्शना होती है, उसके अभाव में रूपक तथा, आर्थ औपम्य में सम्बन्ध विघटन होने पर अतिशयोक्ति (असम्बन्धे सम्बन्ध रूपा) होती है, इसलिये भी यहां निदर्शना नहीं है। क्योंकि आर्थ अभेद (समानाधिकरण) न होकर श्रौत है।[700] जगन्नाथ भी रुय्यक के इस उदाहरण में वाक्यार्थरूपक ही स्वीकारते हैं। शोभाकर की भांति उनका भी यही कथन है कि रूपक का जीवातु श्रौत अभेदारोप है तथा निदर्शना का आर्थ अभेद है।[701] इसी परिसर में उन्होंने रुय्यक और जयदेव तथा अप्पयदीक्षित के लक्षण को भी दुष्ट स्वीकार किया है।[702] जगन्नाथ रुय्यक के उदाहरण को परिवर्तित कर उसमें निदर्शना मानने को तत्पर हैं।

**त्वत्पादनखरत्नानि यो रंजयति यावकैः।**
**इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि सः।।** –र.गं., पृ. 344

वस्तुतः शोभाकर और जगन्नाथ का उक्त मत समीचीन नहीं है। रूपक लोकप्रसिद्ध उपमान और उपमेय के अभेद सम्बन्ध में होता है, जबकि निदर्शना में प्रतीयमान अभेद सम्बन्ध की अनुपपत्ति से अभेद प्रतीति होती है। रूपक में लक्षणाजन्य अभेद होता है, निदर्शना में अनुपपत्तिजन्य। इसीलिये नागेश ने जगन्नाथ का विरोध किया है।[703] ध्यातव्य है कि दृष्टान्त में भी दो वाक्य होते हैं, किन्तु वे दोनों निरपेक्ष होते हैं, जबकि निदर्शना में सापेक्ष।[704] अप्पयदीक्षित और जगन्नाथ ने वाक्यार्थनिदर्शना तथा पदार्थनिदर्शना का भेद स्पष्ट किया है। विशिष्ट दो धर्मों का बिम्बप्रतिबिम्बभाव (ऐक्यारोप) वाक्यार्थ निदर्शना है और उपमान उपमेय में से किसी एक के धर्म का

अन्य पर आरोप—पदार्थनिदर्शना।[705] जयदेव पदार्थ निदर्शना को ललितोपमा कहते हैं।[706]

**ललित अलंकार का अन्तर्भाव**

अप्पयदीक्षित ने एक ललित अलंकार का विवेचन किया है। वर्ण्य-विषय की उपस्थित होने पर उसका वर्णन न करके, उसके प्रतिबिम्बभूत अन्य (अप्रस्तुत) का वर्णन ललित अलंकार है।[707] अप्पयदीक्षित ने इसे अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, निदर्शना, अतिशयोक्ति सभी अलंकारों से व्यतिरिक्त सिद्ध किया है। ललित में व्यवहार प्रस्तुतधर्मी से सम्बद्ध होता है, जबकि अप्रस्तुतप्रशंसा में वर्णित व्यवहार केवल अप्रस्तुत से सम्बद्ध रहता है। समासोक्ति में प्रस्तुत वृत्तान्त से अप्रस्तुत की व्यंजना होती है। यहां उसका अभाव होने से यह समासोक्ति से भी गतार्थ नहीं हो सकता। निदर्शना शब्दोपात्त प्रस्तुत-अप्रस्तुत वृत्तान्त के ऐक्य समारोप में होती है, अतएव इसे निदर्शना भी नहीं कह सकते। यहां अप्रस्तुत वृत्तान्त तो शब्दोपात्त रहता है, किन्तु प्रस्तुत वृत्तान्त नहीं। 'भेदेऽभेद' रूपा अतिशयोक्ति भी यहां अव्याप्त है, क्योंकि अतिशयोक्ति में पदार्थ से पदार्थ का अध्यवसान होता है और यहां व्यवहार से व्यवहार का।[708] अतएव 'सर्वालंकारविलक्षणमिदं ललितम्''—कु. पृ.149, बाद में इस अलंकार का विवेचन भट्ट देवशंकर पुरोहित जगन्नाथ, यद्यपि उन्हें इसकी सत्ता अमान्य है, अच्युतराय आदि भी करते हैं।[709] दीक्षित के अनुसार पूर्वोक्त निदर्शना के उदाहरण 'क्व सूर्यप्रभवो वंशः' इत्यादि में निदर्शना न होकर ललित अलंकार है। 'स्वल्पमति से मैं सूर्यवंश के वर्णन की इच्छा कर रहा हूँ' इस प्रस्तुत वृत्तान्त को न कहकर उसके प्रतिबिम्बभूत 'उडुप से सागर तैरना चाहता हूँ' इस अप्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन होने से यहां ललित अलंकार है। इसी प्रकार वे नैषध के 8/25 श्लोक 'अनायिदेशः कतमस्त्वयाद्य'[710] इत्यादि में 'तुमने किस देश को परित्यक्त किया है' इस प्रस्तुत का वर्णन न करके तत्प्रतिबिम्बभूत अप्रस्तुत 'किस देश को बसन्तमुक्त दशा को प्राप्त कराये हो' का कथन होने से ललित है।[711] वस्तुतः प्रथम उदाहरण में निदर्शना ही है, मम्मट आदि मानते हैं। द्वितीय में पर्यायोक्ति।

ललित निदर्शना से व्यतिरिक्त अलंकार नहीं है। अलंकार प्रायः श्रौत-आर्थ दो प्रकार के होते हैं। श्रौत अलंकारों से आर्थ अलंकार पृथक् नहीं माने जाते, अपितु एकभेद माने जाते हैं, क्योंकि वे उसी अलंकार के सामान्य लक्षण के अन्तर्गत आते हैं। दो व्यवहार वाले दो धर्मियों के अभेद के प्रतिपादन से आक्षिप्त होने वाला दो व्यवहारों का अभेद ही वाक्यार्थ निदर्शना का स्वरूप है। दो व्यवहारवाले धर्मियों

के अभेद का प्रतिपादन श्रौत ही हो, यह कोई नियत नहीं है। किसी तरह का भी प्रतिपादन हो सकता है। 'परद्रव्यं हरन् मर्त्यो गिलति क्ष्वेडसंचयम्' में जिस प्रकार दो व्यवहार वाले धर्मियों का श्रौत अभेद प्रतिपादन होने से निदर्शना होती है, उसी प्रकार 'धिक्परत्वं तथाप्येष गिलति क्ष्वेडसंचयम्' में भी आर्थ प्रस्तुत व्यवहार वाले और श्रौत अप्रस्तुत व्यवहार वाले धर्मियों का आर्थ-अभेद प्रतिपादन होने से, वाक्यार्थ निदर्शना मानने में कोई क्षति नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि प्रथम उक्ति में श्रौत वाक्यार्थ निदर्शना है, तो द्वितीय में आर्थ। इस प्रकार यदि ऐसे स्वल्प भेदों को लेकर पृथक् अलंकार मानने लगेंगे तब तो उपमा के भेद लुप्तोपमा आदि को भी स्वतंत्र अलंकार मानना पड़ेगा। जहां दो भेदों में एक ही अलंकार का सामान्य स्वरूप घटित हो, वहां एक ही अलंकार मानना उचित है। निदर्शना और ललित के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। अतएव ललित निदर्शना से भिन्न अलंकार नहीं है। 'क्वसूर्यप्रभवोवंशः' इत्यादि में श्लोक के पूर्वार्द्ध कथन द्वारा अपनी बुद्धि और सूर्योत्पन्न वंश की अत्यन्त अननुरूपता का प्रतिपादन करने के पश्चात् छोटी नौका से समुद्रतरण की इच्छा रूप अप्रस्तुत वर्णन से प्रस्तुत स्वल्प बुद्धि से सूर्योत्पन्न वंश के वर्णन की इच्छा की प्रतीति होने से आर्थी निदर्शना ही है, ललित नहीं।

यदि किसी बात को सीधे न कहकर प्रकारान्तर से व्यक्त किया जाता है, तो उसे पर्यायोक्त अलंकार कहते हैं। अतएव दीक्षित-प्रोक्त 'अनायिदेशः' इत्यादि ललित के उदाहरण में पर्यायोक्त ही है, ललित नहीं। जगन्नाथ के अनुसार तो इस उदाहरण में दीक्षितोक्त ललित का लक्षण भी नहीं घटित होता। अतएव निदर्शना से व्यतिरिक्त ललित की स्वतंत्र स्थिति अमान्य है :[712]

**'ललितस्य निदर्शनातः पृथगलंकारत्वं मनोरथललितमेव'**

—र.गं., पृ. 502

## संदर्भ

1. सं.प्र., पृ. 279; अ.स. तथा सं., पृ. 44; एका., पृ. 212; रत्नपण, पृ. 269.
2. सा.द., टिप्पण, पृ. 492, काव्यादर्श संकेत, पृ. 268.
3. गजेन्द्रगडकर, का.प्र. नोट्स, पृ. 285.
4. ऋ., 5/42/2.
5. वही, 10/85/11.
6. शु.य., 23/45/84.
7. ऋ., 10/85/71.
8. वही, 3/54/53.

9. वही, 5/4/41.
10. यह मंत्र इसी रूप में मुण्डक 3/1 उपनिषद् तथा कुछ परिवर्तन के साथ भागवत पुराण में भी समुपलब्ध होता है—
'सुपर्णावितौ सदृशौ सखायौ बृहच्छृत्यै तौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः स्वादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूमान्।। —भा.पु., 1/11/6
11. दे., ऋ., 7/63/4, 1/164/21 आदि
12. अभ्रिर्हृर्येषा ……… अभ्रिर्योषा नारी, नवैयोषं कंचन हिनस्ति। -श.प. 3/1/39 तथा वही, 14/4/26 में भी रूपक है।
13. दे., मै.आ. तथा उपनिषद् 6/6 तथा-
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।। —कठो., 1/3/3.
इन्द्रियाणि हयान्याहुः विषयास्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।। वही, 1/3/4.
14. धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्दधीत।
आयम्य तद्भागवतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोमं विद्धि।।
—मुण्डक, 2/2/3 तथा कठ. 2/3/1, 1/3/9.
15. रूपकशब्दस्यान्वार्थाख्यापकमेतत्।। —अ.भा., पृ. 356.
16. नानाद्रव्यानुषङ्गाद्यैर्यदौपम्यगुणाश्रयम्।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमितिस्मृतम्।।
स्वविकल्पैर्विरचितं तुल्यावयवलक्षणम्।
किंचित्सादृश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत्।। —ना.शा., 16/57-8.
17. उपमानेन तुल्यत्वमुपमेयस्य रूपकम्। —वि.धर्मो., 14/4.
18. उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य रुप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः।। —काव्या., 2/21.
19. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।। —काव्यादर्श, 2/66.
20. श्रुत्या सम्बन्धविरहात् यत्पदेन पदान्तरम्।
गुणवृत्ति प्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्।। —का.सा.सं., 1/21.
21. दे., का.सू. वृ., 4/3/6.
22. यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा।
अविवक्षितसामान्य कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम्।। —काव्या., 8/38.
23. यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात्।
उपमेये भवेद्वृत्तिस्तदा तद्रूपकं विदुः।। —स.कं., 4/24 तथा शृं.प्र.
24. डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा, वही, पृ. 277.
25. बीजं तु तत्रातिसाम्यम् —प्र., पृ. 326.
26. तेनाभेदप्रतीतेराहार्यत्वलाभः —सु.सा., पृ. 577.

कात्पनिकोऽभेदारोपो रूपकनामालंकारः इति भावः —बा.बो., पृ. 593.

27. (क) अभेदारोप एव रूपकमिति काव्यप्रदीपः ……… अन्येतु ताद्रूप्यमेवरूपकमित्याहुः —अ.कौ., पृ. 206.

(ख) ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरारोपस्तदभेद प्रतिपत्तिरध्यवसायः। इति तयोर्भेदः इति चेत् न। वैपरीत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्। —चि.मी., पृ. 163.

28. अभेदप्राधान्य आरोप आरोपविषयानपह्नवे रूपकम्। —अ.स. 15.

29. आरोपो रूपकम्। —अ.र., 26.

30. अ.पु., 343/2; अ.महो., 8/18; सादृश्येऽभेदेनारोपो रूपकमेकानेकविषयम्। काव्यानु., 5/5; वाग्भटालंकार, 4/64; सादृश्येनाभेदारोपो रूपकम्—काव्यानु. पृ. 35; अ.चि., 4/104; चन्द्रा. 5/18; एका. पृ. 212; प्र.रु., पृ. 268; सा.द. 10/40; अ.सं. 5/22; अ.शे., पृ. 35; कु. 17; चि.मी., पृ. 171; अ.कौ., 8/239; अ.मं. 10; सा.सा. (सर्वेश्वर), 2/110; अ.चं. 28; सा.बि. 5/9; अ.प्र. 11; अ.कौ. (विश्वेश्वर), पृ. 202; नं.य. पृ. 171.

31. तु., सा.सा. 8/96.

32. आरोपोऽन्यत्रान्यावापः —अ.स., पृ. 44.

33. भिन्नयोः सामानाधिकरण्य निर्देश आरोपः। नत्वन्यत्रान्यारोप आरोपः। न ह्यर्थेऽर्थान्तरं वस्तुत आरोप्यते। ……… नापि शब्दे शब्दान्तरारोपः। अ.र., पृ. 32.

34. (क) इस विषय में इन्दुराज ने आलंकारिकों के मतों को उपस्थित करने का प्रयास किया है—अत्र केचिच्छब्दारोपपूर्वकमर्थारोपं ब्रुवते, अपरे विपर्ययम्, अन्ये यौगपद्येनोभयम्। एषएव च युक्तः पक्षः। ल.वृ., पृ. 10 तथा तु.वि., पृ. 8, काव्यानु. (हे.चं.) पृ. 350.

(ख) '……… न शब्दे शब्दान्तरारोपः। मुखशब्दादेश्चन्द्रशब्दादिरूपत्वेनाप्रतीतेरन्योन्य विविक्तस्वविश्रान्तरूपोपलम्भात्। किन्त्वर्थेऽर्थान्तरारोपः। स च प्रयोजनपरतया तथा निर्देश्यते न भ्रान्त्या। —वि., पृ. 36.

35. दे., वि., पृ. 36-37.

36. प्रतिपादनभ्रमोऽयं न भ्रान्ता प्रतिपत्तिः —अ.र., पृ. 32.

37. दे., र.गं., पृ. 224-25.

38. वही, अ.र., पृ. 37.

39. '……… आर्थ सामानाधिकरण्यमस्तीति नाव्याप्तिरिति चेन्न। भिन्नयोः, सामानाधिकरण्येननिर्देशो ह्यारोपलक्षणम्। न च तदत्र निर्दिष्टम्। —वि., पृ. 36.

40. न चारोपः भिन्नयोः सामानाधिकरण्येन निर्देश उच्यत, इत्यसंभवो —वि., वही।

41. दंडी का रूपकलक्षण देखिये।

42. इहान्ये सादृश्यनिमित्त एवारोपो रूपकं न सम्बन्धान्तरनिमित्तकोऽपि तेन सम्बन्धान्तरपूर्वक आरापो वैचित्र्यमात्रं न त्वलंकारः कश्चिदिति मन्यन्ते। यत्पठन्ति च 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते' इत्यादि तन्न। —अ.र., पृ. 32

43. दे., वि., पृ. 35-36.
44. सादृश्यग्रहणं कार्यकारणभावादिनिमित्तान्तर व्युदासार्थम्। —काव्यानु., पृ. 350.
45. दे., चि.मी., पृ. 170-71.
46. 'किं च सादृश्यमूलकं स्मरणं स्मरणालंकारः, न तु चिन्तादिमूलम्' इति भवतैवपूर्वमुदितम्। तत्र यदि सादृश्यामूलकस्यापि कार्यकारणादिकयोः कल्पितस्य ताद्रूप्यस्य रूपकत्वमभ्युपेयते तदा सादृश्यामूलकस्य चिन्तादिमूलस्य स्मरणस्याप्यलंकारत्वमभ्युपेयताम्। —र.गं., पृ. 225-26, नव्यास्तुनामार्थयोरभेदसंसर्गेणान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वाच्चन्द्राभिन्नं मुखमिति लक्षणां विनैव भेदः —वही, पृ. 240.
47. 'अलंकार भाष्य' ग्रन्थसमुपलब्ध नहीं है। यह लक्षण जयरथ की वि., पृ. 35 तथा र.गं., पृ. 239 पर उद्धृत है।
48. इह हि द्विविधा लक्षणा। प्रयोजनरहिता रूढा तद्युता च कार्या? तत्र रूढायां प्रयोजनरूपव्यंग्यार्थाभावादभिधा। वैचित्र्यचारुताविरहान्न सहृदयहृदयाह्लादकारितया रसपरिपोषकत्वमिति नालंकारता। कार्या पुनस्तद्वैलक्षण्येन काव्यजीवितायमाना सर्वथा कविभिरादरणीयेति। ......... न च तस्याः सादृश्ये सम्बन्धान्तरे वा कश्चिद्विशेषः यत्रैकत्रालंकारतापर त्रतदभाव इति स्यात्। —अ.र., पृ. 32-33.
49. दे., भोज का रूपक लक्षण।
50. यत्तु सरस्वती कंठाभरणोक्तं लक्षणम् ......... तदप्यतिशयोक्तावतिव्याप्तम्। वस्तुतस्त्वतिशयोक्तावेव लक्षणा। ......... रूपके विषयविषयिणोः स्ववाचकाभिहितयोरभेद प्रतिपत्तिः संसर्गमर्यादयैव संभवतीति किमर्थंतत्र लक्षणा ......... इति लक्षणस्यासंभवोऽपि दोषः। —चि.मी., पृ. 166-67.
51. यत्तु 'आयुर्घृतम्' इत्यादौ विच्छित्तिविशेषादर्शनाच्छुद्धसारोपलक्षणास्थले न कश्चिदलंकार इति। तदयुक्तम् 'गौर्बाहीकः' इत्यादौ विच्छित्तिविशेषादर्शनेन गौणसारोपलक्षणा स्थलेऽप्यलंकारत्वाभावप्रसङ्गात्। क्वचिद्वैचित्र्यादर्शनेऽप्यन्यत्र वैचित्र्यवति स्थलेऽलंकारत्वम्। —वही, 169-70.
52. दे., चि.मी., पृ. 170-1.
53. वही, र.गं., पृ. 147-55 तथा पृ. 240-42.
54. अथवा गौणसारोपलक्षणामूलव्यंग्यरूपोऽभेदारोप एव रूपकमस्तु। प्रभा, पृ. 327; तु., बा.बो., पृ. 593; अ.कौ., पृ. 202-3; तु., गजेन्द्रगडकर, का.प्र. नोट्स, पृ. 284.
55. दे., र.गं., पृ. 226-229.
56. वही, सुधा, पृ. 174-5 तथा अ.कौ. की टीका, पृ. 204-5.
57. 'यच्च तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' इत्यादि प्राचीनैरुक्तंतच्चिन्त्यम्। —र.गं., पृ. 229.
58. पद्माननास्ताः कुमुदप्रभासा विकोशनीलोत्पलचारुनेत्राः।
वापीस्त्रियो हंसकुलैः स्वनद्भिर्विरेजुरन्योन्यमिहालपन्त्यः।। —ना.शा., 16/58.

59. दे.. अ.भा., पृ. 325, ना.शा. 16/58 पर।
60. वही, भामहालंकार, 2/22.
61. काव्यादर्श, 2/66-69.
62. समस्तवस्तुविषयं मालारूपकमुच्यते। —का.सा.सं., 1/25.
63. रुद्रट, काव्यालंकार, 8/38-40.
64. सावयवं निरवयवं संकीर्ण चेति भिद्यते भूयः।
द्वयमपि पुनर्द्विधैतत्समस्तविषयैकदेशितया।। —काव्यालं., 8/41.
65. दे., वही, 8/42-56.
66. सैषा रूपकभेदानां विंशतिश्चतुरुत्तरा।। —स.कं., 4/25-33.
67. दे., डॉ. भोलाशंकर व्यास—भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालंकार, पृ. 171, डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, अलंकार सर्वस्व मीमांसा, पृ. 257.
68. देखिये, इन आचार्यों के ग्रन्थों का रूपक प्रकरण—का.प्र. 10/93-95, अ.स., पृ. 45; अ.म., 8/19-21; एकावली, पृ. 213; प्र.रु., पृ. 269; सा.द., 10/28/33; चि.मी., पृ. 176; अ.कौ., 8/239-248; र.गं., पृ. 230; अ.कौ., पृ. 212-217; नं.य., पृ. 170; सा.सा., 8/97-100.
69. अन्येतु प्रत्येकं वाक्योक्त समासोक्तादभेदाः संभवन्ति, तेऽन्यतो द्रष्टव्याः। —अस., पृ. 46.
70. अ.र., पृ. 33 तथा वि., पृ. 36-37.
71. दे., अ.र., पृ. 36-37.
72. वही, अ.स., पृ. 48-49; अ.र., पृ. 35; वि., पृ. 39.
73. सालङ्कारान्तरोल्लेखं तथा रूपकरूपकम्।
वैधर्म्यव्यतिरेकाङ्कं रसनारूपकं च तत्।। —अ.म., 8/22.
74. एवं च येऽन्ये रूपकप्रभेदावर्ण्यन्ते। यथा—सहजावयवमाहार्यावयवमुभयावयमित्यादि—ते न लक्षिताः। उक्तलक्षणेनैव संगृहीत्वात्। एवंविधवैचित्र्यसहस्रसंभवाच्चातिप्रसंङ्गः स्यात्। काव्यानु., पृ. 352-3.
75. समस्तं वाऽसमस्तं वा खंडं वाऽखण्डमेव वा।। —वाग्भटालंकार, 4/64.
76. दे., काव्यानुशासन की व्याख्या, पृ. 35.
77. दे. चन्द्रा.. 5/19-21.
78. वही, प्र.रु., पृ. 73.
79. विरुद्धं च समस्तं च व्यस्तं रूपकरूपकम्।
श्लिष्टं च रूपकं तस्मात्संक्षेपात्पंचधा स्मृतम्।। —अ.शे., 3/1.
80. दे., कु. पृ. 16; तु. अ.मं., पृ. 16/17.
81. नं.य., पृ. 172.
82. सा.सा., 8/97-109.
83. परस्परसापेक्षनिष्पत्तिकानां रूपकाणां संघातः सावयम्।। —र.गं., पृ. 231.

84. समस्तवस्तुविषयं श्रोता आरोपिता यदा। —का.प्र., 10/93.
85. श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्तितत् —वही, 10/94.
86. यत्र चारोप एवारोपान्तरस्य निमित्तं तत्परम्परितम् —र.गं., पृ. 233.
87. रूपके तु न क्वचिदपि बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मविशिष्टतया विषयविषयिणो-रूपादानम्। —चि.मी., पृ. 175.
88. यदपि रूपके बिम्बप्रतिबिम्बभावो नास्तीत्युक्तं तदपि भ्रान्त्यैव। —र.गं., पृ. 227. रूपके च बिम्बप्रतिबिम्बभावो नास्ति इति केनाप्यलंकारिकंमन्येन प्रतारितस्य दीर्घश्रवस उक्तिरश्रद्धेयैव। —वही, पृ. 239.
89. नियतधर्महानावारोप्यमाणस्यातिसाम्यमभेदः —अ.र. सूत्र-27 तथा वही वृत्ति।
90. अभेदमात्र प्रतीतौ रूपकम्। नियतधर्महानावन्यतः सर्वतोऽभेदप्रतीतौ अभेदः।। —अ.र., पृ. 38.
91. अ.र., पृ. 39; तु., अ.भ., पृ. 260.
92. प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः —अ.र., सूत्र-28; नरेन्द्रप्रभ—'परिणामः स विषयो यत्र धत्तेऽन्यरूपताम्—अ.भ., 8/23; जयदेव—'परिणामोऽनयोर्यस्मिन्नभेदः पर्यवस्यति—चन्द्रा. 5/22; विद्याधर—एकावली 8/7 तथावृत्ति—यत्रारोपविषयः प्रकृतकार्य-सिद्ध्यर्थमारोप्यमाणात्मतया परिणमति तत्र यथार्थाभिधानः परिणामः' विद्यानाथ—आरोप्यमाणमारोपविषयात्मतया स्थितम्। प्रकृतस्योपयोगित्वे परिणाम उदाहृतः—प्र.रु., पृ. 273; तु.सा.द. 10/34-35; कु. कारिका 21; अ.मं. कारिका, 11; नं.य. पृ. 172; सा.सा. 8/114; जगन्नाथ—विषयीयत्र विषयात्मतयैव प्रकृते प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण स परिणामः। —र.ग., पृ. 248.
93. दे., र.गं, पृ. 249-51.
94. वही, अ.र., पृ. 39.
95. वही, चि.मी., पृ. 192-93.
96. 'तत्र रूपके प्रकृतमप्रकृतरूपापन्नं भवति परिणामे त्वप्रकृतं प्रकृतरूपापन्नं भवतीति।' —चि.मी., पृ. 203.
97. अ.कौ.।
98. यत्तु आरोप्यमाणो यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतकार्योपयोगी न स्वातन्त्र्येण स परिणामः। .......... इति दाक्षिणात्याः। तन्न। इन्दौवदनतादात्म्य प्रतीतेर्वर्णनीयमुखाद्यनुत्कर्षक-त्वेनालंकारत्वाभावात्। —उद्योत, पृ. 465; तु.—अ.कौ., पृ. 162.
99. 'सन्दिग्धे इति सन्देहः'।
100. अमरकोश सुधा, पृ. 56.
101. विचिकित्सा तु संशयः। संदेह द्वापरौ च। —अमरकोश, 1/5/3.
102. अपरिज्ञानतत्त्वार्थं यत्र वाक्यं समाप्यते।
सोऽनेकत्वाद्विचाराणां संशयः परिकीर्तितः।। —ना.शा., 16/27.
103. हेतुश्चसूक्ष्मो लेशोऽथनालंकारतया मतः।। —का., 2/86.

104. 'उपाध्यायमतं तु—लक्षणबलादलंकाराणां वैचित्र्यमागच्छति। तथाहि गुणानुवादनाम्ना लक्षणेन योगात्प्रशंसोपमा, अतिशयनाम्ना अतिशयोक्तिः, मनोरथाख्येनाप्रस्तुतप्रशंसा, मिथ्याध्यवसायेनापह्नुतिः, सिद्ध्या तुल्ययोगितेति, एवमन्यदप्युत्प्रेक्ष्यम्। लक्षणानां च परस्परवैचित्र्यादप्यनन्तो विचित्रभावः, यथा—प्रतिषेधमनोरथयोः संमेलनादाक्षेप इति।' —ना.शा., 16/40 पर अ.भा.।

105. उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्बुधाः।। —का.सा.सं., 6/2.
.......... सन्देह नाम तत्।। —वही, 6/5.

106. दे. भामहालंकार, 3/43, भामह की कारिका को ही उद्भट ने उद्धृत किया है।

107. वही, काव्यादर्श, 2/27.

108. अलंकारान्तरच्छायां यत्कृत्वा धीषु बन्धनम्।
असन्देहेऽपि सन्देहरूपं सन्देह नाम तत्।। —का.सा.सं., 6/5.

109. उपमानोपमेय संशयः ससन्देहः। —का.सू.वृ., 4/3/11 तथा वही वृत्ति भी।

110. काव्यालंकार, 8/59-61 तथा—
'यत्रपर्यन्ते निश्चयोभण्यते सोऽन्यो निश्चयान्ताख्यः' —न.सा., पृ. 111.

111. यत्रानेकत्रार्थे संदेहस्त्वेककारकत्वगतः।
स्यादेकत्वगतो वा सादृश्यात्संशयः सोऽन्यः।। —काव्यालं., 8/65.

112. औपम्याभास इति केचित्। उत्प्रेक्षैवेयमित्यन्ये। —काव्यालं., 8/66 पर नमिसाधु।

113. देखिये नमिसाधु, काव्यालंकार, 8/64 पर।

114. यस्मिन्नुत्प्रेक्षितं रूपं सन्देहमेतिवस्तुनः। उत्प्रेक्षान्तरसद्भावाद् विच्छित्यै तत् .......... ।
—व.जी., पृ. 215 तथा वही, वृत्ति, पृ. 215-16.

115. अर्थयोरतिसादृश्याद्यत्र दोलायते मनः। तमेकानेक विषयं कवयः संशयं विदुः।। स.कं., 4/41, उपमानोपमेययोः अत्यन्तसादृश्यात्सन्देहः संशयः। —शृं.प्र., 417.

116. ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः। —का.प्र., 10/92.

117. विषयस्य सन्दिह्यमानत्वे सन्देहः —अ.स.सू. 10, तस्यापि सन्दिह्यमानत्वे सन्देहः —अ.र.सू. 130, संशयः सतु सन्दिह्यमानत्वं प्रकृतस्य यत्। —अ.म., 8/16. हेमचन्द्र—स्तुत्यै संशयोक्तिः ससन्देहः —काव्यानु., 6/20; वाग्भट (1) 'इदमेतदिदं वेति साम्याद् बुद्धिर्हि संशयः —वाग्भटा. 4/78, वाग्भट (2) 'सादृश्यात्प्रतिपत्तुः संशयः ससन्देहः —काव्यानु., पृ. 39; तु.—चन्द्र. 5/31; एका. 8/8; प्र.रु., पृ. 274; सा.द. 10/35; अ.कौ. 8/238; चि.मी., पृ. 213; कु.का. 24; अ.मं.का. 13; नं.य., पृ. 173; अ.मु. 11; अ.प्र. 8; अ.कौ., पृ. 196; सा.सा. 8/1/5; सा.बि. 5/12; सादृश्यमूला भासमानविरोधका समबला नानाकोट्यवगाहिनी धी रमणीया संसदेहालंकृतिः।। —र.गं., पृ. 256.

118. अयं च क्वचिदनाहार्यः, क्वचिदाहार्यः, यत्रहि कविना परनिष्ठः संशयो निबध्यते प्रायशस्तत्रानाहार्यः। .......... यत्र च स्वगत एव तत्राहार्यः। —र.गं., पृ. 264.

119. संशयो हि अनियतोभयांशावलम्बित्वेनोदेति। —वि., पृ. 54.
पर्यायेणोभयकोट्यालम्बनतया दोलासादृश्यात्संशयः —र.गं., पृ. 260.
120. अभेद प्राधान्य आरोप इत्येव। अ.स., पृ. 55; तु.—र.गं., पृ. 258. एवमारोपमूलोऽयं संदेहालंकारः।
121. दे., काव्यालं., 8/65.
122. अत्रारोपविषयतिमिरे रागादितर्वादि भिन्नाश्रयत्वेनारोपितम्। केच्चिच्चाध्यवसायाश्रयत्वेन सन्देहप्रकारमाहुः। अन्ये तु 'नु' शब्दस्य संभावनाद्योतकत्वादुत्प्रेक्षाप्रकारमिमं आचक्षते। —अ.स., पृ. 57; तु.—अ.म., पृ. 248.
123. अनेन च सन्देहस्याध्यवसायमूलत्वमपि ग्रन्थकृतैवोक्तम्। —वि., पृ. 44.
124. एवमारोपमूलोऽयं सन्देहालंकारः। —र.गं., पृ. 258; बा.बो., पृ. 592.
125. अत्र तन्वीलक्षणविषयानुपादाने विषयिण मंजयदिरध्यवसायगर्भ सन्देहः —अ.र., पृ. 44.
126. डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा, सं.सा.अ.वि., पृ. 343.
127. एतेनाध्यवसानमूलतां संशयस्य निरूपयता विमर्शिणीकारस्योक्तिरपास्ता। —र.गं., पृ. 259.
नोटः आचार्य विश्वेश्वर जगन्नाथ के मत का खंडन करते हुए जयरथ का समर्थन करते हैं। दे., अ.कौ. की टीका, पृ. 202.
128. डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, अ.मी., पृ. 272.
129. दे., का.प्र., पृ. 589-90.
130. अ.र., पृ. 43-44. अत्रातिशयोक्तिगर्भीकारेणानिर्णयान्तः। —काव्यानु., पृ. 387, एतेन यदुक्तं रसगंगाधरे—एतेनाध्यवसानमूलता संशयस्य निरूपयतो निमर्शिणीकारस्योक्तिरपास्ता, इति तदपास्तम्। —अ.कौ., पृ. 202.
131. भामह 3/44 तथा भट्टि. 10/68.
132. निश्चयगर्भ इव नात्र निश्चयः प्रतीयमानः इत्युपेक्षितो भट्टोद्भटेन। का.प्र., पृ. 591; तु.—प्रदीप, पृ. 325-26, बा.बो., पृ. 591.
133. का.सू. वृ., पृ. 134.
134. शुद्धोयत्र संशय एव पर्यवसानम्। —अ.स., पृ. 55.
135. निश्चयगर्भो यः संशयोपक्रमोनिश्चयमध्यः संशयान्तः —अ.स., पृ. 56.
136. निश्चयान्तो यत्र संशयोपक्रमो निश्चये पर्यवसानम् —अ.स., वही।
137. दे., अ.र., पृ. 43.
138. तेनाध्यवसायाश्रयोऽयं स्वरूपहेतुफलानां सन्दिह्यमानत्वेन त्रिधा भवति —वि.प्र., 44.
139. दे., वही, पृ. 44.
140. स्थाणुर्वा पुरुषोवेति न स्वारसिकः संदेहोऽलंकारोऽपि तु कविप्रतिभोत्थापितः। तेन साधर्म्यं विहायापि निमित्तान्तरमवलम्ब्य कविप्रतिभोत्थापितः संदेहोऽलंकार एव। अ.र., पृ. 45.
141. इसीलिये, विद्यानाथ, जगन्नाथ, आदि लक्षण में सादृश्य का विन्यास करते हैं।

142. स च केवलो निर्णयान्तश्च। —काव्यानु., पृ. 39 तथा टीका।
143. एतेन निश्चयान्तोऽयं न भवति। 'कृष्णः किमेष' इति 'किं' शब्दो निश्चयं वाधते। —अ.कौ., पृ. 291.
144. दे., वि., पृ. 43 तथा र.गं., पृ. 163-64.
145. दे., र.गं., पृ0. 260.
146. सादृश्यनिमित्तत्वेनैवास्य संग्रहसिद्धेः। विप्रतिपत्त्यादिनिमित्तान्तरवच्चारुत्वाभावाच्च। —वि., पृ. 43.
147. डॉ. भोलाशंकर व्यास, भा.सा. काव्या., पृ. 205.
148. ऊहो वितर्कः सन्देहनिर्णयान्तरधिष्ठितः। द्विधासौ निर्णयान्तश्चानिर्णयान्तश्च कथ्यते।। —स.कं., 3/39, सन्देह निर्णयान्तरालवर्त्यूहो वितर्कः —शृं.प्र., पृ. 402.
149. तत्त्वानुपात्यतत्त्वानुपाती यश्चोभयात्मकः।
सनिर्णयान्त इतरो मिथ्यामिथ्योभयात्मकः।। —वही, 3/40; दे., शृं.प्र., पृ. 402.
150. सम्भावितसम्भाव्यमानापोहो वितर्कः। —अ.र. सूत्र, 31.
151. अतएव बाधकसद्भावात्साधकबाधकप्रमाणाभावनिमित्तात्संदेहादस्य भेदः। —वही, पृ. 45.
152. दे., अ.र., पृ. 45.
153. अत्र मार्तण्डविकल्पस्य नियतसंख्याकतुरगाभावात्मकबाधकोत्पुंसितत्त्वे कृषानुविकल्पोत्पत्तौ किमयं मार्तण्डः किमयं कृषानुरिति प्रतीतिभावे संदेहासंभवादलंकारान्तरमेव। —वही, पृ. 46.
154. दे., स.कं., पृ. 370; शृं.प्र., पृ. 402.
155. वही, का.प्र., पृ. 591.
156. केचित्तु 'अस्याः सर्वविधौ' इत्यत्र वितर्कालंकारः। वितर्कश्च संशयोत्तरगनिर्णय ऊहः। तद् व्यंजकश्चनुशब्दादिः। ········· इति तन्न। वितर्ककारणत्वेन त्वयाप्यत्र संशयांगीकारेण तस्यैवालंकारत्वात्। सतोऽपि वितर्कस्य वर्णनीयोत्कर्षानाधायकत्वेनालंकारत्वाभावाच्च। सन्देहेनैव तस्या उत्कर्षसिद्धेः। उद्योत, पृ. 463-4; तु. अ.कौ., पृ. 200-201.
157. कः पुनर्वितर्कसंशयोर्विशेषः। उच्यते निर्णयासन्नो वितर्कः। वितर्कासन्नश्च संशयः। संशयानोहि वितर्कस्य कोटिमारुह्य ततो विभ्रष्टस्तत्त्वमभिनिविशते। स.क., पृ. 448.
158. सन्दिह्यमानयोरेकत्र तात्पर्येच्छा सन्देहाभासः। —अ.र. सू., 50 तथा वृत्ति।
159. कविप्रतिभोत्थापित सन्देह एव चमत्कारकारितया विच्छित्तिविशेषहेतुस्संदेहालंकारे। इह तु सन्देहाभास एव वक्रतया विच्छित्तिमानितिततोऽस्य भेदः। —अ.र., पृ. 89.
160. दे., वही, पृ. 88-89.
161. अत्र वाच्यः संशयः, व्यंग्यस्तु शान्तशृंगार्यन्यतरगतनिश्चयः। —बा.बो., पृ. 241.
162. विकल्पालंकारः पूर्वैरकृतं विवेकोऽत्र दर्शितः। —अ.स., पृ. 184.

163. एतेन विधिनिषेधयोर्विकल्पविषयोऽपि व्याख्यातः। —स.कं., पृ. 344.
164. तुल्यबल विरोधो विकल्पः। —अ.स.सू. 64 तथा वृत्ति।
165. अ.म. 8/59, चन्द्रा. 5/96, एका. 8/56, प्र.रु., पृ. 328, सा.द. 10/83, कु.का. 114, अ.मं.का. 86, सा.सा. 8/257.
166. अ.स., पृ. 183; स.बं., पृ. 178; र.गं., पृ. 487, यत्रैवौपम्यगर्भितत्त्वं तत्रैवायमलंकारो नान्यथा। —वि., पृ. 158.
167. अत्रापि विकल्पः कश्चिन्मते तदयुक्तम्। अ. महोदधि, पृ. 303.
168. वस्तुतस्तु 'सकलकलंपुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव, इत्यादाविवात्रापि श्लेषमूलोपमैवालंकारः। तनुर्वेति तनुरिवेत्यर्थः। 'वास्याद्विकल्पोपमयोः' इति वा शब्दस्येवार्थत्वाभिधानात्। —र.गं., पृ. 488.
169. '.........इत्यत्र विकल्पालंकारः पृथगेव।.........इति।तन्न।वर्णनीयोत्कर्षानाधायकत्वे-नैतस्यालंकारत्वे मानाभावात्। ......... तादृशौपम्यस्याचारुत्वाच्च। अन्ये त्वयमपि सन्देह एव, व्यंग्यस्तु निश्चयो 'मात्सर्यमुत्सार्येतिवत्'। —उद्योत, पृ. 464; तु. —अ.कौ., पृ. 200-201.
170. विकल्पितयोर्विकल्पाभासः। —अ.र., सू. 51.
171. इहतुल्यप्रयोजनयोरितरपरिहारेणैकेनैव कार्यसम्पत्तौ युगपदनुप्रवेशाभावेन तुल्य बलत्वेन च विरुद्धयोर्विकल्पः। यत्र तु तुल्यप्रयोजनत्वं नास्ति तत्र विकल्पो विधीयमानो बाधितत्वाद्विशेषप्रतीत्यर्थं विकल्पवदवभासभानो विकल्पाभासः।। —अ.र., पृ. 89.
172. दे., वही, पृ. 89-90.
173. भ्रम्यते चित्तोऽनयेति भ्रान्तिः।
174. भ्रान्तिर्मिथ्यामतिर्भ्रमः —अ.को., 1/5/4.
175. भ्रान्तिश्चित्तधर्मो सविद्यते यस्मिन् भणिति प्रकारे सभ्रान्तिमान् —अ.स., पृ. 57; संजी., पृ. 44; संकेत, पृ. 283; एका., पृ. 265; अ.म., पृ. 248; रत्नापण, पृ. 276; बा.बो., पृ. 733; सा.चू., पृ. 395; सा.वि., पृ. 173.
176. भ्रान्तिमानित्यन्वर्थसंज्ञा विधानात् —सा.चू., पृ. 394, तु.—रत्नापण, पृ. 276.
177. सादृश्येहेतुकाऽपि भ्रान्तिर्विच्छित्त्यर्थं कविप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते —अ.स., पृ. 58, सादृश्यहेतुकाऽपि लौकिक विलक्षणैव भ्रान्तिरलंकार बीजम्। सं., पृ. 58, सादृश्येऽपि कवि प्रतिभोत्थापितस्यैवालंकारत्वं न पुनः स्वारसिकस्य, वि. पृ. 53; तु. सेवत, पृ. 283; काव्यादर्श संकेत, पृ. 330; स.प्र., पृ. 395; वही, सा.चू. भी। बा.बो., पृ. 733; चि.मी., पृ. 222; सा.द., पृ. 502 (नि.सा.); रत्नापण, पृ. 276; एका., पृ. 265; सा.बि., पृ. 173-34.
178. 'अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदन्यमेव तत्सदृशम्।
निःसन्देहं यस्मिन्प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान् स इति।। —काव्या., 8/87.
179. भ्रान्तिर्विपर्ययज्ञानम्। स.कं. 3/35. विपर्ययज्ञानं भ्रान्तिः। शृं.प्र., पृ. 404.
180. भ्रान्तिमानन्यसंवित्तुत्तुल्यदर्शने —का.प्र. 10/132 तथा वृत्ति।

181. प्राकरणिकार्थदर्शनोद्‌बुद्धसंस्कारजन्यस्मृत्युपनीताप्राकरणिकात्मतया प्राकरणिक ज्ञानं भ्रान्तिमान्। —बा.बो., पृ. 733.

182. दे., प्रदीप, प्रभा, पृ. 382 तथा सं.प्र., मा.चू., पृ. 395.

183. सादृश्यप्रयुक्ता भ्रान्तिरस्या विषयः। ……… गाढमर्मप्रहारादिकृता तु भ्रान्तिर्नास्यालंकारस्य विषयः। ……… सादृश्यहेतुकाऽपि भ्रान्तिर्विच्छित्त्यर्थं कविप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते, नस्वरसोत्थापिता शुक्तिका रजतवत्।' —अ.स., पृ. 57-58.

184. 'आरोपो हि विषयविषयिणोर्युगपदेकप्रमातृविषयीकृतत्वे भवतीति नारोपगर्भो भ्रमः क्वचिदपि संभवति। शुक्तिकादीनां शुक्तिकादिरूपतयाऽवगमे रजताभिमानाभावात्।' —वि., पृ. 44.

185. अन्यरूपतया निश्चयो भ्रान्तिमान्। —अ.र., सूत्र 33 तथा वृत्ति।

186. ……… सादृश्यनिमित्तं विना भावावसायशोकादिनिमित्तभेदेऽपि नालंकारान्तरबुद्धिः कार्या। ……… यदि च सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान् इत्यव्यापकं लक्षणं तर्हि व्यापकं लक्षणान्तरं विधेयम्। —अ.र., पृ. 53.

187. अत्र गाढानुरागानुभवहेतुकं तन्मयतानुसन्धानं प्रासादादेर्वल्लमारूपत्वेन प्रतीतौ निमित्तम्, वही, पृ. 52.

188. अत्रैकस्य एव परिमिताया योषितो गाढानुरागहेतुकं तन्मयतानुसन्धानं प्रासादादावनेकत्र युगपत्प्रतीतौ निमित्तमिति, न भ्रान्तिमान् ……… अयं विशेषालंकारस्य विषयः। —वि., पृ. 45.

189. भ्रान्तिमान्वैपरीत्येनाप्रतीतिः सदृशेक्षणात्। —अ.म., 8/17.
विपर्ययो भ्रान्तिः —काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), 6/25.

190. वस्तुन्यन्यत्र कुत्रापि तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः।
निश्चयो यत्र जायेत भ्रान्तिमान् स स्मृतो यथा। —वाग्भटा., 4/72.

191. मिथ्याज्ञानं भ्रान्तिः —काव्यानु., पृ. 40.

192. चन्द्रालोक, 5/31.
वस्वन्तरप्रतीतिर्विलसति सादृश्यहेतुका यत्र।
तं भ्रान्तिमन्तमेतं ब्रुवतेऽलंकार पारदृश्वानः।। एका., 8/9.
कविसंमतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान् मतः।।
—प्र.रु., पृ. 275; तु.-चि.मी., पृ. 220.
साम्यादस्मिंस्तद्‌बुद्धिः भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः, सा.द., 10/38.

193. कुवलयानन्द कारिका, पृ. 24.

194. दे., चि.मी., पृ. 220.

195. भ्रांतिमांस्तद्धीरतस्मिन् साम्यभाजि यत्। —अ.कौ., 8/309.

196. अ.मं., कारिका 13.

197. सदृशेधर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तर प्रकारकोऽनाहार्यो निश्चयः सादृश्यप्रयोज्यश्चमत्कारि प्रकृते भ्रान्तिः। सा च पशुपक्ष्यादिगता यस्मिन्वाक्यसन्दर्भेऽनूद्यते स भ्रान्तिमान्। अत्र च भ्रांतिमात्रमलंकारः। भ्रान्तिमानलंकार इति व्यवहारस्त्वौपचारिकः। —र.गं., पृ. 266.
198. दे., र.गं., पृ. 266-67.
199. यच्चाप्पयदीक्षितैर्लक्षणमुक्तम्—'कविसंमतसादृश्यात् ..........' तत्र कविसंमतसादृश्य प्रयोज्ये विषये आरोप्यमाणानुभवो यत्र वाक्यसंदर्भे स भ्रान्तिमान् इति भ्रान्तिमतो लक्षणं विधाय रूपकव्यावृत्त्यर्थं पिहितात्मनीत्युच्यते। न चैतद्युक्तम्। र.गं., पृ. 267-8.
200. यदपि दीक्षितोक्तलक्षणे रूपकव्यावृत्तये पिहितात्मनीत्युक्तमयुक्तम्, आरोप्यमाणस्यानुभवस्य रूपके वर्ण्यत्वाभावात्। तदपि न। पिहितात्मनीति पदेन स्वारसिक, कविप्रतिभया कल्पनस्यारोप्यमाणानुभवे विवक्षिततत्त्वात्। स चानुभवो वर्ण्यो वा तज्जन्यो वेत्यत्रानाग्रहात्। —सुधा, पृ. 223-24.
201. रसगंगाधरकृतस्तु —'सदृशे धर्मिणि ..........'। तेनोल्लेखे नातिव्याप्तिरित्याहुः। तन्न, तद्वृत्यनेकधर्मप्रकारकानेकसमवेतज्ञानस्थले उल्लेखसद्भावात् एकत्वविवक्षायां 'मन्दाकिन्यांवलक्ष' इत्यादावव्याप्तेश्च। —सुधा, पृ. 223.
202. र.गं., पृ. 268-9; तु.—सुधा, पृ. 224; अ.कौ., पृ. 390.
203. दे., सु., पृ. 224 तथा अ.कौ., पृ. 389.
204. वही, इसी अलंकार के विवेचन में रुय्यक का लक्षण।
205. य त्वलंकारसर्वस्वकृता लक्षितम्, सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान्, इति तन्न। प्रागुक्ते संशयालंकारे वक्ष्यमाणायामुत्प्रेक्षायां चातिप्रसंगात्।। —र.गं., पृ. 269-70.
206. दे., अ.स., पृ. 57.
207. वही, का.प्र., पृ. 734; प्रदीप, पृ. 382; बा.बो., पृ. 734.
208. वही, का.प्र.।
209. दे0., नञ्जराजयशो., पृ. 173.
210. सादृश्यात्तद्धर्मिणि भ्रान्तिस्तादात्म्येनान्यधर्मिणः।
चार्वनाहार्य निश्चित्त्यातद्वांस्तदनुवादवाक्।। —सा.सा., 8/120.
211. तौल्यादतस्मिन्या तद्धीभ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः।। —सा.बि., 5, 11.
212. न चारोपगर्भो भ्रमः क्वचिदपि संभवति। शुक्तिकादीनां शुक्तिकादिरूपतयावगमे रजताद्यभिमानानुदयात्। —अ.र., पृ. 53-54.
आरोपो हि विषयविषयिणोर्युगपदेकप्रमातृविषयीकृतत्वे भवतीति नारोपगर्भो भ्रमः क्वचिदपि संभवति। शुक्तिकादीनां शुक्तिकादिरूपतयावगमे रजताद्यभिमानाभावात्। —वि., पृ. 44.
213. दे., स.कं., 3:35-37; तु. शृं.प्र., पृ. 404.
214. भ्रान्तिमान् भ्रान्तिमाला च भ्रान्तेरतिशयश्च यः।
भ्रान्त्यनध्यवसायश्च भ्रान्तिरेवेति मे मतम्।। —स.कं., 3/38; तु. शृं.प्र., पृ. 404.

215. दे., स.कं., पृ. 366-69 तथा शृं.प्र., पृ. 404-405.
216. वही, अ.म., पृ. 248-49.
217. सादृश्यान्यमूलौ सन्देहविभ्रमौ ससन्देहभ्रान्तिमदलंकार प्रयोजकौ न भवतः।। —चि.मी., पृ. 222.
218. दे., चि.मी., पृ. 220-21.
219. वही, अ.कौ., पृ. 388.
220. वही, का.प्र., पृ. 734; चि.मी., पृ. 220; अ.म., पृ. 248; स.कं., पृ. 366; स.कं., पृ. 404.
221. एवं सादृश्यनिमित्तकत्वादस्य साधारणधर्मस्यापित्रयीगतिः' —वि., पृ. 46 तथा र.गं., पृ. 270.
222. तत्र 'कनकद्रवकान्तिकान्तया' इत्यत्र सीतातडितोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः। युतत्त्वमिलितत्त्वयोश्च शुद्धसामान्यरूपता। — र.गं., पृ. 270.
223. अलंकारोदाहरण, पाण्डुलिपि, फुटक 9, उद्धृत रामचन्द्र द्विवेदी, अ.मी., पृ. 50.
224. इत्यत्रापि संस्कार एवालंकारो न भ्रान्तिमान् ......... प्ररूढ एव संस्कारो भ्रमः। स्वात्वमात्रावस्थितस्तु संस्कारालंकारः। ......... विशेषोऽलंकारभष्य एवोक्तः —वि., पृ. 45-6.
225. न च संस्कारस्य प्रबृद्धत्वे प्रबोधत्वे वा कश्चिद्विशेषः भ्रान्तौ। तेनैवमादौ भ्रान्तिमानेव।। —अ.र., पृ. 53. विहितस्याशंकितस्य वा विशेषावगमाय निषेधो निश्चयः। अ.र. सूत्र, 47.
226. अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः। सा.द., 10/38; तु. सा.सा. 8/142; सा.बि. 5/13.
227. अस्तु नाम भ्रमरादेर्भ्रान्तिः। न चेह तस्याश्चमत्कारविधायित्वम्। सा.द., पृ. 507.
228. तर्हि एककोटिमात्रावगाहि ज्ञानकनिश्चयत्वस्वीकारे भ्रान्तिमान् इति। ......... ननु सम्बोध्य भ्रान्तिं विना तथाविधोक्तेरसंभवः। एवं चास्य भ्रान्तिमूलकत्वं नियतम्। वही टीका, रामचन्द्र तर्कवागीश, पृ. 507.
229. भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शङ्कायां भ्रान्तिवारणे।
तापं करोति सोत्कम्पं ज्वरः किं? न सखि स्मरः।। —कुव., का., 29.
230. 'न हित्वा पूषन्नतिमन्य आघृणे न ते सख्यमपह्नुवे। —ऋ. 1/138/4, 'न अपह्नुवे, नैवापनयामि' —वही, भाष्य, सायाण।
231. ऋषे नमस्ते यन्नावेदिषे तेनाहि सिषमियं सुकन्या तया तेऽपह्नवे संजानीतां मे ग्राह्य इति।—श.ब्रा., 41/4/15, अतिवाधस्मीति ब्रूयान्नापह्नवीत —छा.उ., 17/15/4.
232. ना.शा., 16/16.
233. अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा। —काव्यालंकार, 3/21.
234. अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम्। —काव्यादर्श, 2/302.

235. डॉ. भोलाशंकर व्यास, भारतीय साहित्य शास्त्र और काव्यालंकार, पृ. 232.
236. काव्यादर्श, 2/34, उपमापह्नुतिः पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता—वही, पृ. 2/307.
237. मुखादित्वं निवर्त्यैव पद्मादित्वेन रूपणात्।
उद्भावितगुणोत्कर्षतत्त्वापह्नवरूपकम्।। काव्यादर्श, 2/95.
238. समेन वस्तुनान्यापलापोऽपह्नुतिः —का.सू.वृ., 4/3/5 तथा वृत्ति।
239. अतिसाम्यादुपमेयं यस्यां असदेव कथ्यते सदपि।
उपमानमेव सदिति व विज्ञेयापह्नुतिः सेयम्।। —काव्या., 8/57.
240. अन्यदर्पयितुं रूपं वर्णनीयस्य वस्तुनः।
स्वरूपाह्नवो यस्यां असावपह्नुतिर्मता।। -व.जी., पृ. 217, वही वृत्ति भी।
241. अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थ दर्शनम्। स.कं., 4/41.
पदार्थापलापोऽपह्नुतिः —शृं.प्र., पृ. 420.
242. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सात्वपह्नुतिः —का.प्र., 10/96.
243. विषयापह्नवेऽपह्नुतिः —अ.स. सूत्र, 20.
244. विषयस्य मुख्यस्य वापह्नवे अन्यविधिरपह्नुतिः —अ.र. सूत्र-29 तथा वृत्ति।
245. विषयेऽपह्नुतिं नीते तदन्येन त्वपह्नुतिः —अ.म., 8/23.
वाग्भट (1)— नैतदेतदिदं ह्येतदित्यपह्नवपूर्वकम्।
उच्यते यत्र सादृश्यादपह्नुतिरियं यथा —वाग्भटा., 4/85.
वाग्भट (2)— प्रकृतस्य सदृशेनापलापोऽपह्नुतिः —काव्यानु., पृ. 39.
जयदेव- अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापास्तिरपह्नुतिः —चन्द्रा. 5/24.
तु.—एका. 8/11; प्र.रु., पृ. 276; सा.द., 10/38; प्रकृतस्य निषेधेनयदन्यत्वप्रकल्पनम्। साम्यादपह्नुतिः —चि.मी., पृ. 237; कु.का., 26; अ.कौ., 8/249; अ.मं.का., 14; उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमान तादात्म्यमपह्नुतिः। र.गं., पृ. 278; अ.चं., 62; नं.य., पृ. 174; सा.सा., 8/131,32; अ.प्र., 13; अ.मु., 15 तथा अ.कौ., पृ. 235; सा.सा. (सर्वेश्वर), 2/96/7; सा.बि. 5/12.
246. प्रकृताप्रकृताभ्यां प्रकृतापलायोऽपह्नुतिः —काव्यानु. 6/21.
247. सत्यार्थापह्नवादन्यप्रकारोऽपह्नुतिः। अ.सं. 5/41.
किंचिदपह्नुत्ययदन्यार्थप्रदर्शनं साऽपह्नुतिः।। अ.शे. एकादश मरीचि,
248. तेन 'न विषं विषमित्याहुः' इत्यत्र विषयस्य निषेधपूर्वकं ब्रह्मस्वविषय आरोप्यमाणत्वाद्दृढारोपं रूपकमेव नापह्नुतिः। —वि., पृ. 50-51.
249. दे., र.गं., पृ. 280-1.
250. सा च सादृश्यवती सादृश्यरहिता चेति द्विविधा —अ.म., पृ. 257.
251. पर्यस्तापह्नुतिर्यत्रधर्ममात्रं निषिध्यते। चन्द्रा. 5/25, कु.का. 28, अ.मं. 16, सा.सा. 8/138.
252. 'अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापह्नुतिस्तु सः' अत्र चिन्त्यते। नायमपह्नुतेर्भेदो वक्तुं युक्तः। अपह्नुतिसामान्यलक्षणानाक्रान्तत्त्वात्। ......... तस्मात् 'नायं सुधांशुः'

इत्यत्र दृढारोपं रूपकमेव भवितुर्महति, नापह्नुतिः —र.गं., पृ. 280-81; अ.कौ., पृ. 237.

253. दे., अ.कौ., पृ. 237-28.

254. 'नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसी मुखम्' इत्यादावपह्नुतिरेव। ……… न विषंविषमित्याहुः, इत्यादौ च नापह्नुतिः किन्तु दृढारोप रूपकमित्यास्तम्। 'नेदं मुखं चन्द्रः' इति प्रसिद्धापह्नुति उदाहरणेऽपि मुखत्वनिषेधचन्द्रारोपदार्ढ्यसंपादकताया वक्तुं शक्यत्वेनानुभवसिद्धत्वेन चापह्नुतिमात्रस्योच्छेदापत्तेः। उद्योत, पृ. 473-74; मर्मप्रकाश, पृ. 281; अ.च., पृ. 27-28; बा.बो., पृ. 607; सा.वि. पृ. 176.

255. चन्द्रा. 5/26, कु. 29, अ.मं., 17 तथा सा.सा. 8/139.

256. चन्द्रा. 5.26, कु.का., 29; अ.मं. 17; सा.सा. 8.139.

257. दे., कु. 30, अ.मं. 18, सा.सा. 8/140, अ.प्र. 13/2.

258. ये तु उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिरिति व्याजोक्तयलंकारं पृथगिच्छन्ति तेषामिहापि व्याजोक्तिरेव नापह्नुतिरिति। —चि.मी., पृ. 242.

259. गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथंचन।
यदि श्लेषेणान्यथावान्यथयेत्साप्यपह्नुतिः।। —सा.द., 10/38/9.

260. 'एवमारोपगर्भेयं सप्रपंचं प्रपंचिता, अध्यवसायगर्भा पुनर्दर्श्यते।' वि., पृ. 53.

261. दे., अ.मं., पृ. 30.

262. तत्राद्यभेदद्वयं वाक्यभेदएव संभवति। तृतीयभेदे त्वेकवाक्यत्वम्। एका., पृ., 229; अ.स., पृ. 63; तु.सा.चू., पृ. 289; र.गं., पृ. 278.

263. दे., का.प्र., पृ. 607; अ.स., पृ. 63; अ.चि., पृ. 69; अ.भ., पृ. 258; काव्यानु., पृ. 388-89; एका. पृ. 229-30; प्र.रु., पृ. 276; सा.द., पृ. 505; चि.मी., पृ. 238-40; र.गं., पृ. 278-79; अ.कौ., पृ. 235-36.

264. एतस्मिन्नपि भेदे अपह्नवारोपयोः पौर्वापर्यविपर्यये भेदद्वयं सदपि न पूर्ववच्चारुतावहमिति न भेदत्वेन गणितम्। —अ.स., पृ. 65 तथा वही संजीवनी भी।

265. भामहालंकार, 3/22.

266. दे., काव्यादर्श, 2/304-209.

267. वही, का.सा.सं. 5-4.

268. का.सू.वृ., पृ. 128.

269. दे., काव्यालंकार 8/58.

270. वही, व.जी., पृ. 217-18.

271. वही, स.कं., 4/43-45.

272. सा द्विधा—औपम्यवती, अनौपम्या च। —शृं.प्र., पृ. 420.

273. का. प्रदीप, पृ. 332; सं.प्र. पृ. 290-91; बा.बो., पृ. 607.

274. दे., अ.र., पृ. 40.

275. वही, बा.बो., पृ. 607.

276. वही, अ.म., पृ. 258; चि.मी., पृ. 240; र.गं., पृ. 288-9.
277. नहि नञादिवच्छलादिशब्दाः निषेधवाचकाः, किन्तु व्याजाद्यर्थाः ननु ......... वपुश्शब्दमुखेन निषेधप्रतीतेरार्थोऽपह्नव इति वाच्यम् ।। —अ.र., पृ. 40-41.
278. दे., वही, पृ. 40-41.
279. अत्र न रोमावलिः धूमशिखेयमिति प्रतीतिः । —का.प्र., पृ. 609 तथा तु. मं. पृ. 65-66; वि., पृ. 52, 53; स.बं., पृ. 48; अ.भ., पृ. 259.
280. का.प्र., पृ. 608; अ.स., पृ. 65; अ.र., पृ. 40; अ.भ., पृ. 258.
281. 'अमुष्मिन्नित्यादौ'—परिणामालंकारत्वं यदन्यैरुक्तम्, तदयुक्तम् । वि., पृ. 52-3.
282. दे., अ.र., पृ. 42; वि., पृ. 52-3.
283. वही, अ.म., पृ. 258-9.
284. वही, वाग्भटा., 4-86.
285. वही, काव्यानु., पृ. 39-40.
286. वही, चि.मी., पृ. 238-9.
287. अत्र प्रतिज्ञातार्थवैपरीत्ये बाधकोपन्यासाद्धेत्वपह्नुतिः ।। —र.गं., पृ. 278.
288. दे., वही, पृ. 278-79.
289. वही, पृ. 282.
290. वही, चि.मी., पृ. 243-44; र.गं., पृ. 282-84.
291. वही, अ.प्र.।
292. उद्योत, पृ. 458; बा.बो., पृ. 584; अ.कौ., पृ. 181; सा.बि., पृ. 169; अन्यधर्माणां—लब्धप्रकर्षाणामीक्षणादियमुत्प्रेक्षा । —ल.वृ., पृ. 44; तु. संकेत, पृ. 229; अतथ्यं तथ्यप्रतिभासयोग्यं उत्प्रेक्षन्ते उद्भावयन्ति अस्यां इति उत्प्रेक्षा । अ.चि., पृ. 70; उत्कटंप्रकृष्टं (उपमेयापेक्षयोपमानस्य), ईक्षणं अनया इति उत्प्रेक्षा, उत्प्रेक्षणमुत्प्रेक्षा इति विगृह्यते । —व.जी.
293. का.सा.सं., 3/4-5.
294. अपहृत्यान्यालंकारांल्लावण्यातिशयान्वितः । उत्प्रेक्षाप्रथमोल्लेख जीवितत्त्वेन जृम्भते ।। —व.जी., पृ. 195.
295. सर्वालंकारसर्वस्वं कविकीर्तिविवर्द्धिनी ।
उत्प्रेक्षा हरति स्वान्तमचिरोढास्मितादिव ।। —अ.शे., पृ. 36.
296. अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यति । —ऋ., 10/146/1.
अवद्यमिव मन्यमानाः —वही, 4/18/15 तथा दे., 2/35-13 भी ।
297. योऽयमविज्ञानमयः पुरुषः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः स समानः सन्नुभौलोकौसंचरतीव, ध्यायतीव, लोलायतीव, सुधीः स्वप्नं भूत्वेमं लोकमतिक्रामति । श.प., 4/4/1. सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रामत् इव । प्रश्नो. उ., 2-4, परोक्षप्रिया इव हि देवाः, ए.उ., 3-1.
298. अविवक्षितसामान्या किंचिच्चोपमया सह ।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ।। —भामहालंकार, 2/91.

299. अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
अन्यथोत्प्रेक्षते यत्र तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते।। —काव्यादर्श, 2/219.

300. साम्यरूपा विवक्षायां वाच्येवाद्यात्मभिः पदैः।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता।।
लोकातिक्रान्तविषया भावाभावाभिमानतः।
संभावनेयम् ......... —का.सा.सं., 3/4-5.

301. अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा। —का.सू.वृ., 4/3/9 तथा वही वृत्ति भी।

302. संभावनापरपर्यायमध्यवसानमुत्प्रेक्षेतिलक्षणार्थः। —का.धे., पृ. 132.

303. अतिसारुप्यादैक्यं विधाय सिद्धोपमानसद्भावम्।
आरोप्यते च तस्मिन्नतद्गुणादिति सोत्प्रेक्षा।। —काव्यालंकार, 8/32.

304. यत्रातितथाभूते संभाव्येत क्रियाद्यसंभाव्यम्।
संभूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा।। —वही, 9/11.

305. व.जी., पृ. 192.

306. अन्यथावस्थितस्यान्यथोत्प्रेक्षणम् उत्प्रेक्षा। —शृं.प्र., पृ. 421; तु.स.कं., 4/52.

307. संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। —का.प्र., 10/92.

308. अ.पु., 342/24.

309. अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा— अ.स. सूत्र-22.

310. अध्यवसायो निश्चयज्ञानम्। स च लोके द्विरूपः सम्यगात्मा मिथ्यारूपश्च। ......... उभयविलक्षणस्तु जानतोऽप्येतस्मिन् तदेवेति योऽध्यासरूपस्स इहालंकारत्वेन परिगृह्यते। —सं., पृ. 66.

311. उत्कटैककोटिकसंशयः संभावनम्—बा.बो., पृ. 585.

312. तेन संदेह निश्चयान्तरालवर्ती तद्विलक्षणः संभावनाप्रत्ययः। ......... यदेव चाध्यवसायस्य साध्यत्वं तदेव संभावनात्मकत्वम्। संभावना ह्येकतरपक्षशिथिलीकारेण पक्षान्तरदार्ढ्येन च प्रादुर्भवतीत्यस्याः साध्याध्यवसायतुल्यकक्षत्वम्। —वि., पृ. 54-55; का.धे., पृ. 132.

313. विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः। —अ.स., पृ. 66; तु. का.धे., पृ. 132; एका., पृ. 231-32; प्र.रु., पृ. 277.

314. स च द्विविधः सिद्धः साध्यश्च। साध्यो यत्र विषयिणोऽसत्यतया प्रतीतिः। अ.स., पृ. 67; वि. पृ. 54; स.बं., पृ. 49-50; सिद्धत्वं निगीर्णविषयत्वम्। यत्र साध्यत्वं तत्र व्यापारस्याध्यवसानक्रियायाः प्राधान्ये उत्प्रेक्षा। —र.गं., पृ. 301.

315. दे., संजी., पृ. 67.

316. धर्मो गुणक्रियारूपः तस्य संभवासंभवप्रतीतौ संभवाश्रयस्य तत्रापरमार्थतया सत्यत्वं प्रतीयते, इतरस्य तु परमार्थतया सत्यत्वम्। यस्यासत्यत्वं तस्य सत्यत्वप्रतीतावध्यवसायः साध्यः। अतश्चव्यापारप्राधान्यम्। ......... साध्यत्वप्रतीतौ व्यापार प्राधान्ये अध्यवसायः

संभावनमभिमानस्तर्क ऊह उत्प्रेक्षेत्यादि शब्दैरुच्यते। अ.स., पृ. 67-68; संजी., वही. अ.म. पृ. 260; तु. एका., पृ. 232; न.य., पृ. 175.

317. विषयित्वेन संभावनमुत्प्रेक्षा —अ.र., सूत्र-32.

318. अतश्चानिश्चयात्मकतया संभावनायाः संदेहमूलत्वं न त्वध्यवसायगर्भता। —वही. पृ. 47.

319. तेनाध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षेति लक्षणमपर्यालोचिताभिधानमेव। —अ.र., पृ. 47.

320. र.गं., पृ. 301-2.

321. संभावनायां च संभाव्यमानस्य दाढ्र्यादपरस्य शैथिल्यात् ......... । अ.र., पृ. 48.

322. संभावनाह्येकतरपक्षशिथिलीकारेण पक्षान्तरदाढ्र्येन च प्रादुर्भवति इत्यस्याः साध्याध्यवसायतुल्यकक्षत्वम्। वि., पृ. 55.

323. विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः।
अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते।। —सा.द., पृ. 515.

324. तदेवं विषयस्य निगीर्यमाणत्वाद्विषयिणश्च निश्चयात् सिद्धमध्यवसायमूलत्वमस्या इतियथोक्तमेव लक्षणं पर्यालोचिताभिधानम्। —वि., पृ. 56.

325. अप्रस्तुतस्य रूपेण हेतुभूतैः क्रियागुणैः। संभाव्यते प्रस्तुतं यत् तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते।। —अ.म., पृ. 8/24.

326. असद्धर्मसंभावनमिवादिद्योत्योत्प्रेक्षा —काव्यानु., 6/4.
कल्पना काचिदौचित्याद्यत्रार्थस्य सतोऽन्यथा।
द्योतितेवादिभिः शब्दैरूत्प्रेक्षा सा स्मृता यथा।। —वाग्भटा., 4/89.
अत्यन्तसादृश्यादसतोऽपि धर्मस्य कल्पनमुत्प्रेक्षा।। —काव्यानु., पृ. 34.

327. उत्प्रेक्षोन्नीयते यत्र हेत्वादिर्निह्नुतिं विना। —चन्द्रा., 5/29.

328. अप्रकृतत्त्वेन स्यादध्यवसायो गुणाभिंसम्बन्धात्।
साध्यः प्रकृतस्य यदा कथितोत्प्रेक्षा तदा तज्ज्ञैः।। एका., 8/12.
यत्रान्यधर्म सम्बन्धादन्यत्वेनोपतर्कितम्। प्रकृतं हि भवेत् प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते।। प्र.रु., पृ. 278; तु. चि.मी., पृ. 247.
भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना। —सा.द., 10/40.

329. अ.सं., 5/31.

330. अन्यनिमित्तके वस्तुन्यन्यनिमित्तकत्वारोप उत्प्रेक्षा—अ.शे., मरीचि, 13.

331. संभावना स्यादुत्प्रेक्षा—कु.का., 32; दे., चि.मी., पृ. 247.

332. दे., अ.कौ., 8/237.

333. उत्प्रेक्षास्यात्कवेरुहः —अ.कौ., का. 20.

334. अन्यथावस्थितुं वस्तु चान्यथोत्प्रेक्ष्यते यया। उत्प्रेक्षालंकृतिः सा ......... अ.चं., 47.

335. अत्र च तादात्म्येन संसर्गेण धर्म्युत्प्रेक्षायाः संसर्गान्तरेण धर्मोत्प्रेक्षायाश्च संग्रहायैकोक्त्या लक्षणद्वयं विवक्षितम्। —र.गं, पृ. 286; दे. चन्द्रिका टीका, पृ. 697.

336. दे., र.गं., पृ. 296-304.
337. अ.कौ., पृ. 180; तु. अ.मु. 10.
338. न.य., पृ. 175.
339. मा.सा., 8/144.
340. दे., वही, 2/114.
341. संभावना स्यादुत्प्रेक्षा। —मा.वि., पृ. 5, 10.
342. का.प्र., 2/11.
343. अतएव चात्र क्वचिद् विषयानुपादानम् —वि., पृ. 55.
344. अतत्स्वभावस्य वस्तुनः तद्गुणयोगात्तद्भावकल्पनमध्यारोपः यत्ररूपकादि व्यवस्थालाभः। यत्तु सादृश्ये सत्येकेन वस्तुना वस्त्वन्तरस्य प्रतिपादनमध्यवसायरूपं सा सादृश्यमूला लक्षणा, यत्र वक्रोक्तिव्यपदेशः। यत् पुनरतद्रूपे वस्तुन्यतिशयमाधातुं तद्रूपतयाध्यवसानं, सोऽध्यवसायः संभावनालक्षणः उत्प्रेक्षेति विवेकः। —का.धे., पृ. 132.
345. लोकातिक्रान्तविषया भावाभावाभिमानतः।
संभावनेयमुत्प्रेक्षा, वाच्येवादिभिरुच्यते।। —का.सा.सं., पृ. 3-5.
346. दे., काव्यालं, 8/32-33.
347. वही, 8/34.
348. वही, 8-36.
349. वही, 9/11.
350. काव्यालंकार, 9/14.
351. द्रव्यं गुणं क्रियाचेति —स.कं, 4-52, सा त्रिधा—द्रव्यविषया, गुणविषया, क्रियाविषया च। —शृं.प्र., पृ. 421.
352. दे., का.प्र., पृ. 586-87.
353. मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।
उत्प्रेक्षाव्यंजकाः शब्दाः इव शब्दोऽपि तादृशः।। —काव्यादर्श., 2-232.
354. .......... तेषु च प्रत्येकं हेतुस्वरूपफलोत्प्रेक्षणरूपत्वेन षण्णवतिर्भेदाः। एषा गतिर्वाच्योत्प्रेक्षायाः। —अ.स., पृ. 68-69.
355. '.......... अशीतिर्भेदाः —वि., पृ. 57 तथा '.......... अशीतिविधावाच्या, सं.प्र., 70.
356. 'तस्याश्चाष्टाचत्वारिंशद्भेदाः संभवन्ति' वि., पृ. 58.
357. प्रतीयमानायां तु अनुपात्तनिमित्ताया निरवशेषं पाते अष्टचत्वारिंशद्हानिः। उपात्तनिमित्तायां च स्वरूपोत्प्रेक्षापाते षोडशहानिः। अतो द्वात्रिंशद्भेदाः प्रतीयमाना मन्तव्या। —संजीवनी, पृ. 70.
358. तदुक्तमलंकारानुसारिण्याम् — प्रतीयमानोत्प्रेक्षाष्टचत्वारिंशत् —वि., पृ. 58.
359. '.......... इति पंचपंचाशद्भेदा वाच्योत्प्रेक्षा। .......... इति चत्वारिंशद्भेदा गम्योत्प्रेक्षा —चि.मी., पृ. 272-73.

360. 'एवं षट्पंचाशद्भेदत्वं वाच्योत्प्रेक्षायाः। ......... चतुर्विंशतिधा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। —स.बं., पृ. 52.

361. 'इयं च भेदेऽभेद इत्याद्यतिशयोक्तिमय्यपि दृश्यते।' वि., पृ. 64-65.

362. दे., अ.र., पृ. 48.

363. 'इवाद्युपादाने वाच्या, तदप्रयोगे त्वार्थी। —वही

364. भेदाः षण्णवतिस्तस्याः अशीतिर्निकषे पुनः।। —अ.म., 8/28.
वाच्यैवेत्थं स्थिता सेयं द्वात्रिंशद्वा परा पुनः।। —वही, 8/29.
इसी प्रकार उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा, सापह्नवोत्प्रेक्षा आदि के लिये देखिये। वही, पृ. 266-67.

365. दे., काव्यानु., पृ. 348-49.

366. वही, पृ. 34-35.

367. वही, चन्द्रा. 5/29-30.

368. वही, एका., पृ. 232-36.

369. प्राचामलंकारग्रन्थेषु षण्णवतिभेदोत्प्रेक्षेति गणनामात्रम्। चारुत्वातिशयस्तु षट् पंचाशत, एव भेदानाम्। प्र.रु., पृ. 280.

370. एवं वाच्योत्प्रेक्षायाः षट् पंचाशद्भेदाः। प्रतीयमानोत्प्रेक्षायास्त्वष्टचत्वारिंशद्भेदाः। वही, पृ. 278-80, तु. विद्यानाथेन ......... दर्शितः ......... षट्पंचाशद् भेदावाच्योत्प्रेक्षा। ......... ततश्चाष्टचत्वारिंशद्भेदा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, चि.मी., पृ. 274.

371. दे., सा.द., 10/40/44.

372. वही, कु. कारिका, 32.

373. तस्मान्न्यूनः सतृणाभ्यवहारश्चायं विभागः। —चि.मी., पृ. 304.

374. '......... स्वरूपोत्प्रेक्षा द्विविधा, अविशिष्टोत्प्रेक्षा विशिष्टोत्प्रेक्षा च। ......... हेतुफलोत्प्रेक्षे त्वसिद्धयोः सिद्धयोर्वा हेतुफलभावत्वेनोत्प्रेक्षणीयतया प्रत्येकं द्विविधे। —चि.मी., पृ. 304-206.

375. दे., वही, पृ. 308-10.

376. वही, पृ. 311-12.

377. वही, पृ. 313-15.

378. वही, अ.मं., कारिका, 20-21.

379. वही, र.गं., पृ. 286-295.

380. द्विविधो हि तावद्धर्मोऽपि — स्वतएव साधारणः, साधारणीकरणोपायेनासाधारणोऽपि साधारणीकृतश्च। ......... —र.गं., पृ. 304.

381. '......... हेतुफलस्वरूपोपुनरेषां त्रैविध्ये षण्णवतिः। अमी च वाच्योत्प्रेक्षा भेदाः। ......... एतच्छब्दाप्रयोगे सति गम्या। —नं.य., पृ. 175.

382. सा.सा., 8/145-46.

383. काव्यादर्श, 2/225-31.

384. का.प्र., बा.बो., पृ. 587-88; तु. अ.कौ., पृ. 183-90.
385. अत्र लेपनवर्षणक्रिये तमोनभो गतत्त्वेनोत्प्रेक्ष्येते। —अ.स., पृ. 71.
386. अ.मी., पृ. 307.
387. वही, प. 299.
388. प्रदीप, पृ. 324, उत्प्रेक्षायाश्चाध्यवसायगर्भत्वाद्विषयस्यानुपादानेऽपिन दोषः। प्रभा., पृ. 324; सा.द., पृ. 512; अ.र., पृ. 49-50; कु., पृ. 33-34; चि.मी., पृ. 277; बा.बो., पृ. 587.
389. दे., र.गं., पृ. 300.
390. वही, अ.स., पृ. 72; सा.द., पृ. 510.
391. वही, चि.मी., पृ. 255; र.गं., पृ. 301.
392. वही, वि., पृ. 63.
393. वही, चित्रमीमांसा तथा रसगंगाधर का उत्प्रेक्षा प्रकरण।
394. शिलष्टस्यार्थेन संयुक्तः किंचिदुत्प्रेक्षयान्वितः।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा। —भामहालंकार, 3/47.
395. 'तद्भेदावुपमा रूपकोत्प्रेक्षावयवौ' —का.सू. वृ., 4/3/31.
396. उत्प्रेक्षा हेतुरुत्प्रेक्षावयवः' —वही, 4/3/33.
397. तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रतिभास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तः विशतीव तमोगृहम्।। —भामहा., 3/48.
398. दे., चि.मी., पृ. 253 तथा वही सुधा भी।
399. 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः ..........' भामहा., 2/84-85.
400. काव्यादर्श, 2/220.
401. 'प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छायां पुष्यति। .......... इति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालंकाररूपा। ध्व., पृ. 498-500.
402. वदन्त्यतिशयोक्तिं तां सर्वालंकारजीवितम् —अ.म., पृ. 228.
403. अतिशयोऽतिशयिता प्रसिद्धिमतिक्रान्ता उक्तिरतिशयोक्तिः। सा.द., टिप्पणी, दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, पृ. 515, तु.सा.बि., पृ. 178, टिप्पण अ.कौ., पृ. 305.
404. विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः। तस्योक्तिः अतिशयोक्तिः। —र.गं., पृ. 307.
405. अतिपूर्वकशीङ्धातोरुत्कर्षे वृत्तिः —सा.बि., पृ. 178.
406. अतिक्रम्य (निगीर्य) उपमेयं शेते उपमानं यस्मिंस्तदतिशयः, तस्योक्तिः अतिशयोक्तिः।
407. देखिये, भागवत महापुराण तथा मुण्डकोपनिषद्। साहित्य बिन्दु का अतिश्योक्तिप्रकरण।
408. धृतप्रतीकोवृहता पृश्निरश्मा — ऋ., 5/47/3.
चत्वारिश्रृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश। —वही, 4/58/3, 10/63/3 तथा नि. 13/7 और भाष्य 1/1 में भी आया है।

409. र.गं., पृ. 316.
410. दे., मनुस्मृति, 6/78.
411. उत्तमार्थाद्विशिष्टोयः स चाप्यतिशयः स्मृतः। —ना.शा., 16/13.
412. सोऽपि (अतिशयोऽपि) लक्षणेनालंकार इति वक्ष्यामः वही, अ.भा., तथा उपाध्याय मतं तु—लक्षणबलादलंकाराणां वैचित्र्यमागच्छति, तथाहि ......... अतिशयनाम्नातिशयोक्तिः। अ.भा., ना.शा. 16/40 पर।
413. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्। मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा।। —भामहा., 2/81, यदि वि.पु. को जैसा कि काणे महोदय मानते हैं, भामह से पहले माना जाये, तो मानना पड़ेगा कि अतिशयोक्ति के प्रथम उद्भावक विष्णुपुराणकार हैं। उनके अनुसार 'अतुलयनीय उपमा धर्मों का कथन अतिशयोक्ति है—प्रोक्ताचातिशयोक्तिस्तु ह्यतुलैरूपमा गुणैः' वि. धर्मो, 14/10.
414. विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा।। —काव्यादर्श, 2/212.
415. का.सा.सं., 2/23.
416. संभाव्यमानधर्म तदुत्कर्ष कल्पनातिशयोक्तिः। —का.सू. वृ., 4/3/10.
417. दे., वही, पृ. 133.
418. काव्यालंकार, 9/2.
419. वही, 9/1.
420. यत्रातिप्रबलतया वक्ष्यते पूर्वमेव जन्यस्य।
प्रादुर्भावः पश्चाज्जनकस्य तु तद्भवेत्पूर्वम्।। —वही, 9/3.
421. यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छित्त्या प्रतिपाद्यते।
वर्णनीयस्य धर्माणां तद्विदाह्लाददायिनाम्। —व.जी., पृ. 195.
......... कोऽप्यतिक्रान्त प्रसिद्धि व्यवहार सरणिः।। —वही
422. विशेषविवक्षया लोकवृत्तानतिक्रमेणात्युक्तेरभिधानमतिशयः। शृं.प्र., पृ. 425; स.कं., 4/83.
423. लोकसीमानिवृत्तस्य वस्तुधर्मस्य वर्णनम्। भवेदतिशयो नाम संभवासंभवाद् द्विधा। —अ.पु., 343/25.
424. निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य समेनयत्। —का.प्र., 10-100.
425. अध्यवसाये त्रयं भवति—स्वरूपं, विषयो, विषयी च। विषयस्य हि विषयिणाऽन्तर्नीतत्त्वेऽध्यवसायस्य स्वरूपोत्थानम्। तत्र साध्यत्वे स्वरूपप्राधान्यम्। सिद्धत्वे अध्यवसित प्राधान्यम्। विषयप्राधान्यमध्यवसाये नैव संभवति। अध्यवसितप्राधान्ये चातिशयोक्तिः। —अ.स., पृ. 80-81.
426. अध्यवसानमतिशयोक्तिः। अ.र., सूत्र-37.
427. दे., अ. महोदधि, 8/3-4.
428. विशेषविवक्षया भेदाभेदयोगायोगव्यत्ययोऽतिशयोक्तिः। —काव्यानु., 6/10.

429. वस्तुनो वक्तुमुत्कर्षमसंभाव्यं यदुच्यते।
वदन्त्यतिशयाख्यं तमलंकारं बुधा यथा। —वाग्भटा., 4/101.
430. अत्युक्तिरतिशयोक्तिः —काव्यानु., पृ. 37.
431. एकावली, 8/13.
432. विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते।
यत्र सातिशयोक्तिः स्यात् कविप्रौढोक्तिजीविता।। —प्र.रु., पृ. 287.
433. सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते। —सा.द.
434. विवक्षितार्थविषये लोकवृत्तातिशायिनी
उक्तिस्त्वतिशयोक्तिः स्यादनुद्वेगकरी यथा। —अ.सं., 5/30.
435. अ.कौ., 8/257-60.
436. दे., अ.मं., कारिका-22-28.
437. प्रस्तुताप्रस्तुतयोः सर्वथैवाभेदप्रतीतिः अतिशयोक्तिः —अ.प्र., 29.
438. अ.कौ., पृ. 277; तु. अ.मु., 19.
439. दे., नं.य., पृ. 181.
440. वर्ण्यैर्गुणैरतिशयस्योक्तौ सा ·········। सा.सा., पृ. 8/124.
441. कथ्यतेऽतिशयोक्तिः सा प्रस्तुतोत्कर्षगीर्यतः।। —सा.बि., पृ. 5-13.
442. 'यदि तावदतिशयोक्तेः सर्वालंकारेषु सामान्यरूपता, सा तर्हि तादात्म्यपर्यवसायिनीति तद्व्यतिरिक्तो नैवालंकारो दृश्यत इति कविप्रतिभानं न तत्रापेक्षणीयं स्यात्। अलंकारमात्रं च न किंचिद्दृश्यते। —लोचन, पृ. 500.
443. सारबोधिनीकारादयस्तु—अध्यवसानमप्रकृततादात्म्यारोपः। स च भेदप्रत्त्यसहकृताहार्यरूपः। —बा.बो., पृ. 609.
444. सादृश्यातिशयमहिम्ना च बाधबुद्धेः स्थगनादेतन्मतेऽपि अनाहार्यैव धीरिति। —वही, पृ. 630.
तत्र मुखादिपदाप्रयोगात् मुखादिवैधर्म्यानुपस्थित्या अनाहार्यभेदबुद्धिः।। —अ.कौ., पृ. 277.
445. दे., भामहा., 2/82-83.
446. काव्यादर्श, 2/213-17.
447. ईदृशी संशयोक्तिः। ········· इतिनिश्चयातिशयोक्तिरीदृशी। रत्नश्री, पृ. 136-7.
448. 'अहो विशालं भूपाल ·········।' काव्याद. 2/217, तु.का. प्र. का अधिक का उदाहरण, पृ. 724.
449. भेदेऽनन्यत्वमन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते।
तथा संभाव्यमानार्थनिबन्धेऽतियशयोक्तिगीः।।
कार्यकारणयोर्यत्र पौर्वापर्यविपर्ययः।
आशुभावं समालम्ब्य बध्यते सोऽपि पूर्ववत्।। —का.सा.सं., 2-24-25; दे., ल.वृ., पृ. 40 तथा विवृत्ति, पृ. 28.

450. का.सू. वृ., पृ. 133.
451. 'मलयजरसविलिप्ततनवो ..........। वही, पृ. 133, तु. देखिये, काव्यप्रकाश और अलंकारसर्वस्व का सामान्य अलंकार प्रकारण।
452. काव्यालंकार, 9/3.
453. 'यत्रैकविद्यावर्थो जायेते यौ तयोरपूर्वस्य।
अभिधानं प्राग्भवतः सतोऽभिधीयेत तत्पूर्वम्।। —काव्यालंकार, 8/97.
454. सा च प्रायो गुणानां च क्रियाणां चोपकल्प्यते।
नहि द्रव्यस्य जातेर्वा भवत्यतिशयः क्वचित्।।
प्रभावातिशयो यश्च यश्चानुभवनात्मकः।
अन्योन्यातिशयो यश्च तेऽपि नातिशयात्पृथक्।। —स.कं., 4/84-5.
455. दे., वही, पृ. 540-43.
456. वही, बा.बो., पृ. 632; संकेत, पृ. 245; सा.चू., पृ. 309.
457. वही, का.प्र., 10/100-1.
458. इयमेव प्राचीनानामालंकारिकाणामतिशयोक्तिः।। —सा.चू., पृ. 309.
459. एषाऽन्योत्पाद्योपमा इति रुद्रटः। अद्भुतोपमेति दण्डिमुख्याः। संकेत, पृ. 245.
460. तस्याश्च पंचप्रकाराः—भेदेऽभेदः, अभेदे भेदः, सम्बन्धेऽसम्बन्धः, असम्बन्धे सम्बन्धः, कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसश्च। —अ.स., पृ. 81.
461. कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसः, पौर्वापर्यविपर्ययात्तुल्यकालाद्वा। वही, पृ. 83.
462. प्रकारपंचकमध्यात्कार्यकारणभावेन यः प्रकारः स कार्यकारणताश्रयालंकारप्रस्तावे लक्षयिष्यते। —वही, पृ. 85.
463. कार्यकारणयोः समकालत्वे पौर्वापर्यविपर्यये चातिशयोक्तिः —अ.स. सूत्र, 43.
एषु पंचसु भेदेषु भेदेऽभेदादि कथनं लोकातिक्रान्तगोचरः। —वही, पृ. 83.
464. '.......... एवं च कार्यकारणविध्वंसयापि पंचप्रकाराः।' वि., पृ. 68.
465. '.......... कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविध्वंसस्य चतुर्थभेदान्तर्भावात्पंचधेतिनवाच्यम्। —अ.र., पृ. 58-59.
466. दे., अ.म., पृ. 228-231.
467. दे., हेमचन्द्र का अतिशयोक्तिलक्षण।
468. 'एवंविधे च सर्वत्र विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। तांविना प्रायेणालंकारत्वायोगादिति न सामान्यमीलितैकावलीनिदर्शनाविशेषाद्यलंकारोपन्यासः श्रेयान्।' काव्यानु., पृ. 371.
469. दे., वाग्भटा., पृ. 80-81.
470. दे., काव्यानु., पृ. 37-38.
471. अक्रमातिशयोक्तिश्चेद्युगपत्कार्यकारणे। चन्द्रा. 5/41, अत्यन्तातिशयोक्तिस्तु पौर्वापर्यविपर्यये।।—वही, 5/42, चपलातिशयोक्तिस्तु कार्येहेतुप्रसक्तिजे।—वही, 5/43.
472. सम्बन्धातिशयोक्तिः सा तदभावेऽपि तद्वचः।। —वही, 5/44.

473. भेदकातिशयोक्तिश्चेदेकस्यैवान्यतोच्यते। —वही, 5/45.
रूपकातिशयोक्तिश्चेद्रूप्यं रूपकमध्यगम् — वही, 5/46.

474. इति चतुर्धा भवत्यतिशयोक्तिः। —एकावली, पृ. 237.

475. तस्याश्चातुर्विध्यम्। ……… कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपा त्वनध्यवसाय-मूलत्वाद्‌व्यतिरिक्तैव। किन्तु प्रौढोक्तिमूलत्वादतिशयोक्तिरिति कथ्यते। प्र.रु., पृ. 287.

476. सा.द., 10/47.

477. दे., कुवलयानन्द कारिका, 36-43.

478. अकौ., 8/257-60.

479. दे., अ.मं.का. 22-28.

480. वही, र.गं., पृ. 308-312.

481. 'एवं च एतद्‌भेदपंचकान्यतमत्वमतिशयोक्तिसामान्यलक्षणम्' इति प्राचीनाः। अन्ये तु 'सम्बन्धेऽसम्बन्धः, असम्बन्धे सम्बन्धः इति भेदद्वयं नातिशयोक्तिः। एतादृशातिशयस्य ……… सर्वेष्वलंकारेषु सत्वात्। ……… नव्यास्तु निगीर्याध्यवसानमेवातिशयोक्तिः। प्रभेदान्तरं त्वनुगतरूपाभावादलंकारान्तरमेव। —र.गं., पृ. 313.

482. षड्‌विधातिशयोक्तिर्हि सम्मता चारुचेतसाम् —नं.य., पृ. 181-2.

483. दे., सा.सा., 8/155-164.

484. सा.बि., पृ. 178-79.

485. 'गौणसारोपारूपकालंकारोपयोगिनी। गौणसाध्यवसाना च प्रथमातिशयोक्तिप्रयोजिका।' —बा.बो., पृ. 55.

486. अत्र चातिशयाख्यं यत्फलं प्रयोजकत्वान्निमित्तं तत्राभेदाध्यवसायः। ……… न तु वदनादीनां कमलादिभिरभेदाध्यवसायो योजनीयः। —अ.स., पृ. 84.

487. न पुनः ……… इत्यादिवचनं पूर्वापरपराहतमस्य वैदुष्यशालिनो ग्रन्थकारस्य संभाव्यम्। —वि., पृ. 67, कमलमनम्भसीत्यत्र हि वदनादीनां धर्मिणामभेदाध्यवसायो योजनीयः। —वही, पृ. 69.

488. अतशयोक्तौ रूपकविशेषणं रूपके दर्शितानां विधानामिहापि संभवोऽस्तीति अतिदेशेन प्रदर्शनार्थम्। तन्नात्राप्यभेदातिशयोक्तिस्ताद्रूप्यातिशयोक्तिरिति द्वैविध्यं द्रष्टव्यम्। कुवलयानन्द, पृ. 40.

489. दे., अ.कौ., पृ. 48-49.

490. '……… तेनात्राप्यभेदातिशयोक्तिस्ताद्रूप्यातिशयोक्तिरिति कुवलयानन्दे यदुक्तम् तन्निरस्तम्। —र.गं., पृ. 310.

491. अत्रेदं चिन्त्यम् — काव्यप्रकाशादिरीत्या तदुक्तम्। निर्बाधकत्वात् ………। —गुरुमर्म प्रकाश, पृ. 310; तु. अ.चं., पृ. 40.

492. दे., का.प्र., पृ. (त्रिवे.), 308; अ.स., पृ. 81.

493. यद्यपह्नुगर्भत्वं सैव सापह्नवामता। —कु. कारिका, 37.

494. इत्यत्र पर्यस्तापह्नुतिगर्भामतिशयोक्तिमाहुस्तच्चिन्त्यम्। पर्यस्तापह्नुतेरपह्नुतित्त्वं न प्रामाणिकसंमतमिति प्रागेवावेदनात्। —र.गं., पृ. 314.
495. दे., का.प्र., पृ. (त्रिवे.), 308; अ.स., पृ. 81.
496. पूर्वार्द्धे पूर्णेन्दौ कलंकाभावस्यासम्बन्धे सम्बन्धः कल्पितः, उत्तरार्द्धेसाम्यसम्बन्धसंभवेऽपि तदसम्बन्धः पराभवपदेन सूचितः। —बा.बो., पृ. 632.
497. यदपि तैरेवोक्तम् 'सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यात् ..........।' इति तदपि न। अत्रैव 'स्पृशन्तीवेन्दुमण्डलम्' इति .......... इवादेरभावाद्गम्योत्प्रेक्षेयमुचिता। .......... इयमपि गत्योत्प्रेक्षैव तस्मादुत्प्रेक्षा सामग्री यत्र नास्ति तादृशमुदाहरणमुचित्तम्। —र.गं., पृ. 315.
498. अत्रेदं चिन्त्यम् 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्यादौ नूनं पदाभावे प्रतीयमानस्य रूपकस्यानापत्तेरुत्प्रेक्षाया आपत्तेश्च ..........। गुरुमर्मप्रकाश, पृ. 315, तु.अ.चं., पृ. 44.
499. कार्यकारणयोः पौर्वापर्य विध्वंसस्य चतुर्थभेदान्तर्भावात्पंचधेतिनवाच्यम्। .......... नहि देशकालयोः पदार्थसम्बन्धे कश्चिद्विशेषः। येनैकत्र भेदकत्वेन कथनमन्यत्र तदभाव इति।' अ.र., पृ. 58-59.
500. दे., वि., पृ. 66-67.
501. वही, प्र.रु., पृ. 287.
502. 'अत्र यद्यपि सर्वत्र भेदेऽभेदादौ वस्तुतोऽसम्बन्धे सम्बन्ध एव वर्णयितुं शक्यते, तथाप्यन्यैर्लक्षितत्त्वात् तद्विभागेन निर्देशः कृतः। —अ.र., पृ. 61.
503. अ.र. सूत्र-34, चन्द्रा. 5/23, एका. 8/10, प्र.रु, पृ. 277, सा.द. 10/37, चि.मी., पृ. 225, कुवलयानन्द का., 22-23, अ.मं.का. 12, सा.सा. 8/123, सा.बि., 5/11, नं.य., पृ. 174.
504. बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते।
एकेन बहुधाल्लेखेऽप्यसौ विषयभेदतः।। —कु.का., 22-3.
505. द्विविधश्चायमुल्लेखः शुद्धोऽलंकारान्तरसंकीर्णश्च। —चि.मी., पृ. 227.
506. न चेदं निर्निमित्तमुल्लेखमात्रमपि तु नानाविधधर्मयोगित्वाख्यनिमित्तवशादेतत् क्रियते। —अ.स., पृ. 58.
507. गृहीतृभेदाख्येन विषयविभागेनानेकधात्वोट्टङ्कनात्तस्य च विच्छित्यन्तररूपत्वात्सर्वथा नास्यान्तर्भावः शक्यक्रियः। —अ.स., पृ. 60; तु. एका., पृ. 276-77, भ्रान्तिमान्, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, आदि से उल्लेख का भेद देखने के लिये देखें, अलंकार सर्वस्व, एकावली, प्रतापरुद्रीय, साहित्यदर्पण, चित्रमीमांसा के उल्लेख प्रकरण।
508. अयमलंकारो नियमेनालंकारान्तरविच्छित्तिमूलः —सा.द., पृ. 503.
509. दे., सु.सा., पृ. 605; उद्योत, पृ. 492-3; अ.कौ., पृ. 282-3; बा.बो., पृ. 631.
510. ना.शा., 16/14.
511. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशश्च नालंकारतया मतः —काव्यालं. 2/86.

512. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् —वही, 2/233.
513. हेतुमतासह हेतोरभिधानमभेद कृद्भवेद्यत्।
मोऽलंकारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः।। —काव्यालं., 7/82.
514. अभेदेनाभिधाहेतुर्हेतोर्हेतुमतासह —सा.द. 10/64.
515. दे., कु.का., 167-8; अ.मं.का., 131.
516. हासविलासयोस्त्वध्यवसायमूलोऽयमलंकारः। —सा.द., पृ. 546.
517. उद्योत, पृ. 491; अ.कौ., पृ. 281; बा.बो., पृ. 630.
518. प्रौढोक्तिस्तदशक्तस्य तच्छक्तत्त्वावकल्पनम्। —चन्द्रा., 4/47.
519. दे., कु.का.-125, अ.मं.का.-96, सा.सा. 8/266, र.गं., पृ. 497, अ. मणि. भाग 2, पृ. 140.
520. अ.कौ., पृ. 283-4; उद्योग, पृ. 544.
521. कु. कारि. 126, अ.मं. 97; सा.सा. 8/29/3; अ.मणिहार, वही, पृ. 142.
522. अ.कौ., पृ. 283; उद्योत, पृ. 544.
523. ना.शा., 16/16.
524. तु.अ.मं. का.-98; अ. मणिहार, भाग 3, पृ. 152.
525. मिथ्याध्यवसित्याख्यमलंकारान्तरमिति न वक्तव्यम्।प्रौढोक्त्यैव गतार्थत्वात्। —र.गं., पृ. 499.
526. उद्योत, पृ. 544; अ.कौ., पृ. 283.
527. कु., पृ. 146.
528. यदि च मिथ्याध्यवसितिरेवालंकारान्तर स्यात् सत्याध्यवसितिरपि तथा स्यात् —र.गं., पृ. 499.
529. अ.भा.ना.शा., 16/52 पर; रत्नश्री, पृ. 96; व.जी., पृ. 182; एका. पृ. 242; विवृति, पृ. 11; का.प्र., पृ. 639 तथा वही बा.बो., प्रदीप, पृ. 344; सं.प्र., पृ. 313; संकेत, पृ. 247; उद्योत, पृ. 498; अ.स., पृ. 87; अ.म., पृ. 270; काव्यानु., पृ. 355; कु., पृ. 52; अ.भं., पृ. 62; स.बं., पृ. 68; रत्नापण, पृ. 309 —प्रकृतार्थमुपात्तो धर्मः प्रसंगादप्रकृतमपि दीपयति प्रकाशयति सुन्दरीकरोति इति दीपकम्। यद्वा दीप इव दीकम्। संज्ञायां कन्। र.गं., पृ. 322.
530. मनुस्मृति, 2/238-40 में भी दीपक सम्मुल्लसित है।
531. नानाधिकरणस्थानां शब्दानां संप्रदीपकम्।
एकवाक्येन संयुक्तं तद्दीपकमिति स्मृतम्।। —ना.शा., 16/52
532. आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।
एकस्यैव त्र्यवस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा।।
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्।। —भामहा., 2/25-6.
533. जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत्तमाहुर्दीपकं बुधाः।। —काव्यादर्श, 2/97.

534. देखिये, लघुवृत्ति, पृ. 14.
535. आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः।
अन्तर्गतोपमाधर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः।। —काव्या., सा.सं., 1/18.
536. अत्र च धर्माणामेकवारमुपनिबन्धो द्रष्टव्यः। —ल.वृ., पृ. 14.
537. उपमानोपमेयवाक्येष्वेकक्रिया दीपकम्। —का.सू., वृ., 4/3/18.
538. यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति।
तद्वत्कारकपदमिति तदिति दीपकं द्वेधा।। —काव्यालंकार, 7/64.
539. औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लादकारकम्।
अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद्वस्तु दीपकम्।।—व.जी., पृ. 180 तथा वृत्ति, पृ. 180-4.
540. दे., स.कं. 4/79; शृं.प्र., पृ. 423.
541. सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्।। —का.प्र., 10/103.
542. प्रस्तुताप्रस्तुतानां च दीपकम्। —अ.स. सूत्र-24, दे. वृत्ति भी।
543. मिश्राणां दीपकम्। अ.र., सूत्र-15, तथा वृत्ति भी।
544. धर्मो यद् दीपयत्येकः प्रस्तुताप्रस्तुतान् बहून्।
क्रिया वा भूयसीरेकं कारकं तत्तु दीपकम्।। —अ.भ., 8/33.
545. प्रकृताप्रकृतानां धर्मैक्यं दीपकम् —काव्यानु., 6/7.
546. आदिमध्यान्तवर्त्येकपदार्थेनार्थसंगतिः।
वाक्यस्य यत्र जायेत तदुक्तं दीपकं यथा। —वाग्भटा., 4/98.
आदिमध्यवर्तिनैकेन जातिक्रियागुणद्रव्यरुपिणा पदार्थेन यत्रार्थसंगतिस्तद्दीपकम्। —काव्यानुशासन, पृ. 35.
547. प्रस्तुताप्रस्तुतानां तुल्यत्वे दीपकं मतम्। —चन्द्रा., 5/53.
एकावलीकार ने इस लक्षण को किसी अज्ञात 'बिन्दु अलंकार' ग्रन्थ के कृती हरिहर चक्रवर्ती के नाम से उद्धृत किया है। विद्याधर के दीपक लक्षण के लिये दे., एका., 8/16.
यः प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्वर्गे कुत्रापिं संगतः।
समानो धर्म एकोऽन्यद्दीपये त्तत्तु दीपकम्।। —एका., पृ. 242; तु.नं.य., पृ. 198; प्र.रु., पृ. 309.
अप्रस्तुताप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते — सा.द., 10/49.
वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः।। —कु. कारि., 48; तु.अ.मं.का. 31.
प्रकृताप्रकृतानां चैकसाधारणधर्मान्वयो दीपकम्।। —र.गं., पृ. 322.
प्रकृताप्रकृतानामेकधर्मान्वयो दीपकम्। —अ.प्र., सूत्र-29; अ.मु., सूत्र-22 तथा अ.कौ., पृ. 290.
प्रकृताप्रकृतानां चैकधर्मं दीपकं मतम्।। —सा.बि., 5-14; तु.सा.सा., 8/166, अ.चि., 4/22; सा.सा. (सर्वेश्वर), 2-105.

548. सुबन्तं वा तिङन्तं वा पदमेकत्र संगतम्।
सर्वोपकारकं स्याच्चेत्तदाहुर्दीपकं यथा। —अ.सं., 5/123.

549. कारकेभ्योक्रियाबह्व्यो व्यत्ययेऽपि च दीपकम्।। —अ.कौ., 8/264.

550. अनेनैव प्रकारेण श्लेषाणामपि दीपके।
विकल्पानामनुगतिर्विधातव्या विचक्षणैः।। —काव्यादर्श, 2/98-115.

551. दे., रत्नश्री, पृ. 101.

552. दे., उद्भट और वामन का दीपक विवेचन।

553. दे., काव्यालंकार, 7/65.

554. दे., स.कं., पृ. 525, 26.

555. अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरावली।
संपुटं रसना माला चक्रवालं च तद्भिदाः।। —स.कं., 4/80.

556. दे., शृं.प्र., पृ. 422-23.

557. .......... द्वितीयं दीपकमुदाहृतं काव्यप्रकाश कृद्भिः। तत्रविचार्यते प्रथमार्धगतलक्षणेनैव दीपकद्वयस्यापि संग्रहात् द्वितीयं लक्षणं व्यर्थम्। .......... एवं 'स्विद्यति कूणति ..........' इत्युदाहरणमपि न संगच्छते। क्रियाणां शुद्धप्रकृतत्त्वात् .......... । —र.गं., पृ. 324-25.

558. प्रकृतानां क्रियाणां एककारकसम्बन्धे यद्यौपम्यप्रतीतिस्तत्तुल्ययोगिता तदभावे तु समुच्चयालंकारः। —अ.र., पृ. 17.

559. दे., वही।

560. दे., अ.भ., पृ. 270-71.

561. एवं च तुल्ययोगिता पृथङ् न वाच्या इति। काव्यानुशासनविवेक, पृ. 358.

562. 'स्विद्यतिकूणति' इत्यादौ तु जातेरेव चमत्कारो न दीपकस्येति कारकदीपकं न लक्ष्यते। काव्यानु., पृ. 358.

563. इति अन्योन्यनामालंकारो न दीपकतामतिक्रामति —विवेक, पृ. 357.

564. अस्य च कारणमालैकार्थार्थावृत्तिपदावृत्त्युभयावृत्त्यादयो भेदा भवन्ति। —काव्यानुशासन व्याख्या, पृ. 35.

565. आवृत्ते दीपकपदे भवेदावृत्तिदीपकम्। —चन्द्रा., 5/54.

566. दे., एका., पृ. 241-3.

567. अत्रचगुणक्रिययोरादिमध्यावसानसद्भावेन त्रैविध्यं न लक्षितं, तथाविधवैचित्र्यस्य सर्वत्रापिसहस्रसंभवात्। —सा.द., पृ. 520, दे., का.प्र. नोट्स, गजेन्द्रगडकर, पृ. 329.

568. त्रिविधं दीपकावृत्तौ भवेदावृत्तिदीपकम्। —कु.कारिका, 49. 'मात्र' पदेन दीपकात्पृथगेवायमलंकारः, न तु तत्प्रभेद इतिसूचितम्। अ.चं., पृ. 54.

569. दे., अ.मं., पृ. 63. खंडन के लिये देखिये, उद्योत, पृ. 498-9.

570. अमुं चालंकारं धर्मस्यगुणक्रियाद्यात्मकस्यादिमध्यावसानगतत्वेन त्रिविधमामनन्ति। .......... वस्तुतस्तु धर्मस्यादिमध्यान्तगतत्वेऽपि चमत्कार वैलक्षण्याभावात् त्रैविध्यो-

क्तिरापातमात्रम्। अन्यथाधर्मस्योपाद्युपमध्योपान्त्यगतत्वे ततोऽपि किंचिन्न्यूनाधिक देशवृत्तित्वे चानन्तभेदप्रसंगात्। —र.गं., पृ. 327.

571. दे., वि., पृ. 73; र.गं., पृ. 327-8.

572. अ.स. सूत्र 55; अ.म. 8/65; चन्द्रा. 5/89; एकावली 8/45; प्र.रु. पृ. 339; सा.द. 10/106-7; अ.कौ. 8/265; अ.कौ. (विश्वेश्वर), पृ. 294; तु. अ.मु., न.य., पृ. 220; अ.चि., 4.330.

573. दीपकैकावली योगान्मालादीपकमिष्यते। कु. कारिका, 107; तु.अ.मं., कारिका, 79.

574. का.प्र., पृ. 642; अ.स., पृ. 170; कुवलयानन्द, पृ. 127.

575. दे., सा.चू., पृ. 316; उद्योत, पृ. 498-99; अ.स., पृ. 170.

576. देखिये रुय्यक आदि का एकावली लक्षण।

577. वस्तुतस्त्वेतद्दीपकमेव न शक्यं वक्तुम्। सादृश्यसंपर्काभावात्। किन्तु एकावली प्रभेद इति। —र.गं., पृ. 328, दीपक प्रकरण। '.......... मालाशब्देन शृंखला उच्यते। दीपकशब्देन दीप इवेति व्युत्पत्त्या एकदेशस्थ सर्वोपकारकमुच्यते। .......... एतेन दैपकैकावली योगान्मालादीपकमिष्यते, इति यदुक्तं कुवलयानन्दकृता तद्भ्रान्ति मात्रविलसितम्। —र.गं., पृ. 464 एकावलीप्रकरण।

578. वाच्यलिंगाः समस्तुल्यः सदृक्षः सदृशः सदृक्। साधारणः समानश्च। —अ.को., 2/10/36.

579. बा.बो., पृ. 643.

580. वही।

581. रत्नापण, पृ. 308; एका., पृ. 239; सा.बि., पृ. 181-82; अ.कौ., पृ. 295.

582. गजेन्द्रगडकर, काव्यप्रकाश नोट्स, पृ. 332, उपर्युक्त व्युत्पत्तियों को देखते हुए इसे 'तुल्ययोग' अलंकार कहना अधिक उपयुक्त होगा।

583. प्राकरणिकानामप्राकरणिकानां वार्थानां समानगुणक्रियाभिसम्बन्धे अन्विताथा तुल्ययोगिता। —अ.स., पृ. 85; तु., अ.म., पृ. 268.

584. न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता।। —भामहा., 3/27.

585. विवक्षित गुणोत्कृष्टैर्यत्समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता।। —काव्यादर्श, 2/328.

586. दे., काव्यादर्श., 2/48.

587. उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वचः।
साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता।। —का.सा.सं. 5/11.

588. विशिष्ट साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता। —का.सू. वृ., 4/3/26.

589. उक्तलक्षणे तावदुपमान्तर्भावस्तुल्ययोगितायाः। —व.जी., पृ. 202.

590. दे., स.कं., 4/56, विवक्षितगुणोत्कर्षसहाभिधानं तुल्ययोगिता। शृं.प्र., 419.

591. नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता। —का.प्र., 10/104.
नियतानां प्राकरणिकानामप्राकरणिकानां वा ………। वही, वृत्ति।

592. औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्त्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता। —अ.स., सूत्र 23.

593. प्रस्तुतानां क्वचिद्यस्यां क्वचिदप्रस्तुतात्मनाम्।
गुणक्रियाभ्यां तुल्याभ्यां योगः सा तुल्ययोगिता।। —अ.म., 8/32.
सकृद्धर्मस्य निर्देशे प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा तुल्ययोगिता। —अ.र. सूत्र 14.
क्रियादिभिरनेकस्य तुल्यत्वे तुल्ययोगिता —चन्द्रा., 5/51; तु. एका., 8/15; प्र.रु., पृ. 308; सा.द., 10/48.
वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता —कु.का. 44; तु. अ.मं.का. 29.
प्रकृतानांचैकदोक्तिरुच्यते तुल्ययोगिता —अ.कौ., 8/266.
प्रकृतानामप्रकृतानामेव वा गुणक्रियादिरूपैकधर्मान्वस्तुल्ययोगिता —र.गं., पृ. 317; तु. सा.सा., 8/165; अ.भु. 23; अ.प्र. 391; अ.कौ., पृ. 295; अ.चिं., 4/16; सा.वि., 5/14.

594. उपमेयं समीकर्तुं उपमानेन योज्यते।
तुल्यैककालक्रियया यत्र सा तुल्ययोगिता।। —वाग्भटा. 4/87.

595. यत्प्रसिद्धगुणैः साम्यकथनं यस्य कस्यचित्।
स्तुत्या वा निन्दया तुल्ययोगिता सा मता यथा। —अ.सं., 5/54.

596. भामहालंकार, 3/28.

597. काव्यादर्श, 2/329/30.

598. उद्धृत, अ.स., पृ. 86; सा.द., पृ. 519; कु., पृ. 48; अ.म., पृ. 269; ऐसे स्थल में शोभाकर उपमेयोपमा को मूल मानते हैं। —अ.र., पृ. 16.

599. दे., स.कं., पृ. 475-76 तथा शृं.प्र., 419-20. परन्तु शृंगारप्रकाश में वह वाच्या, प्रतीयमाना का उल्लेख नहीं करते और हिताहित तुल्ययोगिता का भी वहां उल्लेख नहीं है।

600. स.कं., 4/57.

601. प्राकरणिकानामप्राकरणिकानां वेति विषयद्वयम्। गुणक्रियाचेतिधर्मद्वयम्। अतश्चातुर्विध्यमनुसन्धेयम्। सं., पृ. 85.

602. अत्र योगपट्टादीनां प्रस्तुतानां शरीरस्पर्शनौचित्यं साधारणधर्मः। डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी 'स्पर्शनौचित्य' को स्पर्श अनौचित्य पढ़ते हैं, जो उनकी भ्रान्ति मात्र है। —दे., अ.भी., पृ. 320.

603. औपम्याभावेऽपि गुणसाम्योदाहरणद्वयं प्राच्योदहृतत्त्वाद्ग्रन्थकृतोदाहृतम्। —वि., पृ. 70.

604. हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता।
प्रदीयते पराभूतिः मित्रशात्रवयोस्त्वया।। कु. कारिका, 46.

605. अ.मं., पृ. 61.

606. एतेन—हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता-तुल्ययोगितायाः प्रकारान्तरं यत् कुवलयानन्दकृता लक्षितमुदाहृतं च तत्परास्तम्। अस्या अपि—पूर्वलक्षणाक्रान्तत्त्वात्। —र.गं., पृ. 319.

607. दे., गुरुमर्मप्रकाश, पृ. 319 तथा अलंकार चन्द्रिका, पृ. 50.

608. इयं सरस्वतीकंठाभरणोक्ता तुल्ययोगिता —कु., प्र. 50.

609. गुणोत्कृष्टैः समीकृत्य वचोऽन्या तुल्ययोगिता।। —कु. कारिका-47.

610. दे., वि., पृ. 71.

611. वही, नं.य., पृ. 197.

612. 'न चैतावतानयोः पृथग्लक्षणं युक्तम्। औपम्यगर्भत्वाख्यस्य सामान्यस्य द्वयोरप्यनुगमात्। एवं च समुच्चितोपमादेरपि पृथग्लक्षणं स्यात्। वि., पृ. 71-72.
तुल्ययोगितातो दीपकं नपृथग्भावमर्हति। धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात्। .......... त्रैविध्यमुचितम्। प्रकृतानामेव धर्मस्य सकृद्वृत्तिः, अप्रकृतानामेव वा, प्रकृताप्रकृतानां चेति। एवं प्राचीनानां तुल्ययोगितातो दीपकस्य पृथगलंकारता-माचक्षाणानां दुराग्रहमात्रमिति नव्याः।।' —र.गं., पृ. 326-27. दे., अ.कौ., 296-97; नोट्स, गजेन्द्रगडकर, पृ. 333.

613. इति भगवना भरतमुनिना दीपकस्याङ्गीकारात् तत्रैव तुल्ययोगितान्तर्भावस्यौचित्यात्। —अ.कौ., पृ. 296-97.

614. समानं वस्तुवाक्यार्थः तस्य न्यासः। का.सू. वृ. 4/3/2 की वृत्ति। वस्तुनि वस्तुनि साधारणधर्मोपनिबन्धात् प्रतिवस्तूपमा। ल.वृ., पृ. 29, वस्तुशब्दस्य वाक्यार्थवाचित्वे प्रतिवाक्यार्थमुपमा साम्यमिति अन्वर्थाश्रयणात्। अ.स., पृ. 90, प्रतिवस्तुप्रतिवाक्यार्थ-मुपमासमानो धर्मोऽस्यामिति व्युत्पत्तेः। कु., पृ. 55; तु.—सं.प्र., पृ. 310; संकेत, पृ. 246; प्रदीपप्रभा, पृ. 342; संजीवनी, पृ., 90; उद्योत, पृ. 495; अ.म., पृ. 273; रत्नापण, पृ. 310; अ.कौ., पृ. 285; सा.बि. 5/5 की वृत्ति, एका., पृ. 243-44.

615. उद्योत, पृ. 495 तथा गुरुमर्मप्रकाश, पृ. 330 तथा दे., अ.स., चि.मी., कु., सा.द., र.गं. आदि मूल ग्रन्थ।

616. समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः।। —भामहा., 2/34.

617. वस्तु किंचिदुपन्यस्य न्यसनात्तत्सधर्मणः।
साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा यथा।।' —काव्यादर्श, 2/46.

618. दे., वही, 2/47.

619. उपमानसन्निधाने च साम्यवाच्युच्यते बुधैर्यत्र।
उपमेयस्य च कविभिः सा प्रतिवस्तूपमा गदिता।
प्राकरणिकेतरत्वस्थित्यैकश्चोपमेयतां लभते।
उपमानत्वं चापर इत्युपमा वाचि शून्यत्वम्।।

इवादेरप्रतीतापि शब्दसंस्कारतः क्वचित्।
उपमालक्ष्यतेऽन्यत्र केवलार्थनिबन्धना।। —का.सा.सं. 1/51-53.
तथा देखिये लघुवृत्ति, पृ. 27-28.

620. सामान्यावप्यर्थौ स्फुटमुपमाया स्वरूपतांऽपेतौ।
निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यासः स विज्ञेयः।। —काव्यालंकार, 8/85.

621. समानवस्तु न्यासोपनिबन्धनं प्रतिवस्तूपमाऽपि न पृथक् वक्तव्यतामर्हति। ......... तदेवं प्रतिवस्तूपमायाः प्रतीयमानोपमायामन्तर्भावोपपत्तौ सत्याम् ......... ।—व.जी., पृ. 200-201.

622. दे., स.कं., 4/34-38.

623. प्रतिवस्तूपमा तु सा—सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः। का.प्र., 10/101, साधारणो धर्मः उपमेयवाक्ये उपमानवाक्ये च कथितपदस्य दुष्ट तयाऽभिहितत्त्वात् शब्दभेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात्प्रतिवस्तूपमा। —वही, वृत्ति।

624. वाक्यार्थगतत्त्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा। —अ.स. सूत्र-27

625. कुछ प्रमुख आलंकारिकों के लक्षण—वाक्यद्वयेऽसकृत् प्रतिवस्तूपमा, अ.र. सूत्र 16, तथा वही वृत्ति। प्रतिवस्तूपमा सा स्यात् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः। एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्।। सा.द., 10/49-50, वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता। —कु. कारिका, 51, वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न साधारणधर्मकं वाक्यार्थयोरार्थमौपम्यं प्रतिवस्तूपमा। र.गं., पृ. 330, सादृश्यपर्यवसिते यस्मिन्वाक्यद्वये धर्मः। एकोऽपि द्विरूपात्तस्तां प्रतिवस्तूपमामाहुः। अ.कौ., पृ. 285; तु.अ.म. 8/35; वाग्भटा. 4/70; चन्द्रा. 5/25; एका., 8/17; प्र.रु., पृ. 310; अ.कौ., 8/286; अ.मं. कारिका, 33; अ.चि. 4/127; अ.प्र. 27; अ.मु. 20; सा.सा. 8/167; सा.वि. 5/15; अ. मणिहार, द्वितीय भाग।

626. यथा कैश्चित्प्रतिवस्तूपमा प्रकारद्वयेन, निदर्शना च पृथक् लक्षिता न तथा लक्षत इत्यर्थः। निदर्शनलक्षणेनैव व्याप्तत्वात्। विवेक, पृ. 354.

627. भोज ने प्रतिवस्तूक्ति के ऋज्वी, वक्रा, पूर्वा, उत्तरा, विधि, निषेध, आदि अनेक भेद किये हैं, जिनमें साधर्म्य का अभाव है। —दे., स.कं. 4/34-40.

628. 'तत्र विद्वानेव हि जानाति' इति पद्यं भवतु नाम यथाकथंचित् वैधर्म्यस्योदाहरणम्। 'यदि सन्ति' इति तु न युक्तम्।' —र.गं., पृ. 333-34.

629. अत्रेदं चिन्त्यम् ......... भावान्वयस्यापि विवक्षितत्वमस्त्येव इति न दोषः। —गुरुमर्मप्रकाश, पृ. 333-4; तु. अ.चं., 56-7; अ.कौ., पृ. 289.

630. यद्यपि दीपकतुल्ययोगितयोः सामान्यस्यासकृन्निर्देशेऽपि संभवति, तथापि सकृन्निर्देशं विना तयोः अनुत्थानात्तदेवेह नोक्तम्। —वि., पृ. 74-6.

631. अ.कौ., पृ. 288, दुष्टः अन्तः (प्रकृतस्य वस्तुनः उदाहरणदर्शनेन निश्चयः) यत्र स दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र का.प्र., पृ. 637; का.प्र. नोट्स, गजेन्द्रगडकर, पृ. 324; सा.बि., 5-17; सु.सा., पृ. 609; एकावली, पृ. 245; प्रदीप, पृ. 343.

632. 'अन्तोऽध्यवसितौ मृत्यौ स्वरूपे निश्चयोऽन्तिको। —वैजयन्ती।
633. उदाहरण प्रदर्शन से प्रकृत का निश्चय — गजेन्द्रगडकर वही।
प्रस्तुत पदार्थ की असंदिग्ध प्रतीति—विवरणकार, बा.बो., पृ. 637.
634. बिम्बप्रतिबिम्बभावश्च विशेषणयोर्विशेष्ययोश्च सादृश्यनिर्देशे भवति नन्वेकस्या, वही, सु.सा., पृ. 609.
635. प्रतिवस्तूपमा में धर्म शुद्ध सामान्य रूप होता है, क्योंकि वह एक ही होता है, दृष्टान्त में बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न—अस्य चालंकारस्य प्रतिवस्तूपमया भेदकमेतदेव यत्तस्यांधर्मो न प्रतिबिम्बतः, किन्तु शुद्धसामान्यात्मनैव स्थितः। इह तु प्रतिबिम्बतः। र.गं., पृ. 337; सा.बि., पृ. 189.
636. दे., रघुवंश, 5/13, 6/22; अ.श., 3/135/7-14.
637. विद्वान् पूर्वोपलब्धौ यत् समत्वमुपपादयेत्।
निदर्शनकृतस्तज्ज्ञैः स दृष्टान्त इति स्मृतः।। —ना.शा., 16/25.
638. इष्टस्यार्थस्य विस्पष्टप्रतिबिम्बनिदर्शनम्।
यथेवादिपदैः शून्यः बुधैर्दृष्टान्त उच्यते।। —का.सा.सं., 6/16.
639. इति प्रतिवस्तूपमैषा इत्याचक्षते। —वि., पृ. 52.
640. अर्थविशेषः पूर्वं यादृङ् न्यस्तो विवक्षितेतरयोः।
तादृशमन्यं न्यस्येद्यत्र पुनः सोऽत्रदृष्टान्तः।। काव्यालं., 8/94.
641. वस्तुसाम्यं समाश्रित्य यदन्यस्य प्रदर्शनम्। व.जी., पृ. 213 तथा वृत्ति भी। वस्तुतः कुन्तक की कारिका अधूरी है।
642. दृष्टान्तः प्रोक्तसिद्ध्यैः यः सिद्धेऽर्थे तन्निदर्शनम्। स.कं. 3/31; तु., शृं.प्र., पृ. 398
643. 'अथ दृष्टान्तोक्तेर्दृष्टान्तालंकारस्य को विशेषः। उच्यते ......... अतएवायमुभयालंकारः, स सपुनरर्थालंकारः। —स.कं., पृ. 435.
644. 'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्' —का.प्र. 10/102, एतेषां साधारण धर्मादीनाम्। —वही, वृत्ति।
645. तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बतया निर्देशे दृष्टान्तः —अ.स. सूत्र 26 तथा वृत्ति। प्रतिबिम्बेन दृष्टान्तः। —अ.र., 17 तथा वृत्ति। चेद्बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः। —कु. कारिका, 52, दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्। —सा.द., 10/51, प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमानादीनां साधारणधर्मस्य च बिम्बप्रतिबिम्बभावे दृष्टान्तः। र.गं., पृ. 337; तु.अ.म., 8/36; वाग्भटालंकार, 4/81; चन्द्रा., 5/56; एकावली, पृ. 245; प्र.रु., पृ. 311; अ.कौ., 8/262-3; अ.मं. कारिका, 34; अ.चि., 4/134; अ.प्र., 28; अ.कौ., पृ. 288; सा.सा., 8/170; सा.बि., 5/17; नं.य., पृ. 199-200.
646. इष्टार्थसिद्धयै दृष्टान्तो निदर्शनम्। —काव्यानु., 6/6.
केश्चित् प्रतिवस्तूपमा, प्रकारद्वयेननिदर्शना च पृथक् लक्षिता तथा न लक्ष्यत इत्यर्थः। निदर्शन लक्षणेनैव व्याप्तत्वात्। —वि., पृ. 354.
647. प्रस्तुतार्थसिद्धयै निदर्शनं दृष्टान्तः। साधर्म्येण वैधर्म्येण च। काव्यानु., पृ. 41.

648. का.प्र., टिप्पण, पृ. 636.
649. बा.बो., पृ. 637; सा.बि., पृ. 190.
650. प्रदीप, पृ. 344; संकेत, पृ. 246.
651. एष साधर्म्येण। वैधर्म्येण। का.प्र., पृ. 638. भोज ने दृष्टान्त के छः भेद किये हैं : ऋज्वी, वक्रा, सम को पूर्व और उत्तर भेदों में विभाजित करके, दे.. स.कं., 3/31. नमिसाधु के अनुसार वैधर्म्य में दृष्टान्त अप्राप्य है, यदि प्राप्त भी हो तो उसे समुच्चय समझना चाहिये—'वैधर्म्येण दृष्टान्तः कथं नोक्तः। असंभवादितिब्रूमः। यत्रहि विशिष्टोऽर्थो निर्धर्मकश्च दृष्टान्तस्तादृशं लक्ष्यं न पश्यामः। दृश्यते चेत्तदा समुच्चय एव ज्ञेयः। का. 8/96 पर नमिसाधु।
652. मम्मट के टीकाकारों ने 'निर्वाति' का अर्थ प्रायः प्रसन्न होना किया है। दे., बा., बो., पृ. 637; संकेत, पृ. 247; नागेश्वरीटीका, पृ. 252; परन्तु निर्वाण का अर्थ होता है बुझ जाना, वेणी सं. 1/7, कुट्टिनीमत 2/23, किरात 11/69. शान्त हो जाना, दे., हर्षच. 1/131, र.वं., 12/1, पूर्णसन्तुष्टि, शि.पा.व. 4/23, किरात. 18/39, विक्रमो., 3/21, शा. 3 अंक तथा मालवि. मि. 1।
653. विमर्शिनीकारास्तु—प्रतिवस्तूपमायामप्रकृतार्थोपादानं तेन सह प्रकृतार्थसादृश्य-प्रतिपत्यर्थम्। दृष्टान्ते तु तदुपादानमेतादृशोऽर्थोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतार्थ-प्रतीतेर्विशदीकरणार्थम्, न तु सादृश्यप्रतिपत्त्यर्थम्। अतः सादृश्यप्रतीत्यप्रतीतिभ्याम-नयोरलंकारयोर्भेदः। —र.गं., पृ. 337-38. अन्ये पुनरुभयत्राप्यार्थमौपम्यमाश्रित्य सामान्यस्य शुद्धसामान्यरूपत्व बिम्बप्रतिबिम्बभावाभ्यां व्यवस्थितेरनयोर्भेद आहुः। तदप्यसत्। ......... तदेवं वाक्य नैरपेक्ष्येऽपि वक्तृप्रतिवक्त्रोरेव विशेषादनयोर्भेदः।। —वि., पृ. 75.
654. विमर्शिणीकारस्तु ......... इत्याह। तन्न। प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोरुपादानस्यालंकार-द्वयेऽप्याविशिष्टत्वादेकत्र सादृश्यप्रत्ययः, अन्यत्र नेत्यस्याज्ञानमात्रत्वात्। ......... तमादुक्तेनैव यथाप्राचीनैर्विहितोऽलंकारयोरनयोः विभागः संगमनीयः। —र.गं., पृ. 338-9; अ.कौ., पृ. 290.
655. दृशेर्ण्यन्तात् स्त्रियां भावे युच्। टिप्पण, सा.द., पृ. 522, सा.बि.।
656. निश्चित्यदर्शनं (संभवतोरसंभवतोर्वा वस्तुनोः) सादृश्याविष्करणम् निदर्शना, वही, टिप्पण, तु. बा.बो., पृ. 614.
657. करणाधिकरणयोश्च (पा. 3/3/11)।
658. निदर्शनं दृष्टान्तकरणम्। मम्मट का.प्र., पृ. 614.
659. दे., अ.स., पृ. 92.
660. वही, का.प्र., वही।
661. गजेन्द्रगडकर, काव्यप्रकाश नोट्स, पृ. 307.
662. विशिष्टस्थार्थस्य उपमानोपमेयभावात्मकस्योपदर्शनात्—ल.वृ., पृ. 62.
663. नाट्यशास्त्र, षोडश अध्याय अनुबन्ध, 16-15.

664. समस्तार्थालंकारवर्गस्य बीजभूताश्चमत्काराः कथाशरीरवैचित्र्यदायिनो वक्रोक्तिरूपा लक्षणशब्देन व्यवह्रियन्ते। —अ.भा., ना.शा., 16/1 पर।
665. क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनम्।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना।। —भामह, काव्या., 3/33.
विष्णुपुराणकार का निदर्शना लक्षण इससे अधिक स्पष्ट है—
वस्तुनस्तूपमानेन (वेंकटसंस्करण में 'वस्तुनारोप्यमाणेन' पाठ है) दर्शनं तन्निदर्शनम्। वि. धर्मोत्तर, 14/14.
666. अर्थान्तरप्रवृत्तेन किंचित्तत्सदृशं फलम्।
सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत्स्यान्निदर्शनम्।। —काव्यादर्श, 2-346, तु.अ.सं., 5/46.
667. अभवन् वस्तु सम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा (वि) निदर्शना।। —का.सा.सं., 5-18.
668. वही, और भी देखें विस्तृत विवेचनार्थ, पृ. 62.
669. क्रिययैव स्वतदन्वयख्यापनं निदर्शनम्। —का.सू. वृ., 4/3/20.
670. तुल्ययोगिता का उपमा में अन्तर्भाव करते हुए कहते हैं—निदर्शनमस्योपमा प्रायमेव। —व.जी., पृ. 202.
671. दे., स.कं. 4/31 तथा पीछे दृष्टान्त विवेचन।
672. निदर्शना। अभवन्वस्तुसम्बन्धउपमापरिकल्पकः। —का.प्र., 10-97.
673. स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा। —का.प्र., 10/98.
674. संभवताऽसंभवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना। —अ.स. सूत्र-27.
675. असति सम्बन्धे निदर्शना। —अ.र., सूत्र 18 तथा वृत्ति। ध्यातव्य है कि शोभाकर मम्मटोक्त प्रथम निदर्शना का ही विवेचन करते हैं।
प्रतिबिम्बस्य करणं संभवता यत्र वस्तुयोगेन।
गम्यमसंभवता वा निदर्शना सा द्विधाभिमता।। एका. 8/19.
'यत्रोपमानधर्मस्योपमेयगतत्वेन निबद्धस्यान्वयासंभवात्। तत्सम्बन्धार्थं बिम्बप्रतिबिम्बकरणमाक्षिप्यते सैका निदर्शना। तद्विपर्यये द्वितीया। प्र.रु., पृ. 312,
संभवन्वस्तुसम्बन्धोऽसंभवन्वापि कुत्रचित्।
यत्रबिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना।। —सा.द., 10/51/2; तु.अ.कौ., 8/13; अ.चि., 4/36; सा.बि., 5/17; नं.य., अ.कौ. पृ. 262; काव्यदीपिका, अन. प्र., 17; अ.मं., 74-78.
676. दे., प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त विवेचन।
677. अन्वयख्यापनं यत्र क्रियया स्वतदर्थयोः।
दृष्टान्तं तमिति प्राहुरलंकारं मनीषिणः।। —वाग्भटा., 4/81 दे., उदाहरणार्थ, 4/82.
678. दे., काव्यानुशासन, पृ. 41.
679. वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना। चन्द्रा. 5/58.

680. वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपोनिदर्शना।
पदार्थवृत्तिमप्येके वदन्त्यन्यां निदर्शनाम्।।
अपरां बोधनं प्राहुः क्रियया सदसदर्थयोः।। कु. कारिका, 53/55.

681. दे., अ.मं., पृ. 66-73.

682. उपात्तयोरर्थयोरार्थाभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना। —र.गं., पृ. 339.

683. सा.सा., 8/172-74.

684. दे., का.सा., सं. 5/18.

685. यत्र तु पदार्थसमन्वय उपमानोपमेयभाव कल्पनया स्वात्मानमुपपादयति तत्र विदर्शनाभेदस्योदाहरणमुद्भटपुस्तके न दृश्यते तस्य तु भामहोदितमिदमुदाहरणम् 'अयं मन्ददूयुतिः'। इत्यादि। का.सा.सं., 5/19 की व्याख्या, ल.वृ., पृ. 62.

686. काव्यालंकार — 3/34.

687. दे., का.प्र., पृ. 614-617.

688. वही, अ.स., पृ. 92-96.

689. वही, पृ. 94, एकावली पृ. 247-8, सा.द., पृ. 523.

690. औपम्यमेव नास्ति इति पराभिप्रायेणाभिसंभवत्सम्बन्धनिबन्धना न निदर्शना। —अ.र., पृ. 22.

691. असंभवद्वस्तुनिदर्शनात्वेकवाक्यानेकवाक्यगतत्वेन द्विविधा। सा.द., पृ. 522.

692. दे., र.गं., पृ. 345.

693. वही, वि., पृ. 79.

694. अत्राहं सागरं तितीर्षुरस्मि इत्यस्यासम्बद्धार्थकतया उडुपेन सागरतरणवन्मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमसंभावितमित्युपमायाः कल्पनम्। उद्योत, पृ. 336.

695. दे., र.गं., पृ. 501.

696. यथाऽयं पर्वतः समागतं रविं शिरसा संभावयति एवं गृहमेधी समागतं सन्तं उचितपूजया संभावयेत् इति। अतः संभवति बोधनसम्बन्ध इति —कु., पृ. 65.

697. यद्यपि बोधयन्निति णिचः तत्समर्थाचरण प्रयोगात् संभवत्सम्बन्धमूलमार्थमौपम्यं प्रतिभासते, तथापि पूर्वानुभूतेनातिथ्यादिना ......... स्मरणादार्थस्मृति अलंकारः —अ.र., पृ. 21-22.

698. अभेदं चिन्त्यम्। तृतीया निदर्शनानतिरिक्ता अभ्युपगन्तव्या। उत्प्रेक्षयैव चारितार्थ्यात्। रसिक रंजनी, पृ. 97; तु. र.गं., पृ. 345-6.

699. दे., संजी., पृ. 93.

700. वही, अ.र., पृ. 21.

701. 'अलंकारसर्वस्वकारास्तु—त्वत्पादनखरत्नानां .........।' इति पद्यं वाक्यार्थनिदर्शनाया-मुदाजहार। ......... तन्न। वाक्यार्थरूपकस्य दत्तजलांजलित्वापत्तेः। ......... इत्यत्र वाक्यार्थरूपकमेव। —र.गं., पृ. 342-44.

702. यत्तु तेनैव लक्षणं निर्मितम्—संभवता असंभवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानमौपम्यं

निदर्शना इति। तदपि न। रूपकातिशयोक्त्यादिष्वतिव्यापनात्। यत्त्वलंकार सर्वस्वकारानुसारिणा कुवलयानन्दकृतोक्तम्—'वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना'—तत्तु तन्मतदूषणेनैव निवेदितरहस्यम्। —र.गं., पृ. 343.

703. दे., गुरुमर्मप्रकाश, पृ. 343-44; उद्योत, पृ. 47; बा.बो., पृ. 615.

704. दे., अ.स., पृ. 93; एकावली, पृ. 247, 36 बिम्बप्रतिबिम्बताक्षेपं विना वाक्यार्थ-पर्यवसानम्। दृष्टान्ते तु पर्यवसितेन वाक्यार्थेन सामर्थ्याद्बिम्बप्रतिबिम्बता प्रत्यायनम्। —सा.द., पृ. 523.

705. विशिष्टयोर्धर्मयोरैक्यारोपो वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना। उपमानोपमेययोरन्यतरस्मिन्नन्यतर धर्मारोपः पदार्थवृत्तिनिदर्शना। कु., पृ. 60; र.गं., पृ. 341-42; अ.मं., पृ. 71.

706. इयं पदार्थवृत्तिनिदर्शना ललितोपमेति जयदेवेन व्याहृता। कु., पृ. 60.

707. वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्यवर्णनम्।
ललितं निर्गते नीरे सेतुमेषा चिकीर्षति।। कु. 128 तथा वृत्ति।

708. दे., कु., पृ. 147-48; तु. र.गं., पृ. 500-501; अ.मं., पृ. 178.

709. प्रकृतधर्मिणि प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन निरूप्यमाणोऽप्रकृतव्यवहार सम्बन्धो ललितालंकारः। र.गं., पृ. 500; तु. अ.मं. कारिका, 99; सा.सा., 8/267; अलं. मणि., भाग 3; पृ. 154.

710. अनायि देशः कतमस्त्वयाद्य वसन्तमुक्तस्य दशां वनस्य।
त्वदाप्तसंकेततया कृतार्था श्राव्यापि नानेन जनेन संज्ञा।। —नै. 8/25, कु., पृ. 149

711. दे., वही, पृ. 149.

712. ललितं नालंकारान्तरम्। निदर्शनयैव गतार्थत्वात्। —र.गं., पृ. 501-503; तु. अ.कौ., पृ. 268; उद्योत, पृ. 481; अ. मणिहार, भाग 3, पृ. 156-9; बा.बो., पृ. 615; सरसामोद, पृ. 506.

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।५२।।
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३।।

**राधा पब्लिकेशन्स**
4378/4B, अंसारी रोड़, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 3261839, 3254306

ISBN 81-7487-223-0
9 788174 872234